।।श्रीः।।

गोकुलदास संस्कृत ग्रन्थमाला

131

वैदिक साहित्य का इतिहास

लेखक

वेदाचार्य डॉ. रघुवीर वेदालंकार

शुभाशंसा

महामहोपाध्याय प्रो. सत्यव्रतशास्त्री

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्य विद्या, आयुर्वेद एवम् दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक

दिल्ली-110007 (भारत)

॥श्रीः॥

गोकुलदास संस्कृत ग्रन्थमाला

131

वैदिक साहित्य का इतिहास

लेखक

वेदाचार्य डॉ. रघुवीर वेदालंकार

पूर्व सह आचार्य एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग

रामजस कॉलेज, दिल्ली विश्व विद्यालय

शुभाशंसा

महामहोपाध्याय प्रो. सत्यव्रतशास्त्री

पद्मविभूषण, विद्यामार्त्तण्ड, राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत,

पूर्व संस्कृतविभागाध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय तथा

पूर्व कुलपति जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्य-विद्या, आयुर्वेद एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक

दिल्ली–110007 (भारत)

समर्पण

यह कृति समर्पित है उन पाश्चात्य मनीषियों को
जिन्होंने वैदिक वाङ्मय के विषय में घोर
परिश्रम करके अपनी अदूरदृष्टि से वेद
को विश्व के शाश्वत प्रकाशस्तम्भ
के रूप में न देखकर केवल मिट्टी
के एक टिमटिमाते लघुदीप की
भांति देखा। वे इसके बाह्य
कलेवर का ही निरीक्षण-
परीक्षण कर सके,
इसकी परोक्ष
आत्मा का
प्रत्यक्ष नहीं
कर पाए।
क्योंकि–

न ह्येषु प्रत्यक्षमनृषेरतपसो वा। निरुक्त 3/12

भारत का इतिहास जो कुछ मैंने पढ़ा, वह ज्यादातर गलत था, तोड़ा मरोड़ा हुआ और ऐसे लोगों का लिखा हुआ था जो हमारे देश को नफरत की नजर से देखते थे।

–जवाहर लाल नेहरू
(विश्वइतिहास की झलक)

शुभाशंसा

महामहोपाध्याय प्रो. सत्यव्रत शास्त्री पद्मविभूषण,
विद्यामार्त्तण्ड, राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत,
पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष,
दिल्ली वि.विद्यालय

वेदाचार्य डॉ. रघुवीर वेदालङ्कार द्वारा विरचित ''वैदिक साहित्य का इतिहास'' शीर्षक ग्रन्थ के अवलोकन का अवसर मुझे–जब यह पाण्डुलिपि रूप में ही था–प्राप्त हुआ। वैदिक साहित्य के इतिहास ग्रन्थों की यह अद्यावधि अन्तिम कड़ी है। वेदाः पवित्रं परमं पृथिव्याम्, पृथिवी पर अगर कोई पवित्र से पवित्रतम् है तो वह वेद है। यह संस्कृत की एक सुप्रसिद्ध उक्ति है। भारतीय परम्परा ने उन्हें सुरक्षित रखने का जितना भी प्रयास हो सकता था, किया। यद्यपि लेखन कला का प्रारम्भ बहुत पहले हो हो गया था तो भी श्रवण–परम्परा से ही उसे पीढ़ी–दर–पाढ़ी सङ्क्रमित किया जाता रहा। जिस कारण इसका नाम ही श्रुति पड़ गया। इसके श्रवण और उच्चारण में स्वर और वर्ण का प्रमाद भी सह्य नहीं था। उससे अर्थ का अनर्थ हो जाने की सम्भावना थी–दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो यजमानं हिनस्ति। इसका उच्चारण सही–सही होता रहे, इसके लिए विभिन्न प्रकार से इसके उच्चारण की व्यवस्था की गई। उन्हें विकृति यह नाम दिया गया। ये पाठ–पद्धतियाँ आठ प्रकार की थीं–अष्ट विकृतयः।

वेद के अर्थ तक पहुँच पाना, उसके शब्दों तक ही न जाकर उसके अन्तर्निहित भाव को पकड़ पाना बहुत प्राचीन काल से ही कठिन समझा जाने लगा था। बहुत बार शाब्दिक अर्थ और होता था और तात्त्विक और। इसीलिए कहा गया परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्ष द्विषः। अपने यहाँ के वैदिक चिन्तन–मनन के इतिहास पर दृष्टिपात करना अनुचित न होना आज से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व भारत के एक ऋषि ने वेद के मन्त्रों को अनर्थक तक कह दिया था–अनर्थका मन्त्रा इति कौत्सः और उसके लिए अनेक तर्क भी दिये थे जिनका युक्तियुक्त निराकरण ऋषि यास्क ने किया था। यहाँ यक्ष प्रश्न यह है कि इस प्रकार के खण्डन–मण्डन की आवश्यकता ही क्यों पड़ी!

"पाश्चात्य मनीषियों का ऋग्वेद को पढ़ने-पढ़ाने का एक विशेष उद्देश्य रहा है। इन्होंने इसे खूब पढ़ा है। इसके रोम-रोम का एक्सरे कर डाला है। इनके अक्षरों तथा मात्राओं तक को गिनकर इनके अतीत पर मार्के का प्रकाश डाला है, किन्तु दौर्भाग्य से इनकी दृष्टि उन ही बिन्दुओं पर जा पायी है, जो वेद को एक आदिम सामान्य सी रचना बतलाते दीख पड़ते हैं। वेद का विश्ववपुष् इनकी आँखों से ओझल ही रह गया, परिणाम यह हुआ कि किसी भी पाश्चात्य मनीषी की रचनाओं में वैदिकधर्म के प्रोषण बिन्दू-वीरता, प्रगल्भता, उदारता, प्रकाशप्रियता आदि का उत्थान नहीं हो पाया और वैदिकधर्म निजी पितृपूजा, प्रेतपूजा, यज्ञयागादि का प्रकाशक बना कर जनता के सम्मुख पेश किया गया। यह किया गया कि वैदिकधर्म को कच्चे-पक्के अन्य आदिम धर्मों का जामा पहनाकर दिखलाया जाए। दूसरे शब्दों में वेद की जान छिपा दी गयी।"[1]

डॉ. सूर्यकान्त, (पूर्व प्रो. बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय)

"वेदों से भारतीयता को निकालकर उन्हें भारतेतर विज्ञान तथा धर्म की सहायता से समझने का दुःसाहस करना 'मूले कुठाराघातः' की लोकोक्ति को चरितार्थ कर रहा है। इस प्रकार वेदों के अर्थ करके, तदनुसार आर्यों के विषय में इन लोगों ने विचित्र और अनर्गल बातें कह डाली।"[1]

आचार्य बलदेव उपाध्याय (वैदिक साहित्य और संस्कृति)

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्

हिरण्यं कस्मात्? हितरमणीयं भवतीति (यास्क)। रमणीयता किसे आकृष्ट नहीं करती? रमणीयता में आकर्षण है, चकाचौंध है। इसमें फंसा व्यक्ति सत्य तक जा ही नहीं सकता। यह संसार कितना रमणीय है? असीम धन-वैभव, पुत्र, पति-पत्नी, सम्बन्धी, शस्यश्यामला हिरण्यवक्षा भूमि, कर्णप्रिय संगीत-वाद्य, मधुर-रसीले फल तथा नाना खाद्य पदार्थ, दृष्टिविमोहक मनोहर पुष्प, वृक्ष, वनस्पति यह सब कुछ हितकारी भी है तथा रमणीय भी है। बस, यहीं तक देख सकते हैं हम। इस रमणीय आवरण से आवृत्त इसके निर्माता सत्यस्वरूप परमेश्वर तक हमारी दृष्टि जाती ही नहीं।

वेद के विषय में भी कुछ ऐसा ही हुआ। महाभारत के पश्चात् अंग्रेजी राज्य तक निरन्तर वेदविद्या का लोप होते-होते जब पाश्चात्य मनीषियों का ध्यान इस ओर गया तो उन्होंने सामुहिक एवं व्यक्तिगत रूप में वैदिक वाङ्मय के सम्बन्ध में जो घोर परिश्रम किया, वह इतना विस्तृत एवं सुगठित था कि भारतीयों की दृष्टि उसी पर टिक गई। ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि समस्त वैदिक वाङ्मय संस्कृत में था, जो कि कभी भारत की जनभाषा थी, किन्तु कालचक्र के थपेड़ों से आहत एवं निष्प्राण होकर जब जनसामान्य से संस्कृत का सम्पर्क समाप्त हो गया तो ऐसे में जनता भी वैदिक वाङ्मय से दूर हो गई। 800 वर्ष के सुदीर्घ मुस्लिम शासन में अरबी-फारसी ही यहाँ की शासकीय भाषा रही तथा अंग्रेजी शासन में उसका स्थान यत्नपूर्वक अंग्रेजी को दे दिया गया। अंग्रेजी का का मोह इतना प्रबल था कि तब अंग्रेजी पढ़े-लिखे ही सभ्य एवं अभिजात्य माने जाते थे, सामान्य जनता तो बस सामान्य ही थी। इस समय में विदेशी विद्वानों ने वेदों तथा अन्य वैदिक वाङ्मय के विषय में जो भी लिखा, भारतीयों के लिए वहीं 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' था। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी कर ही दिया गया था। कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी के श्रेष्ठ ज्ञाता वेद एवं संस्कृत का अध्यापन करा रहे थे। विदेशी विद्वानों ने भी यहाँ के शिक्षणालयों में अध्यापन कार्य किया। इसके साथ ही वे संस्कृत वाङ्मय के सम्बन्ध में लेखन

एवं प्रकाशन में भी होते रहे। ऐसे समय में भारतीय विद्वानों के सामने भी वही विदेशी विद्वानों द्वारा लिखा गया ऑग्ल साहित्य ही था। उन्होंने स्वयं भी इसे पढ़ा तथा इससे प्रभावित होकर उन्हीं मान्यताओं को स्वयं भी स्वीकार कर लिया जो कि पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक वाङ्मय, विशेषकर वेदों के सम्बन्ध में स्थिर की थी। ऐसा करने में उन्होंने पूर्ववर्ती भारतीय ऋषियों-मुनियों तथा शंकराचार्य जैसे महाविद्वानों की मान्यताओं को भी आदर नहीं दिया। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों के चमचमाते साहित्यसृजन से वेदरूपी सत्य का मुख ढक दिया गया। उस पर आवरण पड़ गया। अब समय आ गया है कि भारतीय मनीषा इसे पहचान रही है तथा वेद के वेदत्व को जान रही है, किन्तु अभी भी यह आवरण व्यापक स्तर पर शैक्षिक जगत् एवं शिक्षासंस्थानों में बना हुआ है। अत: वेद कहता है–

तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये (यजु॰ 40)

वेद के सत्यस्वरूप का ज्ञान इस आवरण के उठने पर भी होगा। हम नमन करते हैं उन पाश्चात्य मनीषियों को जिन्होंने वैदिक साहित्य के विषय में घोर परिश्रम किया। उन्होंने उसे सम्पादित किया, प्रकाशित किया तथा सर्वसुलभ बनाया। वेदों के विषय में भी ऐसा ही है, किन्तु उनकी दृष्टि तथा प्रयत्न वेद के बाह्य कलेवर तक उसी प्रकार सीमित रहे, जिस प्रकार एक चिकित्सक की दृष्टि शल्यक्रिया करते समय रोगी के शरीर तक ही सीमित रहती है। उस शरीर में छिपी आत्मा तथा मन को वह नहीं देख सकता। इसी प्रकार पाश्चात्य मनीषियों ने वेद को देखा, किन्तु वेद की आत्मा वेदत्व को वे न तो देख पाए न ही समझ पाए। इसीलिए उन्होंने वेदादि के सम्बन्ध में निम्न निराधार कल्पनाएँ की–

पाश्चात्यों की कल्पनाएँ

1. वेद बहुदेववाद के प्रतिपादक हैं।
2. आरम्भ में तीन ही वेद थे। अथर्ववेद पर्याप्त बाद की रचना है।
3. अथर्ववेद जादू-टोने-ताबीज-इन्द्रजाल का वेद है।
4. ऋग्वेद के प्रथम तथा दशम मण्डल पर्याप्त बाद में बनाए गये।

5. चारों वेदों का संग्रह लम्बे समय तक होता रहा है तथा वेदों में राजाओं, ऋषियों एवं अन्य मानवों का इतिहास विद्यमान है।

6. वेदों में निकृष्ट कोटि के मन्त्र भी विद्यमान है।

7. वैदिक भाषा से पूर्व एक अन्य भारोपीयभाषा थी।

8. ऋषि लोग मन्त्रों के कर्त्ता हैं।

9. आर्य भारत में विदेशों से आए तथा यहाँ युद्ध करके भारत के मूल निवासियों को दक्षिण की ओर भगा दिया।

10. आर्य लोग शराब पीते थे तथा मांस खाते थे।

11. यज्ञों में गोमांस की आहुति दी जाती थी।

12. इस प्रकार विश्वोपकारक वेदों को अनेक दोषों से युक्त एक सामान्य पुस्तक सिद्ध करके वेदानुगामी आर्यों को भी शराबी, जुआरी, मांसाहारी, कामुक तथा आक्रान्ता सिद्ध कर दिया गया। ऐसा होना ही था, क्योंकि–

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति।

निवेद्यं किञ्चित्

विद्वज्जनों के द्वारा रचित 'वैदिक साहित्य का इतिहास' नाम से कई श्रेष्ठ पुस्तकें विद्यमान हैं। लेखक ने भी उनका पारायण किया है, पुनरपि यह नूतन प्रयास क्यों किया गया? इसका उत्तर है कि अभी तक उपलब्ध अधिकांश 'वैदिक साहित्य के इतिहास' प्रायः एक ही दिशा को लेकर चले हैं। इनमें से अधिक ने पूर्व मान्यताओं का ही पोषण किया है। हाँ, विश्लेषण तथा प्रतिपादन सबका अलग-अलग है। इस पुस्तक में कुछ बातें अन्य प्रकार से कही गई हैं। यद्यपि इससे पहले भी कुछ लेखकों ने स्वतन्त्र विचार करके पारम्परिक वैदिक साहित्य के इतिहासों से हटकर कुछ बातें कहीं हैं, जिनका यथास्थान उल्लेख इस पुस्तक में किया गया है। इस पुस्तक का भी यही उद्देश्य है। जैसा कि कहा जा चुका कि स्वाभाविक रूप में कोई भी लेखक किसी भी विषय पर लिखने से पूर्व तत्सम्बन्धी पूर्व साहित्य को पढ़ता है तथा उसका उपयोग भी करता है। ऐसा ही यहाँ पर भी किया गया है वेदों की शाखाएँ उनके भाष्यकार, ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषदों के भेद, संस्करण, भाष्य, शिक्षा-कल्प आदि वेदांगों की संख्या उनके रचयिता आदि विषयों पर लगभग वही लिखा जाएगा जो कि पूर्व लेखक लिख चुके हैं। उसके अतिरिक्त कोई नवीन शोध होगा तो उसका समावेश भी किया जाएगा।

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त ऐसे विषय भी पर्याप्त हैं, जो लेखक के स्वतन्त्र चिन्तन की अपेक्षा रखते हैं तथा जिनमें परम्परा से हटकर भी कुछ कहने का अवकाश रहता है। ऐसा ही यहाँ पर भी किया गया है। उदाहरणार्थ-ज्ञान तथा भाषा की उत्पत्ति, वेदों का काल, वेदों का पौर्वापर्य, अथर्ववेद की विषयवस्तु, मन्त्रोद्धृत ऋषि, ब्राह्मणग्रन्थों का वेदत्व आदि विषय इसी कोटि में हैं जहाँ लेखक संख्या आदि के नपे तुले ढाँचे से निकलकर स्वतन्त्र रूप में अपनी बात कह सकता है। यहाँ भी ऐसा ही किया गया है।

इसके अतिरिक्त कुछ विषय तो वस्तुतः ऐसे हैं जो अब तक अन्य रूप में ही प्रतिपादित किए जाते रहे हैं। यथा-वेदों का काल, कर्त्तत्व, संयोजन क्रम

तथा विषय वस्तु, आर्यों का मूल स्थान उनका खान-पान, आर्य-द्रविडभेद, दास-दस्यु का स्वरूप, सोम, गोमेध-अश्वमेध। 'गतानुगतिको लोकः' के अनुसार अधिकांश लेखक इन विषयों पर स्वतन्त्र चिन्तन न करके अपने से पूर्ववर्ती लेखकों का ही समर्थन करते चले आ रहे हैं। विशेषकर पाश्चात्य विद्वानों ने उपर्युक्त विषयों के सम्बन्ध में जो भी मान्यताएँ अपने दुराग्रह या अज्ञानतावश स्थापित की थी, अधिकांश भारतीय विद्वानों ने उन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। इस विषय में पं० गजानन शास्त्री मूसलगाँवकर लिखते हैं, "वर्तमान में प्रचलित इतिहास दुर्भावना ग्रसित होकर लिखे गए हैं। मैक्समूलर जैसे धूर्त विद्वान् ने आर्यों के आगमन से लेकर आर्यों की सम्पूर्ण आस्थाओं को मिथ्या सिद्ध कर दिया और भारतीय मनीषा, मोहिनी सम्मोहन के प्रभाव में तदनुसार ही प्रलाप करने लगीं।[1] यह हमारा दौभार्ग्य है कि हमें ही अपना अस्तित्व सिद्ध करना पड़ रहा है। उपर्युक्त विषय तथा इस प्रकार कुछ अन्य विषय भी थे जिन पर तथाकथित पाश्चात्य वेदज्ञों ने खूब लिखा, जम कर लिखा, परन्तु दौर्भाग्य कि सर्वथा विपरीत ही लिखा। यह दुराग्रह पूर्वक लिखा या अज्ञानतावश लिखा, इसका प्रतिपादन ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में किया गया है।

हमारे कणाद व्यास, जैमिनि जैसे श्रेष्ठतम दार्शनिक मुनि, जिनके द्वारा प्रणीत दर्शन ग्रन्थों को वैज्ञानिक युग में न तो कोई गलत सिद्ध कर पाया है तथा न ही उपेक्षणीय, अद्‌भुत पाण्डित्य तथा प्रतिभा के धनी आदि शंकराचार्य तथा वेदज्ञ विद्वान् कुमारिल भट्ट, वेद व्याख्या में सुप्रतिष्ठित सायणाचार्य आदि मनीषियों ने जिस वेद को समवेत स्वर में अपौरुषेय वाक् तथा समस्त ज्ञान-विज्ञान के भण्डार के रूप में विश्व की शाश्वत निधि कहा, वहाँ इन पाश्चात्य धुरन्धरों ने उसी वेद को गडरियों का प्रेमालाप तथा जंगली जातियों की एक सामान्य सी रचना सिद्ध कर दिया। जिस संस्कृति को वेद स्वयं 'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा' कह रहा था, उसे ही इन परिश्रमी पाश्चात्य पण्डितों ने एक निम्नतम स्तर की संस्कृति सिद्ध कर दिया, जिसके मानने वाले ऋषि-मुनि तथा आर्यजन शराब पीते थे, मांस खाते थे, बहुविवाह करते थे, यज्ञों में अश्व, गो, अजा आदि प्राणियों के मांस की आहुति देते थे। जिस सोम के विषय वेद कहता है—अपामसोममृता अभूम। उसी सोम को इन सुविचारकों ने शराब के रूप में प्रचारित कर दिया। वेदों में संवाद तथा आख्यानों के माध्यम से जो बातें कही गईं थी। इन शोधकर्त्ताओं ने वहाँ पर वसिष्ठ-विश्वामित्र,

1. वैदिक साहित्य का इतिहास, चौखम्बा सं० संस्थान, वाराणसी, 2066 वि०, पृ० 418-419

पुरूरवा-उर्वशी ऋषियों तथा राजाओं आदि का इतिहास सिद्ध कर दिया। जो अथर्ववेद् ब्रह्मवेद, भिषग्वेद, क्षत्रवेद आदि अपने अन्य नामों के द्वारा ही अपने महत्त्व को सूचित कर रहा है, उसे इन मनीषियों ने जादू-टोने, मारण-उच्चाटन आदि निन्द्य कृत्यों का वेद सिद्ध कर दिया। यह कार्य इतने संगठित तथा व्यापक रूप में किया गया कि भारतीय मनीषी भी वेद तथा उसकी संस्कृति के स्वरूप को भूलकर घोर परिश्रमी, उत्साही, किन्तु दुर्भावना एवं अज्ञानग्रस्त इन लोगों की वाह-वाह करने लगे, उनके लिखे को ही अन्तिमेत्थम् मानने लगे। ऐसा होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि यह कार्य युद्धस्तर पर हो रहा था। युद्ध में एक राजा या देश दूसरे पर आक्रमण करके, उसे हटाकर वहाँ अपने साम्राज्य का विस्तार करता है। अंग्रेज भी इसी प्रकार भारत में अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहे थे तथा भविष्य में उसे भारत में सुदृढ़ एवं दीर्घकाल तक स्थायी बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। इसके लिए उन्होंने एक ओर जहाँ लड़ाइयाँ लड़ी, सेना के द्वारा भारतीयों को कुचला, उनका मानर्दन किया तथा अन्य प्रकार से अनेक अत्याचार किये, वहाँ साहित्यिक क्षेत्र में भी भारत की पुरातन वैदिक संस्कृति को नष्ट करने के लिए उन्होंने मैक्समूलर जैसे पहलवानों को आगे किया जिसके विषय में स्वामी दयानन्द ने कहा था–'यस्मिन् देशे द्रुमो नास्ति तत्र एरण्डोऽपि द्रुमायते।' ऐसे लोगों को राजकीय सहायता तथा सम्मान दिये गये।

ऐसा होना ही था, क्योंकि यह एक सांस्कृतिक तथा साहित्यिक युद्ध था। इसके जीते बिना भारतीय जन-मानस पर अधिकार करना, उसकी संस्कृति को कुचलना आसान नहीं था। इस प्रकार अंग्रेजों ने भारत के विरुद्ध राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों प्रकार के युद्ध साथ-साथ चलाए। उन्होंने जहाँ एक ओर हमारे भारतीयों को ही अपनी सेना में भरती करके उनके द्वारा ही भारतीयों के सीने पर गोलियाँ चलवाई, तोप दगवाएं, वहीं साहित्यिक क्षेत्र में मैक्समूलर जैसे धन-पद लोलुप व्यक्तियों को आगे करके हमारे शास्त्रज्ञ पण्डितों को ऐसी पटखनी दी कि वे भी मुक्तकण्ठ से इनका गुणगान करने लगे। उस समय जहाँ एक ओर केशवचन्द्र सेन जैसे व्यक्ति भी अंग्रेजी शासन को अच्छा मानते थे तथा भारत में उसके स्थायित्व की कामना करते थे, वहीं, भारतीय लेखक भी वेदों की महत्ता, वैदिक संस्कृति तथा भारतीय परम्परा को भूलकर पाश्चात्यों से भी बढ़-चढ़कर उनकी बातों के प्रचार-प्रसार में लग गए। एतद्विषायक अनेक ग्रन्थ सुख्यात विद्वानों ने लिखे, यहाँ तक कि

इतिहास की पुस्तकों में छात्रों को वही पढ़ाया जाने लगा। भारतीय मनीषा कुण्ठित हो गई तथा अपने स्वतन्त्रचिन्तन को भूल गई। पाश्चात्यों के अनुयायी एवं समर्थक विद्वानों में सामान्य नहीं, अपितु शीर्षस्थ विद्वानों ने भी ऐसा ही किया है। इस विषय में सुप्रसिद्ध विद्वान् आर॰एन॰ दाण्डेकर लिखते हैं कि विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद के काल का भारत में आर्यों के प्रवेश से गहरा सम्बन्ध है।[1] आज ये दोनों ही मान्यताएँ धराशायी हो गयी। स्वयं वेदज्ञ विद्वानों तथा इतिहासवेत्ताओं ने सप्रमाणसिद्ध कर दिया है कि न तो ऋग्वेद का कोई काल सुनिश्चित किया जा सकता है तथा न ही आर्य भारत में बाहर से आये थे।

अब तक यही सिलसिला चला आ रहा था। हम पाश्चात्यों तथा उनके अनुयायियों की भ्रममूलक मान्यताओं को ही ढोते चले आ रहे थे। 'वैदिक साहित्य का इतिहास' वैदिक संस्कृति, प्राचीन भारत का इतिहास जैसे अनेक ग्रन्थ उपर्युक्त मान्यताओं के ही पोषक रहे हैं, क्योंकि गतानुगतिको लोकः।

किन्तु सूर्य कब तक छिपा रह सकता है? अन्धकार प्रकाश को कब तक रोक सकता है तथा सत्य का अपलाप कब तक किया जा सकता है?

अब इन विषयों पर स्वतन्त्र चिन्तन भी होने लगा है। पद्मश्री वाकणकर, प्रो॰ बी॰बी॰ लाल जैसे सुख्यात पुरातत्ववेत्ताओं तथा इतिहासज्ञों ने भी पाश्चात्यों की आर्यों के भारत में आगमन तथा आक्रमण, आर्य-द्रविड़ भेद तथा संघर्ष जैसी आधारहीन मान्यताओं को सर्वथा नकार कर इतिहास को एक नया मोड़ दिया है।

साहित्यिक क्षेत्र में भी भारतीय मनीषा अब सजग हो गई है। वर्तमान काल में जो भी वैदिक संस्कृति तथा वैदिक साहित्य के विषय में ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं, उनमें पाश्चात्यों की सर्वथा काल्पनिक मान्यताओं का प्रतिवाद करके भारतीय दृष्टि ही अपनाई गई है। यद्यपि इस विषय में कुछ समय पहले से ही अच्छे प्रयास होते रहे हैं। यथा–के॰ एम॰ मुंशी की 'वैदिक एज' का सप्रमाण सशक्त उत्तर गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातकविद्यामार्तण्डपण्डित धर्मदेव ने अपनी पुस्तक 'वेदों का यथार्थ स्वरूप' में

---

1. Scholars are generally of the opinion that the question of the age of Rigveda is closedy linked up with the entry of the Aryans in to India. R.N. Dandekar, Progress of Vedic Studies, p. 33-34.

दिया था। पं. भागदत्त का 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' इस सम्बन्ध में एक मानक ग्रन्थ है। आर्य कॉलेज पानीपत के पूर्व प्रधानाचार्य तथा बाद में संन्यस्त रूप में स्वामी विद्यानन्दजी ने भी कई पुस्तकें इस सम्बन्ध में लिखी। म० द० वि० वि० रोहतक के पूर्व कुलपति डॉ० रामगोपाल तथा एक अन्य विद्वान् वैद्य राम गोपाल आदि कई विद्वानों ने इस क्षेत्र में अच्छा लिखा है। वर्तमान में हमारी संस्कृत अकादमियाँ तथा वेद सम्मेलन भी अच्छा कार्य कर रहे हैं जिनके द्वारा वेदों में नाना विद्याओं का प्रतिपादन किया जा रहा है। 'संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास' में आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रो० बृजबिहारी चौबे आदि विद्वानों ने इस दिशा में श्रेष्ठ कार्य किया है। एतदतिरिक्त डॉ० गजानन शास्त्री के 'वैदिक साहित्य का इतिहास', डॉ० ओम प्रकाश पाण्डेय के 'वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप', इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति गोविन्द चन्द्र पाण्डेय की 'वैदिक संस्कृति' रमाशंकर त्रिपाठी की 'वैदिक साहित्य और संस्कृति' आदि ग्रन्थों में स्वतन्त्र चिन्तन करके पाश्चात्यों की उन युक्ति एवं आधारहीन मान्यताओं का सप्रमाण निराकरण किया है। समय की मांग है कि अब हम पाश्चात्य विद्वानों के वैदिक साहित्य एवं इतिहास-विषयक कार्य का उनकी धारणाओं के परिप्रेक्ष्य में मूल्याङ्कन न करके भारतीय परिप्रेक्ष्य में अपनी बात को दृढ़तापूर्वक कहें। प्रस्तुत पुस्तक इसी दिशा में एक विनम्र प्रयास है–तं सन्तो द्रष्टुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतव:। अन्त में हम यहाँ पर सुख्यात वैदिक विद्वान् डॉ. सूर्यकान्त के इन शब्दों को उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं, "भारत हमारा है। वेद उसके प्राण हैं। इन प्राणों को उद्भासित एवं उपबृंहित करना हमारा काम है।"[1]

इसके अतिरिक्त एक सर्वथा नया विषय भी इस पुस्तक में है–भारोपीय भाषा। यह एक ऐसा असत्य था कि जिसे भाषाविज्ञान के नाम पर प्राय: सभी स्वीकार करते चले आए हैं। इस पुस्तक में उसका सप्रमाण प्रतिवाद किया गया है। इसी प्रकार पाश्चात्य वेदभाष्यकारों के वेदार्थ सम्बन्धी प्रयोजन एवं धारणाओं को भी इस पुस्तक में सप्रमाण चिह्नित किया गया है।

पुस्तक को लिखने में जिन लेखकों की कृतियों से सहायता ली गई, उनको सादर नमन। वैदिक वाङ्मय रूपी इस सुविस्तृत वटवृक्ष के अंग-उपांग, शाखा-प्रशाखाओं के जन्म, विस्तार, काल आदि का वर्णन उनके आधार पर ही किया गया है। 'सं०वा० का बृह० इतिहास' इस विषय में विशेष उपजीव्य रहा है।

---

1. वेदों का समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन 1981, आमुख, पृ० XI.

अन्तर्राष्ट्रियख्याति प्राप्त गुरुवर प्रो. सत्यव्रत जी शास्त्री ने समयाभाव होते हुए भी शुभाशंसा लिखकर जो उत्साहवर्धन किया है, इसके लिए लेखक उनका हृदय से कृतज्ञ है।

पुस्तक के लेखन में बन्धुवर डॉ. रूपकिशोर शास्त्री सचिव राष्ट्रिय वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जयिनी की प्रेरणा सतत सहायिका रही है। डॉ. धर्मपाल पूर्व कुलपति गु. कु. कांगड़ी वि. वि. हरिद्वार तथा नेशनल प्रोफेसर डॉ. सूर्यकान्त बाली इन दोनों आदरणीय मित्रों ने पुस्तक की पाण्डुलिपि को पढ़कर उपयोगी परामर्श लेखक को प्रदान किये। इन सभी विद्वद् बन्धुओं के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। एतदतिरिक्त 'अर्थे वागिव सम्पृक्ता' के अनुसार मेरी धर्मपत्नी डॉ. शारदा वर्मा, पूर्व का. प्राचार्या आर्य कन्या कॉलेज बहादुरगढ़ का योगदान भी श्लाघनीय है। प्रूफ रीडिंग में चि. संकल्प, पुत्री प्रतिष्ठा तथा निष्ठा के योगदानार्थ उन्हें शुभाशी:।

चौखम्भा ओरियन्टालिया दिल्ली के श्री ब्रजपाल दास गुप्त जी तथा उनके कर्मठ पुत्र श्री अजय गुप्त धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके परिश्रम एवं प्रेरणा से यह कार्य प्रकाश में आ सका।

रघुवीर वेदालंकार

शुभ दीपावली

सं. 2072 विक्रमी

वर्तमान में उपलब्ध वेदों के पदपाठ

ऋग्वेद का पदपाठ, शाकल्य ऋषि का बनाया हुआ।

ऋग्वेद का पदपाठ, रावण का बनाया हुआ।

तैत्तिरीय शाखा का पदपाठ, आत्रेय का बनाया हुआ।

सामवेद का पदपाठ, गार्ग्य का बनाया हुआ।

यजुर्वेद का काण्वशाखा का पदपाठ।

ब्राह्मण—ब्राह्मणग्रन्थ भी वेदों के भाष्य हैं। जो ब्राह्मणग्रन्थ उपलब्ध हैं उनके नाम यहाँ दिये जाते हैं—

ऋग्वेद के ब्राह्मण—ऐतरेय ब्राह्मण। कौशीतकि या शाङ्खायन ब्राह्मण।

यजुर्वेद के ब्राह्मण—माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण, काण्व शतपथब्राह्मण। तैत्तिरीयब्राह्मण (यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का)

सामवेद के ब्राह्मण—ताण्ड्यमहाब्राह्मण या पंचविंशब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, मन्त्रब्राह्मण, दैवतब्राह्मण (देवताध्याय ब्राह्मण), आर्षेणब्राह्मण, सामविधानब्राह्मण, जैमिनीयब्राह्मण, संहितोपनिषद्ब्राह्मण, वंशब्राह्मण, जैमिनीयार्षेयब्राह्मण।

अथर्ववेद का ब्राह्मण—गोपथब्राह्मण।

आरण्यक—आरण्यकग्रन्थों में भी वेदव्याख्यान हैं। जो आरण्यक उपलब्ध हैं, उनके नाम यहाँ दिये जाते हैं।

ऋग्वेद के आरण्यक—ऐतरेयारण्यक, शांखायनारण्यक।

यजुर्वेद के आरण्यक—बृहदारण्यक, बृहदारण्यक (काण्व), तैत्तिरीयारण्यक, मैत्रायणीय आरण्यक।

सामवेद का आरण्यक—तलवकार आरण्यक

निघण्टु-निरुक्त—निघण्टु और निरुक्त भी एक प्रकारसे वेदों के भाष्य ही हैं। जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनके नाम यहाँ दिये जाते हैं। यास्ककृत निरुक्त, यास्ककृत निघण्टु, कौत्सव्यकृत निघण्टु, वररुचिकृत निरुक्तवार्तिक।

श्रौतसूत्र—निम्नलिखित श्रौतसूत्र इस समय उपलब्ध होते हैं—

आपस्तम्बश्रौतसूत्र, आश्वलायनश्रौतसूत्र, काठकश्रौतसूत्र, कात्यायनश्रौतसूत्र, श्रौतसूत्रसंकलन, जैमिनीयश्रौतसूत्र, जैमिनीयश्रौतसूत्रकारिका, जैमिनीयश्रौतसूत्रपरिशिष्ट,

द्राह्यायणश्रौतसूत्र, बोधायनश्रौतसूत्र, भारद्वाजश्रौतसूत्र, मानवश्रौतसूत्र, लाट्यायनश्रौतसूत्र, वाधूलश्रौतसूत्र, वैतानश्रौतसूत्र, वैखानसश्रौतसूत्र, शांखायनश्रौतसूत्र, हिरण्यकेशिश्रौतसूत्र,।

गृह्यसूत्र—आश्वलायनगृह्यसूत्र, आग्निवेश्यगृह्यसूत्र, आपस्तम्बगृह्यसूत्र, काठकगृह्यसूत्र,, काटगृह्योद्धण, कौशीतकिगृह्यसूत्र, गोभिलगृह्यसूत्र, जैमिनीयगृह्यसूत्र, द्राह्यायणगृह्यसूत्र, पारस्करगृह्यसूत्र, वैजवापगृह्यसूत्र, बौधायनगृह्यसूत्र, भारद्वाजगृह्यसूत्र, मानवगृह्यसूत्र, वाराहगृह्यसूत्र, मानवगृह्यसूत्र, वैखानसगृह्यसूत्र, शांखायनगृह्यसूत्र, हिरण्केशिगृह्यसूत्र,।

शुल्बसूत्र—आपस्तम्बशुल्बसूत्र, कात्यायनशुल्बसूत्र, बौधायनशुल्बसूत्र, हिरण्यकेशिशुल्बसूत्र।

धर्मसूत्र—काश्यपधर्मसूत्र, आपस्तम्बधर्मसूत्र, गौतमधर्मसूत्र, बौधायनधर्मसूत्र, वशिष्ठधर्मसूत्र, विष्णुधर्मसूत्र, वैखानसधर्मसूत्र, शंखलिखितधर्मसूत्र, सुमन्तुधर्मसूत्र, हिरण्यकेशिधर्मसूत्र।

स्मृतियाँ—मनुस्मृति (भृगुप्रोक्त), मनुस्मृति (नारदप्रोक्त), याज्ञवल्क्यस्मृति, अंगिरास्मृति, अत्रिस्मृति, आपस्तम्बस्मृति, अत्रिसंहिता, औशनशस्मृति, यमस्मृति, दक्षस्मृति, देवलस्मृति, प्रजापतिस्मृति, बृहद्यमस्मृति, बृहस्पतिस्मृति, लघुविष्णुस्मृति, लघुशंखस्मृति, लघुशतपथस्मृति, लघुहारीतस्मृति, लध्वाश्वलायनस्मृति, लिखितस्मृति, वशिष्ठस्मृति, बृहद्शातातपत, बृहद्हारितस्मृति, शंखस्मृति, शातातपतस्मृति, संवर्तस्मृति, बौधायनस्मृति।

शिक्षाग्रन्थ—शिक्षासूत्रपाणिनिकृत, शिक्षासूत्रआपशिलिकृत, कौहलीशिक्षा, नारदीयशिक्षा, पाणनीयशिक्षा, भारद्वाजशिक्षा, माण्डूकीशिक्षा, याज्ञवल्क्यशिक्षा, शैशिरीशिक्षा, वाशिष्ठीशिक्षा, कात्यायनीशिक्षा, पाराशरीशिक्षा, मांडव्यशिक्षा, अमोघनान्दिनीशिक्षा, माध्यन्दिनशिक्षा, वर्णरत्नप्रदीपशिक्षा, अमरेशकृतकेशवीशिक्षा केशवीवैद्यात्मशिक्षा, मल्लशर्मशिक्षा, स्वराङ्कुशाशिक्षा, रामकृष्णशिक्षा, अवसाननिर्णयशिक्षा, स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्टशिक्षा, कात्यायनकृतक्रमरसंन्धानशिक्षा, गलदृक्शिक्षा, मनःस्वारशिक्षा, प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा और वेदपरिभाषाशिक्षा, यजुर्विधानशिक्षा, स्वराष्टकशिक्षा, क्रमकारिकाशिक्षा, शिक्षाप्रकाशः, गौतमीशिक्षा, लोमशीशिक्षा, मांडूरीशिक्षा।

प्रातिशाख्य—ऋक्प्रातिशाख्य, यजुःप्रातिशाख्य, तैत्तिरीयप्रातिशाख्य, सामवेद के पुष्परात्र, पंचविधिसूत्र, ऋक्तन्त्र, अथर्वप्रातिशाख्य जिसको चतुरध्यायिका भी कहते हैं।

व्याकरण–अष्टाध्यायी (शब्दानुशासन) लिंगानुशासन, धातुपाठ, गणपाठ, कात्यायनकृत वार्तिक, पतंजलिकृतमहाभाष्य। इसके अतिरिक्त फिट्सूत्र, उणादिसूत्र भी व्याकरण के ग्रंथ हैं।

छन्द–वैदिक छन्द-शास्त्र के निम्न ग्रंथ इस समय उपलब्ध हैं–पिंगलछन्दःशास्त्र, जयदेवकृत छन्दःसूत्र।

अन्य लक्षणग्रन्थ–इन सब ग्रंथों के अतिरिक्त अनेक लक्षणग्रंथ हैं जिनके अध्ययन से वेदार्थ में भारी सहायता मिलती है, उनके नाम यहाँ दिये जाते हैं ये सब ग्रन्थ भी आज उपलब्ध हैं।

ऋग्वेदसर्वानुक्रमणिका, यजुःसर्वानुक्रमणिका, चारायणीया मन्त्रार्षानुक्रमणिका, अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका, अथर्वपरिशिष्टम्, अथर्ववेदीया पंचपटलिका, आपस्तम्ब मन्त्रपाठ, निदानसूत्र, उपनिदानसूत्र, उपलेखसूत्र, अथर्वशांतिकल्प, अथर्वप्रायश्चित, कर्मप्रदीप, कौशिकसूत्र, क्षुद्रसूत्र, गोनामिका, गौतमपितृमेधसूत्र, चरणव्यूह, दन्त्योष्ठविधि, बृहद्देवता, बौधायनपितृमेधसूत्र, बौधायनश्रोतप्रवर, मैत्रायणीयछन्दोऽनुक्रमणिका, समराजंगण सूत्रधार, सामवेदानुक्रमणिका, सुपर्णाध्याय, हिरण्यकेशिपितृमेधसूत्र।

उपनिषदें–प्रामाणिक उपनिषदें केवल 11 ही है। अन्य उपनिषदें आधुनिकऔर तांत्रिक है। जो भी उपनिषद् नाम से आजकल ग्रंथ प्रचलित हो गए हैं और मिलते भी हैं उनके नाम इस प्रकार हैं–आरम्भ के 11 उपनिषद् प्रामाणिक हैं। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्तेतर, कैवल्य, अथर्वशिखोपनिषद्, अक्षमालिकोपनिषत्, अक्ष्युपनिषत्, अद्वयतारकोपनिषत्, अद्वैतोपनिषत्, अद्वैतभावनोपनिषत्, अध्यात्मोपनिषत्, अमृतनादोपनिषत्, अन्नपूर्णोपनिषत्, अमृतबिंदूपनिषत्, अरुणोपनिधत्, अल्लोपनिषत्, अवधूतोपनिषत्, अव्यक्तोपनिषत्, अथर्वसीरोपनिषत्, आत्मोपनिषत्, आचमनोपनिषत्, अथर्वणाद्वितिकोपनिषत्, आत्मपूजोपनिषत्, आत्मबोधोपनिषत्, अरुणिकोपनिषत्, आर्षयोपनिषत्, आश्रमोपनिषत्, इतिहासोपनिषत्, ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषत्, एकाक्षरोपनिषत्, करुरुद्रोपनिषत्, कलिसंतरणोपनिषत्, कठमृत्यूपनिषत्, कात्यायनोपनिषत्, कामराजकिर्तितोध्दारोपनिषत्, कालिमेधादीक्षितोपनिषत्, कालाग्निरुद्रयोपनिषत्, कानिलकोपनिषत्, कुण्डिकोपनिषत्, कृष्णोपनिषत्, कृष्णपुरुषोत्तममोपनिषत्, कोषीतकी ब्राह्मणोपनिषत्, कीलोपनिषत्, क्षुरिकोपनिषत्, गणपत्युपनिषत्, गरुडोपनिषत्, गर्भोपनिषत्, गायत्र्युपनिषत्, गायत्रीरहस्योपनिषत्, गीतोपनिषत्,

गुहयकाल्युपनिषत्, गुहयोढान्यासोपनिषत्, गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत्, गोपिचन्द्रोपनिषत्, गोपालपूर्वतापिन्युपनिषत्, चतुर्वेदोपनिषद्, चक्रोपनिषत्, चाक्षुषोपनिषत्, मुनिकोपनिषत्, धागलोपनिषत्, जाबालोपनिषत्, जाबालदर्शनोपनिषत्, जाबाल्युपनिषत्, तारसारोपनिणत्, तारोपनिषत्, तुरियोपनिषत्, तुरियातीतोपनिषत्, तुल्स्युपनिषत्, तेजोबिंदूपनिपत्, त्रिपुरोपरिषत्, त्रिपुरातापिन्युपनिषत्, त्रिशिखाब्रह्मणोपनिषत्, त्रिपाद्‌विभूषित महानारायणोपनिषत्, दक्षिणामृत्यूपनिषत्, दत्तात्रयोप., देयुव्यय., द्वयोप., ध्यानबिन्दूपनिषत्, नारायणोप., नारायणोत्तरतापिन्युप., नाबिन्दूप., नारदपरिन्द्राजपोप., नारायणपूर्वतापिन्युप., नादोपनिषत्, निरालम्बोपनिषत्, निरूक्तोप., निर्वाणोपनिषत्, निलरूदोप., नरसिंहोत्तरतापिन्युप., नरसिंहपूर्वतापिन्यप., नरसिहषट्‌चक्रोप., पंचब्रम्होप, परमहंस परिव्राजकोप., परब्रम्होप., पारमात्मिकोप., पारायणोप., पाशुपतब्रम्होप., पिण्डोपनिषत्, पिण्डब्राह्मणोपनिषत्, पितरम्बरोप., पैंगलोप., प्रणदोषनिषत्, प्राणिाग्निहोत्रोप, ब्रह्मचोप., ब्रह्मजाबालोप., ब्रह्मोप., ब्रह्माबिन्दूप., ब्रह्मविद्योप., बस्मजाबालोप., भवसंतरणोप., भवनोप., भिक्षुकोप, मठाख्यायोप., मण्डलब्राह्मणोप, महानारायणोप., मन्त्रिकोपनिषत्, महाढावयोप., महोपनिषत्, मुक्तिकोप., मुद्‌गलोप., योगकुण्डल्युप., योगचूडामष्युप., योगतत्वोप., योगराजोप., योगशिखोप., याज्ञवल्क्योप., योगतत्वोप., राजश्यामलाहस्योप., रामोतस्तापिन्युप., राधोप., रामपूर्वतापिन्युप., रामरहस्योप., रूद्रोप., रुद्रजाबालोप., रुद्रहृदयोप., लांगलोप., लिंगोप., वनदुर्गोप., वटुकोप., वरदित्तरतापिन्यूप., वज्रंजतोप, वरदपूर्वतापिन्यूप., वराहोप., वज्रसूषिकोप., वासुदेवोप., विश्रामोप. विद्यातारकोप. शरभोष. शाट्यायनियोप. शाण्डिल्योप. शारिरकोप. शिवोप. शिवसंकल्पोप. शुकरहस्योप. शोनकोप. श्यामलोप. षोठोप. सदानन्दोप, संकषणोप. सैन्यासोप. सरस्वतिरहस्योप सर्वसारोप. सामरहस्योप. साविज्युप. सिद्धांतासारोप, सिध्दांतशिखोप., सुबालोप., सुमुख्युप. सूर्योप., सूर्यतापिन्युप., सौभाग्यलक्ष्म्युप., स्कन्दोप. स्वसंवेद्योप. हयग्रीवोप. हंसोप, हंसपोठोप. हेरभ्योप.

निघण्टु का भाष्यकार–देवराज यज्वा।

निरुक्त के भाष्यकार–दुर्गाचार्य, स्कन्दमहेश्वर, वररुचि, निरुक्तवार्तिककार।

ब्राह्मणग्रंथों के भाष्यकार–षड्‌गुरुशिष्य (ऐतरेय ब्राह्मण), हरिस्वामी (माध्यन्दिन शतपथ), भट्‌टभास्कर (तैत्तिरीय शाखा), जयस्वामी (ताण्ड्य महाब्राह्मण), नारायणाचार्य (ताण्ड्य महाब्राह्मण), गुरुविष्णु (मन्त्रब्राह्मण), काश्यप भट्‌भास्कर मिश्र (आर्षेय ब्राह्मण) भरतस्वामी (सामविधान ब्राह्मण), विष्णुपुत्र (संहितोपनिषद् ब्राह्मण और वंशब्राह्मण), भवत्रात (जैमिनीय ब्राह्मण),

मिताक्षरा टीका (कौशीतकि ब्राह्मण), नारायणेन्द्र सरस्वती (शतपथान्तर्गत मण्डलब्राह्मण), सायण (माध्यन्दिन शतपथ, ताण्ड्य महाब्राह्मण, षड्विंशब्राह्मण मन्त्रब्राह्मण, दैवतब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण)। स्वामी दयानन्द सरस्वती–ब्राह्मण ग्रंथों के अर्थों के संग्रह पर एक ग्रंथ रचा।

अनुक्रम

के ब्राह्मणों की संख्या, सामवेद के अनुपलब्ध ब्राह्मण–शाट्यायन ब्राह्मण, भाल्लवि ब्राह्मण। सामवेदीय ब्राह्मणों का वर्गीकरण (1) ताण्ड्य ब्राह्मण (2) षड्विंश ब्राह्मण (3) साम विधान ब्राह्मण (4) आर्षेय ब्राह्मण (5) देवताध्याय ब्राह्मण (6) उपनिषद् ब्राह्मण (7) संहितोपनिषद् ब्राह्मण (8) वंश ब्राह्मण। जैमिनीय शाखा के ब्राह्मण–(1) जैमिनीय ब्राह्मण (2) जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण (3) जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण। सामवेदीय ब्राह्मणों में निहित आचार दर्शन। **अथर्ववेदीय ब्राह्मण**–गोपथ ब्राह्मण , गोपथ कानामकरण विभाग प्रतिपाद्य विषय, विशेषताएँ एवं प्रचार देश। **आरण्यक साहित्य**–नामकरण और महत्त्व, आरण्यकों का ब्राह्मणों से सम्बन्ध, मुख्य प्रतिपाद्य, प्रवचन कर्त्ता, देश-काल तथा भाषाशैली। **आरण्यकों का परिचय**–(1) ऐतरेय आरण्यक (2) शाखांयन आरण्यक (3) बृहदारण्यक (4) तैत्तिरीयारण्यक (5) तलवकार आरण्यक (6) छान्दोग्य आरण्यक। आरण्यकों के संस्करण तथा उन पर हुए शोध कार्य। **उपनिषत् साहित्य**–ज्ञान काण्ड तथा कर्मकाण्ड, उपनिषद् शब्द का अर्थ, उपनिषदों की संख्या, प्रमुख उपनिषदें, वेदों एवं उनकी शाखाओं से उपनिषदों का सम्बन्ध, उपनिषदों के भाष्य, उपनिषदों का देश-काल, आधार, उपनिषदों का दर्शन, प्रमुख उपनिषदों का परिचय।

(क) ऋग्वेदीय उपनिषदें, (ख) शुक्लयजुर्वेदीय उपनिषदें, (ग) कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषदें, (घ) सामवेदीय उपनिषदें, (ङ) अथर्ववेदीय उपनिषदें। उपनिषदों पर हुए शोध कार्य एवं अनुवाद, उपनिषदों का महत्त्व, उपनिषदों का प्रतिपाद्य

वेदांग शब्द का अर्थ, वेदांगों का समय, संख्या, महत्त्व एवं प्राचीनता। **प्रथमवेदांग**–शिक्षा, शिक्षाशास्त्र का इति.। पाणिनीय शिक्षा, सूत्रात्मिका पाणिनीय शिक्षा। (1) ऋग्वेदीय शिक्षा ग्रन्थ (2) कृष्ण यजुर्वेदीय शिक्षाएँ (3) सामवेदीय शिक्षाग्रन्थ (4) अथर्ववेदीय माण्डली शिक्षा। **प्रातिशाख्य साहित्य** (1) ऋग्वेद के प्रातिशाख्य–ऋक् प्रातिशाख्य–ऋक् प्राति॰ का स्वरूप, वर्ण्यविषय, व्याख्याता, संस्करण (2) शुक्ल यजुर्वेद का प्रातिशाख्य (3) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (4) सामवेद के प्रातिशाख्य (5) अथर्ववेदीय प्रातिशाख्य। **द्वितीय वेदांग**–कल्पसूत्र–कल्पसूत्रों का निर्माण काल तथा भेद। वेदों के पृथक्-पृथक् सूत्र ग्रन्थ (1) **श्रौतसूत्र** (क) ऋग्वेदीय श्रौत्रसूत्र–शांखायन, आश्वलायन। (ख) कृष्ण यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र–बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, बाधूल, हिरण्यकेशी, वैखानस। कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा के श्रौत सूत्र– मानव, वाराह। (ग) शुक्ल यजुर्वेदी श्रौतसूत्र (घ) सामवेदीय श्रौतसूत्र (ङ) अथर्ववेदीय श्रौत सूत्र। (2) **गृह्य सूत्र**–(क) ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र–आश्वलायन, शांखायन, कौशीतकि। (ख) शुक्ल यजुर्वेदीय गृह्यसूत्र–पारस्कर (ग) कृष्ण यजुर्वेदीय गृह्यसूक्त–(1) बोधायन, (2) भारद्वाज, (3) आपस्तम्ब, (4) हिरण्यकेशि, (5) मानव, (6) काठक, (7) वाराह (8) अग्निवेश्य (9) वैखानस। (घ) **सामवेदीय गृह्यसूत्र**–गोभिल, खादिर, ब्रह्मायण, कौथुम, जैमिनीय। (ङ) **अथर्ववेदीय गृह्यसूत्र**–कौशिकसूत्र। (3) **धर्मसूत्र**–धर्मसूत्रों का महत्त्व, रचनाकाल। (1) बौधायन

(2) गौतम, (3) आपस्तम्ब, (4) वसिष्ठ, (5) हारीत, (6) हिरण्यकेशि, (7) वैखानस, (8) विष्णु धर्म-सूत्र (4) **शूल्ब सूत्र**–शुल्ब का अर्थ निणर्य, शूल्बसूत्रों की संख्या–(1) बौधायन (2) आपस्तम्ब (3) मानव (4) मैत्रायणीय (5) कात्यायन

तृतीय वेदांग–व्याकरण–पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरण, पाणीनीय तन्त्र के खिल ग्रन्थ। कात्यायन, पतंजलि। महाभाष्य के टीकाकार, उपलब्ध टीकाएँ। भर्तृहरि और वाक्यपदीय। **अष्टाध्यायी के वृत्ति ग्रन्थ**, काशिका, भागवृत्ति, भाषावृत्ति, दुर्घटवृत्ति, प्रक्रियादीपिका, मिताहार सूत्रप्रकाश, व्याकरण सिद्धान्त सुधानिधि, शब्द कौस्तुभ, पाणिनीय दीपिका। **प्रक्रियाग्रन्थ**–प्रक्रिया कौमुदी, सिद्धान्त कौमुदी, लघु कौमुदी। सिद्धान्त कौमुदी की टीकाएँ। **पाणिनीयेतर व्याकरण सम्प्रदाय**–(1) कातन्त्र (2) चान्द्र (3) जैनेन्द्र (4) शाकटायन (5) सरस्वतीकण्ठाभरण (6) सिद्धहैम (7) सारस्वत (8) मुग्धबोध (9) जैमर व्याकरण। वैदिक व्याकरण पर आधुनिक विद्वानों द्वारा लिखित ग्रन्थ।

चतुर्थ वेदांग–निघण्टु तथा निरुक्त–निघण्टु का कर्त्ता, निघ्रण्टु की व्याख्या, यास्क का निरुक्त, यास्क काल, निरुक्त के प्रयोजन, निरुक्त की विषय वस्तु, यास्क के निर्वचन सिद्धान्त, निरुक्त के प्राचीन व्याख्याकार, निरुक्त के आधुनिक व्याख्याकार, प्रमुख संस्करण।

पंचम वेदांग-छन्द–छन्द शब्द का अर्थ, पिंगल का छन्द शास्त्र, पिंगल छन्द शास्त्र के व्याख्याता, छन्द विषयक अन्य ग्रन्थ।

षष्ठ वेदांग–ज्योतिष–ज्योतिष शब्द का अर्थ, ज्योतिष की वेद मूलकता, वेदांग ज्योतिष के रचयिता तथा रचनाकाल।

(1) वेदों में प्रयुक्त दास तथा दस्यु, (2) आर्य तथा द्रविड शब्द जातिवाचक नहीं है, द्रविड कल्पना का प्रारम्भ। (3) आर्य-द्रविड़ विभाजन-महज कल्पना : स्टडी, (4) क्या सिन्धुसभ्यता द्रविडसभ्यता है?, (5) आर्यों का मूल स्थान, भारत के पक्ष में प्रमाण, (6) आर्य आक्रमणकारी नहीं, मूल निवासी थे, (7) भारत में आर्यों के आगमन एवं आक्रमण की कल्पना का उद्‌देश्य। (8) **वेदों में लौकिक इतिहास तथा पशुहिंसा प्रकरण**, इतिहासपक्ष में दोष, सायणाचार्य का यौगिक पक्ष, (9) वेदों में प्राप्त आख्यान तथा संवाद सूक्त, (क) निरुक्त में चर्चित आख्यान (ख) निरुक्त में अचर्चित आख्यान (10) भारोपीय भाषा तथा वेद, भारोपीय भाषा की कल्पना का उद्‌देश्य। (11)वेदों में हिंसा तथा पशुवध, संज्ञपन अवदान शब्द, आलभन। अश्वमेध, गोमेध-नृमेध।

प्रथम अध्याय

वेदशब्दार्थ तथा वेदाविर्भाव

वेद शब्द का अर्थ

ऋषियों को परम्परा से प्राप्त ज्ञानराशि तथा पुस्तकरूप में निबद्ध चार संहिताओं का नाम वेद है। ऋग्वेदादि चारों संहिताओं में ही वेद शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। स्पष्ट है कि यह प्रयोग संहिता ग्रन्थों के लिए नहीं है। वेद शब्द विद धातु से करण तथा अधिकरण कारकों में घञ् प्रत्यय करके बनता है। ञ्नित्यादिर्नित्यम् (पा. 6/1/197) के अनुसार यह आद्युदात्त होना चाहिए। ऋग्वेद में प्रथमा एक वचन में पन्द्रह बार आद्युदात्त वेद शब्द प्रयुक्त हुआ है।[1] तथा तृतीया एकवचन में एक बार।[2] अन्तोदात्त वेद शब्द ऋग्वेद में नहीं मिलता। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में आद्युदात्त[3] तथा अन्तोदात्त[4] दोनों ही रूपों में वेद शब्द उपलब्ध होता है।

इसीलिए पाणिनि ने आद्युदात्त के लिए वेद शब्द को वृषादिगण (6/1/203) में तथा अन्तोदात्त के लिए उञ्छादिगण (6/1/160) में पढ़ा है। ये गण क्रमशः आद्युदात्त तथा अन्तोदात्त का विधान करते हैं।[5] स्वामी दयानन्द ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है 'करणकारक में प्रत्यय किया हो तो वेग, वेद, वेष्ट, वन्द्य आदि चार शब्द अन्तोदात्त हैं और भाव वा अधिकरण में प्रत्यय होगा तो आद्युदात्त ही समझे जावेंगे।[6]

---

1. ऋ०. 1/70/5, 3/53/14, 8/19/5 इत्यादि।
2. ऋ. 8/19/5
3. यजु. 19/18, अथर्व. 4/35/6, 7/57/1, 10/8/57, 19/68/1, 19/72/1
4. यजु. 2/21, अथर्व. 2/29/1, 19/9/12
5. वृषादीनां च, उञ्छादीनां च
6. स्वा. दया., सौवर, 'उञ्छादीनाञ्च' सूत्र की व्याख्या।

आद्युदात्त वेद शब्द का अर्थ सभी भाष्यकारों ने 'ऋग्वेदादिसंहिताचतुष्टयात्मक ज्ञानराशि' किया है। सायणाचार्य[1] तथा स्वामी दयानन्द[2] ने अन्तोदात्त वेद शब्द का अर्थ भी ऋग्वेदादि संहिता ही किया है।

ऋ. 8/19/5 में पठित वेदेन[3] पद का, अर्थ वेंकट माधव 'स्वाध्यायेन' तथा सायण 'वेदाध्ययनेन', 'ब्रह्मयज्ञेन' करते हैं। यजुर्वेद में भी वेदेन पद ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[4] अथर्ववेद में भी आद्युदात्त वेद शब्द ज्ञान के अर्थ में बहुधा प्रयुक्त है।[5]

लैटिन भाषा में विद धातु को Videre धातु कहा जाता है। अंग्रेजी का विजन Vision शब्द वेद के आशय को अधिक स्पष्ट करता है। इसका अर्थ 'दर्शन' है। ऋषियों को भी मन्त्रों का द्रष्टा कहा जाता है।[6]

यास्काचार्य ने यहीं पर यह भी लिखा है कि तपस्या करते हुए ऋषियों को स्वयंभू ब्रह्म-वेद अवतरित हुआ। यही ऋषियों का ऋषित्व हैं।[7] इस प्रकार वह ज्ञानराशि, जिसका ऋषियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से दर्शन किया, वेदपद वाच्य है। विन्टरनिट्ज ने भी वेद के विषय में ऐसा भी भाव प्रकट किया है। वे इस ज्ञानराशि को 'The knowledge par excellence' तथा 'The Sacred religious knowledge' कहते हैं

वेद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

ग्रन्थ रूप में वेद की परिभाषा करते हुए सायणाचार्य कहते हैं-

इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः

(तैतिरीयसंहिताभाष्य की भूमिका)

अर्थात् जो ग्रन्थ इष्टप्राप्ति तथा अनिष्टपरिहार के अलौकिक उपाय बतलाए, वह वेद है।

ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका में उन्होंने वेद को पुरुषार्थ का अलौकिक उपाय बतलाने वाला कहा है।[8]

1. वेदाः सप्त ऋषयोग्न्यः। अथर्व. 19/9/12 पर सा.भा. 'वेदाः साङ्गाश्चत्वारः'।
2. वेदोऽसि येन त्वम्। यजु. 2/21 पर दया.भा.-विदन्ति येन स ऋग्वेदादिर्वा।
3. यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश। ऋ. 8/19/5
4. वेदेन रुपे व्यपिबत् सुतासुतौ प्रजापतिः। यजु. 19/78
5. अथर्व. 4/35/6, 7/57/1, 10/8/17, 15/3/7, 19/68/1, 19/72/2।
6. ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। नि. 2/21
7. तद्यदेतान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भवभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवन्। नि. 2/11
8. अलौकिकं पुरुषार्थोपायं वेत्ति अनेनेति वेदशब्दनिर्वचनम्।

सायणाचार्य ने वेद की व्युत्पत्ति विषयक निम्न श्लोक अपनी ऋग्भाष्य भूमिका में उद्धृत किया है–

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

प्रत्यक्ष तथा अनुमान से भी जो उपाय नहीं जाने जा सकते, उन्हें वेद के द्वारा जानते हैं। यही वेद का वेदत्व है। महर्षि दयानन्द ने वेद शब्द की निम्न व्युत्पत्ति दी है। विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति विदन्ते लभन्ते, विदन्ते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाःसत्यविद्या यैर्येषु वा।[1] धातुपाठ में विद ज्ञाने (अदादि), विद सत्तायाम् (भ्वा०) विदलृ लाभे (तुदा०) तथा विद विचारणे (स्वा०) धातु पठित हैं। यह व्युत्पत्ति उक्त चारों विद धातुओं के अर्थों पर आधारित है। यथा–

1. सब मनुष्य जिनके द्वारा सब सत्य विद्याओं को जानते हैं, वे वेद हैं–(करण कारक)।
2. सब सत्य विद्याएं जिनमें वर्तमान हैं, वे वेद हैं (अधिकरण)
3. सब मनुष्य जिनमें सत्य विद्याओं को पाते हैं, वे वेद हैं। (अधिकरण)
4. सब मनुष्य जिनमें सब सत्य विद्याओं का विचार करते हैं, वे वेद हैं। (अधिकरण)

अमरकोश (1/5/3) की टीका में क्षीरस्वामी ने तथा हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि में लिखा है–विदन्त्यनेन धर्मं वेद। यहाँ केवल धर्मज्ञान तक ही वेद को सीमित कर दिया गया। सर्वानन्द ने इसका विस्तार करते हुए अमरकोश की टीका में लिखा है–विदन्ति धर्मादिकमनेनेति वेदः।

इस प्रकार करण तथा अधिकरण कारकों में वेद शब्द को निष्पन्न किया गया है। इसे कर्त्ता कारक में भी व्याख्यात किया गया है। यथा आपस्तम्ब श्रौ०सू० (1/3) की वृत्ति में हरदत्त ने लिखा है–वेदयतीति वेदः। तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में भट्ट भास्कर ने भी ऐसा ही लिखा है–

पुरुषार्थानां वेदयिता वेद उच्यते। 3/3/4/7

काठक, मैत्रायणी तथा तैत्तिरीय सहिताओं में वेद शब्द की व्युत्पत्ति निम्न रूप में की गयी है–

वेदेन वै देवा असुराणां वित्तमविदन्त तद्वेदस्य वेदत्वम्।तै०सं० 1/4/20

---

1. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदोत्पत्तिविषय, पृ. 20

ऋक्प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति की प्रस्तावना में विष्णु शर्मा ने वेद की यह परिभाषा दी है "विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादिपुरुषार्थ इति वेदाः" यहाँ विदज्ञाने, विद सत्तायाम् तथा विद्लृलाभे धातुओं से वेद शब्द सिद्ध किया गया है।

वेद शब्द की व्याख्या करते हुए वाचस्पाति गैरोला लिखते हैं–वेद शब्द का व्याकरणशास्त्रीय अर्थ ज्ञान है। वेद कहने से हमें वह ईश्वरीय ज्ञान अभिप्रेत है, वैदिकधर्म की परम्परा के अनुसार जिसको सबसे पहले ऋषियों महर्षियों ने पाया अथवा जिसका उन्होंने साक्षात्कार किया। अतः यह स्पष्ट हो गया। तपः पूत ऋषियों-महर्षियों द्वारा दृष्ट ज्ञान ही वेद शब्द का अभिप्रेत अर्थ है।[1] यही भाव गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने इस प्रकार व्यक्त किया है–

वेद का अर्थ सनातन विद्या और उसका प्रतिपादन करने वाली शब्द राशि है।[2] क्षीरस्वामी[3] तथा हेमचन्द्र[4] के अनुसार धर्मादि की प्राप्ति जिससे हो, उसे वेद कहते हैं। सर्वानन्द भी ऐसा ही कहते हैं 'विदन्ति धर्मादिकमेननेति वेदः'। आपस्तम्ब सूत्र (1/33) के भाष्य में कपर्दी स्वामी लिखते हैं 'निःश्रेयस्कराणि कर्माणि वेदयन्ति वेदाः।'

वेद के अन्य नाम–संस्कृत वाङ्मय में वेद नामक इस ज्ञान राशि को अनेक नामों से व्यवहृत किया गया है। यथा–श्रुति[5], मन्त्र[6], निगम[7], आगम[8], ऋषि[9], ब्रह्म[10], छन्द[11], आम्नाय[12], शास्त्र[13] आदि नाम वेद के लिए बहुधा प्रयुक्त हुए हैं।

---

1. गैरोला, वाचस्पति, संस्कृत सा॰ इति॰, पृ॰ 73–74
2. पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, वैदिकसंस्कृति पृ॰ 27
3. विदन्त्यनेन धर्मं वेदः। क्षीरस्वामी, अमरकोश की टीका 1/5/3
4. हेमचन्द्र, अभिधानचिन्तामणि, पृ. 1–6
5. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः। मनु॰ 2/10
6. मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याः पदार्था येन यस्मिन् वा स मन्त्रो वेदः। स्वा.दया., ऋ॰भा॰ भू॰, वेदविषयविचार, पृ. 83
7. अष्टाध्यायी में कई बार निगमे पद पठित है। कशिका (3/3/1) में 'नैगम रूढ़िभवं हि सुसाधु' प्रयोग भी किया गया है।
8. प्रत्यक्षानुमानागमेषु–अन्तिमो वेदः। सायण, ऋ॰ भा॰ भू॰ पृ. 2, आगमपदेन श्रुतिः। नागेश, उद्योत।
9. ऋषिरिति वेदः। म॰भा॰ 3/1/17 पर कैय्यट
10. ब्रह्म चैव धनं येषाम्। मनु॰ 9/316 पर कुल्लूक-वेद एव च येषां धनम्
11. बहुलं छन्दसि। पा॰ 2/4/73 आदि में।
12. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वै॰ द॰ 1/1/3
13. शास्त्रयोनित्वात्। वे. द. 1/1/3, शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य। शा॰ भा॰

श्रुतिः-श्रूयत इति श्रुतिः। लेखनकला से पूर्व वेदज्ञान श्रुतिपरम्परा से ही अवस्थित था। अथवा श्रूयन्ते सकला विद्या यया सा श्रुतिः। जिससे समस्त विद्याओं का ज्ञान प्राप्त होता है, वह श्रुति है। **छन्दस्**-यास्क ने छन्दांसि छादनात् (नि० 7/12) कहा है। आच्छादन अर्थात् रक्षा करने के कारण वेदों को छन्द कहा जाता है। शतपथ में कहा गया है कि देवों ने मृत्यु के भय से अपने आपको इनके द्वारा आच्छादित किया, इसलिए वेदों को छन्द कहते हैं[1]-

मन्त्र-'मत्रि गुप्तपरिभाषणे' धातु से मन्त्र शब्दसिद्ध होता है। अर्थात् जिसमें गुप्त रहस्यों का वर्णन होता है, उसे वेद कहते हैं। यास्क 'मन्त्रामननात्' कहकर 'मन ज्ञाने' धातु से मन्त्र की सिद्धि करते हैं।

निगम-नितरां गमयति प्रापयति विज्ञापयति वा सर्वज्ञानानि स निगमः

वेदों का प्रयोजन

वेद विश्व की अमूल्य निधि हैं, ऐसा तो सभी स्वीकार करते हैं, तथा यह विचारणीय है कि वेदात्मक इस अमूल्य निधि का प्रयोजन क्या है? इस विषय में एक भ्रान्त धारण प्रचलित हो गयी कि वेदों का प्रयोजन यज्ञमात्र है। इस धारणा के मूल में आचार्य लघट् का निम्न प्रसिद्ध श्लोक एक पुष्ट प्रमाण के रूप में रहा है-वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृताः कालानुपूर्वा विहिताश्च वेदाः।[2]

उवट, महीधर, सायणादि भाष्यकारों ने भी इसी लक्ष्य को सामने रखकर अपने वेदभाष्य किये हैं। यद्यपि आधिदैविक तथा आध्यात्मिक व्याख्याएँ भी उन्होंने की हैं, किन्तु वे बहुत ही कम है। ऋग्, यजु तथा साम के रूप में वेदों का जो त्रैविध्य स्वीकार किया गया था, इसका भी वास्तविक अर्थ न समझ कर इसे भी याज्ञिक प्रक्रिया का ही अनुमोदन मान लिया गया है। अतः ऋक् का अर्थ किया गया कि जिन मन्त्रों के द्वारा यज्ञ में अग्नि आदि देवों की स्वृति की जाती है, वे ऋक् हैं। जिनके द्वारा यज्ञ में आहुतिं दी जाती है, वे मन्त्र यजुष् हैं तथा जिन मन्त्रों का गान यज्ञ में किया जाता है, वे सामपदवाच्य हैं। इस प्रकार तीनों वेदों को यज्ञ से ही सम्बन्धित कर दिया गया। जबकि अपनी ऋग्भाष्यभूमिका में सायणाचार्य कह चुके थे-

---

1. यद् एभि आत्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतः तच्छन्दसां छन्दत्वम्।
2. वेदांगज्योतिष, श्लोक 3

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

वेदों को यज्ञमात्र तक सीमित करने में यह कथन सार्थक नहीं हो सकता।

वस्तुतः ऋक् के अभिधेयार्थ स्तुति पद का वह अर्थ नहीं था, जैसा कि समझा गया है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही 'अग्निमीडे' पद पठित है।

धातुपाठ में यह धातु स्तुत्यर्थक है, किन्तु यास्क इसे अध्येषणाकर्मा भी मानते हैं।[1] अध्येषणा का अर्थ है कि अग्नि का विभिन्न कार्यों में उचित उपयोग। यज्ञ की अग्नि भी अग्नि है, विद्युत् भी अग्नि है, जो कि जलों में छिपी हुई है, सूर्य भी अग्नि है, शरीर में निहित प्राण[2] भी अग्नि हैं, परमेश्वर[3] तथा जीवात्मा[4] भी अग्नि है। इस प्रकार अग्नि सर्वत्र व्याप्त है। यह हमारी पाकशाला से लेकर अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा पूरे विश्व में व्याप्त है। अग्निसूक्त में यही कहा गया है कि विभिन्न रूपों में व्याप्त इस अग्नि का आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक रूपों में अनेक प्रकार से उपयोग करके समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त करें, न कि केवल यज्ञकुण्ड में ही आहुति देते रहें। इस अग्नि को हम प्रत्येक कार्य में अपने समाने रखें। प्रत्येक ऋतु एवं कार्य में इसका यजन-संगतिकरण करें, तभी यह रत्नधातम बनेगा। वेद में प्राप्त इन्द्र आदि अन्य देवों के स्तवन का भी यही भाव है। इन्द्र विद्युत् का वाचक भी है।[5] आज विद्युत् का विभिन्न कार्यों में उपयोग हो रहा है। यही उसका स्तवन-अध्येषणा है। इस प्रकार ऋग्वेद से ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करके हम विविध प्रकार का सांसारिक ज्ञान एवं ऐश्वर्य प्राप्त करें। इसी दृष्टि से ऋग्वेद को ज्ञान का प्रतीक माना जाता है।

यजुर्वेद भी केवल अग्निहोत्रात्मक यज्ञ का वेद नहीं है, अपितु उसका सम्बन्ध विविध कर्मों से है। इसके प्रथम मन्त्र में ही 'इषे त्वा ऊर्जे त्वा' के द्वारा इष-अन्न तथा ऊर्क्-बल प्राप्ति की बात कहकर कर्म करने की प्रेरणा दी गयी है। कर्म ही नहीं, अपितु श्रेष्ठतम कर्म करने के लिए सविता देव तुम्हें प्रेरित करें। अन्त में चालीसवें अध्याय में पुनः 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि०' मन्त्र के द्वारा

---

1. ईळिरध्येषणाकर्मा, पूजाकर्मा वा। नि० 7/15
2. प्राणो वाग्निः। शत० 9/5/2/68
3. अग्निरेव ब्रह्म। शत० 10/4/2/5
4. आत्मा वाऽग्निः। शत० 6/7/1/20
5. स्तनयित्नुरेवेन्द्रः। शत० 11/6/3/9

जीव को सतत कर्मशील रहने की प्रेरणा दी गयी है। इसीलिए यहाँ पर जीव को वायु कहा गया है।[1] 'वा गतिगन्धनयोः' धातु के आधार पर वायु का अर्थ गतिशीलता भी है। कर्म के लिए गतिशीलता अनिवार्य है। प्रथम मन्त्र में भी 'वायवस्थ' कहकर यही भाव प्रकट किया गया है। इस प्रकार यजुर्वेद का सम्बन्ध गतिशीलता तथा तदाधारित कर्मों से है, न कि केवल घृतसामग्री से सम्पन्न होने वाले यज्ञ से। पं॰ बलदेव उपाध्याय ने शतपथ के आधार पर यजुः शब्द के विस्तार को इस प्रकार लिख लाया है–

यजुः शब्दो 'यत्' 'जूः' इति द्वयोः शब्दयोः सम्बन्धेन निष्पन्नोऽस्ति। तत्र निरन्तर गतिशील इति 'यत्' शब्दार्थः, स्थिर इति 'जूः' शब्दार्थः। आभ्यां द्वाभ्यां तत्त्वाभ्यामेव समस्तानि वस्तुनि विरच्यन्ते। इत्थं हि यत् तत्त्वं विज्ञाने 'इलेक्ट्रोन'–'प्रोटोन' शब्दाभ्यामुच्यते तदेव तत्त्वं शतपथब्राह्मणे 'यत्' 'जूः' शब्दाभ्यां निगद्यते। शतपथब्राह्मणेऽग्रे 'यत्' शब्दस्य वायुः, 'जूः' शब्दस्य च आकाशमिति अपरं नाम वर्णितमस्ति।[2]

वस्तुतः यज्ञ शब्द ही अपने आप में विस्तृत अर्थ को धारण किये हुए हैं। इस विषय में पं॰ बलदेव उपाध्याय लिखते हैं–

यज्ञो हि द्विविधः। (1) एकः स यज्ञो यः प्रकृत्या सततं क्रियते येन चायं संसारः सृष्टः पालितश्च भवति। (2) अपरो यज्ञो लोकव्यवहाराय सर्वथाऽऽवश्यकः।[3]

'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' इस पाणिनीय धातु के आधार पर उपाध्याय जी लिखते हैं–

'संगतिकरणमर्थाद् द्वयोस्तत्त्वयोः सम्मेलनेन नूतनतत्त्वनिर्माणं चापि यज्ञः। अपि च जगतः समेषां पदार्थनामादानप्रदानयोर्या प्रक्रिया प्रचलति साऽपि यज्ञः।'[3]

यजुर्वेद तथा अन्य वेदों का सम्बन्ध इसी प्रकार के यज्ञ से है, न कि केवल घृत-सामग्री से किये जाने वाले यज्ञ से।

सामवेद उपासना का वेद है। उसकी गेयता का अर्थ केवल यह नहीं है कि साम के मन्त्रों का यज्ञ में गान किया जाए। इसका अर्थ है कि सामवेद के मन्त्रों से परमेश्वर की उपासना की जाए। इस प्रकार ज्ञान, कर्म तथा उपासना में विश्व भर के सभी कार्य सम्मिलित हो गये। केवल यज्ञ से सम्बन्धित करने पर तो वेद

---

1. वायुरनिलममृतमतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्। यजु॰ 40/15
2. संस्कृतवाङ्मय का बृहद् इति॰, भूमिका॰ पृ॰ 15
3. वही, पृ. 13

का लक्ष्य अत्यन्त सीमित हो जाता है। याज्ञिक पक्ष भी एक विस्तृत एवं परिपुष्ट पक्ष है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वेदों का प्रणयन यज्ञार्थ ही हुआ है। इसीलिए महर्षि दयानन्द ने वेदों को सब सत्य विद्याओं की पुस्तक माना है। स्वामी जी लिखते हैं–

वेदों में अवयव रूप विषय तो अनेक हैं, परन्तु उनमे से चार मुख्य हैं–(1) एक विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों का जानना, (2) दूसरा कर्म, (3) तीसरा उपासना, (4) चौथा ज्ञान है। विज्ञान उसको कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग का लेना, और परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षात् बोध का होना।[1]

इसी प्रकार पं० बलदेव उपाध्याय का कथन है कि वेदों में आधुनिक विज्ञान से भी उच्चतर वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।[2] इतना होने पर भी कुछ विद्वानों की धारणा है कि सामवेद तथा यजुर्वेद का संकलन निश्चित रूप से याज्ञिक कार्यों के आधार पर किया गया है।[3] यह उनकी भ्रान्त धारणा है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद को तो अधिकांश विद्वान् यज्ञार्थ नहीं मानते। मैक्समूलर, विल्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों का भी यही मत है कि ऋग्वेद का संकलन यज्ञार्थ नहीं हुआ। मधुसूदन सरस्वती ने अथर्ववेद की यज्ञार्थता का निषेध किया है।[4]

वाणी की उत्पत्ति–वाणी दो प्रकार की है (1) दैवी वाक् (2) मानुषीवाक्।

(1) दैवी वाक्–महाभारत में कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में स्वयंभू प्रजापति ने वेदमयी दिव्यवाक् का उत्सर्जन किया। यह वाक् आदि तथा निधन से रहित थी। इसी वाक् से संसार की सभी प्रवृत्तियाँ हुई। इस दैवी वाक् को निष्कल्मष ऋषियों ने अपनी हृदय गुहा में प्राप्त किया। इसे ऋग्वेद में इस प्रकार कहा गया है–

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः। (10/7/1)

---

1. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार, पृ० 44
2. संस्कृतवाङ्मय का बृहद् इति.', भूमिका, पृ० 13
   वैदिकतत्त्वेष्वद्यतनविज्ञानादप्युदात्ततरवैज्ञानिकसिद्धान्तानां प्रतिपादनमस्ति।
3. वही, पृ० 49
4. प्रस्थानभेद पृ० 16: अथर्ववेदस्तु यज्ञानुपयुक्तः।

हे बृहस्पते! वाणी के जिस आदिम मूल को नाम आदि रखते हुए ऋषियों ने बोलने के लिए प्रेरित किया, जो सबसे श्रेष्ठ तथा दोषरहित ज्ञान इन ऋषियों की हृदय गुहा में निहित है, वह प्रेरणा करने से प्रकट हो गया। इस प्रकार ऋषियों के हृदय में दैवी वाक् का उत्सर्जन हुआ। यह उत्सर्जन स्वयंभू प्रजापति ने किया था।

मन्त्र में प्रयुक्त अग्रम् की व्याख्या में उद्गीथ लिखते हैं–अग्रशब्दोऽत्र आदिवचनः आदिभूतं च। वाचः प्रवृत्तौ निमित्तभूतम्। कोष में अग्रम् के सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वोपरि आदि अर्थ भी दिये हुए हैं। वाणी का यह सर्वोत्कृष्ट आदिभूत स्वरूप ऋषियों की हृदय गुहा में प्रकट हुआ। इसी क्रम में इस सूक्त के द्वितीय मन्त्र में कहा गया है जिस प्रकार छलनी से सत्तु को छान कर स्वच्छ करते हैं, उसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न उन ध्यानी ऋषियों ने मन से शुद्ध वाणी का निर्माण किया।[1] इसके पश्चात् अन्य जनों ने अतीन्द्रियार्थद्रष्टा इन ऋषियों में प्रविष्ट उस वाणी के मार्ग को यज्ञ-सङ्गतिकरण के माध्यम से प्राप्त किया।[2] इसी बात को ऋग्वेद में अन्यत्र इस रूप में कहा गया कि देवों ने दैवी वाणी को प्रकट[3] किया, उसे ही नाना रूप वाले पशु[4] बोलते हैं।[5]

इन मन्त्रों में आदि वाक् से लेकर पशुओं तथा मनुष्य आदि के द्वारा बोली जानेवाली वाणी का स्वरूप समझा दिया गया है। आदिवाक् ऋषियों के हृदय में प्रकट हुई। उसका क्या स्वरूप था, इस विषय में निश्चात्मक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य है कि यह वाक् वर्ण, पद, वाक्य आदि के विभाग से रहित थी। सायणाचार्य ने लिखा है 'अग्निमीळे पुरोहितमित्यादि वाक् पूर्वस्मिन् काले पराची समुद्रादिषु ध्वनिवदेकात्मिका सत्यव्याकृता प्रकृतिः प्रत्ययः पदं वाक्यमित्यादि विभागकारिग्रन्थरहिता आसीत्'। इसका अर्थ है कि 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि मन्त्र पुराकाल में समुद्रादि की ध्वनि की तरह एक रूप ही थे। उस समय वे स्वर, व्यञ्जनादि वर्ण तथा छन्दोबद्ध रचना आदि से रहित थे। मन्त्र अथवा वेद उस समय ध्वनि समुद्र में लीन थे। यह ध्वनि समुद्र ही शब्द ब्रह्म है। उसे ही भर्तृहरि ने इस प्रकार कहा है–

---

1. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। ऋ॰ 10/71/1
2. यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्। ऋ॰ 10/71/2
3. अजनयन्त। जनीप्रादुर्भावे। प्रकटीकरण
4. मानव भी व्यक्तवाक् वाला पशु ही है। अन्य पशु अव्यक्तवाक् वाले हैं।
5. दैवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। ऋ॰ 8/100/8

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।

विवर्वतेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।। वा०प० 1/1

यह ध्वनिसमुद्रात्मक शब्दतत्त्व ब्रह्म-बृंहणशील तथा अक्षरम्-क्षयरहित था। यह अव्याकृत वाक् थी। ऋषियों ने इसे प्राप्त करके वर्ण, पदों, वाक्य आदि के रूप में व्याकृत किया। इसी तथ्य को तै०सं० में इस प्रकार प्रकट किया गया कि प्रारम्भ में एकात्मिका अविच्छिन्न रूप वाली अव्यक्त वाक् थी। देवों ने इन्द्र से प्रार्थना की कि इस वाणी को व्यक्त कर दो।[1] पीछे कहे गये 'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो' का भी यही भाव है कि ऋषियों ने अपने हृदय में प्रकट होने वाली उस अव्यक्त वाक् का संशोधन करके वर्ण, पद, वाक्य आदि के रूप में प्रकट किया। वेदों की शब्दावलि भी उसी समय अस्तित्व में आई। कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी विशिष्ट भाव को द्योतित करने के लिए कई प्रकार के शब्द बुद्धि में अवतरित होते हैं। ज्ञानी जन अपरिपूर्ण सदोष शब्दों का त्याग करके सुन्दर शब्दों में अपने भावों को अभिव्यक्त करते हैं। यही क्रम वेदों की अभिव्यक्ति या आविर्भाव का है। इसे इस रूप में अच्छी प्रकार समझ सकते हैं जैसा कि वाल्मीकि ऋषि के विषय में यही कहा जाता है-शोकः श्लोकत्वमागतः। अर्थात् व्याध द्वारा क्रौञ्चमिथुन में से एक को मार दिये जाने पर वाल्मीकि के हृदयस्थ शोक ने श्लोक का रूप धारण कर लिया। इससे लौकिक काव्य का प्रादुर्भाव हुआ। इसी प्रकार निर्धूतकल्मष अतीन्द्रियार्थद्रष्टा ऋषियों के हृदय में प्रकट ज्ञान, जो अव्यक्त वाक् रूप था, व्याकृत होकर सर्वप्रथम वेद मन्त्रों के स्वरूप में प्रकट हुआ। यही अभिप्रायः 'धीरा मनसा वाचमक्रत' का है।

शुद्धान्तकरण ऋषियों के हृदय में स्वतः ही प्रकट होने वाली यही अनादिनिधन अव्यक्त वाक् वेदों के आविर्भाव का मूल थी। भर्तृहरि इसे इस रूप में कहते हैं-

अत्रातीतविपर्यासः केवलामनुपश्यति।

छन्दस्यश्छन्दसां योनिमात्मा छन्दोमयीं तनुम्।। वा०प० 1/17

छन्दस्य अर्थात् वेदग्रहणसमर्थ ऋषि ने छन्द-वेदों की योनि-उत्पत्तिरूपा केवला वर्ण, पद आदि के भेद से रहित इस अव्यक्त वाक् का साक्षात्कार किया।

---

1. वाग् वै पराच्यव्यकृताऽवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां वाचं व्याकुर्विति। तै०सं० 6/4/7/2

प्रत्यस्मितभेदाया यद्वाचो रूपमुत्तमम्।

तदस्मिन्नेव तमसि ज्योतिः शुद्धं विवर्त्तते।।वा॰प॰ 1/18

उस आदिमूल अव्यक्त वाक् में वर्ण, पद आदि के भेद नहीं थे। वह वाणी का उत्तम रूप था। इसे ही मन्त्र में पीछे श्रेष्ठम् तथा अरिप्रम् कहा गया है। यह शुद्ध ज्योति स्वरूपा अव्यक्त वाक् ही वैकृत ध्वनि रूप अन्धकार में विवर्त्त को प्राप्त कर वर्ण, पद, वाक्य आदि के रूप में प्रकट हुई।

वर्ण आदि के रूप में विभक्त इस व्यक्त वाक् से पूर्व ऋषियों के हृदय रूपी गृहा में स्थित अव्यक्त वाक् केवल ज्ञानस्वरूपा थी, किन्तु उसमें वर्ण आदि के भेद सूक्ष्म रूप में उसी प्रकार अनुस्यूत थे, जिस प्रकार पक्षी के अण्डे में उसके सभी अवयव प्रारम्भ में अव्यक्त अवस्था में रहते हैं, किन्तु अण्डे में ही धीरे-धीरे विकसित होने लगते हैं। भर्तृहरि इसी तथ्य को इस रूप में कहते हैं–

आण्डभावभिवापन्नो यः क्रतुः शब्दसंज्ञकः।

वृत्तिस्तस्य क्रियारूपा भागशो भजते क्रमम्।।वा॰प॰ 1/51

ऋषियों का वह क्रतु[1] ज्ञान आण्डभाव को प्राप्त था। उसकी क्रिया रूप वृत्ति ने ही वर्ण आदि के रूप में विभाग को प्राप्त किया।

वेदाविर्भाव–अनादिनिधन अव्यक्त वाक् ऋषियों के हृदय में स्वतः आविर्भूत हुई थी। बोलने की इच्छा करते हुए ऋषियों ने उसे मुखादि अवयवों के द्वारा शब्दरूप में प्रकट किया। शब्दोत्पत्ति की यही प्रक्रिया है। यथा–

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्त्तिना।

स्थानेष्वभिहितो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते।। वा॰प. 1/108

इसी प्रकार अव्यक्त वाक् ऋषियों के द्वारा ऋक्, यजुः तथा साम इन तीन रूपों में व्यक्त हुई।[2] अर्थात् ज्ञान, कर्म एवं उपासना के अभिव्यंजक के रूप में वेदों का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार वेदों के रूप में इस सुविशाल शब्दात्मिका राशि के जनक ये ऋषि ही हैं, किन्तु इसके मूल में वही अव्यक्त वाक् है जिसका अवतरण ऋषियों के हृदय में प्रयत्न बिना स्वतः ही हुआ था। इस आधार पर वर्तमान वेदों को अपौरुषेय इसलिए कहा जाता है कि मूल रूप में वह ज्ञान अपौरुषेय ही था, उसके आधार पर ऋषियों ने ऋक्, यजु तथा साम के रूप में उस ज्ञान को

---

1. क्रतुः कर्मनाम निघ॰ 2/1, प्रज्ञानाम। निघ॰ 3/29
2. सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता ऋचो यजूंषि सामानि। शत॰ 10/5/1/2

अपने शब्दों में विभक्त किया। प्रायः वेदों का वर्तमान स्वरूप पौरुषेय माना जाता है। इस प्रकार सर्वप्रथम वेदाविर्भाव हुआ। इन ऋषियों के हृदय रजस् तथा तमस् से सर्वथा शून्य थे। अतः एव इनकी बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश हुआ था। अपनी उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से इन्होंने भूत-भविष्य के तत्त्वों का भी प्रत्यक्षवत् साक्षात्कार कर लिया था। यही कारण है कि वेदों में भूत-भविष्यत्-वर्तमान इन तीनों कालों से सम्बन्धित शाश्वत् सत्य पाया जाता है। भर्तृहरि इसे ही इस रूप में कह रहे हैं–

आविर्भूतप्रकाशानामनुप्लुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते।।वा॰प. 1/38

साक्षात्कृतधर्मा ये ऋषि अतीन्द्रिय तथा असंवेद्य अर्थों को भी अपने आर्ष चक्षु से प्रत्यक्षवत् देख लेते थे।[1] यद्यपि आदिज्ञान वेदरूप में एकात्मक ही था, किन्तु वह अण्डे में स्थित घोल के समान अव्यक्त अवस्था में था। उसे ही ऋषियों ने चार रूपों में विभक्त करके अपने-अपने शब्दों में ऋग् आदि के रूप में प्रकट किया।

इस प्रकार वर्तमान में उपलब्ध चतुर्वेद रूपी शब्दराशि ऋषिप्रणीत ही मानी जानी चाहिए। यह शब्द राशि तथा इसका वर्णानुक्रम विभिन्न युगों में परिवर्तित भी हो सकता है जैसा कि महाभाष्य में पतंजलि भी कहते हैं 'या वर्णानुपूर्वी साऽनित्या'। अर्थात् वेदों की वर्णानुपूर्वी ऋषिप्रणीत होने से अनित्य है, जबकि इसका आदिमूल शब्दब्रह्म नित्य है। उसी एक वेद-ज्ञान को ऋषियों ने ऋक्॰ आदि के रूप में चार भागों में विभक्त किया। सनत्सुजातीय में भी ऐसा ही कहा गया है–एकस्य वेदस्य ज्ञानाद् वेदास्ते बहवः कृताः

क्या प्रारम्भ में एक ही वेद था

ऐसा भी कहा जाता है कि प्रारम्भ में एक ही वेद था। द्वापर युग में वेदव्यास ने इसे चार भागों में विभक्त किया। इसी आधार पर उनका नाम भी वेद-व्यास प्रसिद्ध हुआ। महाभारत[2] तथा पुराणों[3] में इस पक्ष के पोषक प्रमाण मिलते हैं।

---

1. अतीन्द्रियानसंवेद्यान्पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा। वा॰प॰ 1/38
2. विव्यासैकं चतुर्धा यो वेदं वेदविदां वरः। म॰भा॰ 1/60/5
3. ततोऽत्र मत्सुतो व्यासोऽष्टाविंशतितमे उत्तरे।
   वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत् प्रभुः।। वि॰पु. 3/4/2

यह एकांगी मत है तथा सभी को स्वीकार्य नहीं है। इस विषय में अकाट्य प्रमाण यह है कि उपनिषदों[1] तथा ब्राह्मणग्रन्थों[2] में चारों वेदों का वर्णन स्पष्ट रूप में उपलब्ध होता है। उपनिषद् साहित्य, ब्राह्मणग्रन्थों, महाभारत तथा पुराणों से पूर्ववर्ती हैं। अतः उपनिषदों के सामने महाभारत तथा पुराणों की बात मान्य नहीं हो सकती। एतदतिरिक्त स्वयं वेदों[3] में भी चारों वेदों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन प्रमाणों के रहते हुए पुराणों की बात को कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

तीन या चार वेद—अनेक स्थानों पर ऋग्, यजु॰ तथा साम इन तीन ही वेदों का उल्लेख होने से यह माना जाता है कि प्रारम्भ में तीन ही वेद थे। अथर्ववेद बाद की रचना है। यह विचारधारा प्रायः पाश्चात्य विद्वानों की है, जो ठीक नहीं है। स्वयं वेदों में चारों वेदों का उल्लेख है। ऋग्, यजु॰ तथा साम इन तीन वेदों का ही यज्ञ से साक्षात् सम्बन्ध है। इनसे सम्बन्धित होता, अध्वर्यु तथा उद्गाता इन तीन ऋत्विजों की नियुक्ति यज्ञ में की जाती है। अथर्ववेद का मुख्य विषय यज्ञ नहीं है। इसलिए कहीं-कहीं पर तीनों वेदों के साथ अथर्ववेद का नाम नहीं मिलता। यज्ञ तथा सभी वेदों का पर्यवसान अध्यात्म में है। अथर्ववेद का मुख्य विषय यही है। अथर्ववेद में ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन कई काण्डों में किया गया है। ब्रह्मा इसी का विशेषज्ञ होता है। अतः अथर्ववेद को परवर्त्ती मानना युक्तियुक्त नहीं है।

इसीलिए वेद पौरुषेय तथा अपौरुषेय दोनों प्रकार का है। अखण्ड, नित्य परमेश्वरीय ज्ञानरूप में वह अपौरुषेय है जबकि शब्दात्मक रूप में पौरुषेय है।

मन्त्रों का तक्षण—ऋग्वेद में मन्त्रों के तक्षण की बात कही गयी है। जिन-जिन मानव हितकारी ऋषियों ने वरणीय मन्त्र का तक्षण किया।[4] हृदय से तक्षण किये हुए मन्त्रों को जिन्होंने जनता के समक्ष उच्चरित किया।[5] जिस परमेश्वर

---

1. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः। मु॰ उप॰ 1/1/5
   विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्।छा॰उप॰ 7/7
2. ऋग्वेदमेव होतारं वृणीष्व यजुर्वेदविदम् अध्वर्युं सामवेदम् उद्गातारम् अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम्। गो॰ब्रा॰ 3/1
3. यक्ष्मादृचोऽपातक्षन् यजुस्तस्मादजायत।
   सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
   यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाः।। अथर्व॰ 4/35/6
4. मन्त्रं ये वारं नर्या अतक्षन्। ऋ॰ 7/7/6
5. हृदा यत् तष्टान् मन्त्राँ अशंसन्। ऋ॰ 1/67/2

से ऋचाओं का तक्षण किया।[1] भ्वादिगण में 'तक्षू त्वक्षू तनूकरणे' धातु पठित हैं। तक्षण का अर्थ है सूक्ष्मीकरण। एक बढ़ई वेढंगी लकड़ी को छील कर उसे सुन्दर मेज-कुर्सी आदि का रूप दे देता है। यही उसका तक्षण है। इसीलिए बढ़ाई को तक्षा कहा जाता है। यही कार्य ऋषियों ने किया। ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त आदि ऋषियों के मन में जिस परमेश्वरीय ज्ञान का अवतरण हुआ, वह कुछ संक्षिप्त तथा अस्पष्ट सा रहा होगा, अथवा उनके मन में ज्ञान की कुछ स्फुरणा हुई होगी। ज्ञान की कुछ किरणें मस्तिष्क में पड़ी, उसका कुछ आभास अथवा दर्शन सा हुआ। उसे ही उन्होंने अपने शब्दों में मन्त्रों के रूप में बाहर प्रकट किया। जिस प्रकार एक चित्रकार अपने हृदयनिहित पुञ्जीभूत भावों को ही चित्ररूप में अभिव्यक्त करता है, उसी प्रकार इन ऋषियों ने हृदय में अवतरित परमेश्वरीय ज्ञान को अपने शब्दों में मन्त्र रूप में प्रकट किया। यही भाव मन्त्रों के तक्षण का है। इस प्रकार मूलरूप में वेद ज्ञान परमेश्वरप्रदत्त ही है, किन्तु उसकी वर्तमान शब्दवलि ऋषिकृत है। अग्नि-वायु-आदित्य तथा अङ्गिरा ऋषियों पर वेदों के प्रकटीकरण का यही भाव है।

वेदों की पौरुषेयता तथा अपौरुषेयता

वेदों के विषय में स्पष्ट दो मत है। (1) भारतीय परम्परा वेदों को अपौरुषेय मानती है जबकि पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार दीर्घकाल तक ऋषियों द्वारा वेदमन्त्रों का निर्माण किया जाता रहा है। यह दोनों विचारधाराएँ परस्पर विरोधी हैं। वैसे आजकल तो कुछ भारतीय विद्वान् भी पाश्चात्य विचारधारा के ही पोषक हैं। इन पक्षों का विशद् विवेचन न करके कुछ प्रमाणों को ही यहाँ उद्घृत किया जाता है-

(1) अपौरुषेय पक्ष

(1) स्वयं ऋग्वेद में ऋक् आदि की उत्पत्ति सर्वहुत यज्ञ से कही गयी है।[2] अथर्ववेद में परमेश्वर रूपी स्कम्भ से ऋगादि की उत्पत्ति कही गयी है।[3]

---

1. यस्माद् ऋचो अपातक्षन्। अथर्व॰ 10/7/20
2. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
   छर्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।। ऋ॰ 10/90/9
3. यस्माद् ऋचो अपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन्।
   सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।। अथर्व॰ 10/74/20

(2) विष्णु पुराण 1/5/54-58, मार्कण्डेय पुराण 3/12/34/37 तथा भागवत पुराण 99/1/3/6 में चतुरानन ब्रह्मा से वेद, यज्ञ, छन्द, स्तोम आदि की उत्पत्ति बतलायी है।

(3) इस विषय में मनुस्मृति का निम्न श्लोक सुप्रसिद्ध है–

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।

दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्।। मनु० 1/23

(4) वैशेषिक दर्शन में वेद को ईश्वरीय वचन माना गया है।[1]

(5) शास्त्रयोनित्वात् (वे०द० 1/1/3) की व्याख्या में आदि शंकराचार्य लिखते हैं–ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म।

(6) अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।

आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।

म०भा०, शा०प०, अ० 223-24

(7) प्रजापतिर्वा इमान् वेदानसृजत। ऐतरेय ब्राह्मण

(8) अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः। बृह०उप० 4/5/17

(9) न्यायवर्त्तिक तात्पर्य टीकाकार लिखते हैं–'महाप्रलये तु ईश्वरेण वेदान् प्रणीय सृष्ट्यादौ स्वयमेव सम्प्रदायः प्रवर्त्यत एवेति भावः'

(10) तस्मादपौरुषेयत्वान्नित्यत्वाच्च कृत्स्नस्यापि वेदराशेः (अथर्ववेदभाष्यो पोद्धाते सायणाचार्यः)

(11) आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द भी वेदों को परमेश्वरीय वाणी मानते हैं। (ऋ०भा०भू०, वेदोत्पत्ति विषय)

(12) इस विषय में पं० बलदेव उपाध्याय लिखते हैं–"वेद अपौरुषेय है, वह स्वतः आविर्भूत होने वाला नित्य पदार्थ है।" उपाध्याय जी ने अपनी पुष्टि में निम्न वेदमन्त्र उपस्थित किया है–

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचाविरूपनित्यया।

वृष्णो चोदस्व सुष्टुतिम्।। ऋग्० 8/75/6

---

1. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वै०द० 1/1/3

इस मन्त्र में निर्दिष्ट 'नित्या वाक्' का प्रयोग वेद मन्त्रों के लिए ही किया गया है।[1] यह नित्य वेद प्रलय में केवल तिरोहित हो जाता है तथा सृष्टि के आरम्भ में पुनः ऋषियों के हृदय में स्फुरित होता है।[2] डॉ॰ गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने इसी तथ्य को इस प्रकार कहा है–

"परम्परा के अनुसार वेद नित्य हैं। चूँकि ऋषियों ने उन्हें सुना, वे शब्द श्रुति कहलाते हैं। उनका दर्शन या साक्षात्कार करने वाले ही ऋषि कहे जाते हैं।"[3]

इस विषय में वाचस्पति गैरोला कहते हैं। "इस दृष्टि से विदित होता है। कि वेद स्वयंभूत, स्वयं प्रकाश और स्वयं प्रमाण हैं।[4] पं॰ रामगोविन्द त्रिवेदी के अनुसार ज्ञानरूप वेद नित्य है, शब्दरूप नहीं।"[5]

जिन पाश्चात्य विज्ञानों ने वेदकालनिर्धारण का यत्न किया, उनमें मैक्समूलर अग्रणी थे, किन्तु अन्ततोगत्वा उन्हें भी लिखना पड़ा 'Reason and comparative study of Religions declare that god gives his divine knowledge from his first appearance on earth. ' (Science and Religion) अर्थात् तर्क एवं धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन दोनों घोषित करते है कि परमेश्वर सृष्टि के आदि में भी अपना ज्ञान मनुष्यों को देता है। (साइंस एंड रिलीजन)

इस प्रकार प्रारम्भ से लेकर अब तक भारतीय परम्परा वेदों को नित्य तथा अपौरुषेय मानती चली आयी है। ऐसा केवल श्रद्धा वश या अन्धविश्वास के कारण नहीं कहा गया, अपितु इसके पीछे तर्क है कि यदि परमेश्वर इस सृष्टि का निमित्त कारण है तो सृष्टि की आदि में उसने ज्ञान भी दिया होगा, क्योंकि मानव बिना सिखाए कुछ भी नहीं सीख पाता, ऐसा अनेक परीक्षणों से सिद्ध हो चुका। वह ज्ञान किस रूप में था, इसे निश्चयात्मक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि आज कोई भी साक्षात्कृत धर्मा ऋषि विद्यमान नहीं है।

---

1. उपाध्याय, बलदेव, सं॰सा॰ का बृ॰ इति॰ प्र॰ख॰, भूमिका पृ. 31
2. वेदो नित्यः, प्रलये तस्य तिरोधानं भवति सृष्ट्यादौ च सः तपोनिष्ठानामृषीणामन्तः स्फुरति, वही, पृ॰ 12
3. पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, वैदिकसंस्कृति, पृ. 6
4. संस्कृत सा॰ का इति॰, पृ॰ 113
5. वैदिक साहित्य, पृ॰ 31

(2) पौरुषेय पक्ष

इस विषय में विद्वानों ने पर्याप्त लिखा है। वेदों की भाषा, विषयवस्तु आदि के आधार पर उन्होंने वेदों को सुदीर्घकालावधि में निर्मित होने वाला साहित्य माना है। यहाँ उक्त दोनों ही पक्षों के पक्ष-विपक्ष में कुछ न कह कर अन्य प्रकार से विचार करते हैं–

क्या अतीन्द्रिय ज्ञान संभव है?

वेद को ज्ञान माना जाता है। वैदिक ज्ञान की भाँति लौकिक ज्ञान की भी सत्ता है। मन तथा इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा लौकिक ज्ञान को प्राप्त करता है। प्रश्न है कि इन्द्रियों तथा अन्य बाह्य साधनों के बिना भी आत्मा किसी ज्ञान को ग्रहण कर सकता है या नहीं। प्रमाण इस पक्ष में है कि आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान भी प्राप्त करता है इस ज्ञान को अलौकिक ही कहा जायेगा, क्योंकि प्राप्तकर्त्ता को स्वयं भी पता नहीं होता कि यह ज्ञान अचानक कहां से प्रकट हो गया।

लोक में ऐसे उदाहरण मिले भी है कि जब किसी ने बाह्य साधनों के बिना भी किसी अतीन्द्रिय ज्ञान को प्राप्त कर लिया। इस विषय के पोषक कुछ उदाहरण इस प्रकार है–

(1) प्रसिद्ध वैज्ञानिक मार्कोनी से किसी ने पूछा–तुमने बेतार के तार का पता किन परीक्षणों के आधार पर लगाया है। मार्कोनी का उत्तर था "मैंने कोई परीक्षण नहीं किया। ये विचार स्वभावतः मेरे मन में उठे"[1]

(2) विख्यात गणितज्ञ आइंस्टीन से भी जब पूछा गया कि तुमने अपनी स्थापनाओं को सिद्ध करने में गणित की किन क्रियाओं का उपयोग किया तो उनका भी यही उत्तर था "ये विचार मेरे मन में अपने आप उठे। कहाँ से आये मैं नहीं जानता।[2]"

(3) अमेरीका के प्रसिद्ध दार्शनिक जेम्स भी कहते हैं "कोई नहीं कह सकता कि इन्द्रियों के अतिरिक्त ज्ञान हमें प्राप्त नहीं होता।"[3]

1-3. आचार्य रामदेव, 'ध्यानयोगप्रकाश' की भूमिका, पृ॰ 3 रामलाल कपूर ट्रस्ट 1975

(4) अमेरीका के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एडीसन के पास पर्याप्त अन्न वस्त्र तथा रहने को मकान भी नहीं था। वह न्यूयार्क के बगीचे में ही अपना समय व्यतीत करता था। एक दिन लेटे-लेटे तो उसके मन में नवीन यन्त्र के आविष्कार की योजना कौंध गयी। इसी महान् वैज्ञानिक ने विद्युत्, टेलीफोन तथा ग्रामोफोन का आविष्कार किया।

(5) योगी अरविन्द घोष लिखते हैं कि आत्मा के विकास की सभी दिशाओं का अभ्यास करते हुए उनके मन में इला, सरस्वती तथा सरमा आदि वैदिक प्रतीकों की एक श्रृंखला नियमित रूप से उठनी प्रारम्भ हो गयी थी।[1] जो उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों से सम्बद्ध थी।

(6) आदि शंकाराचार्य ने संन्यास लेते समय अपनी माता जी को वचन दिया था कि उनके अन्तिम समय में वे अवश्य आयेंगे। माँ का अन्तिम समय जाने पर शंकराचार्य को दूर होने पर भी इसका भान हो गया था कि माँ बुला रही है।

(7) 18वीं सदी के वैज्ञानिक कैकुले लम्बे समय तक माथा पच्ची करने के बाद भी बैन्जीन की संरचना नहीं कर पाये। एक दिन स्वप्न में उन्होंने देखा कि एक सर्प अपनी पूँछ को बार-बार अपने मुख में डालने का प्रयत्न कर रहा है। इसके बाद 1861 में उन्होंने अपनी पुस्तक Organic Chemistry में वेन्जीन की अंगूठीनुमा संरचना की व्याख्या की।

इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि व्यक्ति अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वह ज्ञान उसका अपना है, या अन्य अदृष्ट शक्ति की प्रेरणा से है, यह विचारणीय हो सकता है। ऐसे ज्ञान को अन्य शक्ति द्वारा प्रदत्त ही माना जाना चाहिए, क्योंकि उसी व्यक्ति को अन्य समय में सामान्य अवस्था में ऐसी अनुभूति नहीं होती।

उस अदृश्य शक्ति को आप ईश्वर या अन्य देवी, देवता कुछ भी मान सकते हैं। सुप्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में 'धियो यो नः प्रचोदयात्' कह कर सविता देव से यही प्रार्थना की गयी है कि हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता रहे। पतंजलि इसी बात को इस रूप में कहते हैं कि परमेश्र ही सभी का आदि गुरु है।[2]

---

1. वेदरहस्य, भाग 1, पृ॰ 47
2. स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। यो॰सू॰ 1/26

इस अतीन्द्रिय एवं अकल्पनीय ज्ञान को व्यक्ति का अपना ज्ञान अथवा किसी अदृष्ट शक्ति से प्रेरित ज्ञान मानने में कोई विरोध भी नहीं है। दोनों ही अवस्थाओं में व्यक्ति की बिल्कुल निष्कल्मष विशुद्ध चेतना में इनका अवतरण मानना पड़ेगा। अरविन्द के अनुसार वेदज्ञान भी इसी रूप में ऋषियों के अन्तःकरण में आविर्भूत हुआ। वे लिखते हैं 'वेद की भाषा स्वयं श्रुति है। वह एक छन्द है जिसका बुद्धि द्वारा निर्माण नहीं हुआ, बल्कि जो श्रुतिगोचर हुआ है। वह एक दिव्य वाणी है जो असीम से निकल कर उस मनुष्य के अन्तःकरण में पहुँची जिसने पहले से ही अपने आपको अपौरुषेय ज्ञान का पात्र बना रखा था।'[1] इस प्रकार अरविन्द के विचार से 'वेद ऋषियों की कृति नहीं है, ऋषि तो सनातन सत्य एवं अपौरुषेय ज्ञान का द्रष्टा मात्र था।'[2] यास्क के 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' का भी यही भाव है कि ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त वीतकल्मष ऋषियों ने वेदज्ञान का दर्शन अपने अन्तरात्मा में किया। इस विषय में वाचस्पति गैरोला अग्निवेश तन्त्र 11/18-19 के आधार पर लिखते हैं—रजस्तमो रहित, तपोज्ञान युक्त, त्रिकालज्ञ और अव्याहत ज्ञानसम्पन्न, आप्त, शिष्ट, परमज्ञानी ही ऋषि थे। उनका ज्ञान तथा उनके उपदेश निर्भ्रान्त थे।[3] गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने इसी तथ्य को इस रूप में कहा है—

(क) वेदों को ऋषियों के साक्षात्कारात्मक अन्तर्ज्ञान की अभिव्यक्ति मानने में ऐसी कोई अनुपपत्ति या विरोध नहीं है।[4]

(ख) वेद को लोकोत्तर अथवा असाधारण प्रेरणा से प्रतिभालम्य ज्ञान की अभिव्यक्ति मानने में ऐसी कोई कठिनाई नहीं है।[5]

ऋषियों के इस ज्ञान को अतीन्द्रिय ज्ञान कहा जायेगा, क्योंकि उन्होंने उसे किसी भी बाह्य इन्द्रिय से प्राप्त नहीं किया। भर्तृहरि कहते हैं कि ऋषि आर्ष चक्षु के द्वारा जो अतीन्द्रियज्ञान प्राप्त करते हैं, उसका अपलाप अनुमानादि प्रमाणों के आधार पर नहीं किया जा सकता।[6] इस अतीन्द्रिय ज्ञान को आत्मा बाह्य इन्द्रियों की सहायता के बिना ही अन्तः प्रेरणा या किसी आन्तरिक शक्ति के द्वारा प्राप्त करता है। सृष्टि की उत्पत्ति के बाद भी यह प्रक्रिया चलती रहती है। सृष्टि के

---

1. अरविन्द, वेदरहस्य, पूर्वार्ध, पृ॰ 11 2. वही, पृ. 11
3. गैरोला, वाचस्पति, संस्कृत सा॰ का इति॰, पृ॰ 116
4. पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र, वैदिक संस्कृति, पृ॰ 7
5. वही, पृ॰ 27
6. अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
   ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते।।वा॰प. 1/38

आरम्भ में भी पवित्रात्मा ऋषियों के आत्मा में किसी अलौकिक ज्ञान का अभिर्भाव हुआ होगा। सबसे प्रथम आविर्भूत यही ज्ञान वेद नाम से जाना जाता है।

इस सम्बन्ध में सायणाचार्य कहते हैं "अतीन्द्रियार्थद्रष्टारो हि ऋषयः।"

यास्क कहते हैं 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः'। इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य कहते हैं कि जिन्होंने तपस्या के द्वारा धर्म का साक्षात्कार कर लिया है, वे साक्षात्कृमधर्मा हैं।[1] निःसन्देह ऐसा सम्भव है कि वीतकल्मष शुद्धान्तःकरण वाले प्रारम्भिक ऋषियों के निर्मल मानस् में किसी ज्ञान का प्रकटीकरण हुआ हो। यास्क के उक्त वचन पर अविश्वास का कोई कारण इसलिए नहीं है कि यास्क ऋषि होकर मिथ्या या अप्रमाणिक बात क्यों कहेंगे? देखना यही है कि वह आरम्भिक ज्ञान किस प्रकार का रहा होगा। वर्तमान में जो वेदसंहिताएँ उपलब्ध होती हैं, इनका यह स्वरूप तो पर्याप्त परवर्ती है। अत: यह निश्चयात्मक रूप में तो ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इसका अवतरण ही ऋषियों की बुद्धि में हुआ था। इतना ही कहा जा सकता है कि शुद्ध अन्तःकरण वाले ऋषियों को प्रारम्भ में कुछ ज्ञान अवश्य मिला। वह उनका अपना था, या किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से था, इन दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त योगी को अतीत–अनागत का ज्ञान भी प्रत्यक्षवत् ही हो जाता है। इसी बात को भर्तृहरि इस रूप में कह रहे हैं–

आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्नविशिष्यते।। वा॰प॰ 1/37

भर्तृहरि ने यह बात वेदज्ञान के सम्बन्ध में नहीं कही है, न ही यास्क का उक्त वचन इस सन्दर्भ में है। इसका इतना ही अर्थ है कि ज्ञानप्रकाश से ज्योतित अन्तःकरण वाले वीतकल्मष ऋषि धर्म का साक्षात्कार कर लेते हैं। वह धर्म पदार्थधर्म भी हो सकता है। इसी प्रकार अन्य षड् दर्शनों के प्रणेताओं ने भी तत्तत् धर्म का साक्षात् कर लिया था। भर्तृहरि के उक्त वचन का केवल इतना ही अर्थ है कि ऋषियों का यह ज्ञान त्रैकालिक होता है तथा प्रत्यक्ष के समान ही प्रामाणिक भी होता है।

जिस प्रकार इन ऋषियों की बुद्धि में ज्ञान का अवतरण होता रहा है, उसी प्रकार आदि सृष्टि में सबसे पवित्रात्मा ऋषियों की बुद्धि में वेदज्ञान के अवतरण में आपत्ति नहीं है।

---

1. साक्षात्कृतो यैर्धर्मः साक्षाद्दृष्टः प्रतिविशिष्टेन तपसा त इमे साक्षात्कृतधर्माणः। नि॰ 1/20, दुर्गभाष्य

नोबिल पुरस्कार विजेता मैटरलिंक ने अपनी पुस्तक "ग्रेट सीक्रेट, प्रीलोज, पृ॰ 6" में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये है कि परम्परा के अनुसार ज्ञान के विशाल भण्डार का आविर्भाव मनुष्य की उत्पत्ति के साथ अधिक आध्यात्मिक तथा प्रकृति में अनासक्त व्यक्तियों पर हुआ।[1]

एक प्रश्न–इस विषय में एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि चारों सँहिताओं में निबद्ध इतनी विपुल शब्दराशि का अवतरण ऋषियों पर कैसे हुआ? क्या उन्होंने इसे इसी वर्णानुक्रमी में ग्रहण करके अन्यों को वितरित किया? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि वेद ज्ञानरूप में ऋषियों की चेतना में अवतरित हुआ था, जिसे उन्होंने अपने शब्दों में वर्तमान सँहिताओं के रूप में सबके सामने रखा। इस प्रकार विद्वानों का एक तृतीय वर्ग यह स्वीकार करता है कि वेद ज्ञानरूप में तो अपौरुषेय हैं, किन्तु वर्तमान सँहिताओं के रूप में पौरुषेय हैं।

यहाँ पर पुनः एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या भाषा के बिना ज्ञान का अस्तित्व एवं प्रकटीकरण सम्भव है? इसका उत्तर यही है कि किसी भी ज्ञान में भाषा, अवश्यमेव अनुस्यूत रहती है, भले ही उस भाषा का स्वरूप कुछ भी क्यों न हो। भाषा एवं ज्ञान का अविनाभाव सम्बन्ध है। भाषा ही ज्ञान को ग्रहण करने एवं प्रकट करने का साधन है। भर्तृहरि भी यही कहते हैं कि भाषा के बिना ज्ञान की प्रतीति नहीं हो सकती।[2] प्रो॰ मैक्समूलर भी ऐसा भी कहते हैं कि भाषा के बिना विचार सम्भव नहीं[3]–

इसलिए यही मानना पड़ेगा कि परमेश्वर ने भी प्रारम्भ में शब्दानुविद्ध ज्ञान ही दिया था।

तैतिरीय सँहिता में यही बात इस रूप में कही गयी है–

यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिण अन्वैच्छन् देवतस्तपसा श्रमेण।
तां दैवी वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके।।

---

1. This tradition attributes to the vast repository of the wisdom that some where took shape simultaneuosly with the origin of man...to more spiritual, entities, to beings less entangled in matter (Prelog p. 6)
2. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋतेः।
   अनुविद्धमिव सर्वं ज्ञानं शब्देन भासते।। वा॰प॰ 1/123
3. I, therefore declare my correction as explicitly as possible, that thought in the sense of reasoning is not possible without language. Maxmullor, science of Language. p. 11

अर्थात् मनीषी ऋषियों ने तपस्या तथा श्रम से जिस दैवीवाक् का अन्वेषण किया, हम उसी वाक् के साथ संगत होते हैं, उसे प्राप्त करते हैं। इस सम्बन्ध में डॉ॰ ओम प्रकाश पाण्डेय लिखते हैं–"इस तृतीय मत के अनुसार ऋषिगण ही वास्तव में मन्त्रों के रचयिता हैं। हाँ परमात्मा के अनुग्रह से उन्हें ज्ञान अवश्य प्राप्त हुआ।"[1]

वर्तमान वैदिक संहिताओं को साक्षात् ईश्वरीय ज्ञान न मानने पर प्रश्न है कि वह शब्दानुविद्ध प्रारम्भिक ज्ञान कैसा था? इसका समाधान हमें ऋग्वेद के अक्षसूक्त (ऋ॰ 10/34) से मिल जाता है। यह सूक्त एक कितव के स्वगतभाषण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस सूक्त का वक्ता ऋषि को माना जा सकता है। आवश्यक नहीं कि यह पूरा सूक्त परमेश्वरप्रोक्त ही हो। सूक्त में जुआरी की दुर्दशा तथा जुए के दोषों का जो वर्णन किया गया है, ऐसा वर्णन कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति कर सकता है। इसके लिए किसी ऋतम्भरा प्राप्त योगी या ऋषि की अपेक्षा नहीं है। सूक्त के मन्त्र में कितव कहता है या कितव के माध्यम से इस सूक्त का कर्त्ता ऋषि कहता है–तन्मे विचष्टे सविताऽयमर्यः। इसका अभिप्राय है कि सविता देव ने मेरे मन में यह बात कही है। यहाँ सविता का विशेषण अर्य भी दिया हुआ है। अर्यः स्वामीवैश्ययोः (पा॰ 3/1/103) सूत्र के अनुसार अर्य का अर्थ स्वामी तथा वैश्य है। यहाँ वैश्य का कोई प्रसंग नहीं। अतः अर्थ हुआ कि जो सबका स्वामी तथा सविता–प्रेरक देव है, उसमें मुझे ऐसा कहा है। ये दोनों पद परमेश्वर को ही लक्षित करते हैं। परमेश्वर सभी व्यक्तियों के मन में अच्छे कार्यों की प्रेरणा देता है। सुप्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में भी यही कहा गया है कि वह सविता देव हमारी बुद्धियों को प्रेरित करें।

अब रहस्य स्पष्ट हो जाता है कि परमेश्वर ने कितव के मन में जुए से दूर रहने की प्रेरणा की। वह प्रेरणा किन शब्दों में की गयी, इसे कितव ही भली भाँति जान सकता है। उसी प्रेरणा से प्रेरित होकर कितव अपने शब्दों में इस मन्त्र को कहता है अथवा कितव के माध्यम से इस मन्त्र का ऋषि अपने शब्दों में इस मन्त्र को उपस्थित करता है। ऐसा मानने में कुछ भी विप्रत्तिपत्ति नहीं है, क्योंकि मूल ज्ञान तो परमेश्वर का था, किन्तु उससे प्रेरित होकर ऋषि ने अपने शब्दों में इस सूक्त को रचा है।

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप, पृ॰ 8

यह सिद्धान्त मान लेने पर उक्त समस्या का समाधान हो जाता है कि परमेश्वर में इतनी विपुल वेदराशि किस प्रकार प्रदान की । इसका यही उत्तर है कि परमेश्वर ने कुछ ज्ञान ऋषियों के हृदय में दिया। वह ज्ञान यद्यपि शब्दानुविद्ध था, तथापि इसके वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना जा सकता। इस ज्ञान अथवा परमेश्वरीय प्रेरणा को प्राप्त करके ऋषियों ने अपने शब्दों में उन सूक्तों को उपस्थित किया है।

उसे इस रूप में समझना चाहिए कि जिस प्रकार वर्तमान समय में उपलब्ध गीता, महाभारत ग्रन्थ का ही अंग है तथा उसे व्यासजी ने लिखा है, तथापि गीता को श्रीकृष्ण प्रोक्त कहा जाता है। इस विषय में निम्न श्लोक सुप्रसिद्ध हैं–

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।

व्यास जी की रचना होने पर भी गीता को श्रीकृष्ण प्रोक्त इसलिए कहा जाता है कि मूल रूप में तो यह ज्ञान युद्धस्थल में भगवान् कृष्ण ने ही दिया था। सम्भवतः श्रीकृष्ण-अर्जुन का वह संवाद संक्षिप्त तथा गद्यमय ही रहा होगा। इसे ही व्यासजी ने 18 अध्यायों में अपने शब्दों में गीता में निबद्ध किया है। मूल रूप में गीता का कलेवर भी इतना बड़ा नहीं था। डॉ. रघुवीर को एक 72 श्लोक की गीता कहीं से मिली थी जो अभी भी उपलब्ध है। इससे यह सिद्ध होता है कि वर्तमान सम्पूर्ण गीता श्रीकृष्ण प्रोक्त नहीं है, तथापि मूल रूप में श्रीकृष्ण ही इसके प्रवक्ता है।

इसी प्रकार प्रारम्भ में ऋषियों के पवित्र हृदय में परमेश्वर ने कुछ ज्ञान अवश्य ही दिया होगा। इतना ही नहीं, अपितु अज्ञानावस्था में सभी मानवों को परमेश्वर ने ही प्रारम्भिक ज्ञान दिया है, अन्यथा मानव कुछ भी न सीख पाता। कदाचित् इसी आशय में योगदर्शन में परमेश्वर के लिए 'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनान्वच्छेदात् (यो॰सू॰ 1/26) कहा गया है। वह प्रारम्भिक ज्ञान कैसा था, इसे हम नहीं बतला सकते। उस ज्ञान का उपबृंहण ऋषियों ने अपने शब्दों में वेदों में किया है। इस प्रकार वेदों पौरुषेय तथा अपौरुषेय दोनों पक्ष सिद्ध हो जाते हैं।

ऋषि मन्त्रकर्त्ता हैं या द्रष्टा?

वेदों में प्रत्येक सूक्त के ऊपर उस सूक्त के ऋषि, देवता तथा छन्द लिखे

होते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि सूक्तों के प्रारम्भ में उद्धृत ऋषियों ने ही उन-उन सूक्तों तथा मन्त्रों की रचना की है। इसीलिए उनका नाम सूक्तों के ऊपर लिखा मिलता है। इस पक्ष में एक हेतु यह दिया जाता है कि इन ऋषियों में अनेक का वंशानुक्रम भी यहाँ पर वर्णित है। अतः ये ही इन सूक्तों के रचयिता हैं।

कर्त्तापक्ष में दोष—अन्य विद्वान् इस पक्ष को स्वीकार नहीं करते क्योंकि इस पक्ष पर निम्न आक्षेप उपस्थित होते हैं—

(क) कुछ सूक्तों के कई-कई ऋषि भी निर्दिष्ट हैं। ऐसे में प्रश्न होता है कि क्या उस सूक्त को कई ऋषियों में मिलकर बनाया था। यथा—ऋग्वेद 9/10 सूक्त के सप्तर्षयः निर्दिष्ट हैं। ऋग्वेद 10/51/1,3,5,7,9 तथा 10/53/1-3, 6-11 के ऋषि 'देवा ऋषयः' हैं। इसी प्रकार आठ मन्त्र वाले 10/136 सूक्त के ऋषि मुनियो वातरशना हैं। ऋ 8/1 सूक्त के भी पाँच ऋषि हैं।

ऋग्वेद 8/34 के ऋषि 'वसुरोचिषोऽङ्गिरसः' 'सहस्रसंख्यका ऋषयः' है, जबकि सूक्त में केवल तीन ही मन्त्र है। क्या तीन मन्त्र वाले सूक्त को हजारों ऋषियों ने मिलकर बनाया?

(ख) इतना ही नहीं, अपितु एक-एक मन्त्र के भी सौ तक ऋषि हैं यथा—

अग्न आयूंषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः। ऋ॰ 9/66/19 यह मन्त्र सामवेद मं॰सं॰ 627, 1464, 1518 में भी है। इस अकेले मन्त्र के 'शतं वैखानसा ऋषय' लिखे हैं। ऋषियों को द्रष्टा मानने पर समाधान हो जाता है कि एक ही सूक्त या एक ही मन्त्र के अर्थ का चिन्तन भिन्न-भिन्न या एक ही समय में सैकड़ों ऋषि भी कर सकते हैं। मन्त्र तो पहले से ही विद्यमान थे। इन्होंने उन मन्त्रों के अर्थ पर विचार किया। इस प्रकार वे ऋषि इनके कर्त्ता नहीं, अपितु द्रष्टा हैं।

(2) ऐसा भी बहुधा पाया जाता है कि यदि कोई मन्त्र एक से अधिक दो, तीन या चारों वेदों में पाया जाता है तो वहाँ पर उनके ऋषि भिन्न-भिन्न हैं। यथा—

(क) चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा॰ यह मन्त्र ऋ॰ 4/48/3 तथा यजुर्वेद 17/11 में है। ऋग्वेद में इसके ऋषि वामदेव तथा यजुर्वेद में साध्या हैं।

(ख) शास इत्था महाँ अस्यमित्रखादो॰ के ऋषि ऋग्वेद 10/50/1 में शासः भारद्वाज तथा अथर्व॰ 1/20/4 में अथर्वा ऋषि है।

(ग) अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्० के ऋषि ऋग्वेद 1/189/1 में अगस्त्य तथा यजुर्वेद 40/16 में दध्यङ् अथर्वण है।

(घ) वेतस्तत् पश्यन्निहितं गुहायाम्० का ऋषि यजु० 35/8 में स्वयंभू ब्रह्मा तथा अथर्व० 2/1/2 में वेनः है।

इस प्रकार सैकड़ों मन्त्र ऐसे हैं जो समान रूप में एक से अधिक वेदों में उपलब्ध है, किन्तु वहाँ पर इनके ऋषि भिन्न-भिन्न निर्दिष्ट है।

(3) ऐसा भी देखा गया है कि एक ही मन्त्र यदि उसी वेद में पुनरावृत्त हुआ है तो वहाँ भी उसके ऋषि पृथक्-पृथक् ही है। यथा-

(क) आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम। ऋः 1/23/21 इदमापः प्रवहत यत्किं च दुरितं मयि। ऋ. 1/23/22 तथा आपो अद्यान्न चारिणम् ऋ० 1/23/23 मन्त्रों का ऋषि मेधातिथि काण्व है, किन्तु ऋग्वेद 10/9/7-9 में उनका ऋषि त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धु द्वीपो वाम्बरीषः है।

(ख) इडा सरस्वती मही० का ऋषि ऋग्वेद 1/13/9 में मेधातिथि काण्व तथा ऋग्० 5/5/8 में वसुश्रुत आत्रेय है।

(ग) चित्रं देवानामुदगादनीकम्० का ऋषि अथर्व० 13/2/35 में ब्रह्मा है, जबकि अथर्व० 20/107/14 में सूर्यः देवीकुत्सः ऋषि निर्दिष्ट है।

इस प्रकार ऐसे सैकड़ों मन्त्र हैं जहाँ एक ही वेद में पुनरावृत्त होने पर उनके ऋषि पृथक्-पृथक् हैं। यहाँ उन सभी मन्त्रों का संग्रह अभीष्ट नहीं है। उक्त उदाहरण स्थालीपुलाक न्याय से दिये ये हैं। यह असम्भव है कि एक ही मन्त्र को एक ही वेद में एक स्थान पर तो एक ऋषि ने बनाया हो तथा दूसरे स्थान पर दूसरे ऋषि ने। जब वह मन्त्र किसी सूक्त में पहले से ही विद्यमान हो तो उसके बाद किसी के द्वारा भी उस मन्त्र को बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार ऋषियों को कर्त्ता मानने पर इन आक्षेपों का समाधान नहीं हो सकता। किन्तु उन्हें द्रष्टा मानने पर कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि एक ही मन्त्र पर एक स्थल पर एक ऋषि विचार कर सकता है तो अन्य स्थान पर अन्य ऋषि अपनी दृष्टि से उन पर चिन्तन-मनन कर सकता है।

(4) मनुष्येतर ऋषि होना—कुछ सूत्रों तथा मन्त्रों के ऋषि मनुष्येतर कूर्म, कच्छप आदि प्राणी भी हैं। यथा ऋ० 8/17 का ऋषि मत्स्याः, 10/165 का कपोतः, 9/86/1-10 का अकृष्टामाथाः, 9/86/21-30 का पृश्नयोऽजाः,

10/108/2 आदि मन्त्रों की ऋषिका देवशुनी सरमा है। यदि ऋषियों को कर्त्ता माना जाए तो ये पशु-पक्षी मन्त्रों के कर्त्ता नहीं हो सकते। यह दोष द्रष्टापक्ष में भी समान है। पशु-पक्षी मन्त्र द्रष्टा भी तो नहीं हो सकते। इसका समाधान पक्ष है कि जिस प्रकार रवि, आदित्य, नीरज आदि नाम जड़ पदार्थों के हैं, किन्तु मनुष्यों के भी ये नाम हैं। इसी प्रकार कूर्म, कच्छप आदि व्यक्ति उन मन्त्रों के द्रष्टा रहे होंगे। कर्त्तापक्ष में भी यही समाधान है।

(5) इतिहास का विरोध—ऋषियों को मन्त्रों का कर्त्ता मानने पर इतिहास के साथ भी विरोध उत्पन्न होता है। यथा-(क) अयं सो अग्निर्यस्मिन्त्सोमम्०' (ऋ० 3/22) सूक्त का ऋषि गाथी कौशिक है, किन्तु तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है 'अयं सोऽग्निरित्येतद् विश्वामित्रस्य सूक्तम्'। विश्वामित्र का पिता 'गाथी' था। दोनों ही एक सूक्त के ऋषि = कर्त्ता नहीं हो सकते।

(ख) कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम् (ऋ० 1/24) इस मन्त्र का ऋषि 'शुनः शेप आजिगार्त्ति कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः' है, किन्तु यह कथा भी प्रसिद्ध है कि शुनः शेष के पिता अजीगर्त ने इस सूक्त के द्वारा आत्मरक्षार्थ प्रार्थना की थी। यदि इस सूक्त को शुनः शेप ने बनाया तो उससे पूर्व उसके पिता ने इससे प्रार्थना कैसे कर ली?

(ग) ऋ० 10/61-62 सूक्तों का ऋषि मनु का पुत्र नाभानेदिष्ट है, किन्तु ऐतरय ब्राह्मण में कथा आती है कि नाभानेदिष्ट के ब्रह्मचर्याश्रम से घर लौटने पर उसके पिता ने ये दोनों सूक्त उसे दिये थे। यदि ये सूक्त पहले से ही विद्यमान थे तो नाभानेदिष्ठ को इनका ऋषि कर्त्ता नहीं माना जा सकता।

(घ) सर्वानुक्रमणी में निर्दिष्ट अनेक ऋषि ऐसे हैं जो महाभारतकालीन सिद्ध होते हैं यथा—ऋ० 3/36/10 का ऋषि घोर आङ्गिरस है। इसका पुत्र घोर कण्व ऋ० के 1/36/43 तथा 9/94 सूक्तों का ऋषि है। ये दोनों महाभारतकालीन है। छान्दो० उप० 3/12 6 के अनुसार आङ्गिरस घोर ने कृष्ण को अध्यात्म विद्या का उपदेश दिया था।[1]

इस प्रकार ऋषियों को मन्त्रों का कर्त्ता मानने में अनेक दोष उपस्थित होते हैं। द्रष्टापक्ष में ये दोष नहीं हैं, क्योंकि मन्त्र तो पहले से ही विद्यमान थे। ऋषियों ने केवल उनके अर्थों का साक्षात्कार किया। इसी बात को यास्क इस प्रकार कहते हैं—

---

1. तद्धैतत् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रयोक्त्वोवाच

ऋर्षिदर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्योपमन्यव: (नि॰ 2/21) इसी आधार पर प्राचीन तथा अर्वाचीन वेद भाष्यकारों ने ऋषि का अर्थ मन्त्रों का व्याख्याता ही लिया है। यथा–

(1) यजु॰ 7/46 के भाष्य में उवट लिखते हैं "ऋषिर्मन्त्राणां व्याख्याता"।

(2) बौधायन धर्मसूत्र के (2/6/36) के भाष्य में गोविन्द स्वामी लिखते हैं 'ऋषिर्मन्त्रार्थज्ञ:'।

(3) त्वामद्यऽऋषऽ आर्षेयऽ ऋषीणां नपात् (यजु॰ 21/61) यहाँ उवट ने ऋषि का अर्थ मन्त्रद्रष्टा तथा ऋषीणाम् का अर्थ 'ऋत्विजाम्' किया है। स्वामी दयानन्द ने यहाँ भी मन्त्रद्रष्टा अर्थ ही किया है।

(4) अग्नावाग्निश्चरति प्रविष्टऽऋषीणां पुत्रो॰ (यजु॰ 514) यहाँ महर्षि दयानन्द ने ऋषि का अर्थ 'वेदादिशास्त्रों के शब्द–अर्थ–सम्बन्धों को जानने वाले किया है।'

(5) समृषीणां स्तुतेन॰ (यजु॰ 3/19) यहाँ स्वामी दयानन्द ने ऋषीणाम् का अर्थ 'वेदमन्त्रों के अर्थों को देखने वाले विद्वान्' किया है।

(6) अजान् ह वै पृश्नींस्तपस्यमानात् ब्रह्मस्वयंभ्वभ्यानर्षत् तद् ऋषयो अभवन्। (तै॰आ॰ 2/9) अर्थात् तपस्या करते हुए ऋषियों पर मन्त्रार्थ प्रकट हुआ इसी गुण के कारण वे ऋषि कहलाये।

(7) तद् यदेतान् तपस्यमानान् ब्रह्मस्वयंभ्वभ्यानर्षत्। तद् ऋषिणाम् ऋषित्वम् (नि॰ 2/11)

इसका आशय भी ऊपरिवत् है। यहाँ वैशिट्य है–तपस्या का। तपस्वी ऋषियों पर ही वेदार्थ प्रकट होता है, अन्य पर नहीं। इसी बात को यास्क ने अन्यत्र (नि॰ 13/12) में इस प्रकार कहा है–न ह्येषु प्रत्यक्षमनृषेरतपसो वा। इस प्रकार यही मानना उचित है कि ऋषि मन्त्रार्थद्रष्टा हैं, न कि मन्त्रनिर्माता।

अब मन्त्रकृत् शब्द पर विचार किया जाता है–

मन्त्रकृत् शब्द का अर्थ

यह ठीक है कि ऋषियों को मन्त्रद्रष्य कहा गया है, किन्तु संस्कृत वाङ्मय के अनेक ग्रन्थों में उनके लिए मन्त्रकृत् शब्द का प्रयोग भी किया गया है। स्वयं वेद में भी एक स्थान पर ऐसा प्रयोग मिलता है।[1] यास्क ने भी निरुक्त में लिखा है–

1. ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिर:। ऋ॰ 9/114/2

कुत्स ऋषिर्भवति कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः। नि॰ 3/12

इस प्रकार अनेक स्थलों पर ऋषियों के लिए मन्त्रकर्त्ता पद व्यवहृत हुआ है। इस आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि एक लम्बे समय तक ऋषियों द्वारा वेदमन्त्रों का निर्माण किया जाता रहा है।

इसका उत्तर यह है कि ऐसे स्थलों में कृ धातु निर्माण के अर्थ में प्रयुक्त न होकर दर्शन अर्थ में प्रयुक्त की गयी है। ऐसे स्थलों के भाष्यकारों ने स्वयं ऐसी ही व्याख्या की है। यथा–

(1) यास्क ने ऋषि को दर्शनकर्त्ता ही माना है। औपमन्यव आचार्य भी ऐसा ही मानते हैं।[1]

(2) नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः (तै॰आ॰ 4/1/1) की व्याख्या में भट्ट भास्कर मिश्र लिखते हैं–

मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्राणां द्रष्टृभ्यः, दर्शनमेव तेषां कर्तृत्वम्।

(3) सर्प ऋषिर्मन्त्रकृत् (ऐत॰ब्रा॰) के भाष्य में सायणाचार्य लिखते हैं– ऋषिरतीन्द्रियार्थद्रष्टा मन्त्रकृत्, करोति धातुस्तत्र दर्शनार्थः।

(4) यावन्तो वा मन्त्रकृतः (श्रौ॰सू॰ 2/1/13) के भाष्य में कात्यायन गर्ग लिखते हैं–

मन्त्रकृतो मन्त्रदृश उच्यन्ते। दर्शनार्थः कृञ् इत्यध्वसीयते। दृश्यते चानेकर्थकता धातूनाम्।

(5) स्वयं पाणिनि ने कृ धातु को इन अर्थों में पढ़ा है–(1) गन्धन (2) अवक्षेपण (3) सेवन (4) साहसिक्य (5) प्रतियत्न (6) प्रकथन (7) उपयोग। इससे सिद्ध है कि कृ धातु अनेकार्थक है।

(6) पतंजलि मुनि ने महाभाष्य में कृ धातु के विभिन्न अर्थ इस प्रकार दिखलाये हैं–करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्टः निर्मलीकरणे चापि दृश्यते, पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु। उन्मृदानय इत्यवगम्यते। निक्षेपणे चापि वर्तते–कटं कुरु, घटं कुरु स्थापयेति गम्यते। म॰भा॰ 1/3/1

(7) आदाने करोति शब्दः (मी॰द॰ 4/3/3) की व्याख्या में शबर स्वामी लिखते हैं–

1. ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। नि॰ 2/11

आदाने करोति शब्दो भविष्यति। स्वयं करोति स्वयमादत्ते। यथा काष्ठानि करोति, गोमयानि करोति, आदाने करोति शब्दो भवति।

(8) शिशुर्वा अङ्गिरसो मन्त्रकृदासीत् (ता॰ महा॰) इसकी व्याख्या में कुमारिल भट्ट लिखते हैं–शिशुर्वा अङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीदित्यत्र मन्त्र कृच्छब्दः प्रयोक्तरि प्रयुक्तः। तन्त्र वा॰, पूना सं॰, पृ. 231

(9) लोक में भी चर्मकार, सुवर्णकार, लौहकार आदि का अर्थ इन धातुओं को बनाने वाला न होकर इनका 'प्रयोग करने वाला' होता है।

(10) सायणाचार्य कहते हैं कि कल्प के आदि में मन्त्रों को प्राप्त करने वाले ऋषि ही मन्त्रकार कहे जाते हैं।[1]

इस प्रकार कृ धातु के अनेकार्थक होने से मन्त्रकृत् का अर्थ मन्त्रद्रष्टा ही है, कर्त्ता नहीं। इस विषय में पं॰ बलदेव उपाध्याय लिखते हैं–

इन ऋषियों को मन्त्रों का द्रष्टा होना ही न्याय संगत है, कर्त्ता होना नहीं।[2]

वाचस्पति गैरोला ने इसी तथ्य को इस प्रकार कहा है–

"कुछ लोग इस प्रकार के 'मन्त्रकृतः' उल्लेखों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि वेदमन्त्रों का निर्माण ऋषियों द्वारा हुआ, इसलिए वेदों को अनादि न मानना चाहिए। ऐसे लोग इस 'मन्त्रकृतः' शब्द के ज्ञान से अपरिचित हैं। उनका उद्देश्य एक नयी बात कहकर अपना नयापन दिखाने के सिवाय कुछ नहीं। मन्त्रकृत का अर्थ मन्त्रद्रष्टा ही समझना चाहिए।"[3]

वैदिक सूक्तों पर निर्दिष्ट ऋषि-एक विवेचन

वेदों के सूक्तों पर ऋषि तथा देवता निर्दिष्ट रहते हैं। देवता तो मन्त्र का विषय हैं, किन्तु ये ऋषि क्या हैं, इस विषय में विभिन्न धारणाएँ हैं। ये ऋषि मन्त्रदृष्टा है या मन्त्र कर्त्ता हैं, यह हमारा यहाँ का विषय नहीं। द्रष्टा तथा कर्त्ता दोनों में से कुछ भी मानने पर उन्हें व्यक्ति तो मानना ही पड़ेगा, किन्तु इस पक्ष में आपत्ति यह है कि सभी ऋषि मानव नहीं हैं अपितु मानवेतर प्राणी भी सूक्तों के ऋषि है। कद्रु, श्येन, मत्स्य, कूर्म, भाववृत्तम्, यक्ष्मघ्न, सरमा, शिवसंकल्प

---

1. कल्पादावीश्वरानुग्रहेण मन्त्राणां लब्धारो मन्त्रकृत इत्युच्यन्ते।
2. सं॰वा॰का बृ॰ इति॰ प्र॰ ख॰, भूमिका, पृ॰ 130
3. सं॰ साहित्य का इतिहास, पृ॰ 116

आदि भी मन्त्रों के ऋषि हैं। इन्हें न तो मानव माना जा सकता तथा न ही मन्त्रद्रष्टा या मन्त्रकर्त्ता।

यद्यपि अधिकांश ऋषि इस प्रकार के हैं जो मानव ही प्रतीत होते हैं। यथा–वामदेव, अत्रि, सत्यश्रवा आदि। इन ऋषियों की अपत्य परम्परा भी वहाँ पर निर्दिष्ट है। यथा–प्रगाथः काण्वः, प्रागाथः, शंयुर्बार्हस्पत्यः इत्यादि। ऐसे ऋषियों को तो मन्त्रद्रष्य माना जा सकता है। इनके विषय में ही यास्क कहते है–ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। इसी के अनुसार उवट ने यजु॰ (7/46) के भाष्य में लिखा है 'ऋषिर्मन्त्राणां व्याख्याता।' बौधायनधर्मसूत्र (2/6/36) के भाष्य में गोविन्द स्वामी भी ऐसा ही लिखते हैं 'ऋषिर्मन्त्रार्थज्ञः'। इससे यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि मन्त्रार्थ का दर्शन या ज्ञान करने वालों को ऋषि कहते हैं। इसी अभिप्राय से महर्षि दयानन्द कहते हैं कि जिन–जिन ऋषियों ने जिन–जिन मन्त्रों के अर्थों का साक्षात्कार तथा प्रचार किया, उन–उन का स्मरणार्थ वेदमन्त्रों पर लिखा रहता है।

यह बात एक अंश में तो ठीक है अर्थात् वेदों में सूक्तों पर जो ऋषि मानवरूप में हैं, वे तो मन्त्रद्रष्टा हो सकते हैं किन्तु पूर्वोल्लिखित जो कद्रु आदि मानव है ही नहीं, उन्हें मन्त्रद्रष्टा नहीं माना जा सकता।

इस समस्या का आंशिक समाधान सर्वानुक्रमणी की इस परिभाषा से हो जाता है–यस्य वाक्यं स ऋषिः। अर्थात् जो भी जिस मन्त्र का वक्ता है, यदि वह मनुष्य हो या पशु–पक्षी हो, यहाँ तक कि चाहे जड़ पदार्थ हो, वही उस मन्त्र का ऋषि है। अर्थात् जिसके माध्यम से मन्त्र में कोई बात कही गयी है, वही उस मन्त्र का ऋषि है। इस पक्ष में सरमा, श्येन आदि भी ऋषि बन जाते हैं। इस पक्ष में ऋषि को मन्त्रद्रष्टा होना अनिवार्य नहीं है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि इनसे पृथक् है, जिसने इनके माध्यम से अपनी बात कही है। जैसे कि पंचतंत्र में पशु पक्षियों के माध्यम से ही उसके लेखक विष्णुशर्मा अपनी बात कहते हैं।

ऐसा भी देखा गया है कि किन्हीं सूक्तों में मन्त्रों के ऋषि तथा देवता परस्पर बदलते रहते हैं। यथा-पुरूरवा-उर्वशी संवाद में 9 मन्त्रों का ऋषि पुरूरवा है तो वहाँ देवता उर्वशी है तथा शेष 9 मन्त्रों का ऋषि उर्वशी है तो वहाँ देवता पुरूरवा है। स्पष्ट है कि ये दोनों ही मानव नहीं हैं। क्योंकि निरुक्तकार के अनुसार विद्युत् ही उर्वशी है तथा बार-बार गर्जन करने वाला मेघ ही पुरूरवा है। पुरु रौतीति पुरूरवाः। यहाँ भी वही समाधान है कि पुरूरवा तथा उर्वशी ये दोनों मन्त्रद्रष्टा नहीं है। बृहद्देवता (2/28) में इस तथ्य को इस प्रकार कहा गया है–

संवादेष्वाह वाक्यं स तु तस्मिन् भवेदृऋषिः।

अर्थात् संवादों में वाक्य या मन्त्र को कहने वाला ही उसका ऋषि होता है।

प्रतीकवाद–योगी अरविन्द ऋषिवाचक शब्दों की प्रतीकात्मक व्याख्या करते हैं। यथा मन्त्रों में सर्वत्र अंगिरस शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, संज्ञारूप में नहीं। अरविन्द की दृष्टि में अग्नि की ज्वालाएँ तथा ज्योतियाँ ही अंगिरसपदवाच्य है जैसा कि वेद भी कहता है कि अंगिरस अग्नि के पुत्र हैं तथा अग्नि से ही उत्पन्न हुए हैं।[1] इन शब्दों को प्रतीकात्मक मानकर ही वेदार्थ में ऋषिज्ञान की उपयोगिका सिद्ध होती है, ऐतिहासिक मानकर नहीं।

यद्यपि अरविन्द की दृष्टि सूक्ष्म तथा व्यापक है, किन्तु इस प्रकार सूक्तों पर उद्धृत सभी ऋषियों को प्रतीकात्मक नहीं माना जा सकता, क्योंकि वहाँ पर वंशपरंपरा भी विद्यमान है तथा कुछ ऋषि ऐसे हैं जिनका अर्थ सुस्पष्ट है, वहाँ प्रतीकवाद दृष्टिगोचर नहीं होता। यथा–शिवसंकल्प, यक्ष्मघ्न आदि। यक्ष्मघ्न का सीधा सा अर्थ है–यक्ष्मा को नष्ट करने वाला। इस सूक्त में यही कार्य वर्णित है। अतः यहाँ प्रतीकात्मकता की आवश्यकता ही नहीं। ऋषियों के सम्बन्ध में कुछ तथ्य इस प्रकार हैं–

(1) कार्य का साधन–मन्त्र के विषय को देवता कहते हैं। मन्त्रोक्त कार्य जिस साधन से सिद्ध हो, उस साधन को ही उस मन्त्र का ऋषि कहा गया है। यथा–ऋ० (1/155) का देवता अलक्ष्मीघ्न है अर्थात् अलक्ष्मी को मार भगाना या दूर करना। इसका ऋषि शिरिम्बिठो भारद्वाज है। शिरिम्बिठ मेघवाचक है।[2] भारद्वाज इसका विशेषण है। वाज पद अन्नवाची हैं। अन्न को भरने वाला ही भरद्वाज है। वाजम् अन्नं भरतीति भरद्वाजः। इस प्रकार मेघ ही वर्षा के द्वारा अलक्ष्मी को दूर करता है तथा खेतों में अन्न को भरता है। इस प्रकार अलक्ष्मी को दूर करने का साधन शिरिम्बिठ भारद्वाज मेघ ही यहाँ ऋषि कहा गया है।

(2) विषय–कहीं-कहीं सूक्त में वर्णित विषय को ही ऋषि बना दिया गया है। यथा–(क) ऋ० 10/125 का ऋषि वागम्भृणी है। इस सूक्त में वाक् की महिमा ही वर्णित है। सूक्त का देवता भी वागम्भृणी ही है। इस प्रकार ऋषि तथा देवता एक हो गए।

---

1. ये अंगिरस सूनवस्त अग्नेः परि जज्ञिरे।
2. शिरिम्बिठो मेघः नि० 6/30
3. वाज अन्ननाम। निघ० 2/7

(ख) इसी प्रकार ऋ० (10/34) का ऋषि कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान् है। सूक्त का देवता भी अक्ष है। सूक्त में अक्ष की निन्दा तथा कृषिप्रशंसा की गई है। अक्ष यहाँ वैकल्पिक ऋषि है।

(ग) यजु० अ० 34 के 6 मन्त्रों का ऋषि शिवसङ्कल्प है। इन मन्त्रों में शिवसंकल्पत्व की ही कामना की गई है।

(3) अवस्था विशेष–नासदीय सूक्त (ऋ० 10/129) का ऋषि 'भाववृत्तम्' है। यह अवस्था विशेष है, व्यक्ति नहीं। भवन्ति पदार्थ अनेनेति भावः सृष्टिसर्गः तस्य वृत्तम्। इस सूक्त में सृष्टिप्रक्रिया का ही वर्णन है। उसे ही भाववृत्तम् के रूप में ऋषि कह दिया गया।

(4) मन्त्र के शब्द–कहीं-कहीं मन्त्र के आद्य या मध्य शब्द को ही ऋषि कह दिया गया। यथा–(क) ऋ० (10/170) का ऋषि विभ्राट् सूर्य है। इस सूक्त के तीन मन्त्र विभ्राट् से ही प्रारंभ हुए है। (ख) इसी प्रकार ऋ० (10/62) का ऋषि मुद्गलो भार्म्यश्व है। सूक्त के पंचम तथा नवम मन्त्रों में मुद्गल पद पठित है। उसे ही ऋषि कह दिया।

(ग) ऋ० (10/140) का ऋषि अग्निः पावकः है। सूक्त का प्रथम मन्त्र अग्नि से ही शुरू होता है। द्वितीय मन्त्र में 'पावक वर्चा' पद पठित है। दोनों पदों को मिला कर ऋषि बना दिया गया।

(घ) ऋ० (10/164) का ऋषि प्रचेता है। चतुर्थ मन्त्र में 'प्रचेता न आंगिरसो' पठित है। प्रचेता को ऋषि बना दिया गया।

(ङ) ऋ० 10/174/1 ऋषि अभीवर्त्त है। इसके प्रथम मन्त्र में ही 'अभीवर्तेन हविषा' पठित है। तदनुसार ही ऋषि बना दिया गया।

(छ) ऋ० (10/71) ज्ञानसूक्त है। इसका प्रथम मन्त्र 'बृहस्पते प्रथमं वाचोऽग्रम्०' है। बृहस्पति को ही इसका ऋषि बना दिया गया।

(5) कहीं-कहीं पर सूक्त में प्रतिपादित कार्य के आधार पर ही ऋषि की कल्पना करती गई है। यथा–

(क) ऋ० (10/117) का ऋषि भिक्षु है। सूक्त में दान की महिमा बतलाते हुए दान देने की प्रेरणा की गई है। भूखे को भोजन तो अवश्य ही देना चाहिए। इसके आधार पर ही भिक्षु को ऋषि बना दिया गया।

(ख) यजुर्वेद (18/70) का ऋषि 'शासः' है। यह शब्द 'शासु अनुशिष्टौ' धातु से निष्पन्न है। मन्त्र में अनुशासन का ही भाव है। इसके अनुसार ही ऋषि की कल्पना कर ली गई।

(ग) ऋ० (10/124) का ऋषि 'अग्निवरुणसोमानां विहवः' है। तदनुसार सूक्त में अग्नि, वरुण तथा सोम का आह्वान किया गया है।

(घ) ऋ० 10/97 का ऋषि 'भिषगाथर्वणः' है। सूक्त में 22 मन्त्र हैं जिनमें ओषधियों का तथा रोगों का ही वर्णन है। मन्त्र 11-12 में यक्ष्मानाश की चर्चा भी है। तदनुसार ही भिषक् को ऋषि बना दिया।

(6) कहीं-कहीं मन्त्रोक्त शब्दों के पर्यायवाची शब्दों को ही ऋषि तथा देवता बना दिया गया है। यथा—ऋ० 10/89 का ऋषि 'सार्पराज्ञी' तथा देवता 'सार्पराज्ञी सूर्या वा' लिखा है। सूक्त में गौ तथा वाक् पद पठित है। गौ तथा वाक् दोनों ही सार्पराज्ञी वाच्य हैं।[1] पृथिवी को भी गो कहते हैं। पृथिवी भी सार्पराज्ञी है[2] प्रथम मन्त्र में पृथिवी के द्वारा सूर्य की परिक्रमा का वर्णन है। अतः सूर्य को भी देवता बना दिया गया।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि—

(1) सूक्तों पर निर्दिष्ट ऋषि ऐसे चेतन मानव भी हैं जिन्होंने इन मन्त्रों तथा सूक्तों का अर्थ जाना। इनमें वंशानुक्रम भी है।

(2) कहीं-कहीं ऋषि प्रतीकात्मक ही हैं।

(3) सरमा, श्येन आदि मानवेतर प्राणियों का ऋषित्व इसलिए है कि इनके माध्यम से मन्त्र द्रष्टा ऋषि ने अपनी बात कही है।

(4) इनके अतिरिक्त सूक्तों के विषय, मन्त्रगत पदों, अवस्थाविशेष, कार्य के साधन आदि का उल्लेख भी ऋषि रूप में है। ये चेतन प्राणी नहीं है।

वैदिक साहित्य का विभाजन

सम्पूर्ण वैदिकसाहित्य को चार भागों में बाँटा गया है—(1) वेदों की सहिताएँ, (2) ब्राह्मणग्रन्थ, (3) आरण्यक, (4) उपनिषदें।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के रूप में चार मन्त्र सहिताएँ वेद मानी जाती है। इनमें मन्त्रों का मूल शुद्ध रूप वर्तमान है। प्रत्येक वेद के

---

1. गौर्वा सार्पराज्ञी। वाग्वै सार्पराज्ञी। कौ० 27/4
2. इयं पृथिवी वै सार्पराज्ञी। ता० 4/9/6

अपने-अपने ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदें हैं। प्रत्येक वेद की अपनी-अपनी शाखाएँ भी हैं, इन सभी का वर्णन आगे किया जायेगा।

वेदों में इहलौकिक तथा पारलोक सभी विषयों का समावेश हैं। वेदों के व्याख्या ग्रन्थ ब्राह्मण है। इनमें मन्त्रों के विधिभाग की व्याख्या की गयी है। अरण्य में रहकर शान्तचित्त मुनियों द्वारा लिखे गये ग्रन्थ आरण्यक कहलाते हैं। इनमें वानप्रस्थ में की जाने वाली विधियों का विधान है। उपनिषदों में उच्च कोटि का आध्यात्मिक एवं दार्शनिक ज्ञान निहित है। कुछ आरण्यकों के भागों को ही उपनिषद् कह दिया गया है। यथा—बृहदारण्यक का भाग ही बृहदारण्यक उपनिषद् के नाम से भी विख्यात है।

वैदिक स्वर—चारों वेदों में स्वर चिह्न लगे हुए हैं। स्वर के कारण शब्दार्थ ही बदल जाता है। पतंजलि कहते हैं कि स्वर तथा किसी वर्ण के कारण अशुद्ध रूप में प्रयुक्त मन्त्र अपने वास्तविक अर्थ को नहीं कह सकता। वह वाग्वज्र बनकर यजमान को नष्ट कर देता है।[1] इस विषय में 'इन्द्रशत्रु' उदाहरण दिया जाता है।

यहाँ पूर्वपद में प्रकृति स्वर[2] होने पर बहुब्रीही समास माना जायेगा, जसका अर्थ होगा—इन्द्र है शत्रु—शातयिता—नष्ट करने वाला जिसका, वह वृत्र। पूरे पद को अन्तोदात्त[3] होने पर षष्ठी तत्पुरुष समास होगा—इन्द्र का शत्रु—शमयिता। इस प्रकार वृत्र ही इन्द्र का हन्ता सिद्ध हो जाता है। ब्राह्मण, आरण्यक तथा कुछ उपनिषदों में भी स्वर चिह्न प्राप्त होते हैं। स्वर तीन हैं—उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित।

उदात्त—वर्णोच्चारण के स्थान तालु आदि के ऊर्ध्व भाग से बोला जाने वाला वर्ण उदात्त संज्ञक होता है, इनके ही निम्न भाग से बोला जाने वाला वर्ण अनुदात्त संज्ञक होता है। उदात्त तथा अनुदात स्वरों का समाहार स्वरूप अच् स्वरित संज्ञक कहलाता है। वर्तमान वेदसंहिताओं तथा ब्राह्मणादि ग्रन्थों में उदात्त स्वर को अचिह्नित ही छोड़ दिया जाता है तथा अनुदात्त स्वर के प्रदर्शनार्थ वर्ण के नीचे पड़ी लकीर लगाई जाती है। यथा—अग्निः। यहाँ पर अकार

---

1. दुष्टः शब्द स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तदर्थमाह।
   स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधादिति।। म०भा० 1/1/1
2. बहुब्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्। पा० 6/2/1
3. समासस्य। पा० 6/1/223

अनुदात्त है तथा इकार उदात्त है। स्वरित वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा लगाई जाती है। यथा–स्य[1]। यहाँ यकार स्वरित है। शतपथ ब्राह्मण में स्वरित की सत्ता ही नहीं है। अतः वहाँ इसका कोई चिह्न नहीं होता। सामवेद में उदात्त आदि के चिह्न नहीं होते, अपितु इन्हें संख्याओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। यथा–उदात्त वर्ण के ऊपर 1 तथा अनुदात्त वर्ण के ऊपर 3 लिखित है। सामान्य स्वरित को 2 के अङ्क से चिह्नित किया जाता है। यथा–य[3]ज[1]ाय[2]जा। यदि दो या दो से अधिक उदात्त के बाद स्वरित आता है तो उसे [2]र से चिह्नित किया जाता है। यथा–ब्रह्मा कस्तं स[2र] पर्यति।

प्रचय स्वर– प्रायः सभी संहिताओं तथा ब्राह्मणों में प्रचय स्वर को अचिह्नित ही छोड़ा जाता है। उदात्त भी अचिह्नित होता है। इन दोनों का भेद यह है कि स्वरित से पूर्ववर्ती अचिह्नित वर्ण निश्चित रूप में उदात्त ही होता है तथा स्वरित से परवर्ती अचिह्नित वर्ण निश्चित रूप से प्रचय ही होता है। यथा–बृहस्पते प्रथमम्। यहाँ पर हकारोत्तरवर्ती तथा थकार के पूर्ववर्ती सभी वर्ण प्रचयसंज्ञक हैं। पाद के आदि में आने वाला अचिह्नित वर्ण उदात्त ही होता है। यथा–उक्त उदाहरण में 'बृ' उदात्त है।

वैदिक छन्द–छन्द दो प्रकार के हैं। वर्णों पर आधारित तथा मात्राओं पर आधारित। वेद में वर्णवृत्तों का ही प्रयोग है, मात्रिकछन्दों का नहीं। वेदों में मुख्य रूप में चौदह छन्द प्रयुक्त हैं। इनमें भी सात छन्द प्रमुख हैं। छन्द की गणना मन्त्र के चरण के आधार पर होती है। गायत्री छन्द वेदों में सर्वाधिक प्रयुक्त है। गायत्री के बाद त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग अधिक हुआ है। इसके बाद जगती छन्द का प्रयोग अधिक है। अनुष्टुप् छन्द वेदों में कम प्रयुक्त है।

प्रमुख सात छन्दों के नाम तथा उनकी वर्ण संख्या इस प्रकार है–

	छन्द	नाम प्रत्येक पाद में वर्ण संख्या					
1.	गायत्री	8	8	8	×	×	(गायत्री त्रिपदा ही होती है)
2.	उष्णिक्	8	8	12	×	×	(उष्णिक् भी त्रिपदा होती है।)
3.	अनुष्टुप्	8	8	8	8	×	(इनमें चार चरण होते हैं)
4.	बृहती	8	8	12	8	×	(इनमें चार चरण होते हैं)
5.	पंक्ति	8	8	8	8	8	(यह पञ्चपदा होती है)
6.	त्रिष्टुप्	11	11	11	11	×	(इनमें भी चार चरण होते हैं)
7.	जगती	12	12	12	12	×	(इनमें भी चार चरण होते हैं)

वेदों के विभिन्न प्रकार के पाठ—वेदों में संहितापाठ तथा पदपाठ तो सर्व विदित हैं ही। वेदों में सभी मन्त्र संहितापाठ में ही उपलब्ध है। सन्धि आदि हटाकर एक एक पद को अलग-अलग रख देने से पदपाठ होता है। यथा—अग्निम्। इळे। इनके अतिरिक्त भी वेदों को प्रक्षेप रहित सुरक्षित करने के लिए आठ प्रकार के पाठों में मन्त्रों को निबद्ध किया गया। ये ही अष्ट विकृतियाँ भी कहलाती हैं। इनमें मन्त्रों के पदों का विशेष रीति से आगे-पीछे, घुमा-फिरा कर उच्चारण किया जाता है जिससे कि उनमें किसी भी प्रकार का बाह्य प्रक्षेप न हो सके। इन अष्ट विकृतियों के नाम इस प्रकार है—

(1) जटा, (2) माला, (3) शिखा, (4) रेखा, (5) ध्वज, (6) दण्ड, (7) रथ, (8) घन।

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो धनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥

इनमें निम्न पाँच प्रकार मुख्य हैं—

(1) संहितापाठ—ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा।

(2) पदपाठ—ओषधयः। सम्। वदन्ते। सोमेन। सह। राज्ञा।

(3) क्रमपाठ—ओषधयः सम्। संवदन्ते। वदन्ते सोमेन। सोमेनसह।

(4) जटापाठ—ओषधयः सम्, सम् ओषधयः, ओषधय सम्। सं वदन्ते, वदन्ते सम्, सं वदन्ते।

(5) घनपाठ—ओषधयः सम्, सम् ओषधयः ओषधयः संवदन्ते, वदन्तेसम् ओषधयः।

वर्तमान में उपलब्ध वेद संहिताएं संहितापाठ में निबद्ध है। एक-एक पद को अलग-अलग रख पदपाठ कहलाता है। पदपाठ के ही प्रत्येक पद को उससे पूर्ववर्त्ती तथा उत्तरवर्ती पद के साथ मिलाकर पढ़ने को क्रमपाठ कहते हैं। क्रमपाठ का आश्रय लेकर प्रतिपद युगल के तीन बार उच्चारण करने को जटापाठ कहते हैं।

(6) शिखापाठ—ओषधयः सम्, समोषधयः, ओषधयः संवदन्ते। संवदन्ते, वदन्ते सम्, संवदन्ते सोमेन। जटापाठ में अगला एक पद जोड़ने से शिखापाठ बनता है। घनपाठ अति क्लिष्ट तथा विलक्षण है। इसमें अनुलोम-विलोम क्रम से अनेक बार पदों की आवृत्ति होती है। इसमें पहले पद का पाँच बार, द्वितीय का दश बार तथा तृतीय और चतुर्थ का तेरह बार उच्चारण किया जाता है।

पदपाठकार आचार्य—मन्त्रों के पदज्ञान के बिना मन्त्रार्थज्ञान नहीं हो सकता। अतः वेदार्थ को जानने के लिए पदपाठ का निर्माण किया गया। ऋग्वेद के पदपाठकार शाकल्य हैं। ये ऋग्वेद के शाखाप्रवर्त्तक भी हैं। यास्क ने शाकल्य के पदपाठ को उद्धृत किया है, किन्तु कहीं-कहीं यास्क इसे स्वीकार नहीं करते। यथा—अरुणो मासकृत् वृकः (ऋ 10/5/18) यहाँ पर यास्क ने मासकृत् पद स्वीकार करके इसका अर्थ 'मासानां कर्त्ता' किया है। यही उचित भी है क्योंकि चन्द्रमा=वृक ही मासों का निर्माता है। शाकल्य यहाँ पर मा सकृत् ऐसा पदपाठ करते हैं। यह पदपाठ निरर्थक है। ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार शाकल्य अहंकारी ऋषि थे जो जनक की सभा में शास्त्रार्थ में पराजित हो गये थे।[1] रावण ने भी ऋग्वेद का पदपाठ किया था। यह रावण त्रेतायुगीन रावण से भिन्न है। इसका पदपाठ कहीं-कहीं शाक्ल्य से भिन्न है। रावण ने ऋग्वेद का भाष्य भी किया था।

शुक्लयजुर्वेद की माध्यंदिन संहिता का पदपाठ मुम्बई में मुद्रित हुआ है, किन्तु काण्वशाखा का पदपाठ अमुद्रित ही है। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयसंहिता के पदपाठकार आत्रेय हैं। भट्टभास्कर के भाष्य में तथा बौधायनगृह्य सूत्र (3/9/7) में इसका उल्लेख मिलता है। सामवेद के पदपाठकार गार्ग्य हैं। पदपाठकारों में मतभेद भी है। यथा 'मेहना' (ऋ॰ 5/39/1)। यहाँ शाकल्य ने मेहना यह एक ही पद स्वीकार किया है, किन्तु गार्ग्य 'म, इह, न' इन तीन पदों को मानते हैं। अथर्ववेद के पदपाठकार का नाम अज्ञात है, किन्तु यह पदपाठ ऋग्वेद के पदपाठ के अनुरूप ही है।

वैदिक देववाद

जड़ एवं चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों के लिए देव तथा देवता शब्द का प्रयोग किया जाता है अशिक्षित ग्रामीण लोग भी अग्नि, वायु, सूर्य आदि को देव कहते हैं। ये सभी जड़ पदार्थ हैं। वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध है कि प्रजापति की दो प्रकार की सन्तान थी—देव तथा असुर। यहाँ देव पद व्यक्तियों के लिए ही आया है। शतपथ में स्पष्ट रूप में विद्वान् व्यक्तियों को देव कहा गया है।[2]

---

1. देवमित्रश्च शाकल्यो ज्ञानाहङ्कारगर्वितः।
   जनकस्य स यज्ञे वै विनाशमगमद् द्विजः।। वा॰ पु॰, पूर्वभाग अ॰ 34 श्लोक 33
2. विद्वांसो वै देवाः (शत॰ 3/7/3/10)

षड्विंश ब्राह्मण (1/1) में भी ऐसा ही कहा गया है–'अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो अनूचानास्ते मनुष्यदेवाः। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थों में जड़ पदार्थों को भी देव कहा गया है।[1] मैक्डानल के अनुसार देव केवल बाह्य जगत् के विभिन्न तत्त्वों एवं उनकी शक्ति के प्रतीक हैं।

देव एवं देवता–प्रायः इन दोनों पदों का प्रयोग एक ही अर्थ में हुआ है। इसलिए यास्क कहते हैं–यो देवः स एव देवता (नि॰ 7/15)। इन दोनों पदों में प्रयोग की दृष्टि से थोड़ा सा भेद यह है कि मन्त्रों तथा सूक्तों के ऊपर देवता लिखे रहते हैं, देव नहीं। वहाँ पर देवता पद मन्त्र में वर्णित विषय का वाचक है। इस अर्थ में देव शब्द प्रयुक्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त वेद में तो अग्नि आदि को भी देवता कहा गया है। यथा–अग्नि देवता वायो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रो देवता यजुः 14/20

यास्क ने देव शब्द की निम्न परिभाषा दी है–

देवो दानाद् दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा (नि॰ 7/6)

यास्क की इस परिभाषा में जड़ तथा चेतन दोनों प्रकार के देवों का समावेश हो जाता है। यथा–वायु जीवनप्रदाता होने से देव है तो सूर्यादि ग्रह द्युस्थानीय होने से देव हैं। इसी प्रकार देने की भाववना से युक्त, ज्ञान से स्वयं प्रकाशित तथा दूसरों को प्रकाशित करने वाले व्यक्ति भी देव है।

सायणाचार्य ने देव की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है–दीव्यतीति देवः मन्त्रेण द्योत्यत इत्यर्थः। इससे सिद्ध है कि सायण मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय को ही देव कहते हैं। सर्वानुक्रमणी में कात्यायन भी ऐसा ही कहते हैं–या तेनोच्चयते सा देवता (सर्वा॰ 2/5)। अर्थात् मन्त्र में जिस वस्तु का कथन हो, वही उसका देवता होता है। षड्गुरुशिष्य ने इस लक्षण की व्याख्या इस प्रकार की है–तेन वाक्येन यत् प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता। यास्क इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहते हैं कि अर्थ के स्वामित्व की इच्छा करता हुआ ऋषि जिस कामना से जिस देवता की स्तुति करता है, वह मन्त्र उसी देवता का होता है।[2]

---

1. प्राणा देवाः। शत॰ 6.3/1/5, ऋतवो वै देवाः। शत॰ 7/2/4/26 चक्षुः देवः। गो॰पू॰ 2/16 वायुर्वै देवः। जैमिनीयो॰ 3/4/7
2. यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्देवतः स मन्त्रो भवति। नि॰ 7/1

मन्त्रों में देवता को जाने बिना वेदार्थ को नहीं जाना जा सकता। बृहद्देवता कहता है कि देवता को जानने वाला ही मन्त्रों के वास्तविक अर्थ को जान सकता है।[1]

यास्क ने नैरुक्तों के अनुसार निरुक्त (नि॰ 7-12) में देवों के तीन प्रकार दिखलाये हैं। **(1) पृथिवीस्थानीय**–अग्नि, सोम, पृथिवी आदि देव पृथिवी स्थानीय हैं। इनमें अग्नि प्रमुख है। **(2) अन्तरिक्षस्थानीय**–इन्द्र, वायु, रुद्र आदि देव अन्तरिक्ष स्थानी हैं। इनमें वायु प्रमुख है। **(3) द्युस्थानीय**–वरुण, मित्र, उषा, सूर्य आदि द्युस्थानीय हैं। इनमें सूर्य प्रमुख है। मैकडानल ने सभी देवों को 8 भागों में बाँटा है–

1. **द्युस्थानीय देवता**–द्यौः, वरुण, मित्र, सूर्य, सवितृ, पूषन्, विष्णु, विवस्वत्, आदित्यगण, उषस्, अश्विनौ।

2. **अन्तरिक्षस्थानीय देवता**–इन्द्र, त्रित, आप्त्य, अपांनपात्, मातरिश्वन्, अहिर्बुध्न्य, अज एकपात्, रुद्र, मरुद्गण, वायु (वात), पर्जन्यः, आपः।

3. **पृथ्वीस्थानीय देवता**–नदियाँ, पृथिवी, अग्नि, बृहस्पति, सोम।

4. **अमूर्त देवता**–त्वष्टा, विश्वकर्मा, प्रजापति, मन्यु, श्रद्धा, अदिति, दिति।

5. **देवियाँ**–उषस्, वाक्, रात्रि, सरस्वती।

6. **युगलदेव**–इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ, इन्द्राविष्णू, अग्नीषोमौ।

7. **देवगण**–रुद्राः आदित्या, विश्वेदेवाः, वसवः।

8. **अवर देवता**–ऋभुगण, अप्सर, गन्धर्व, रक्षक देवता।

जिस देवता का नाम जिस सूक्त में रहता है, उसका वही प्रतिपादनीय और स्तवनीय है। यास्क कहते हैं–या तेनोच्यते सा देवता। यदि कहीं जड़ पदार्थों को भी देवतावत् माना गया है तो वे जड़ पदार्थ भी उस तत्त्व के अधिष्ठाता हैं।

देवों की संख्या

प्राकृतिक आधार रखने वाले प्रधान वैदिक देवताओं की संख्या तैंतीस है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में ग्यारह-ग्यारह देवों के तीन समुदायों का उल्लेख प्राप्त होता है। स्वर्ग में जो देवता हैं वे ग्यारह हैं; पृथिवीस्थ देवता भी ग्यारह हैं;

1. देवजो हि मन्त्राणां तदर्थमेव गच्छति। बृ॰दे॰ 1/2

अन्तरिक्ष स्थानीय देवता भी ग्यारह हैं। वे सभी देवता अपनी महिमा से यज्ञ की सेवा करते हैं–

ये देवासो दिव्येकादशस्थ पृथिव्यामध्येकादशस्थ।

अप्सुक्षितौमहिनैदशस्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्।। ऋ० 1/139/11

अन्य कई मन्त्रों में भी तैंतीस देवों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण में आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य; आकाश और पृथिवी, इस प्रकार तैंतीस देव हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में भी ग्यारह प्रयाजदेव, ग्यारह अनुयाज देव और ग्यारह उपयाजदेव, इस प्रकार तैंतीस देवों का वर्णन प्राप्त होता है, परन्तु ऋग्वेद के एक या दो मन्त्रों में तीन हजार तीन सौ उन्तालीस देवों का संकेत भी प्राप्त होता है। आचार्य सायण ने इन असंख्यक देवों के विषय में लिखा है कि देवता तो तैंतीस ही हैं, परन्तु देवों की विशाल महिमा के सूचनार्थ 3333 देवों का विवरण प्राप्त होता है।

पाश्चात्यों की बहुदेववाद की कल्पना

देवों के विभिन्न नामों, कार्यों, संख्या एवं शक्तियों को देखकर वेदों में बहुदेववाद की कल्पना भी की गयी है। पाश्चात्यों की यह कल्पना इस प्रकार है–वेदों में उपलब्ध अग्नि, इन्द्र, विष्णु आदि अनेक देवों के नामों को देखकर मैक्समूलर ने कल्पना की कि ये सभी देव पृथक्-पृथक् अस्तित्व वाले हैं। वैदिक ऋषि इन सभी देवों की स्तुति प्रार्थना करते थे। इस विचार को मैक्समूलर ने Polytheism नाम दिया[1], अर्थात् बहुदेववाद। मैक्समूलर ने वैदिकधर्म को बहुदेववाद कह तो दिया, किन्तु इसे वह सिद्ध नहीं कर सका तथा न ही वह परमेश्वर के लिए प्रयुक्त अग्नि, इन्द्र आदि अनेक नामों में एकत्व देख सका। अत: 1859 में हिवर्ट लेक्चर देते समय इसके लिए कीनोथीज्म या हीनोथीज्म नाम गढ़े।[2] उसने कहा कि वैदिक ऋषि जिस देवता की भी स्तुति करने लगता है, उसे ही अन्य देवों की अपेक्षा उत्कृष्ट बतलाकर अन्य देवों को उससे न्यून बतलाया है। यथा–इन्द्र के लिए कहा गया है कि

---

1. It there for there must be same for the religion of Rigveda, polytheism would seem at first sight the most approprate
2. I proposed for it the Name of Keenotheism that is a worship of one god after another, or a Henotheism. The wor\ship of single-god, India p. 132-33

तेरे समान न आकाश में, न पृथिवी पर न तो कोई उत्पन्न हुआ है तथा न ही होगा।[1] इसी प्रकार ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के प्रथम सूक्त में अग्नि को सबका राजा, संसार का स्वामी, मनुष्यों का पिता, भाई, पुत्र तथा मित्र कहा गया है। अन्य विष्णु, वरुण, रुद्र आदि की भी यही स्थिति है। इसे कीनोथीज्म कहते हैं। अर्थात् एक ही देव सभी में सर्वोपरि है। हीनोथीज्म अर्थात् एक ही देव की स्तुति।

उक्त धारणा का परिहार

वेद में ऐसा कुछ भी नहीं है, जैसा कि मैक्समूलर ने कल्पना की है। वैदिक देववाद को न समझने के कारण यह मतिभ्रम मैक्समूलर को हो गया। योगी अरविन्द ने इसकी कठोर आलोचना की है। अरविन्द कहते हैं कि वैदिक विचार की नीव एकेश्वरवाद Monotheigm को क्यों न माना जाए[2]? मैक्समूलर आदि की बहुदेवतावाद की कल्पना सर्वथा भ्रामक एवं वेदविरोधी है। मैक्समूलर का ध्यान जब एकेश्वरवाद के प्रतिपादक ऋग्वेद के 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' (ऋ० 1/164/46) की ओर गया तो उसने एक अन्य असत्य बोला कि यह मन्त्र परवर्ती रचना है। जिस प्रकार झूठा व्यक्ति अपने झूठ को छिपाने के लिए झूठ पर झूठ बोलता चला जाता है, यही हाल मैक्समूलर का था। अतः मैक्समूलर की यह धारणा भी सत्य तथा वेदानुकूल नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों की इस धारणा के सम्बन्ध में पं० गजानन शास्त्री मुसल गांवकर कहते हैं "पाश्चात्यों का यह कहना है कि अनेक देवता से एक देवतावाद का विकास हुआ है। विकास–ह्रास की यह धारणा निराधार मिथ्या है। इसको तर्क संगत नहीं कह सकते, अपितु नितान्त उपेक्षणीय है।[3]" वेद एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादक है। इन्द्रादि सभी नाम परमेश्वर के ही वाचक है। इन्द्रादि देवों के केवल नामों में ही अन्तर है, परन्तु आत्यन्तिक सत्ता एक ही है। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप में कहा गया है–

---

1. व त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते। ऋ० 32/23
2. Why should not the foundation of Vedic thought be Natural Monotheism? rather then this men fangled monstrosity of Henotheigm. Shri Aravind. Daya Nand and the veda p. 17-18
3. वैदिकसाहित्य का इतिहास, पृ० 328

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। ऋ॰ 10/114/5

इन्द्रं मित्रंवरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु।। ऋ॰ 1/164/46

यो देवानां नामधा एक एव। ऋ॰ 10/82/3

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः

स एकः न द्वितीयः न तृतीयः आदि।

अर्थात् विद्वान् मनीषियों की दृष्टि में इन्द्र मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, ब्रह्मा, आपः, प्रजापति आदि नाम ही मौलिक सत्ता या अध्यात्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। निम्न मन्त्रों में अग्नि को वरुण, मित्र, विश्वेदेव, विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्र आदि कहा है–

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।

त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्त्तः सचसे पुरन्ध्या। ऋ॰ 2/1/3

इस प्रकार वेदों में एकेश्वरवाद (Monotheism) का ही प्रतिपादन किया गया है। यास्क ने तो केवल एक महादेव की सत्ता स्वीकार करते हुए लिखा है कि तत्तत्कर्मानुसार विभिन्न नामों से पुकारे जाने पर भी सभी देव एक हैं–सब देवता (परमात्मा) एक ही आत्मा के विभिन्न अंश है।[1] यही परम तत्त्व अन्य देवों के विभिन्न नामों को धारण कर लेता है। इसी अन्तिम तत्त्व परमात्मा को याज्ञिकों और ब्राह्मणग्रन्थों ने प्रजापति नाम से अभिहित किया है।

अन्ततोगत्वा मैक्समूलर को भी वेदों में एकेश्वरवाद को स्वीकार करते हुए लिखना पड़ा हैं–"I add only one more hymn in which one god is expressed with such power and decision that it will make us hesitate before we deny to the aryan nations on instinctive monotheism"[2]

वस्तुतः वेदों में एकदेववाद, बहुदेववाद तथा देवाधिदेववाद की भ्रान्ति इसलिए हुई है कि वेदों में वर्णित, इन्द्र, विष्णु, वरुण आदि देवों को पृथक्-पृथक् शरीरधारी देव मान लिया गया। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि इन्द्र-वरुण आदि के नाम, कार्य, सहचर आदि इसी प्रकार के हैं, जैसे कि

---

1. "तासां महाभाग्यात् एकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि सन्ति एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति" नि॰ 7/15
2. Maxmuller, History of sanskrit literature.

लौकिक व्यक्तियों के होते हैं। यहाँ पर यास्क की इस उक्ति को ध्यान में नहीं रखा गया 'यो देवः स एव देवता' (नि० 7/5) जो देव है, वही देवता हैं।

देवता क्या है, इसके उत्तर में यास्क कहते हैं 'या तेनोच्यते सा देवता', मन्त्र के द्वारा जिसे कहा जा रहा है, अर्थात् जिसका मन्त्र में वर्णन किया जा रहा है, उसे देवता कहते हैं। मन्त्र में जिस विषय का प्रतिपादन किया गया है, वही विषय उस मन्त्र का देवता होता है। यथा—जहाँ अग्नि का वर्णन किया गया है, वहाँ अग्नि देवता है। जहाँ इन्द्र का वर्णन किया गया है, वहाँ इन्द्र देवता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

ये अग्नि-इन्द्र आदि नाम जड़ पदार्थों के भी हैं यथा—विद्युत्[1], सूर्य[2] आदि इन्द्र पद वाच्य है। सूर्य को विष्णु भी कहा गया है।[3] यही सूर्य पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में विक्रमण करता है, यही विष्णु का त्रिविध विक्रमण है, ऐसा यास्क ने भी स्पष्ट किया है। मरुत् वायु हैं। अस्तंगत सूर्य वरुण है।[4] इस प्रकार ये सभी देव प्राकृतिक शक्तियों के विविध नाम मात्र हैं, व्यक्ति के रूप में इनका कोई अस्तित्व है ही नहीं।

वेद की विशेषता है कि इन प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण कर दिया गया है। मनुष्यों के समान ही इनके भी वाहन, सहचर, वेश, रथ, पुत्रादि सम्बन्ध तथा अन्य कार्यों की कल्पना की गयी है। उदाहरण के रूप में उषा को ही लें। यह विशुद्ध रूप में प्रातःकाल की वेला है, किन्तु उषासूक्त (ऋ० 3/6) में इसे एक ऐसी युवति का रूप दिया गया है, जो नाना गुणों से युक्त है।

इस विषय में डॉ. सूर्यकान्त लिखते हैं—"अनेक स्थलों पर तो इस मानवीय रूप रचना का आरम्भिक रूपक हमारे सामने आ जाता है।" इसी अग्नि की ज्वालाओं को उसका शरीर तथा लपलपाती लपटों को उसकी जिह्वा माना गया है, पुनरपि अग्नि को कोई भी मानवशरीरी नहीं मानता। अन्य देवों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए।

---

1. स्तनयित्नुरेवेन्द्रः। शत० 11/6/3/9
2. एष एवेन्द्रः य एष तपति। शत० 2/3/4/12
3. अथ यद् विषितो भवति तद् विष्णुर्भवति। नि० 12/18
4. स वा एष (सूर्यः) अपः प्रविश्य वरुणो भवति। कौ० 18/9

(2) एक पक्ष यह है कि ये इन्द्र, विष्णु आदि देव लौकिक शक्तियों के प्रतिपादक हैं। इनके माध्यम से यह बतलाया गया है कि लोक में इनके वाच्य व्यक्ति किस प्रकार के होने चाहिए। यथा–राजा या सेनापति को कैसा होना चाहिए, यह इन्द्र के माध्यम से बतलाया गया है। न्यायाधीश कैसा होना चाहिए, यह वरुण के माध्यम से बतलाया गया है। सैनिक कैसे होने चाहिए, यह मरुतों के माध्यम से बतलाया गया है। इस प्रकार वैदिक देवता स्वयं मानव न होकर लौकिक मानवों के कार्यों के ज्ञापक मात्र है। स्वामी दयानन्द ने इसी रीति से वेदार्थ किया है।

(3) एक पक्ष यह है कि ये इन्द्र, यम, अग्नि आदि सभी नाम परमेश्वर के ही है। इसका ही विभिन्न रूपों में मन्त्रों में वर्णन किया गया है। यथा–परमेश्वर अग्नि के रूप में हमारा अग्रणी–नायक है। सविता के रूप में प्रेरक (षू प्रेरणे) है। वरुण के रूप में न्यायाधीश तथा दण्डदाता है। रुद्र के रूप में दुष्टों को सताने वाला है। शिव के रूप में सबका कल्याण करने वाला है। इस प्रकार ये सभी नाम परमेश्वर के विभिन्न गुणों को ही प्रकट करते हैं। इस विषय में 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' वेद मन्त्र स्पष्टतया यही घोषणा कर रहा है।

पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों को इस शैली को न समझ कर बहुदेववाद आदि की कल्पना कर ली, जो निराधार है। श्रद्धा, मन्यु आदि भी तो देव है। इन्हें तो पुरुष कभी भी नहीं माना जा सकता। ऋ० 10/125 सूक्त का देवता वागम्भृणी है। इसमें वाक् का मानवीकृत स्वरूप प्रदर्शित है, किन्तु इसे कोई भी शरीर धारिणी देवी नहीं मानता। जब यहाँ ऐसा है तो रुद्र, वरुण आदि को शरीरधारी देव मानना भी न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि वेदार्थ में सर्वत्र एक ही शैली अपनायी जानी चाहिए।

स्वामी दयानन्द के अनुसार वेद एकेश्वरवाद के प्रतिपादक हैं। इन्द्र, अग्नि आदि सभी नाम एक परमेश्वर के ही हैं तथा प्रसंगवश भौतिक पदार्थों के भी वाचक हैं। स्वामी दयानन्द के विचारों की पुष्टि में अरविन्द कहते हैं कि मूलवेद की भावना के अनुसार दयानन्द चल रहे हैं न कि पाश्चात्य विद्वान्। यहाँ दयानन्द का विचार सुस्पष्ट है। इसका निषेध नहीं किया जा सकता।[1]

---

1. Here Dayanand's view is clear. it foundation inexpungable. I ask on this point and it is the fundamental point, who deals most stright forwardly with the text, Dayanand or western scholar?

ब्लूमफील्ड के अनुसार वेद में वर्णित देवी-देवता यज्ञ की विविध विधियों एवं उपकरणों के प्रतीक हैं।

बगाईन के अनुसार वेदमन्त्र रूपक (Allegary) तथा इनमें वर्णित देवी देवता सामाजिक परम्पराओं के प्रतीकात्मक रूप हैं।

पिक्टेट (Pictet) के अनुसार ऋग्वेद के आर्य एकेश्वरवादी थे। अनेक मन्त्रों में देवाधिदेव का उल्लेख मिलता है। रॉथ भी इसी मत का समर्थन करते हैं।

राजा राममोहनराय के अनुसार वैदिक देव "एक परमदेव के गुणों का लाक्षणिक (Allegarical) रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं।" मन्त्रों के विभिन्न देवी-देवता एक देव के भिन्न-भिन्न पक्ष है।

श्री अरविन्द के अनुसार वेदों में रहस्यवादी दर्शन और गुप्त सिद्धान्त सम्भूत हैं। मन्त्रों के देवी-देवता मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के चिह्न हैं और सोम अनुभूति का चिह्न है।

जब मैक्समूलर के हीनोथीज्म की आलोचना हुई तो उसने इसके 15 वर्ष पश्चात् 4 फरवरी, 1975 में ड्यूक ऑफ आर्ग्यालय को लिखे पत्र में स्वीकार किया कि आर्यों का धर्म शुद्ध एकेश्वरवाद है।[1]

वेदों में कहीं भी देवप्रतिमा का वर्णन नहीं है। मैक्डानल भी ऐसा ही कहते हैं कि "ऋग्वेद में न कहीं देवताओं की प्रतिमा का वर्णन है और न कहीं मन्दिरों का उल्लेख है।"[2]

इन देवों के गुणों में परस्पर साम्य भी है तथा पार्थक्य भी। यथा–इन्द्र शक्ति का देवता है,[3] किन्तु अग्नि को भी 'सहसःसूनुः' शक्ति का पुत्र कहा गया है। इन्द्र[4] तथा अग्नि[5] दोनों ही से रक्षा तथा धन की प्रार्थना की गयी है। इसी प्रकार अन्य देवों में भी गुणसाम्य है। इन गुणों की समता के कारण एक देव को अन्य देव के नाम से भी पुकारा गया है। यथा–

1. The earliest known religions from the Aryan Races is, as clear as possible, a pure monotheism, yes, that is perfectly true. Bharti, MM. L.M. P. 140 Era books of Delhi 1992.
2. सं० सा० का इति० (हिन्दी) भाग 1, 1962, पृ. 60
3. या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्। नि० 7/10
4. इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि। ऋ० 2/21/6
5. अग्निना रयिमश्नुवत् पोषमेव दिवेदिवे। ऋ० 1/1/3

त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्वं मित्रो भवति यत्समिद्धः।

त्वे विश्वे सहस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय।। ऋ॰ 5/3/1

हे अग्नि! तुम ही वरुण, मित्र तथा इन्द्र बन जाते हो। इससे यही सिद्ध होता है कि सभी देव एक ही देव या शक्ति के विभिन्न नाम हैं तथा वह परमशक्ति परमेश्वर ही है। भौतिक पक्ष में सभी प्राकृतिक देवों की अपनी-अपनी शक्तियाँ हैं, जिस कारण उनमें पार्थक्य भी है। यथा–अग्नि प्रकाश तथा ऐश्वर्य का दाता है। जबकि इन्द्र शत्रु संहारक है। यद्यपि कहीं-कहीं अग्नि को भी वृत्रहन्ता कहा गया है[1], किन्तु यह इसका मुख्य कार्य नहीं है। वृत्रवध इन्द्र का मुख्य कार्य है। इसी प्रकार विष्णु में व्यापकता गुण का प्राधान्य है, जबकि वरुण मुख्य रूप में दुष्कर्माओं को दण्डदाता तथा न्यायकर्त्ता है। इस प्रकार शक्तियों के पार्थक्य के कारण प्रत्येक देवता की स्वतन्त्र सत्ता तथा तदाधारित बहुदेववाद के दर्शन होते हैं।

शक्तियों की समानता के कारण ही युग्मरूप में कुछ देवता देखे जाते हैं। यथा–मित्रावरुणौ, इन्द्रावरुणौ, द्यावापृथिव्यौ, अश्विनौ आदि। कुछ देव गणरूप में भी पठित हैं। यथा–मरुद्गण, आदित्यगण, वसुगण, ऋभुगण, विश्वेदेवा आदि। कुछ भावदेवता भी उपलब्ध होते हैं। यथा–श्रद्धा, मन्यु, काम, शिवसङ्कल्प इत्यादि। गौण देवता के रूप में गन्धर्व तथा अप्सराएँ भी वेदों में वर्णित हैं।

वैदिकदेव मनुष्यों के कल्याणकर्त्ता, रक्षक तथा ऐश्वर्य प्रदाता है। देवताओं की एक अन्य विशेषता उनकी चारित्रिक दृढ़ता है। वे ऋत के रक्षक, सत्य के प्रणेता तथा सत्य स्वभाव वाले हैं। इतना ही नहीं, अपितु वे सत्य, नैतिकता तथा चरित्रादि गुणों से रहित व्यक्ति को दण्ड भी देते हैं। देवताओं के उत्कृष्ट चरित्र के विषय में डॉ॰ सूर्यकान्त लिखते हैं "जहाँ एक ओर निकट पूर्वीय देशों के देवी-देवताओं का चरित्र आज के मानदण्ड से देखने पर कुछ ढीला-ढाला सा प्रतीत होता है, वहाँ वैदिक देवताओं का चरित्र आज के मानदण्ड की दृष्टि से भी अत्यन्त उच्च कोटि का ठहराता है।[2]"

वैदिक देववाद की विशेषताओं को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है–

(1) देवों की संख्या अनेक है, किन्तु अन्तोगत्वा वे सभी तीन देवों में तथा तीन देव भी एकमात्र देव परमेश्वर में समाहित हो जाते हैं।

---

1. अग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्। ऋ॰ 6/16/35
2. वैदिक देवशास्त्र, भारतभारती, अंसारी रोड, दरिया गंज दिल्ली 1961, भूमिका, पृ॰

(2) वेदों में देवों का मानवीकरण करके उनके पिता, पुत्र, पत्नी आदि की भी कल्पना की गयी है। उषा आदि जड़ देवों का भी मानवीकरण वहाँ पर है।

(3) गुणों एवं कार्यों के आधार पर देवों का स्वरूप सौम्य एवं रौद्र है। शिव सौम्य है तो रूद्र के रूप में भयावह भी है। इसी प्रकार वरुण सौम्य देव होकर भी पापियों को कठोर दण्डप्रदाता है।

(4) तेज, पवित्रता, दया, हितकारिता आदि देवों की सर्वसामान्य विशेषताएँ हैं। ये सभी आयुष्य, अभ्युदय एवं समृद्धि आदि के दाता हैं।

(5) सभी देव उच्च चरित्र वाले हैं। न्याय, सत्यनिष्ठा, निष्कपटता, धर्मपरायणता सभी में विद्यमान हैं।

(6) याज्ञिक क्षेत्र में यजमान तथा देवों का अनुग्राह्य तथा अनुग्राहक का सम्बन्ध हैं। यजमान उन्हें आहुति देता है तथा देव यजमान को देवत्व, धन, बल आदि की प्राप्ति कराते हैं।

(7) इन्द्र, उषा, मरुत्, अग्नि आदि देव प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिरूप हैं। वहाँ इनका व्यक्ति के रूप में ही वर्णन है। डॉ० कपिलदेव द्विवेदी लिखते हैं–

"पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों के देवों और देवियों का जो चित्रण किया है, उसमें कहीं-कहीं पर उन्होंने शब्दों के गूढार्थ एवं वास्तविक अर्थ को न लेकर केवल शब्दार्थ मात्र करने से अर्थ का अनर्थ भी कर दिया है।"[1]

वेदों का काल

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार वेदों का काल ईसा से 1200 से 3000 वर्ष पूर्व ठहराता है। यह धारणा इसलिए बनाई गयी क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों के मन में बाइबिल के अनुसार यह संस्कार बैठा हुआ था कि वर्तमान सृष्टि को बने हुए 4000 वर्ष से अधिक नहीं हुए। इस विषय में बाल गंगाधर तिलक लिखते हैं "ख्रिस्ती धर्म के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति ईसवी पूर्व 4000 वर्ष में हुई थी। इसलिए ईसाई लेखकों की दृष्टि 4000 ई०पू० से परे जाने को तैयार नहीं।[2] उक्त विचार का जन्म सन् 1942 में तब हुआ जब ग्रीक भाषा के अध्यापक फादर जान लाईट फुट ने अपने धर्म ग्रन्थों के आधार पर घोषित किया कि सृष्टि का जन्म ईसापूर्व

1. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, संस्कृत का का समी० इति०, पृ० 40
2. ओरायन० IV ed. 1955, p. 234

17 सितम्बर 3928 के दिन प्रातः 9 बजे हुआ। इस मान्यता पर 1658 में रैवरैण्ड जॉन उशशर ने आक्षेप किया तथा उन्होंने आयरलैण्ड के आर्चिविशप बनने पर 1664 में घोषणा की कि सृष्टि की उत्पत्ति 23 अक्टूबर ई० पू० 4004 में प्रातः 9 बजे हुई। जो कोई इसके विरुद्ध विचार करेगा, उसे इक्विजिशन का दण्ड दिया जायेगा।"[1]

1. प्रौ० मैक्समूलर ने सर्वप्रथम वेदकालनिर्णय करने का प्रयत्न किया। इन्होंने सम्पूर्ण संस्कृतसाहित्य को चार कालखण्डों (छन्दकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल तथा सूत्रकाल) में विभक्त करते हुए इनके निर्माण में 200-200 वर्ष के अन्तर की तर्कहीन एवं भ्रामक कल्पना करके कहा कि 1000 ई०पू० तक सम्पूर्ण ऋग्वेद अपने वर्तमान रूप में आ गया था। वेदों का काल 1200 ई० पूर्व से पहले नहीं रखा जा सकता। डॉ० हॉग ने उक्त चारों कालखण्डों में पाँच-पाँच सौ वर्ष का अन्तर मानकर वेदकाल को 2400 इसे 2000 ईसा पूर्व तक ले जाने का परामर्श दिया।

2. विल्सन, ह्विटनी, गॉल्डस्टूकर, जैकोबी, बूह्लर, ब्लूमफील्ड, विण्टरनिज़ आदि की तरह मैक्समूलर भी इस बात पर सहमत थे कि वेदकाल को 2000 ई०पू० से पीछे ले जाया जाना चाहिए।

3. 19वीं० शदी के प्रारम्भ में जर्मनी में जैकोबी ने नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर वेदों के कालनिर्धारण का यत्न किया। जैकोबी ने ऋ० 7/103/9 के एक मन्त्रांश 'संवत्सरे प्रावृषि आगतायाम्' के आधार पर कहा कि ऋग्वेद के समय वर्ष गणना में वर्षाऋतु का प्रथम स्थान था। यह स्थिति ई०पू० 4500 में ही सम्भव है। अतः यही वेदकाल है।

प्रो० जैकोबी ने ब्राह्मणग्रन्थों की रचना काल 2500 ईसा पूर्व मानकर निराधार अनुमान किया कि सभ्यता के विकास के लिए 4500 ई०पू० का समय होना चाहिए तथा यही वेदों का काल है।

4. बेबर ने भौगोलिक एवं धार्मिक प्रमाणों के आधार पर भारतीय वाङ्मय को प्राचीन बतलाया है। उनका कहना है कि ऋग्वेद के अनुसार उस समय आर्य काबुल से उत्तर पश्चिम पंजाब तक आकर वहाँ पूर्व की ओर बढ़ते हुए सरस्वती से गंगा तट तक आ गये थे, जबकि ब्राह्मण काल में उनकी प्रगति

---

1. बम्बई से प्रकाशित 'साईंस टुडे' मासिक पत्रिका के संपादक के नाम आर.सी. फैलोज, उदयपुर का पत्र।

दक्षिण की ओर दिखलाई देती है। ऋग्वेद की प्रकृति की उपासना से लेकर उपनिषद् के अध्यात्मवाद तक हुए वैचारिक विकास एवं ब्राह्मण धर्म के प्रचार से भी इसी काल क्रम का संकेत मिलता है। आर्यों के पश्चिमोत्तर पंजाब के दक्षिण की ओर जाने में तथा प्रकृति पूजा से अध्यात्म को ग्रहण करने में पर्याप्त समय लगा होगा। अतः वेद प्राचीन हैं।

5. शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ ब्राह्मण के एक प्रमाण[1] के आधार पर कहा है कि शतपथ के रचनाकाल में कृतिकाएँ पूर्व दिशा से उदित होती थी। आलकल वसन्त सम्पात (Vernal Equinox) पूर्वाभाद्रपदा के चतुर्थ चरण में है। इस प्रकार कृतिकाएँ अपने स्थान से 4¾ अंश नक्षत्र (भरणी, अश्विनी, रेवती, उत्तरा, भाद्रपदा) पीछे हट गयी है। एक नक्षत्र को पीछे हटने में 960 वर्ष लगते हैं। इस प्रकार 960×4¾=4560 वर्ष पहले (शतपथ के काल में) वसन्त समाप्त हुआ होगा। इस प्रकार लगभग 2500 ई०पू० में शतपथ की रचना हुई होगी। इससे पूर्व 250 वर्ष प्रत्येक वेद निर्माण की अवधि मानकर चारों वेद शतपथ से 1000 वर्ष पूर्व बने।

6. लोकमान्य तिलक ने अपने ग्रन्थ ओरायन (Orion) में नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर ही वेदों का काल लगभग 6000 ई० पूर्व० माना है। सूर्य को दक्षिणायन से उत्तरायण की ओर जाते हुए वसन्तसम्पात बिन्दु में से होकर जाना पड़ता है तथा उत्तरायण से दक्षिणायन की ओर जाते हुए शरत्सम्पात में से होकर जाना पड़ता है। वसन्तसम्पात 72 वर्षों में 1 अंश के हिसाब से क्रान्तिवृत्त पर पूर्व से पश्चिम की ओर सरकता रहता है। आकाश में सूर्य के चारों ओर पृथिवी के घूमने के मार्ग को क्रान्तिवृत्त कहते हैं। इसके चारों ओर आकाश में 27 नक्षत्र विद्यमान है। वृत्त में 360 अंश (डिग्री) होती है।

अतः प्रत्येक नक्षत्र एक-दूसरे से $13\frac{1}{3}$ अंश की दूरी पर है। वसन्तसम्पात को एक नक्षत्र से दूसरे में जाने में 960 वर्ष लगते हैं। आजकल वसन्तसम्पात में सूर्य उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में है। मृगशीर्ष नक्षत्र उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र से पहले है। इसलिए मृगशीर्ष नक्षत्र में वसन्तसम्पात आज से 960 × 6 = 5760 वर्ष पूर्व रहा होगा। तिलक के अनुसार ऋ० 10/86/5 में मृगशीर्ष नक्षत्र में वसन्त सम्पात का होना वर्णित है। अतः वेद का काल यही है।

---

1. एता वै प्राच्यो दिशा न च्यवन्ते, सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते। शत० 2/1/2

7. विन्टरनित्स ने वेदकालविषयक सभी मतों के समन्वय की दृष्टि से वैदिक काल को 2500 ई॰पू॰ से 500 ई॰ के मध्य मानकर ऋग्वेद का समय 2500 ई॰पू॰ माना। डॉ॰ कपिलदेव का कहना है कि इस समन्वय से कुछ असंगतियों का निराकरण तो हो जाता है, किन्तु पूर्व सीमा 2500 ई॰पू॰ ही हो, इसके लिए कोई प्रमाण या आधार नहीं है।[1]

8. दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने अपने 'वेदकालनिर्णय' नामक ग्रन्थ में ज्योतिष के प्रमाणों के आधार पर वेद का रचनाकाल तीन लाख वर्ष पूर्व माना है।

9. नारायण भवन पावगी ने अपनी Vedic Fathers of Geology नामक पुस्तक में भूगर्भशास्त्र के प्रमाणों के आधार पर कहा कि वेद तृतीय युग की रचना हैं। डॉ॰ क्रोल जैसे भूगर्भशास्त्रियों के मत से आज से दो लाख चालीस हजार वर्ष पूर्व तृतीय युग की समाप्ति होकर हिमयुग का आरम्भ हो गया था। हिमयुग से पूर्व यह तृतीय युग लाखों वर्ष तक रहा है। इसलिए वेद कम-से-कम दो लाख चालीस हजार वर्ष पुराना तो है ही।

10. जे. हर्टल की कल्पना है कि ऋग्वेद का प्रादुर्भाव ईरान में हुआ था तथा उसका प्रणयन 500 ई॰पू॰ के पूर्व नहीं हुआ।

11. L Von Schroeder ने वेदों का रचनाकाल 1500-2000 ई॰ पूर्व माना है। G. Huasing ने शिलालेखों में प्राप्त नामों की व्याख्या भारतीय राजाओं के रूप में करके यह अनुमान किया कि 1000 ई॰पू॰ भारतीय आरमेनिया से अफगानिस्तान आये। उन्होंने यहीं 1000 ई॰पू॰ में वेदों को रचा।

12. हॉग ने वेदांग ज्योतिष के आधार पर ब्राह्मणग्रन्थों का रचना काल 1400-1200 ई॰पू॰ तथा संहिता काल 2400 से 1400 ई॰ पूर्व माना है।

13. वर्तमान सृष्टि की आयु अरबों वर्ष से भी अधिक है।

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय तथा भारतीय मनीषी वेदों को सृष्टि के आदि में प्रादुर्भूत ज्ञान मानते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने वेदकाल इस प्रकार माना है।

---

1. वैदिक साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ॰ 54

1. मैक्समूलर	1200-1500	वर्ष ई॰ पूर्व
2. मैक्डानल	1200-2000	वर्ष ई॰ पूर्व
3. कीथ	1200-2000	वर्ष ई॰ पूर्व
4. व्यूहलर	1200-2000	वर्ष ई॰ पूर्व
5. हॉग, ह्विटनी, विल्सन, ग्रिफिथ, श्रोडर	2000	ई॰ पूर्व
6. विन्टरनिज	2500	ई॰ पूर्व
7. जैकोबी	3000	ई॰ पूर्व

भारतीय विद्वानों की वेदकालविषयक मान्यताएँ–

1. शंकर बालकृष्ण दीक्षित	3000 वर्ष ई॰ पूर्व
2. लोकमान्य तिलक	6000 से 10000 वर्ष ई॰ पूर्व
3. अविनाश चन्द्र दास[1]	20000 वर्ष से 50000 वर्ष ई॰ पूर्व
4. डी॰एन॰ मुखोपाध्याय	25000 वर्ष से 50000 वर्ष ई॰ पूर्व
5. रघुनन्दन शर्मा[2]	88000 वर्ष ई॰पू॰
6. दीनानाथ शास्त्री चुलेट[3]	तीन लाख वर्ष ई॰ पूर्व

वेदकालविषयक मतों की समीक्षा

(1) पाश्चात्य एवं भारतीयों के वेदकालविषयक जितने भी मत हैं, वे सभी पूर्णतः अनुमान पर आधारित हैं। न्यायदर्शन के अनुसार अनुमान भी प्रत्यक्ष पर आधारित होता है[4] किन्तु इन अनुमानों में कल्पना का ही आश्रय लिया गया, प्रत्यक्ष का नहीं। उदाहरणार्थ–मैक्समूलर द्वारा किया गया वैदिक साहित्य के चारों खण्डों में 200-200 वर्ष का अनुमान विशुद्ध कल्पना थी, जिसका कोई भी आधार नहीं था। इसीलिए विल्सन तथा ह्विटनी आदि ने मैक्समूलर के उक्त

---

1. ऋग्वेदिक इण्डिया, कलकत्ता, 1922
2. वैदिक सम्पत्ति पृ॰ 90-112
3. 'वेदकाल निर्णय' नामक ग्रन्थ।
4. तत् प्रत्यक्षपूर्वकं त्रिविधमनुमानम्॰। न्या॰सू॰ 1/1/5

मत की जमकर आलोचना की तथा व्यूह्लर ने मैक्समूलर द्वारा निर्धारित समय को अत्यल्प, अत एव त्याज्य बतलाया। परिणामस्वरूप मैक्समूलर को 1862 ई॰ में ऋग्वेद के चतुर्थ भाग की प्रस्तावना में स्वीकार करना पड़ा कि वैदिक वाङ्मय के तिथिनिर्धारण में उसने जो मत व्यक्त किया है, वह पूर्णतः काल्पनिक है। 1890 ई॰ में जिफोर्ड व्याख्यान माला में उसने स्पष्ट रूप में स्वीकार किया। "हम वेदकाल की कोई अन्तिम सीमा निर्धारण कर सकने की आशा नहीं कर सकते। संसार की कोई शक्ति इसका निर्धारण नहीं कर सकती।"[1] इसके बाद 1907 में एशिया माइनर के बोगाजकोई (Boghazkoi) स्थान से 1400 ई॰ पूर्व के शिलालेख की प्राप्ति से मैक्समूलर का उक्त मत सर्वथा उपेक्षित हो गया। इस शिलालेख में मितानी (Mitani) तथा हिटाइट (Hittite) लोगों के मध्य हुई तक सन्धि का उल्लेख है जिसकी साक्षी में मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्यौ देवों का उल्लेख है। ये देव वेदों में वर्णित हैं। अतः वेदकाल 1400 ई॰ पूर्व माना गया।

(2) अन्य पाश्चात्य विद्वानों के अनुमान भी इसी प्रकार के हैं। इन विद्वानों के अपने निर्णयों में एक हेतु यह दिया है कि वेदों में जमदग्नि, परिक्षित्, वसिष्ठ आदि राजाओं तथा ऋषियों के नाम आते हैं। अतः वेदों की रचना इन व्यक्तियों के बाद हुई। वस्तुतः वैदिक शब्दों के अर्थ लौकिक शब्दों की भाँति नहीं किये जा सकते। वेदों में प्राप्त इस प्रकार के नाम अन्यार्थ के वाचक हैं। यथा—ब्राह्मणों में चक्षु को दी जमदग्नि ऋषि[2] तथा प्राण को वसिष्ठ ऋषि[3] कहा गया है। इसी प्रकार अन्य नामों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। यास्क मुनि ने निरुक्त में यही मार्ग अपनाया है।

ऐसा अन्य पुस्तकों में भी है। यथा—कुरान में अल्लाह को अकबर भी कहा गया है। इससे कुरान मुगल सम्राट् अकबर के बाद का बना तो सिद्ध नहीं हो जाता। कुरान से लेकर अकबर नाम रखा गया। इसी प्रकार लौकिक व्यक्तियों के वसिष्ठ आदि नाम वेदों से लेकर ही रखे गये हैं। वेदों में कुछ आख्यानात्मक प्रसंग भी हैं, वहाँ भी इसी प्रकार के नाम देखकर इतिहास की भ्रान्ति होती है, किन्तु वहाँ भी यही समाधान जानना चाहिए।[4]

---

1. Maxmuller Physical Religion 'Collected works of Maxuller' Part 2, 1890 pg. 91.
2. चक्षुर्वै जमदग्नि ऋषिः। शत॰ 8/12/2
3. प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः। शत॰ 8/1/1/6
4. वैदिक आख्यानों के लिए लेखक की 'वैदिकइतिहासविमर्श' पुस्तक देखें।

(3) यहाँ पर यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि सभी पाश्चात्य विद्वान् वेदविषयक निष्कर्षों की स्थापना में अनुमान एवं अपने पूर्व निर्धारित धारणाओं को लेकर ही आगे बढ़े है। वेदकाल के विषय में तो इन्होंने अत्यधिक स्वच्छन्दता से काम लिया है। इन विद्वानों के वेदकालविषयक मापदण्ड इस प्रकार हैं–सभ्यता का विकास, वेदों की भाषा, आर्यों का विदेशों से आगमन इत्यादि। कहना न होगा कि ये सभी हेतु हेत्वाभास मात्र है। बेवर आदि के अनुसार ऋग्वेद में प्रकृति पूजा है जबकि उपनिषदों में 'अध्यात्मवाद'। पता नहीं इन विद्वानों की दृष्टि अथर्ववेद के ब्रह्मौदन सूक्त, सामवेद की उपासना, ऋग्वेद 10/90 तथा यजुर्वेद अ॰ 31 के पुरुष सूक्त, ऋग्वेद 10/21 तथा यजु॰ अ॰ 13 के हिरण्यगर्भ सूक्तों पर क्यों नहीं पड़ी। जहाँ परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना सुस्पष्ट हैं। इनके कुछ मन्त्र इस प्रकार है–

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। ऋ॰ 10/90/1

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।। यजु. 13/4

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यजु॰ 25/13

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव। ऋ॰ 10/12/10

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यजु॰ 32/10

इन मन्त्रों से तो कहीं भी प्रकृतिपूजा दिखलायी नहीं दे रही है। ये मन्त्र विशुद्ध अध्यात्मवाद के प्रतिपादक है तथा 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' कहकर सुनिश्चित कर रहे हैं कि हम कः = प्रजापति, तस्मै, अर्थात् प्रजापति के लिए ही अपनी आहुति दें, अन्य को नहीं। पाश्चात्य विद्वानों ने इस सत्य का अपलाप कितनी चालाकी से किया है, इस पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता है। इन्होंने कहा कि इन मन्त्रों में 'कस्मै' पद चतुर्थी एक वचन का रूप है। यह प्रश्न वाचक है। आर्यों को भी यह भी पता नहीं था कि हम किस देवता को आहुति प्रदान करें। पूरे मन्त्रार्थ को शीर्षासन करा दिया गया। निश्चय को संशय में बदल दिया गया। यह था इनका बुद्धिचातुर्य। और देखिए, ऋग्वेद के दशम मण्डल में आध्यात्मिक विचार तथा ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना प्राप्त होने पर इन विद्वानों ने दशम मण्डल को ही परवर्ती घोषित कर दिया, किन्तु जब इनका ध्यान ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के मन्त्र 'इन्द्रं मित्रं वरुण अग्निममाहुरथोदिव्यः' पर गया तो उसे भी इन्होंने परवर्ती घोषित कर दिया। इसे कहते हैं 'चित भी

मेरी, पट भी मेरी' इन्हें हर हालत में ऋग्वेद को प्रकृतिपूजक घोषित करना था। विडम्बना तो यह रही है कि भारतीय विद्वानों ने भी इन मान्यताओं के बिना कुछ विचार किये ही स्वीकार कर लिया। तथा अपने प्राचीन आचार्यों की उपेक्षा कर दी।

जिस ऋग्वेद को पाश्चात्य विद्वान् प्रकृतिपूजक कहते हैं, उसका प्रारम्भ 'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवम्' से होता है। पाश्चात्यों को यहाँ केवल भौतिक अग्नि की स्तुति ही दिखलाई दे रही है जिस कारण वे ऋग्वेद को जड़ पूजक कह रहे हैं, किन्तु इनका ध्यान यास्ककृत अग्नि के निर्वचन 'अग्नि रग्रणी भवति' पर नहीं गया। इसके अनुसार इस मन्त्र में आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तीनों अर्थ छिपे हैं। मन्त्र में पुरोहित पद भी पठित है। स्वामी दयानन्द अग्नि का अर्थ 'परमेश्वरो भौतिकाग्निर्वा' करके पुरोहित की व्याख्या 'उत्पत्ति से पूर्व भी परमाणु आदि सृष्टि को धारण करने वाला परमेश्वर' करते हैं। इसी सूक्त का नवम मन्त्र 'स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव' तो स्वयं ही सूक्तोक्त अग्नि को परमेश्वर सिद्ध कर रहा है। परमेश्वर का इतना स्पष्ट वर्णन होने पर भी पता नहीं क्यों ऋग्वेद को केवल भौतिकाग्नि का पूजक समझ लिया गया? कारण, पूर्वाग्रह या अज्ञान?

'आर्य भारत में बाहर से आए' पाश्चात्यों की इस धारणा को तो आज इतिहासज्ञों ने भी झुठला दिया। अतः हमें कुछ नहीं कहना। रही बात सभ्यता के विकास की। वेदों में पूर्ण विकसित सभ्यता का वर्णन है। यदि वह पाश्चात्यों को दिखलाई नहीं देती तो यास्क के शब्दों में इसका यही उत्तर है कि 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः सः भवति। नि॰ 1/15

(4) वेदों के कुछ भागों की भाषा जटिल तथा दुर्बोध है तथा कुछ की सरल। इस भाषाभेद को भी वेदकालनिर्णय में कारण मानकर कहा जाता है कि वेद के जटिलभाषा वाले भाग प्राचीन हैं तथा सरलभाषा वाले अर्वाचीन हैं। यह भी अपुष्ट हेतु हैं। प्रत्येक लेखक की रचना में भाषा का पार्थक्य देखने में आता है। यथा—शिवराजविजय तथा कादम्बरी आदि की भाषा कहीं अत्यन्त जटिल तो कहीं अति सरल है। इसी प्रकार पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों में वैचारिक उत्कृष्टता तथा निकृष्टता के आधार पर भी वेदकालनिर्णय का यत्न किया, किन्तु यह भी भ्रान्त धारणा है। वेदों में कहीं भी निकृष्ट विचार नहीं हैं। कुछ मन्त्रों के सत्यार्थ का ज्ञान न होने के कारण उक्त धारणा ने जन्म लिया है।

(5) नक्षत्रों की स्थिति—शंकट बालकृष्ण दीक्षित तथा तिलक आदि वेदों में प्राप्त नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर जो काल निर्णय किया है, वह भी अयुक्त है। इसमें प्रथम हेतु तो यही है कि लोकमान्य तिलक ने निम्न मन्त्राशों के आधार पर वेदकालनिर्णय का यत्न किया है–

(1) च्छुणमिन्द्रः। ऋग् 1/33/12

(2) यिनं मृगं तमु त्वं मायया वधीः। ऋ० 1/80/7

(3) शिरोन्वस्य राविषं न सुगं दुष्कले भुवम्। ऋ० 10/86/5

(1) ऋ० 1/33/12 का देवता इन्द्र है। इस मन्त्रांश की व्याख्या में सायणाचार्य लिखते हैं कि इन्द्र ने सींगों के समान तीक्ष्ण आयुधों से युक्त तथा जगत् के शोषक वृत्र को मारा।[1] यही अर्थ प्रकरणानुसारी है, न कि नक्षत्रपरक अर्थ।

(2) द्वितीय मन्त्राश 1/80/7 में मृगम् पद को देखकर तिलक ने मृगशीर्ष नक्षत्र की कल्पना मन्त्र में कर ली, जो सर्वथा अनुचित है। इस मन्त्र का देवता भी इन्द्र है। इसका सायणाचार्य कृत अर्थ यह है कि हे इन्द्र, तुमने अपनी माया से लोक के उपद्रवकारी मृगरूपता को प्राप्त वृत्र को मारा।[2] यहाँ इन्द्र राजा का वाचक है। लोकोपद्रवकारी तथा मृग के समान इधर-उधर भागने वाला दुष्ट वृत्र पदवाच्य है। माया पद निघण्टु (3/9) में प्रज्ञा नामों में पठित हैं राजा ऐसे उपद्रवी दुष्ट को अपनी प्रज्ञा से नष्ट करता है, यह मन्त्रार्थ है। यहाँ पर मृगशिरा नक्षत्र का तो नाम भी नहीं है।

(3) तिलक द्वारा उद्धृत तृतीय मन्त्र ऋ० (10/86/5) भी नक्षत्र परक नहीं है। इसका देवता वरुण है। इस सूक्त में वृषाकपि, इन्द्र तथा इन्द्राणी का संवाद है। इन शब्दों के क्या अर्थ हैं, यह यहाँ का विषय नहीं। इतना निश्चित है कि इस सम्पूर्ण सूक्त में नक्षत्रों का वर्णन नहीं है।

कदाचित् तिलक के अनुसार इन मन्त्रों को नक्षत्रपरक मान भी लिया जाए, तो भी इनके आधार पर वेदकाल का निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि वसन्तसम्पात बिन्दु 72 वर्षों में 1 अंश के हिसाब से सरकता है। किसी भी वृत्त में 36^0 अंश होते हैं। इस प्रकार $360 \times 72 = 25920$ वर्षों में वसन्त सम्पात

1. शृङ्गिणं गोमहिषादिश्रङ्गसमानैरायुधैरुपेतं शुष्णं जगतः शोषकं वृत्रम्। सा०भा०
2. मायिनं मायाविनं त्यं तं प्रसिद्धं वंचयितारं लोकोपद्रवकारिणमित्यर्थः, मृगरूपमापन्नं तं वृत्रं त्वमपि माययैवावधीः। सा०भा०

क्रान्तिवृत पर घूमकर अपने पहले स्थान पर आ जाता है। यदि आज से लगभग 6000 वर्ष पूर्व वसन्त सम्पात मृगशीर्ष नक्ष में था तो उससे 25920 वर्ष पूर्व अर्थात् आज से लगभग 32000 वर्ष पूर्व भी इसी नक्षत्र में था। इस काल को चाहे जितना पीछे ले जाया जा सकता है, क्योंकि हमें यह पता नहीं कि वसन्त सम्पात सबसे पहले मृगशीर्ष नक्षत्र में कब आया। जब से सृष्टि बनी है, तभी से यह क्रम चल रहा है। आज वैज्ञानिक भी सृष्टि की आयु करोड़ों वर्ष मानने लगे हैं। वेद में उसी प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में वेदकाल केवल 6000 वर्ष ई॰ पूर्व कैसे माना जा सकता है। वसन्तसम्पात का यह क्रम भविष्य में भी इसी प्रकार चलता रहेगा। अतः इसके आधार पर वेदकालनिर्णय नहीं किया जा सकता।

पाश्चात्य विद्वानों ने वेदकाल के विषय में पर्याप्त ऊहापोह किया। इनमें सभी के अपने-अपने अनुमान के आधार पर भिन्न-भिन्न मत थे, जिनका परस्पर खण्डन भी किया जाता रहा है। अन्त में अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने वेदकाल निर्धारण करना असम्भव ही बतलाया है। यथा–

(1) मैक्समूलर आदि के मतों की विवेचना के उपरान्त विन्तरनिट्ज लिखते हैं कि वेदों का कालनिर्धारण करना सम्भव नहीं।

(2) फ्रेडरिक श्लेगेल लिखते हैं कि संसार में सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद हैं। इनका समय निश्चित नहीं किया जा सकता।

(3) इसी प्रकार वेबर ने लिखा है कि वेदों का समय निश्चित नहीं किया जा सकता। ये उस तिथि के बने हुए हैं जहाँ तक पहुँचने के लिए हमारे पास उपयुक्त साधन नहीं हैं।

डॉ॰ कपिलदेव द्विवेदी ने भी वेदकालविषयक विभिन्न मतों की समीक्षा के उपरान्त अपना अभिमत निम्न शब्दों में प्रकट किया है–

"वेदों के रचनाकाल के विषय में जितने मत प्रस्तुत किये गये हैं, वे सभी शत-प्रतिशत आनुमानिक और काल्पनिक हैं।"[1]

वस्तुतः हमारे पास कोई भी अन्तः एवं बाह्य ऐसा साक्ष्य उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर वेदों का काल निर्धारण किया जा सके। वर्तमान में उपलब्ध सम्पूर्ण संस्कृतसाहित्य महाभारत काल के आसपास का ही है। इससे पहला

---

1. संस्कृतसाहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ॰ 49

कोई भी साहित्य हमारे पास नहीं है। विधर्मियों ने विशालकाय पुस्तकालयों को जलाया है, उनसे हमाम तक गरम किये गये हैं। ऐसी स्थिति में पुरातन वाङ्मय कैसे सुरक्षित रह सकता था।

पाश्चात्य विद्वानों के सामने एक पूर्वाग्रह यह भी रहा है कि पाश्चात्य जगत् में वर्तमान सृष्टि को ईसा मसीह से कुछ हजार वर्षों पूर्व ही बना हुआ माना जाता है। इसीलिए उनकी सभी तिथियाँ ईसवी सन् के आसपास ही निश्चित की जाती हैं। ऐसी अवस्था में वे वेदों को अति पुरातन काल की निधि कैसे मान सकते हैं।

भारतीय परम्परा इसके बिल्कुल विपरीत हैं इसके अनुसार यह कलियुग चल रहा है। इससे पूर्व सतयुग, त्रेता तथा द्वापर युग भी हो चुके। द्वापर में कृष्ण तथा त्रेता में राम-दशरथ आदि का जन्म हुआ। सतयुग में मान्धाता राजा थे। आधुनिक साम्यवादी इतिहास लेखक तथा पाश्चात्य इन युगों की भारतीय अवधारणा को ही स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में राम आदि सभी काल्पनिक व्यक्ति हैं तथा रामायण की घटना वास्तविक न होकर मिथक मात्र है। ऐसे पूर्वाग्रही वेदों की अति प्राचीनता को स्वीकार नहीं कर सकते।

भारतीय काल विभाजन कितना पुष्ट है, इसका पता हमें विवाहादि संस्कारों में बोले जाने वाले संकल्प मन्त्र से मिलता है, जो इस प्रकार है–

ओं तत् सत् श्री ब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथम चरणे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे...। इस संकल्पमन्त्र में पूरा इतिहास है कि चतुर्युगी में यह अठाईसवां कलियुग चल रहा है। प्रश्न है कि यदि इस कलियुग में महाभारत के आसपास लिखित इतना विपुल संस्कृत वाङ्मय हमारे समक्ष उपस्थित है तो क्या द्वापर तथा त्रेता युगों में कोई साहित्य नहीं रहा होगा। वह था, किन्तु नष्ट हो गया। पाणिनि तथा यास्क ने जिन आचार्यों के नाम अष्टाध्यायी तथा निरुक्त में दिये हैं, उनका साहित्य हमें कही उपलब्ध है? यदि पाणिनि तथा यास्क उनका नाम ले रहे हैं तो यह मानना ही पड़ेगा कि उन आचार्यों के ग्रन्थ अब नष्ट हो गये। हमारे सामने बहुत थोड़ा ही साहित्य बचा है।

वेद के विषय में सौभाग्य यह है कि वेदपाठियों ने इन्हें मौखिक स्मरण रखा, अन्यथा अन्य साहित्य की भाँत ये भी नष्ट हो गये होते। लिखित संहिता के रूप में वेद कब आए, इसका कोई भी प्रमाण हमारे सामने नहीं है। इतना तो

मानना ही पड़ेगा कि त्रेता तथा सतयुग में भी लेखन कला प्रचलित रही होगी। तब भी शिक्षा तथा पठन-पाठन की व्यवस्था रही होगी। प्रत्येक युग में विकास एवं ह्रास होता रहता है। महाभारत जैसे विश्वयुद्ध के बाद सब कुछ नष्ट हो गया था। आज भी यदि परमाणु युद्ध हो जाए तो सब कुछ नष्ट हो जायेगा। वर्तमान साहित्य एवं संस्कृति भी नष्ट हो जायेगी। उसके बाद वर्तमान स्थिति का अनुमान मात्र किया जा सकेगा।

ऐसा ही वेदकाल के विषय में भी है। महाभारत से पूर्ववर्ती कोई भी प्रमाण न होने के कारण वेदों के कालनिर्धारण में विविध अनुमान किये गये हैं, जो विशुद्ध कल्पना पर आधारित है। ऐसे अनुमानों से सत्य का निश्चय नहीं किया जा सकता। भर्तृहरि इसी बात को इस प्रकार कह गये हैं–

अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः। वा०प० 1/42

इसलिए अच्छा तो यही है कि अनुमान तथा कल्पनाओं के आधार पर वेदकालनिर्धारण का यत्न न किया जाए,क्योंकि वेद विश्व में सबसे प्राचीन हैं, ऐसा सभी ने मान लिया है। इस विषय में द्वारिकाप्रसाद सक्सेना लिखते हैं–सबसे अधिक बुद्धिमानी तो इस बात में है कि हम वैदिक साहित्य की कोई निश्चित तिथि न माने।[1]

अनुमान एवं विशुद्ध कल्पना के आधार पर ही सर्वप्रथम मैक्समूलर ने वेदकालनिर्णय का किया था। इसीलिए इसकी कठोर आलोचना भी की गयी थी। मैक्समूलर स्वयं भी अपने इस कालनिर्णय से सन्तुष्ट न थे। इसलिए उन्होंने लिखा "हम वेदकाल की कोई अन्तिम सीमा निर्धारित करने की आशा नहीं कर सकते। संसार की कोई भी शक्ति इसका निर्धारण नहीं कर सकती। वेदों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि वे विश्व साहित्य के आदिम ग्रन्थ हैं और संसार में ज्ञान का अभ्युदय वेदग्रन्थों के अभ्युदय के साथ हुआ।"[2] मैक्समूलर का समर्थन करते हुए विंटरनिट्स ने भी लिखा है कि हमें निश्चित संख्या देने से बचना होगा जबकि यह विषय ही ऐसा है कि इसमें कोई निश्चित तिथि देने की सम्भावना नहीं है।[1] मौरिस ब्लूमफील्ड इस विषय

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, विनोदपुस्तकमन्दिर आगरा 1975, पृ. 13
2. We could not hope to be able to laydown any terminus a quo whether the vedic hymns were composed in 1000 or 15000 or 2000 or 3000 years B.C. No power on earth could ever fix (Physical Religion, p. 18)

में स्पष्ट रूप में लिखते हैं, "Once more, frankly we do not know" (Religion of the Vedas, 8.19) अर्थात् एक बार पुन: स्पष्ट रूप में कहें कि हम नहीं जानते।

इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों का भी अन्ततोगत्वा यह सत्य स्वीकार करना ही पड़ा कि वेदों का कालनिर्धारण नहीं किया जा सकता।

वस्तुत: योरोपीय विद्वानों की भावना एवं प्रयत्न यही रहा है कि न केवल वेदों को ही, अपितु सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय को ही ईस्वी सन के आसपास ही सिद्ध किया जाए। विद्वान् न्यायाधीश के०टी० तेलंग ने इन विद्वानों की इस प्रवृत्ति को नितान्त ही पक्षपातपूर्ण तथा अवैज्ञानिक कहा है। उनका कथन है कि इन विद्वानों ने निर्बल एवं सम्भावित घटनाओं के आधार पर केवल कल्पनाएँ ही नहीं गढ़ी है, अपितु उन कल्पनाओं के ऊपर विचारों की विशाल इमारत भी खड़ी की है।[1] वस्तुत वेदकाल जैसे अतिपरोक्ष तथा अनिर्णाय विषयों पर चर्चा बन्द ही हो जानी चाहिए।

---

1. तेलंग, के०टी० भगवद्गीता का अंग्रेजी अनुवाद, 1875, पृ० 31

द्वितीय अध्याय
वेद तथा वैदिक संस्कृति

वैदिक संस्कृति सार्वकालिक है

चाहे वेदों का कोई भी काल रहा हो तथा वैदिक ज्ञान का अविर्भाव हुआ हो या वेदमन्त्रों का निर्माण किया गया हो, तथापि यह ध्यातव्य है कि वेदों में किसी कालविशेष की संस्कृति का वर्णन नहीं है यदि ऐसा होता तो वेद आज अप्रासङ्गिक हो गये होते, किन्तु ऐसा नहीं है। आज भी विवाहादि 16 संस्कार तथा अन्य यज्ञ यागादि धार्मिक कार्य वेदों द्वारा ही किये जाते हैं। विवाह का जो आदर्श वेदों में वर्णित है, वह शाश्वत है। इसी प्रकार 'अनुव्रतः पितुः पुत्रः' तथा 'मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्' के रूप में पारिवारिक उपदेश सभी कालों के लिए समान रूप से उपादेय है। यजुर्वेद में 'गोधूमाश्च यवाश्च' आदि कहकर जिन अन्नों का उल्लेख किया गया है, इसका अर्थ यह नहीं है कि उस समय के आर्य इन अन्नों का प्रयोग करते थे। आज भी हमारे द्वारा इन्हें अन्नों का प्रयोग किया जाता है। यजुर्वेद में यह कहा भी नहीं गया है कि इनका प्रयोग किसने किया। वहाँ तो केवल यह कहा गया है कि ये सभी प्रकार के अन्न 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' यज्ञ से तथा यज्ञिय भावना से युक्त हों।

वेदों में प्रायः इन्द्र तथा वृत्र का युद्ध चर्चित है। निरुक्तकार[1] द्वारा इसे सूर्य तथा बादल का कृत्रिम युद्ध बतला दिये जाने पर भी इसे इन्द्र तथा वृत्र नामक व्यक्तियों का संग्राम कहना पूर्वाग्रह के अतिरिक्त क्या है? इसी प्रकार अक्ष सूक्त (ऋ॰ 10/345) में कितव के माध्यम से जुए के दोषों का वर्णन करते हुए समझाया गया है कि जुआरी की क्या दुर्दशा होती है। इस सूक्त का देवता भी वैसा ही है—अक्षनिन्दा तथा कृषिप्रशंसा। यदि कितव वास्तविक व्यक्ति होता

---

1. तत् को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। नि॰ 2/13

तो वही इसका देवता होता, किन्तु वह तो केवल माध्यम मात्र है, जिस प्रकार पंचतन्त्र में पशु-पक्षी अनेक कथाओं के माध्यम हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद का उषा सूक्त (3/61) भी उषाकाल के उन गुणों का प्रख्यापक है जिनका वर्णन उषा का मानवीकरण करके किया गया है। ऐसा नहीं है कि उषा काल उस समय तो वैसा था, किन्तु अब वैसा नहीं है या आगे नहीं रहेगा।

वेदों में अग्नि इन्द्र आदि बहुत से देवों की स्तुतियाँ विद्यमान है। इनमें अग्नि तथा इन्द्र प्रमुख हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्राचीन आर्य ही ऐसा किया करते थे। अग्नि पहले भी स्तुत्य रहा है, अब भी है तथा आगे भी रहेगा। स्वयं वेद ही कह रहा है–अग्निः पूर्वेभि ऋर्षिभिरीड्यो नूतनैरुत। ऋषि तो नये तथा पुराने होते रहेंगे, किन्तु अग्नि सभी के लिए स्तुत्य रहेगा (ईळिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मावा। नि॰1/15)। इस अग्नि की अध्येषणा से हम विविध ऐश्वर्य को प्राप्त करें,[1] यह तथ्य सार्वकालिक है, न कि केवल भूतकालिक।

जिस प्रकार की युद्धनीति, राजनीति, शस्त्रास्त्र वेदों में वर्णित हैं, ये भी सार्वकालिक ही हैं। आज प्रजा भी है, राष्ट्र भी हैं, मन्त्री भी हैं, निर्वाचनपद्धति भी है, लोकसभा भी है, राज्यसभा भी है। वेद में इन्हें ही सभा तथा समिति के नाम से कह दिया गया है। राष्ट्रों के परस्पर युद्ध भी होते हैं, जय-विजय भी होती है। यही वर्णन तो वेदों में हैं। वर्तमान काल में भी ऐसा होने पर यह कैसे कहा जा सकता है कि वेदों में प्राचीन आर्यों के युद्धों तथा राजनीति या व्यवस्था का वर्णन है। वहाँ पर वर्णित व्यवस्था सार्वकालिक है।

वेदों में आर्य तथा दस्युओं का वर्णन है, पणियों का वर्णन भी है। यास्क पणि को वणिक् कहते हैं। जमाखोर बनिए ही पणि-पद-वाच्य है। समाज में चोरी, जारी, अपहरण, हत्या घोटाले आदि करने वाले जन ही वेदों के दस्यु[2] हैं। इन्द्र अर्थात् राजा का कर्त्तव्य है कि इन पणि तथा दस्युओं को नष्ट करे। आज भी ऐसा होता है तथा आगे भी होता रहेगा, फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक काल में ही इन्द्र ने ऐसा किया।

न केवल भारत ही, अपितु समस्त विश्व के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यही निष्कर्ष सामने आता है कि वैदिक संस्कृति विश्व में प्राप्त होने वाली सभी संस्कृतियों में प्राचीनतम है। विश्व में ऋग्वेद प्राचीनतम है तो उनमें प्रतिपादित

---

1. अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे। ऋ॰ 1/2/3
2. दासो दस्यतेः उपदासयति कर्माणि। नि॰ 2/77

संस्कृति भी प्राचीनतम ही है, ऐसा निश्चयात्मक रूप में कहा जा सकता है। वस्तुतः संस्कृति में भेद होता ही नहीं। सभ्यता एवं संस्कृति दो शब्दों का व्यवहार साथ-साथ किया जाता है। सभ्यता का अभिप्राय मनुष्यों की भौतिक विचारधारा से है। मनुष्यों का व्यवहार, खान-पान, वेशभूषा, रहन-सहन आदि सभ्यता के अन्तर्गत ही आते हैं। यथा-पाश्चात्य देशों में स्त्रियों का अर्धनग्न रहना तथा स्त्री-पुरुषों का उन्मुक्त आलिंगन आदि सामान्य बातें हैं, क्योंकि वे उनकी सभ्यता का अंग हैं जबकि भारतीय सभ्यता इन बातों को स्वीकार नहीं करती।। यह बात अलग है कि आज पाश्चात्य सभ्यता बड़ी तेजी से भारत में अपने पैर पसारती जा रही है।

संस्कृति का अर्थ–संस्कृति शब्द मानव के आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों का सूचक है। संस्कृति शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर (सम+कृ+क्तिन्) बनता है। संस्कार तथा संस्कृत में भी ये ही धातु तथा उपसर्ग हैं। इसका अर्थ है-संवारना, शुद्ध करना, परिमार्जित करना। जिन गुणों के आधार पर व्यक्ति का आत्मा तथा मन परिमार्जित होकर श्रेष्ठता एवं उन्नति की ओर अग्रसर हो, वह संस्कृति कहलाती है। संस्क्रियते श्रेष्ठतामापाद्यते आत्मा (मानवः) यया सा संस्कृतिः। ऐसे गुण सभी मानवों के लिए समान ही होंगे, पृथक्-पृथक् नहीं। इसीलिए संस्कृति पृथक्-पृथक् नहीं होती। इस प्रकार संस्कृति उस अविच्छिन्न धारा का नाम है "जो मनुष्यों को उच्चता, श्रेष्ठता, नैतिकता एवं उनके आत्मिक विकास की ओर अग्रसर करती है।" मानवमात्र की कल्याणकारिणी यह संस्कृति वेद में ही निहित है। स्वयं वेद कहता है-सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा।[1] कुछ विचारकों का कहना है कि वैदिक संस्कृति वैदिक तथा प्राग्वैदिक संस्कृतियों के मिलन से उत्पन्न हुई है। 'संस्कृति के चार अध्याय' में राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर ने ऐसा ही विचार प्रकट किया है। उक्त विचार इसलिए युक्तियुक्त नहीं है कि वेद ही विश्व में सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इससे पूर्व किसी ग्रन्थ तथा संस्कृति के कहीं भी कोई प्रमाण नही है। उक्त विचार केवल अनुमान तथा कल्पना पर आधारित है। आदियुग में मानव असभ्य, जंगली अवस्था में रहता था। उनकी कोई संस्कृति होती ही नहीं। न ही वेद में उस असभ्य एवं जंगलीपन कोई उदाहरण है। वेदों में चित्रित संस्कृति पूर्ण विकसित एवं आदर्श है। वैदिक संस्कृति का जन्म, प्रचार-प्रसार भारत में

---

1. अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो ऽग्निः।। यजु॰ 7/14

हुआ, इसलिए इसे ही भारतीय संस्कृति भी कह लिया जाता है। वस्तुतः यह विश्व संस्कृति है। जिस प्रकार बढ़ई एक टेढ़ी-मेढ़ी लकड़ी को काट-काटकर उससे सुन्दर फर्नीचर बना देता है या जिस प्रकार दाल-सब्जी को पकाने पर उसमें घृत तथा जीरे का छोंक लगाने से उसमें विशिष्ट गुणों का आधान हो जाता है, इसी प्रकार संस्कृति द्वारा मानव मात्र के आत्मा एवं मन को चरम विकास पर पहुँचा दिया जाता है। जिन कार्यों के द्वारा ऐसा किया जाता है, वे संस्कार कहलाते हैं। संस्कृति संस्कारों पर ही आधारित रहती है एवं उनके माध्यम से आगे बढ़ती है।

अंग्रेजी में संस्कृति का पर्यायवाची शब्द Culture (कल्चर) है। इसे ऑक्सफोर्ड डिक्सनरी में इस प्रकार परिभाषित किया गया है–

The training and refinement of mind tastes and manners, the condition, the amounting ouresclves with the best.

अर्थात् मानसिक एवं प्रशिक्षण के द्वारा अपने आपको सर्वोत्कृष्ट के साथ जोड़ना ही संस्कृति है।

संस्कृति के द्वारा मन का परिष्कार किया जाता है जिसका मन परिष्कृत नहीं है, ऐसा एक बुद्धिमान् व्यक्ति भी अपने एवं समाज के लिए दुःखदायी हो सकता है, किन्तु संस्कृत व्यक्ति नहीं, क्योंकि उसने अपने अन्दर मानवीय श्रेष्ठ गुणों का विकास किया है। इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि संस्कृति ही मानव को पशुत्व से ऊपर उठाकर वास्तव में मनुष्य बनाती है। यह मनुष्य को बौद्धिक, मानसिक एवं आत्मिक वैशिष्ट्यप्रदान करती है।

कल्चर का पर्यायवाची वैदिक शब्द कृष्टि है। जिस प्रकार कृषि कर्म के द्वारा भूमि का संशोधन करके ही उसमें बीज बोया जाता है, तभी वहाँ उन्नत कृषि होती है। इसी प्रकार संस्कृति के द्वारा मन-मस्तिष्क-हृदय को पूर्ण शुद्ध करके वहाँ ऐसे गुणों का आधान किया जाता है, जो न केवल उस व्यक्ति के स्वयं के लिए हों, अपितु समस्त मानव समुदाय के लिए अनिवार्य होते हैं। जैसे भूमि में हल चलाकर ही घास को नष्ट करके उसे उर्वरा बनाया जाता है, इसी प्रकार पुनः पुनः अच्छे संस्कारों एवं कार्यों के द्वारा मन में जमे हुए कुसंस्कार रूपी घास को नष्ट किया जाता है। इस विषय में डॉ॰ सम्पूर्णानन्द कहते हैं–"संस्कृति वह आधारशिला है, जिसके आश्रय से जाति, समाज व देश का विशाल भव्य प्रासाद निर्मित होता है।" इस प्रकार प्रकृति द्वारा शक्तियों को परिष्कृत करके विकसित करना ही संस्कृति

है। शारीरिक उन्नति खान-पान से होती है, बौद्धिक उन्नति अध्ययन से होती है, किन्तु मन एवं आत्मा की उन्नति तथा विकास का एकमात्र साधन संस्कृति ही है। अधिकांश पाश्चात्य जगत् न मन की सत्ता को स्वीकार करता था तथा नहीं आत्मा की। अब भी लगभग यही अवस्था है। इसीलिए वहाँ संस्कृति तत्त्व प्रमुख नहीं है। पाश्चात्य जगत् में सभ्यता विशेष प्रभावी है।

संस्कृति व्यक्ति को अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जाती है। यह व्यक्ति के विचार तथा कर्म दोनों का ही संशोधन करती है। व्यक्ति के जैसे विचार होंगे, वह वैसे ही कर्म करेगा तथा उन कर्मों से उसी प्रकार का बन जायेगा। इसलिए संस्कृति का मुख्य प्रयोजन वैचारिक परिशुद्धि है। विचार मन में रहते हैं, इस प्रकार मन का पूर्णरूपेण संशोधन करके आत्मा को पूर्ण विकास की अवस्था तक पहुँचाना संस्कृति का उद्देश्य है। वस्तुतः संस्कृति ही मानवता की आधारशिला है। मानवता के बिना सभी प्रकार की उन्नतियाँ शून्य हैं या व्यक्ति को अधोगति की ओर ले जाने वाली है। संस्कृति ही मानव को पूर्ण बनाती है। लक्ष्मण शास्त्री जोशी संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—'संस्कृति वास्तव में वह जीवन पद्धति है जिसकी स्थापना मानव व्यक्ति तथा समूह के रूप में निर्माण करता है। यह उन आविष्कारों का संग्रह है जिनका अन्वेषण मानव ने अपने जीवन को सफल बनाने के लिए किया है, उक्त अन्वेषण में मानव तब सफल होता है जब वह अपनी आत्मा तथा बाह्य विश्व दोनों का संस्कार करें।'[1]

इस प्रकार मन तथा आत्मा की उन्नति तथा पूर्ण विकास के लिए मनुष्य जो भी क्रिया-कलाप करता है, वह संस्कृति के अन्तर्गत आता है।

संसार में वैदिक संस्कृति ही सबसे प्राचीन एवं विश्वव्यापिनी है, क्योंकि वेद ही संसार में सबसे पुरानी पुस्तक है। वेद में इसे इस रूप में कहा गया है-

अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो यतो देवा उपजायन्त विश्वे। ऋ॰ 4/18/1

अर्थात् यही पुरातन मार्ग है। इसी से सभी देवताओं का जन्म हुआ है।

संस्कृति एवं सभ्यता

संस्कृति तथा सभ्यता दोनों शब्द साथ-साथ प्रयुक्त होते हैं, तथापि इन दोनों

---

1. तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी, वैदिक संस्कृति का विकास, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा॰लि॰ बम्बई, 1957 पृ॰ 2

में महान् अन्तर है। संस्कृति के विषय में लिखा जा चुका। संस्कृति यदि आत्मा है तो सभ्यता उसका शरीर है। संस्कृति अन्तःसंशोधन है तो सभ्यता बाह्य प्रदर्शन है। एक शान्तिप्रदा है तो दूसरी सुखप्रदा। संस्कृति निःश्रेयस् की ओर गति करती है तो सभ्यता लौकिक अभ्युदय की ओर जाती है।

सभ्यता शब्द सभ्य से बना है। सभ्य व्यक्ति का भाव या मार्ग ही सभ्यता है। सभ्य का अर्थ है–सभा में बैठने योग्य[1], अर्थात् जिस व्यक्ति को सभा में बैठना, उठना बोलना तथा अन्य व्यवहार करना आता हो, वह सभ्य है। हमारा खान-पान-संवाद, वेशभूषा, वार्तालाप तथा अन्य व्यवहार सभ्यता के अन्तर्गत ही आते हैं। एक अच्छा सभ्य व्यक्ति भी संस्कृति की दृष्टि से शून्य या पतित हो सकता है तथा एक सुसंस्कृत व्यक्ति भी सभ्यता की दृष्टि से पिछड़ा हुआ हो सकता है। प्रायः नगर तथा बड़े शहरों के निवासी सभ्य तो होते हैं, किन्तु सुसंस्कृत नहीं। इसके विपरीत ग्रामीण व्यक्ति अन्यों की दृष्टि में असभ्य दिखकर भी सुसंस्कृत होता है। उसकी आत्मा निर्मल होने से प्रेम, दया, सहानुभूति आदि से पूर्ण है। जबकि सभ्य नागरिक का जीवन छल-कपट, स्वार्थ आदि से परिपूर्ण है। यही दोनों का अन्तर है। सभ्यता भौतिक उन्नति तथा बाह्य व्यवहार पर टिकी है, जबकि संस्कृति आत्मा तथा मन के संस्कार पर टिकी है। संस्कृति आन्तरिक उन्नति है तो सभ्यता बाह्यप्रदर्शन। आज का व्यक्ति सभ्य बनने का, सभ्य दिखने का यत्न तो करता है, किन्तु सुसंस्कृत बनने का नहीं। सभ्यता प्रत्येक देश, अथवा प्रान्त की अलग-अलग हो सकती है, किन्तु संस्कृति तो मानव समुदाय की एक ही है और वह है–प्रथमा विश्ववारा संस्कृति।

भारत ने ही विश्व को वैदिक संस्कृति का पाठ पढ़ाया है। जब संसार के अन्य देश अज्ञानान्धकार में निमग्न थे, उस समय भी भारत संस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध था। मनु तो कहते हैं कि भारत ने ही विश्व के सभी मानवों को सभ्यता तथा संस्कृति की शिक्षा दी है।[2] इस तथ्य को पाश्चात्य विचारकों ने भी स्वीकार किया है।

---

1. सभाया यः। पा॰ 4/2/105 सभायां साधुः सभ्यः (काशिका)
2. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
   स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः। मनु॰ 2/20

वैदिक संस्कृतिक के मूल तत्त्व अथवा विशेषताएँ

(1) अध्यात्म एवं भोग का समन्वय—वैदिक संस्कृति अध्यात्मप्रधाना है। यहाँ पर ब्रह्म को ही जगत् का मूल कारण तथा कर्त्ता-धर्त्ता कहकर उसकी ही उपासना का आदेश दिया गय है।[1] वह परब्रह्म समस्त संसार में ओत-प्रोत हो रहा है।[2] उसे ही अग्नि आदि विभिन्न नामों से कहा जाता है तथा उसे जानकर ही मृत्यु को पार किया जा सकता है, अन्य कोई मार्ग नहीं है।[3]

अध्यात्मप्रधान होने पर भी वैदिकसंस्कृति में संसार की उपेक्षा नहीं की गयी है, अपितु सांसारिक जीवन को भी आमोदपूर्वक जीने की कामना यहाँ की गयी है—

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मै।

पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्। ऋ॰ 2/21/6

हे परमेश्वर! हमें श्रेष्ठ सम्पत्ति, सामर्थ्य की चेतना, सौभाग्य, धन की समृद्धि, शारीरिक नीरोगता, वाणी का माधुर्य तथा जीवन का सौन्दर्य प्रदान कीजिए। इससे अधिक श्रेष्ठ जीवन और क्या हो सकता है?

इस प्रकार लौकिक जीवन के प्रति वेद की उपेक्षा नहीं है। वह तो इसे भी आनन्द एवं सुखपूर्वक जीने का मार्ग बतलाता है। यह अवश्य है कि हम लौकिक जीवन जीते हुए भी अध्यात्मपरायण बने रहें।

(2) चतुर्वर्ग की अवधारणा—भारत वर्ष में धर्म-अर्थ-काम तथा मोक्ष के रूप में चतुर्वर्ग की जो अवधारणा काम कर रही है, उसका मूल भी वेदों में ही निहित है। वेदों में धर्म को सर्वप्रथम तत्व माना गया है। वहाँ तो पृथिवी को भी 'धर्मणा धृता' (अथर्व 12/1/17) कहा गया है। वेदोक्तधर्म का अभिप्राय धर्म के आधुनिक रूप से नहीं है, अपितु संसार के धारकतत्वों को ही वहाँ पर धर्म कहा गया है। अथर्ववेद (12/1/1) में ये इस प्रकार गिनाये गये हैं—

सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।

इन तत्वों को उल्लेख वेदों में अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर किया गया है।

---

1. येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वःस्तभितं येन नाकः।
   योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।ऋ॰ 10/21/5
2. स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु। यजु॰ 32/8
3. तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।यजु॰ 31/18

अर्थ–धन को भी वेदों में पर्याप्त महत्त्व दिया गया है क्योंकि 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'। हम धन-सम्पत्तियों के स्वामी बने। यह धन कैसा हो, इस विषय में वेद कहता है–इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि (ऋ॰ 2/21/6) हे परमेश्वर हम श्रेष्ठ धन ही प्राप्त करें, अन्यथा, छल-कपट आदि से अर्जित अश्रेष्ठ धन नहीं।

काम–धन के आधार पर ही हम विधि कामनाओं तथा लौकिक सुखों को प्राप्त कर सकते हैं। वेद इस पक्ष के प्रति भी उदासीन नहीं है। वेद में कहा गया है–

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्।

स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधि।।

कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि।।अ॰ 9/113/10-11

इस प्रकार उत्कृष्ट लौकिक जीवन की कामना वेद में की गयी है। इसी प्रकार अन्यत्र कहा गया है–

मदेम शतहिमाः सुवीराः। अथर्व॰ 20/63/3

हम वीर सन्तान वाले होकर सौ वर्ष तक अपने जीवन को आनन्दपूर्वक व्यतीत करें।

मोक्ष–वैदिक संस्कृति का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। यजुर्वेद (3/60) में कहा गया है कि हम तीनों लोकों में व्याप्त परमेश्वर का यजन = संगति करण इस लिए करते हैं कि वह हमें मृत्यु से छुड़ाकर अमृत को प्राप्त करा दे।[1] इसी प्रकार अथर्ववेद में कहा गया है–परैतु मृत्युरमृतं न एतु। अथर्व॰ 18/13/62

मृत्यु को पार करके यह अमृत = मोक्ष किस प्रकार प्राप्त होता है, इस विषय में यजुर्वेद कहता है–

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।। यजु॰ 40/14

यहाँ पर विद्या का अर्थ ज्ञान तथा अविद्या का अर्थ कर्म किया जाता है। इस प्रकार वेदों में ज्ञान एवं कर्म का समन्वय है कि हम कर्मों के द्वारा सांसारिक सुखों को प्राप्त करते हुए ज्ञान के द्वारा मोक्ष को भी प्राप्त करें।

(3) समत्व की भावना–वैदिक संस्कृति समत्व की भावना पर आधारित है। चार वर्णों में विभक्त होने पर भी मनुष्यों में ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है। वेद की दृष्टि में तो सभी मानव अमृतमय परमेश्वर के पुत्र हैं। इसीलिए

1. त्र्यम्बकं यजामहे...मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। यजु॰ 3/60

कहा गया है–शृण्वन्तु सर्वेऽमृतस्य पुत्राः। मनुष्यों में खान-पान या अन्य किसी भी प्रकार भेद न हो इसलिए वेद कहता है।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः। अथर्व॰ 3/30/6

परमेश्वर ने सभी मानवों के लिए समान रूप में जीवन-यापन की सामग्री प्रदान की है।

(4) मानवीय कल्याण–समत्व की भावना के साथ-साथ वेद पृथिवी के सभी मानवों के कल्याण की बात करता है, न कि किसी देशविशेष या वर्ग विशेष के मानवों के कल्याण की। वेद में कामना की गयी है कि मैं सभी का प्रिय बनूं, चाहे वह शूद्र हो या आर्य हो–

प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये। अथर्व॰ 19/62/1

केवल प्रिय बनना ही नहीं, अपितु ऋग्वेद तो यह भी कहता है कि प्रत्येक मानव एक-दूसरे की रक्षा तथा सहायता करें–

पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः (ऋ॰ 6/75/4)

न केवल मानवमात्र, अपितु यजुर्वेद तो प्राणीमात्र को ही मित्र दृष्टि से देखने की बात इस प्रकार कहता है–

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।। यजु॰ 36/18

ऐसी उदात्त दृष्टि वेद को छोड़कर कहीं पर भी नहीं मिलेगी। संसार अति सभ्य होकर भी मनुष्येतर प्राणियों पर भीषण अत्याचार करता है। मांस प्राप्ति के लिए ही न जाने कितने पशुओं का वध प्रतिदिन कर दिया जाता है। इसी प्रकार पशुओं के अंगों से सौन्दर्यप्रसाधन एवं अन्य उपभोग के विभिन्न वस्तुएँ बनाने के लिए भी उन पर भीषण अत्याचार किये जाते हैं। वेद के अनुसार सभी मानवों को एक दूसरे की रक्षा करनी चाहिए।

(5) संगठन की भावना–परिवार तथा राष्ट्र आदि रूपों में विभक्त होने पर भी सभी मानव संगठित रहें, उनमें परस्पर वैर-विरोध न हो। सभी लोग सभी की उन्नति के लिए सोचें तथा करें, इस दिशा में ऋग्वेद का संज्ञानं सूक्त (10/191) विश्वप्रसिद्ध है। सभी के मन, संकल्प तथा हृदय समान हों, परस्पर विरुद्ध न हों। ऐसा होना परिवार में भी आवश्यक है तथा समाज में भी।

(6) राष्ट्रिय भावना–वेद में समस्त भूमि को माता मानकर पुत्र के समान उसकी सेवा करने का उपदेश दिया गया है।[1] इसके साथ ही राष्ट्रिय भावना का भी विशद् चित्रण वहाँ पर उपलब्ध है। अथर्ववेद में कहा गया है कि यदि कोई शत्रु हमारे राष्ट्र पर सेना लेकर आक्रमण करे, नर संहार करे अथवा हमें मानसिक दास बनाना चाहे तो हम उसे समूल नष्ट कर दे।[2]

(7) कर्म एवं पुरुषार्थ–वैदिक संस्कृति कर्म एवं पुरुषार्थ की संस्कृति है। कर्महीन व्यक्ति को वेद में दस्यु कहकर पुकारा गया है।[3] इसीलिए वेद आजीवन कर्म करने की प्रेरणा देता है। इसके साथ यह भी कहता है कि कर्म भी इस प्रकार किया जाए कि उसके फल में कर्त्ता की आसक्ति न होने पाए।[4]

इसी प्रकार सतत् पुरुषार्थ की प्रेरणा देता हुआ वेद कहता है–उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। (अथर्व: 8/1/5) हे पुरुष! तेरा लक्ष्य ऊपर उठना, पुरुषार्थ करना है। नीचे गिरना, अवनति करना नहीं।

(8) त्याग एवं दान–स्वेच्छा से त्याग एवं दान देना वैदिक संस्कृति का प्राण है। वेदों में दान की प्रशंसा अनेक स्थानों पर की गयी है। दान देने के उपरान्त भी हम सांसारिक पदार्थों का उपभोग इस दृष्टि से करें कि उनके साथ हमारा ममत्व उत्पन्न हो। ऐसा तभी सम्भव है जबकि संसार के सभी पदार्थों को अपना न समझकर परमेश्वर प्रदत्त समझा जाए। हम केवल उनके उपभोक्ता हैं। इसलिए त्याग पूर्वक ही उपभोग किया जाए।[5] त्याग की यही धारा उपनिषदों में प्रवाहित हो रही है। वहाँ कहा गया है कि अमृत की प्राप्ति त्याग के द्वारा ही होती है, धनादि से नहीं।[6] इसी प्रकार अन्यत्र कहा गया है। कि यदि हमारे धन कमाने के सैंकड़ों स्रोत हों तो हजारों स्रोतों के द्वारा उस अर्जित धन को बाँट दें।[7]

---

1. माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। अथर्व॰ 12/1
2. यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्योऽभिदासान् मनसा यो वधेन।
   तं नो भूमे रन्धय पूर्व कृत्वरि। अथर्व॰ 12/1/14
3. अकर्मा दस्युः। ऋ॰ 10/22/8
4. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जीजिविशेच्छतं समाः।
   एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे। यजु॰ 40/2
5. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
   तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्। यजु॰ 40/1
6. न प्रजया न कर्मणा धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमाहुः।
7. शतहस्तः समाहर सहस्रहस्तः संकिर। अथर्व॰ 3/24/5

(9) समष्टिवाद–वेद की दृष्टि व्यापक है। यहाँ स्तोता जो कुछ भी मांगता है, वह अकेले अपने लिए न माँग कर सभी के लिए मांगता है। वयं स्याम पतयो रयीणाम् (ऋ॰ 10/121/10), उरु लोक पृथिवी नः कृणोतु (अथर्व॰ 12/1) शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः (यजु॰ 36/11) इत्यादि में सर्वत्र सम्पूर्ण मानव समाज के लिए ही कल्याण की कामना की गयी है। यह उदात्त दृष्टि है, जो व्यक्ति को स्वार्थ से हटा कर परार्थ के प्रति प्रेरित करती है।

(10) कर्मफल एवं पुनर्जन्म–वेद के अनुसार जीव अपने कर्मफल का भोक्ता है। परमेश्वर तथा जीव में एक प्रमुख भेद यह भी है कि जीव कर्मफल भोक्ता है, जबकि परमेश्वर द्रष्टा मात्र है।[1]

सभी कर्मों का फल इस जीवन में नहीं मिलता, इसलिए व्यक्ति को पुनर्जन्म धारण करना पड़ता है। वेदों में पुनर्जन्म विषयक मन्त्र उपलब्ध है।[2] पुनर्जन्म आशोत्पादक भी है कि जीवन यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता, अपित अगला लोक भी जीव के लिए सुरक्षित है।

(11) भद्रप्राप्ति एवं दुश्चरित्र त्याग–जीवन को निष्पाप बनाने के लिए दुरितों का त्याग आवश्यक है। इसलिए वेदों में पदे-पदे दुरितों के त्याग तथा भद्र प्राप्ति की बात कही गयी है। यजुर्वेद में प्रार्थना की गयी है–

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्नऽआसुव। यजु॰ 30/3

हे प्रेरक देव! हमारे सभी दुर्गुण तथा दुर्व्यसनों को दूर कर दीजिए तथा जो भी कल्याण प्रद है, वह हमें प्राप्त कराइए। अग्नि से भी यही प्रार्थना की है कि वह हमें दुष्चरित से बचा कर सुचरित को प्राप्त कराएं–

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा। मा सुचरिते भज। यजु॰ 4/28
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्...युयोध्यस्मज्जुहुणामेनः॰।। यजु॰ 40/16

---

1. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।। अथर्व 9/9/20
2. (क) असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्। ऋ॰ 10/59/6
(ख) पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
पुनर्न सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्या या स्वस्तिः। ऋ॰ 10/59/6

यजुर्वेद ने ही यह भी कहा गया है कि हम कानों से भद्र ही सुनें तथा आँखों से भद्र ही देखें–

भद्रं कर्णेभिः श्रणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।यजु॰ 25/21

इसी प्रकार ऋग्वेद में भी कहा गया है कि जो भी कल्याणकारक है, वही हमें प्राप्त हो।[1] भद्र एवं अभद्र का स्थान मन ही है। अतएव यजुर्वेद के शिव संकल्प सूक्त में मन को शिवसंकल्प करने की प्रार्थना पुनः पुनः इस प्रकार की गयी है–

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु। यजु॰, अ॰ 34

यही भाव अथर्ववेद में इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि सभी देव जन, सभी प्राणी तथा पवमान परमेश्वर मुझे पवित्र करें–

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।

पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा। अथर्व॰ 6/19/1

यजुर्वेद 19/40–43 मन्त्रों में भी पवित्रीकरण की यही प्रार्थना विविध रूपों में की गयी है।

(12) आशावाद–वेदों में कहीं भी जीवन तथा संसार को अनित्य, क्षण भंगुर मानकर निराशा की बात नहीं कही गयी है। यहाँ आशा एवं उत्साह युक्त समुन्नत जीवन जीने की कामना है। इस जीवन में हम पूर्ण आनन्दपूर्वक किसी भी प्रकार के दीनता से रहित होकर[2] प्रसन्नतापूर्वक जीते हुए चिरकाल तक सूर्य को देखते रहे।[3] अथर्ववेद में कहा गया है कि हम सौ वर्ष तक जीवित रहें, अपने ज्ञान को बढ़ाते रहें, निरन्तर उन्नति करते हुए पुष्टि को प्राप्त करें, आनन्दमय जीवन व्यतीत करते हुए समृद्धि तथा गुणों से अपने आप को भूषित करते रहे[4] ऐसे जीवन को जीने के लिए शक्ति आदि की प्रार्थना यजुर्वेद में इस प्रकार की गयी है–

तेजाऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।

बलमसि बलमयि धेहि ओजोऽस्योजो मयि धेहि।

मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि। यजु॰ 19/9

---

1. भद्रं भद्रं न आ भर। ऋ॰ 8/93/28
2. अदीनाः स्याम शरदः शतम्। यजु॰ 36/24
3. विश्वदानीं सुमनसः स्याम पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम्। ऋ॰ 6/52/5
4. जीवेम शरदः शतम्। बुध्येम...रोहेम...,पूषेम...भवेम, भूषेम शरदः शतम्। अथर्व॰ 19/67/2–8

इन गुणों से युक्त होकर हम अपनी सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करें–

अहं सर्वमायुर्जीव्यासम्। अथर्व॰ 19/70/1

इसी प्रकार ऋग्वेद कहता है कि हम कल्याण का जीवन व्यतीत करते हुए ही वृद्धावस्था को प्राप्त करें।[1] इस प्रकार वेदों में एक उदात्त ओजस्वी समर्थ जीवन की कामना की गयी है।

(13) आत्मविश्वास–वेद व्यक्ति को आत्मविश्वास से परिपूर्ण करता है। वेद का अध्येता कहता है कि मैं इन्द्र अर्थात् शक्ति एवं ऐश्वर्य का अधिपति हूँ। मैं किसी से भी पराजित नहीं हो सकता। मृत्यु भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती।[2] इसी प्रकार अथर्ववेद में कहा गया है कि मैं स्वभावतः विजयशील हूँ। मैं विरोधियों को परास्त कर तथा सभी विघ्न बाधाओं को दूर करके प्रत्येक दिशा में सफलता को प्राप्त करता हूँ। इसीलिए मैं दूसरों की अपेक्षा उत्कृष्ट हूँ–

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।

अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः।। अथर्व॰ 12/1/54

इस प्रकार वेद मन्त्रों में आत्मविश्वास कूट-कूट कर भरा है।

(14) वीरता तथा निर्भयता–वेद मनुष्यों में वीरता तथा निर्भयता का संचार करता है। ऐसे वीर का कई शत्रु मिलकर भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते। वह उन्हें उसी प्रकार नष्ट कर देता है, यथा ओखली में अनाज को कूट दिया जाता है।[3] न केवल पुरुष ही, अपितु वैदिक नारी भी स्पष्ट उद्घोषणा करती है कि मेरे पुत्र शत्रुओं को नष्ट करने वाले हैं। मेरी पुत्री भी विशेष ख्याति वाली है तथा मैं भी अपने वीरोचित गुणों के कारण उत्कृष्ट हूँ।[4]

(15) नैतिक नियमों की अवधारणा–वेदों में पदे-पदे नैतिक नियमों का प्रतिपादन किया गया है। इन्हें ही पृथिवी के धारक तत्त्व भी कहा गया है। अथर्ववेद में कहा गया है कि सत्य, बृहत्, ऋत, उग्र, दीक्षा, तप तथा यज्ञ

1. भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि। ऋ॰ 10/37/6
2. अहमिन्द्रो न पराजिग्ये इद्धनं न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन। ऋ॰ 1048/5
3. अभी३दमेकमेको अस्मि, निष्षाळभि द्वा किमु त्रयः करन्ति।
   खले न पर्षान् प्रतिहन्मि भूरि किं मां निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः।। ऋ॰ 10/48/7
4. मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
   उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः। ऋ॰ 10/59/3

पृथिवी को धारण करते हैं।[1] इन नियमों का उल्लेख अन्यत्र भी हुआ है। इन नियमों में सत्य, दीक्षा तथा तप प्रमुख है। अथर्ववेद कहता है कि कल्याण की कामना करने वाले ऋषियों ने सर्व प्रथम तप तथा दीक्षा का आश्रय लिया।[2] दीक्षा को व्रत के द्वारा प्राप्त किया जाता है। व्रतेन दीक्षामाप्नोति। अतः वेदों में व्रत पालन पर पर्याप्त बल दिया गया है। अग्नि से भी यही प्रार्थना की गयी है कि मैं अपने व्रत को पूर्ण कर सकूँ। व्रत का उद्देश्य अनृत से हटकर सत्य को ग्रहण करना है।[3]

वेदों ये वरुण को सत्य आदि व्रतों का रक्षक कहा है। वरुण का शासन कठोर है। वह व्रत भंग करने वालों दण्ड देता है। अनृत बोलने वाले को वरुण के पाश नष्ट कर देते हैं।[4] इन नैतिक नियमों में ब्रह्मचर्य का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। अथर्ववेद के एकादश काण्ड के पंचम सूक्त में ब्रह्मचर्य की पर्याप्त महिमा गयी गयी है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही राजा राष्ट्र की रक्षा करता है।

(16) ज्योति की प्रार्थना–वेद का लक्ष्य ज्योति की प्राप्ति है। यह ज्योति भौतिक नहीं, अपितु ज्ञानज्योति अभीष्ट है। ऋग्वेद कहता है कि संसार का व्यवहार करते हुए हम अन्धकार से प्रकाश की ओर चलें तथा प्रकाश के मार्गों की रक्षा भी करें।[5] इसी प्रकार यजुर्वेद भी कहता है कि हम अज्ञानान्धकार से उत्तरोत्तर प्रकाश की ओर बढ़ते हुए उत्तम ज्योति को प्राप्त करें–

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।

देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।। यजु॰ 20/21

सामवेद पू॰ में भी 'जीवा ज्योतिरशीमहि' कहा गया है। ऋग्वेद यह भी कहता है कि ज्योति = ज्ञान को प्राप्त करके ही हमने देवों को जाना। अब दुष्ट व्यक्ति हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता–

---

1. सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। अथर्व॰ 12/1/1
2. भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे। अथर्व॰ 19/41/1
3. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
   इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि। यजु॰ 1/5
4. ये ते पाशा वरुण सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विशिता रुशन्तः।
   छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु।।अथर्व॰ 4/16/6
5. तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष। ऋ॰ 10/53/6

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।

किं नूनमस्मान्कृणवदरातिः किमु धूर्त्तिरमृतमर्त्यस्य।। ऋ॰ 8/48/3

(17) प्रवृत्ति-निवृत्ति–वैदिक संस्कृति में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों मार्ग सुस्पष्ट हैं। इसीलिए धर्म-अधर्म-काम-मोक्ष के रूप में चतुर्वर्ग की अवधारणा दिखाई देती है। कुछ विद्वानों का विचार है कि निवृत्ति मार्ग उपनिषदों का है तथा कर्ममार्ग वेदों का। वस्तुत ये दोनों विरोधी नहीं है। यजुर्वेद में कर्म का उपदेश देते हुए कहा गया है कि कर्म करते हुए भी हम सौ वर्ष जीने की इच्छा करें,[1] किन्तु इसके साथ यह भी कह दिया गया है–न कर्म लिप्यते नरे। अर्थात् हम कर्म इस प्रकार करें कि उसके फल में आसक्त न हो। वह कर्म हमसे लिपट न जाए। यही निवृत्ति मार्ग है। दूसरे शब्दों में यह मोक्ष मार्ग है। फल की आशा को छोड़कर आसक्ति रहित अवस्था से कर्म करते रहें। यही प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का सामञ्जस्य है। यह भी कहा जाता है कि वैदिक संहिताओं में मोक्ष पद नहीं है। अतः यह विचार औपनिषद्कालीन है, जैसा कि डॉ॰ मंगलदेव शास्त्री लिखते हैं 'बहुत से विद्वानों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक संहिताओं में मुक्ति मोक्ष अथवा दुःख शब्द का प्रयोग एक बार भी नहीं हैं।[2] ठीक है कि मोक्ष का प्रयोग वहाँ नहीं है, किन्तु अमृतत्व का उल्लेख तो वेदों में अनेक बार हुआ है।[3] यहाँ अमृत्व मोक्ष ही तो है, केवल नामभेद हैं।' उपनिषदों में इस तत्व पर अधिक बल दे दिया, किन्तु यह कहना तो उचित नहीं कि वेदों में मोक्ष की अवधारणा है ही नहीं।

(18) स्वर्ग तथा नरक–डॉ॰ मंगलदेव शास्त्री लिखते है कि नरक शब्द ऋग॰, यजु॰ तथा सामवेद में एक बार भी नहीं आया। अथर्ववेद संहिता में नरक शब्द केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है, यह ठीक है कि साक्षात् नरक शब्द दोनों वेदों में नहीं, किन्तु वहाँ इसके लिए अन्धन्तम शब्द का प्रयोग किया गया है। अविद्या के उपासक अन्धे-लोक को प्राप्त करते हैं।[4] यह नरक ही है, अन्य कुछ नहीं। स्वर्ग शब्द का प्रयोग तो अथर्ववेद में कई बार हुआ है। यह स्वर्ग कोई लोक-विशेष नहीं, अपितु पूर्ण सुख-सुविधाओं तथा सुखों से युक्त यही लोक है।

1. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जीजिविशेत् शतं समा। यजु॰ 40/2
2. डॉ॰ मंगलदेव, वैदिक संस्कृति
3. अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। यजु॰ 40/11
4. अन्धन्तमः प्रविशन्ति॰। यजु॰ 40/9

(1) ऋग्वेद

ऋग्वेद के प्रमुख सूक्त

वैसे तो ऋग्वेद के सभी सूक्त जीवनोपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ केवल कुछ प्रमुख सूक्तों का उल्लेख किया जा रहा है।

(1) पुरुष सूक्त–(10/90) इसमें परमेश्वर के विराट् स्वरूप का वर्णन करते हुए उससे ही इस सृष्टि का चतुर्वर्ण आदि की उत्पत्ति कही गयी है।

(2) नासदीय सूक्त–(10/129) इसमें सद्–असद् से विलक्षण सृष्टि की उत्पत्ति का अतिसूक्ष्म विवेचन किया गया है। यह सूक्त दार्शनिक सूक्तों में सर्वश्रेष्ठ है। इसमें सृष्टि के प्रारम्भ में एक मात्र ब्रह्म तथा मूल प्रकृति का संकेत किया गया है।

(3) हिरण्यगर्भसूक्त–(1/121), इसमें सृष्टिप्रक्रिया का वर्णन करते हुए 'क' शब्दाभिधेय प्रजापति को ही सृष्टि का कारण मानते हुए इसे ही हिरण्यगर्भ नाम से अभिहित किया गया है। यही सृष्टि का मूल निमित्त कारण है।

(4) अवस्यवामीयसूक्त–(1/164) इस सूक्त के 52 मन्त्रों में दर्शन–अध्यात्म–मनोविज्ञान–भाषाविज्ञान–ज्योतिष तथा भौतिकविज्ञान से सम्बन्धित तथ्यों का विवेचन है। इसमें एकेश्वरवाद का प्रतिपादक यह मन्त्र सुप्रसिद्ध है–

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यो स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः

(ऋ॰ 1/164/46)

इसी सूक्त के 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' मन्त्र में त्रैतवाद का प्रतिपादन भी किया गया है।

(5) श्रद्धा सूक्त–(10/151), इसमें श्रद्धा पर विशेष बल दिया गया है।

(6) वाक्सूक्त–(10/125), इसमें वाक् की महिमा का विस्तार से वर्णन किया गया है। यह वाणी ही सर्वत्र व्याप्त शब्दब्रह्म है। इसमें अद्भुत शक्ति है। यही राष्ट्र की निर्मात्री है।

(7) संज्ञानसूक्त–(10/191), इस सूक्त में परिवार एवं समाज में एकता एवं सौमनस्य उत्पन्न करने के साधन बतलाये गये हैं।

(8) विवाहसूक्त–(10/85)। अथर्ववेद (14/2–3) में भी विवाह विषयक चर्चा की गयी है। ऋग्वेद के इस सूक्त में विवाह के आदर्श तथा पति-पत्नी के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है। श्वसुरगृह में नववधु को कैसा व्यवहार करना चाहिए जिससे कि परिवार में सुख शान्ति रहे, यह भी इस सूक्त में बतलाया गया है।

(9) अक्षसूक्त–(10/34) इसमें एक जुआरी के माध्यम से जुआरी की निम्न दशा तथा जुए के दोषों का चित्रण करके जुए से दूर रहकर परिश्रम से धन कमाने की शिक्षा दी गयी है।

इन सूक्तों के अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ संवादसूक्त भी हैं जिनमें संवाद के माध्यम से आधिदैविक तथा सामाजिक नियमों को स्पष्ट किया गया है। यथा–पुरूरवा-उर्वशी संवाद (10/95), यम-यमी संवाद (10/10) सरमा-पणि संवाद (10/108), विश्वामित्र-नदीसंवाद (3/33), सोमसूर्याविवाह (10/85), इन्द्रवृत्रयुद्ध (1/80) इत्यादि।

ऋग्वेद के खिलसूक्त–ऋग्वेद की वाष्कल शाखा के सूक्त खिल कहे जाने है। ये सूक्त ऋग्वेद के अष्टम तथा दशम मण्डल में पठित है। सर्वप्रथम प्रो॰ जी॰ बुहलर ने कश्मीर की पाण्डुलिपियों के आधार पर खिलसूक्तों का संचय किया था। सम्पूर्ण खिलसूक्त पांच अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में ऋषि, देवता तथा छन्द की अनुक्रमणियां हैं। मैक्समूलर 32 तथा आउफ्रेख्त 25 खिलसूक्त मानते हैं। कुछ खिलसूक्त इस प्रकार हैं–सौपर्णसूक्तम् (1/2/12), श्री सूक्तम् (2/6), बालखिल्यसूक्तम् (3/1–8) पावमानीसूक्तम् (3/10), सस्त्रषोसूक्तम् (3/13) हृद्यसूक्तम् (3/17) एकादिसूक्तम् (3/18) ब्रह्मसूक्तम् (3/22)।

खिलसूक्तों का शाकल्यकृत पदपाठ उपलब्ध न होने से कुछ लोग इनकी गणना संहिता भाग में नहीं करते, किन्तु इसका यह कारण प्रतीत होता है कि शाकल्य ने जिस शाखा को आधार मान कर पदपाठ बनाया, उसमें खिल मन्त्र न रहे हो। मैक्समूलर भी बालखित्य सूक्तों को कुछ अर्वाचीन मानते हैं,[1] किन्तु सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव का कहना है कि इन सूक्तों का पदपाठ उपलब्ध होने से इसका प्रामाण्य संहिता के समान ही है।[2] ओम प्रकाश पाण्डेय भी इसके समर्थक है।[3]

1. हिस्ट्री ऑफ एनशिएण्ट सं॰ लिटरेचर पृ॰ 220
2. ऋग्वेद भाषान्तर, लोकसंग्रह छापाखाना, मं॰ 8 की भूमिका
3. वै॰ सा॰ और सं॰ का स्वरूप तथा विकास, पृ॰ 93

ऋग्वेदीय मण्डलों का पौर्वापर्य

पाश्चात्य विद्वान् शाकल शाखीय ऋग्वेद के दूसरे से सातवें तक के मण्डलों को (Family Book) अर्थात् कुल-मण्डल के नाम से अभिहित करते हैं क्योंकि दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल तक प्रत्येक मण्डल का सम्बन्ध केवल एक ऋषि या उसके वंश से है। उन ऋषियों के क्रमशः नाम इस प्रकार हैं—गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वसिष्ठ। अष्टम मण्डल का सम्बन्ध प्रधान रूप से कण्व ऋषि के वंश से है। नवम मण्डल के ऋषि कुल-मण्डलों के ऋषियों में से ही है। अश्वलायनगृह्यसूत्र में ऋषियों के निम्न विभाग किये गये हैं—"अथ ऋषिः शतर्चिनो माध्यमा गृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽत्रिर्भरद्वाजो वसिष्ठः प्रगाथाः पावमान्याः क्षुद्रसूक्ताः महासूक्ताः इति।[1] कात्यायन ने भी ऋषियों के ये ही तीन विभाग किये हैं।[2]"

यहाँ पर यह अवधेय है कि प्रथम मण्डल में सभी सूक्त सौ ऋचाओं वाले नहीं हैं। केवल परुच्छेप ऋषि द्वारा दृष्ट ऋचाएं ही सौ संख्या वाली हैं। शेष सूक्तों में तो सौ से कम तथा अधिक ऋचाएँ है। 74-93 सूक्तों में प्रत्येक में 204 ऋचाएँ, 140-164 में प्रत्येक में 242 ऋचाएँ, 165-191 में प्रत्येक में 239 ऋचाएँ हैं। इसी प्रकार 24-73 तथा 94-100, सूक्तों में 100 से भी कम ऋचाएँ हैं। 100वें सूक्त में तो कुल 19 ही मन्त्र हैं। इस प्रकार प्रथम मण्डल के सभी सूक्त 100 ऋचाओं वाले नहीं है। इस मण्डल के ऋषियों का शतर्चिन् नाम प्रायिक सिद्धान्त पर आधारित है।

नवम मण्डल के ऋषियों को पावमानी कहा गया है। दशम मण्डल के ऋषि क्षुद्रसूक्ता तथा महासूक्ता हैं, क्योंकि इसमें कुछ सूक्त बहुत ही छोटे हैं, जबकि कुछ सूक्त बहुत बड़े हैं।

कीथ[3] तथा मैक्डानल आदि का विचार है कि द्वितीय से सप्तम मण्डल तक के मन्त्रों का संकलन पहले किया गया तथा उसके पश्चात् प्रथम तथा अष्टम मण्डलों का संकलन हुआ। इस विषय में उनके तर्क निम्न हैं—

---

1. आश्वलायन गृह्यसूत्र 3/4/2-3
2. शतर्चिन आद्ये मण्डलेऽन्त्ये क्षुद्रसूक्तमहासूक्ता मध्यमेषु मध्यमाः। सर्वानुक्रमणी 212
3. **A.V. Keith, The religion and philosophy of the vedas and upanishads.**

(1) द्वितीय से सप्तममण्डलों के प्रत्येक मण्डल में एक ही ऋषि या उसके वंशज ऋषियों द्वारा रचित सूक्त संकलित है। इस प्रकार इन मण्डलों में क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज तथा वसिष्ठ के सूक्त संकलित हैं। इसी आधार पर इन मण्डलों को वंश मण्डल भी कहा जाता है।

(2) इन मण्डलों में प्रत्येक में सूक्तों का प्रथम वर्ग अग्नि को, दूसरा इन्द्र को तथा तीसरा वर्ग अन्य देवताओं को सम्बोधित है।

(3) इन वंश मण्डलों की तृतीय विशेषता है कि इनमें एक देवता को सम्बोधित सूक्तों की मन्त्र संख्या क्रमशः कम होती गई है। यद्यपि कुछ सूक्तों में इसके अपवाद भी मिलते हैं।

(4) इन मण्डलों में सूक्तों की संख्या क्रमशः बढ़ती गई है। यद्यपि यहाँ भी चतुर्थ तथा षष्ठ मण्डल की सूक्त संख्या इसका अपवाद है। द्वितीय मण्डल में 43 सूक्त, तृतीय में 62, चतुर्थ में 58, पंचम में 87, षष्ठ में 76 तथा सप्तम में 104 सूक्त हैं।

अष्टम मण्डल में वंशमण्डल जैसा चयन क्रम नहीं है। इसमें सूक्तों का प्रथम समुदाय अग्नि को सम्बोधित नहीं है तथा विभिन्न देवताओं को सम्बोधित मन्त्र एक जगह नहीं है। इसमें कण्ववंशीय ऋषियों के सूक्त एक ही स्थान पर संकलित है। प्रथम मण्डल के प्रथम 50 सूक्त भी कण्ववंशीय ऋषियों से सम्बन्धित हैं। इस आधार पर कीथ का मत है कि ये 50 सूक्त तथा अष्टम मण्डल का संकलन एक ही समय का है। कीथ आदि पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार मूल ऋग्वेद संहिता द्वितीय से सप्तम मण्डल तक थी, उसके प्रारम्भ में प्रथम सूक्त के 50 सूक्त तथा अन्त में पूरा अष्टम बाद में जोड़ दिये गये।

इन विद्वानों की उक्त कल्पना सर्वथा निराधार है। इस पक्ष में इन्होंने जो हेतु दिये हैं, वे केवल हेत्वाभास हैं, हेतु नहीं। यथा सत्यव्रत सामश्रमी ने उक्त भ्रान्त धारणा को बुद्धिमालिन्य तथा हठ कहकर इसका प्रबल विरोध किया है।[1] ब्रजबिहारी चौबे पाश्चात्यों एवं उनके अनुयायी कतिपय भारतीय विद्वानों की उक्त धारण का प्रबल खण्डन करते हुए लिखते हैं–

1. अस्मच्छ्रुतिषु हि दशममण्डलस्य मण्डलान्तराणाञ्च भाषा एकविधैवोपलभ्यते, अस्मद् बुद्धिषु च तथैकविधमेव तात्पर्यम् इति न जानीमहे केषां बुद्धिमालिन्यं केषां वा श्रणवेन्द्रियदुष्टत्वं केषां वा हठकारित्वमिति। त्रयीपरिचय

कोई भी ऐसा प्रकरण हमें नहीं मिलता जो यह सिद्ध कर सके कि ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों का संकलन विभिन्न समयों में हुआ। यदि द्वितीय से लेकर सप्तम मण्डल तक ही ऋग्वेद का मूल संकलन था तो इसका उल्लेख किसी ब्राह्मणग्रन्थ में क्यों नहीं किया गया? इसके विपरीत इस बात के प्रचुर प्रमाण हैं कि ऋग्वेद का संकलन एक ही व्यक्ति के द्वारा एक ही समय में किया गया। इसके साथ ही प्रो० चौबे यह भी कहते हैं कि द्वितीय मण्डल से लेकर सप्तम मण्डल की चयन सम्बन्धी विशेषताएँ प्रथम मण्डल में भी मिलती हैं। प्रथम मण्डल में जो 15 ऋषि समुदाय हैं, उनमें देवता विभाग के उसी नियम का पालन किया गया है जो द्वितीय से सप्तम मण्डल तक मिलता है।[1] इसी प्रकार अष्टम, नवम तथा दशम मण्डल को जो बाद में संकलित किया गया माना जाता है, वह बिल्कुल निराधार है।[2]

नवम तथा दशम मण्डलों को भी परवर्ती माना जाता है। यद्यपि संख्या की दृष्टि से ये दोनों मण्डल स्वत: ही उत्तरवर्त्ती हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मूल संहिता 2 से 7 मण्डलों तक ही थी। इस विषय में प्रो० चौबे लिखते हैं कि नवम मण्डल का संकलन भी पूर्व मण्डलों के साथ ही हुआ इसका प्रबल प्रमाण यही है कि इसमें उन्हीं ऋषियों के सोम को सम्बोधित मन्त्र हैं जो पूर्व मण्डलों के ऋषि हैं।[3]

नवम मण्डल में सोम देवतापरक एवं सोमपान विषयों का संकलन हुआ है। यहाँ यह बात विशेष ध्यान योग्य है कि इस विभाजन का निर्धारण मन्त्रों की बहुलता की दृष्टि से ही है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि बीच के मन्त्र प्राचीनतम एवं अन्य नवीन तथा नवीनतम हैं। दशम मण्डल को परवर्ती सिद्ध करने में विद्वानों ने अपने कुछ तर्क इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं–

(1) प्रथम तर्क यह है कि इस मण्डल से सूक्तों में स्थान-स्थान पर पूर्व मण्डलगत सूक्तों का उल्लेख मिलता है और उसकी स्पष्ट छाया भी प्रतिबिम्बित होती है। (2) दूसरा हेतु यह भी है कि विषय एवं आकार की दृष्टि से भी यह रचना पश्चाद्वर्तिनी प्रतीत होती है। (3) एक अन्य हेतु यह भी प्रस्तुत किया जाता है कि यहाँ तक आते-आते पहले के अनेक देवताओं का अपना महत्त्व

1. सं०वा०का०बृ० इति, प्रथम खण्ड, पृ० 145-46
2. वही पृ० 147
3. वही, पृ० 148

क्षीण हो गया है तथा अनेक नवीन देवता आ गए हैं। उदाहरणतः इस मण्डल में इन्द्र और अग्नि की प्रतिष्ठा तो यथावत् है, परन्तु उषस् आदि ने अपना महत्त्व खो दिया है तथा प्रजापति जैसे नवीन देवता का भी आगमन हो गया है। (4) भाषा की दृष्टि से भी दशम मण्डल पश्चाद्वर्ती सिद्ध होता है। इसमें स्वर संकोच की प्रवृत्ति बढ़ गई है। 'र्' की अपेक्षा ल् के प्रयोग में अधिकता आ गई है। अनेक प्राचीन शब्दों का लोप हो गया है एवं नवीन शब्दों का आगमन हो गया है जैसे काल, लक्ष्मी आदि शब्दों का प्रचार प्रचुर हो गया है।

पाश्चात्य विद्वानों के ये हेतु भी अपुष्ट ही है। दशसंख्या तो वैसे भी एक से नौ के बाद ही आयेगी, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि दशम मण्डल पर्याप्त समय बाद परिशिष्ट रूप में संकलित किया गया। इस विषय में प्रो० चौवे लिखते हैं। "इसी प्रकार दशम मण्डल के विषय में जो यह कहा जाता है कि प्रथम नव मण्डलों का संकलन हो जाने पर इसे परिशिष्ट रूप में जोड़ दिया गया, बिल्कुल गलत है। कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं मिलता कि ऋग्वेद संहिता कभी दशम मण्डल के बिना भी प्रचलित रही।"[1] इस प्रकार यह धारणा सर्वथा निराधार है कि ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों का संकलन विभिन्न कालों में किया गया।

बालखिल्य सूक्त–वर्तमान ऋग्वेद संहिता में ग्यारह सूक्त बालखिल्य नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें 80 मन्त्र हैं। इनका स्थान अष्टम मण्डल के बाद में है। इनके बालखिल्य नाम का कारण अज्ञात है। इन सूक्तों में कहीं भी बालखिल्य का उल्लेख नहीं है। अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार ये सूक्त शाकलसंहिता के न होकर वाष्कलशाखा के हैं।[2] शाकलसंहिता में न होने से इनका पदपाठ भी नहीं मिलता तथा सायणाचार्य ने भी इन पर भाष्य नहीं किया है। इन सूक्तों को प्रक्षिप्त भी माना जाता है।

ऋग्वेद का संयोजन क्रम

तुदादिगणीय 'ऋच स्तुतौ' धातु से ऋक् पद निष्पन्न होता है। ऋच्यते स्तूयतेऽनयेति ऋक्। इस प्रकार स्तुतिपरक मन्त्रों को ऋक् कहा जाता है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में 10552 मन्त्र हैं। ऋग्वेद का संयोजनक्रम दो रूपों में है–(1) मण्डल एवं सूक्तक्रम (2) अष्टक एवं अध्याय क्रम। ऋग्वेद का यह विभाजन उसकी

---

1. वही, पृ० 148
2. एतत्सहस्रदशसप्त चैवाष्टावतो वाष्कलेऽधिकानि। तत्पारणे शाकलेशैशिरीया वदन्ति शिष्या न खिलेषु विप्राः। अनुवाकानुक्रमणी, 36

शाखाओं के आधार पर है। यथा–मण्डलक्रम शाकलशाखा के आधार पर है तथा अष्टक क्रम बाष्कलशाखा के आधार पर है। किन्तु आजकल ये शाखाएँ प्राप्त नहीं है। मण्डल क्रम का विभाजन सर्वप्रथम ऐतरेय आरण्यक तथा आश्वलायन एवं शाखायन आरण्यक में प्राप्त होता है। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में इसका उल्लेख नहीं है।

ऋग्वेदीय शाखासंहिताएँ

शाखा शब्द का अर्थ सम्पूर्ण ग्रन्थ का अंग नहीं है, परन्तु इसका अर्थ एक प्रकार के पाठ और क्रम आदि से है क्योंकि अनेक ब्राह्मण वंशों में ये संहिताएं कुछ-कुछ पाठभेद और क्रम के अन्तर से संकलित हुई थीं, उन्हीं को शाखा नाम से जाना जाता है। परिशिष्ट ग्रन्थ चरणव्यूह में ऋग्वेद की शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन तथा माण्डूकायन इन पाँच शाखाओं का उल्लेख मिलता है।[1]

ये शाखासंहिताएँ अपने प्रवचनकर्त्ता आचार्यों के नाम पर ही प्रसिद्ध हुई तथा इन शाखा संहिताओं का अध्ययन-अध्यापन करने वाले व्यक्तियों के समुदाय को चरण कहा जाता है। प्रपञ्चहृदय के वेदप्रकरण में लिखा है–बाह्वृच एकविंशतिधा।

महाभाष्य में पतञ्जलि ने भी 'एक विंशतिधा बाह्वृच्चम्' कहा है। इसका यही अर्थ लिया जाता है कि बह्वृच संहिता की 21 शाखाएँ थी। आजकल ये शाखाएँ प्राप्त नहीं हैं। ऋग्वेद के प्रवचन कर्त्ताओं में पैल सर्वप्रथम है। पैलसंहिता का नाम ही बह्वृच्चम् होगा, ऐसा माना जा सकता है। पतंजलि ने बह्वृच का चरण अर्थ में भी उल्लेख किया है।[2]

उत्तरवर्ती साहित्य में ऋग्वेद की केवल पाँच शाखाओं का उल्लेख ही मिलता है। शौनक चरण-व्यूह नामक परिशिष्ट ग्रन्थ में ये शाखाएँ इस प्रकार गिनायी गयी है–(1) शाकल, (2) बाष्कल, (3) आश्वलायन, (4) शांखायन, (5) माण्डूकायन। आजकल प्रचलित ऋग्वेद संहिता शाकल शाखा से सम्बन्धित है। ऋक् प्रातिशाख्य के अनुसार यही शाखा मुख्य तथा प्रारम्भिक शाखा है।

1. एतेषां शाखा पञ्चविधा भवन्ति। आश्वलायनी शांखायनी शाकला बाष्कला माण्डूकायनाश्चेति। चरणव्यूह 1/7-8
2. बह्वृचश्चरणाख्याम्। म०भा० 5/4/154

इसके अनुसार सम्पूर्ण ऋग्वेद 1028 सूक्तों 85 अनुवाकों तथा दश मण्डलों में विभक्त है। यह विभाजन ऋषि तथा देवता के अनुसार है। इसमें ग्यारह बालखिल्य सूक्तों के 80 मन्त्र भी सम्मिलित है। यद्यपि बालखिल्य सूक्तों को प्रक्षिप्त माना जाता है।

ये शाखाएँ इस प्रकार हैं–

(1) शाकल–वर्तमान में उपलब्ध ऋग्वेद शाकल शाखा है। कुछ विद्वान् शाकल तथा शाकल्य को एक ही मानते हैं। पाणिनि के सूत्र शाकलाद्वा (अ० 4/3/128) से विदित होता है कि शकल नाम आचार्य ने ही मूल संहिता का प्रवचन किया था। पं० हरिप्रसाद शास्त्री के अनुसार शाकल संहिताकार हैं, जबकि शाकल्य पदपाठकार है।[1] शाकल्य के पदपाठ का आधार शाकल संहिता हैं। इसमें मन्त्रों का संकलन ऋषिक्रम से किया गया है। इसमें दश मण्डल हैं। इसे दशतयी तथा दाशतयी भी कहते हैं। यह भी कहा जाता है कि शाकल्य ने जिन मन्त्रों का पदपाठ दिखलाया है, वे मन्त्र ही मूल शाकल संहिता के हैं। वर्तमान में उपलब्ध शाकलसंहिता के कुछ मन्त्रों का पदपाठ वर्तमान शाकल संहिता में नहीं मिलता है।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि शाकल शाखा की गति सर्प के समान है। इसका जैसा आदि है, वैसा ही अन्त है। सर्प की गति के समान कोई भी इसकी गति में भेद नहीं कर सकता।

शाकल के शिष्यों में शिशिरि आचार्य भी थे। वर्तमान ऋग्वेद संहिता को शैशिरीय शाखा का बतलाया जाता है, क्योंकि ऋग्वेद प्रातिशाख्य के नियम इस संहिता पर पूर्ण रूप से घटित होते हैं। यह प्रतिशाख्य शैशिरीयसंहिता पर ही आधारित है। यह घोषणा शौनक ने स्वयं की है।[3] शौनक की अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार शैशिरीय संहिता में 85 अनुवाक, 1070 सूक्त तथा 10415 मन्त्र हैं। यही संख्या शाकलसंहिता की है। अतः विद्वानों के अनुसार वर्तमान ऋग्वेद संहिता सभी शाकलों की मूलसंहिता है। इसका सम्बन्ध किसी शाखा विशेष से नहीं है। सायणाचार्य तथा स्वामी दयानन्द ने इस पर ही अपने भाष्य लिखे हैं। शाकल्य ने इसका ही पदपाठ किया है तथा बाभ्रव्य ने इसका क्रमपाठ किया है।

---

1. सं०वां० का बृ० इति, वेदखण्ड, पृ० 90
2. ऋ० 7/59/12, 10/20/11, 10/12/10, 10/190/1-3
3. ऋक्प्रतिशाख्य, उपोद्घात, पृ० 7

शाकलशाखा शाकल ऋषि द्वारा प्रोक्त है। आचार्य शाकल के एक सौ शिष्य थे। इनमें शिशिर, बाष्कल, शाङ्ख, वातस्य तथा आश्वलायन अपनी-अपनी शाखाओं के प्रवर्त्तक थे। भागवतादि पुराणों में भी इसी प्रकार के श्लोक प्राप्त होते हैं। वर्तमान समय में शाकल शाखा के अन्तर्गत शैशिरीय उपशाखा ही प्रचलित है। इसके अनुसार ही ऋग्वेद दश मण्डलों में विभक्त है। यह मण्डलीय विभाग सर्वप्रथम ऐतरेय आरयण्क में तथा आश्वलायन तथा शांखायन इन दो गृह्यसूत्रों में सबसे पहले उपलब्ध होता है। कात्यायन ने अनुक्रमणिका में मण्डलक्रम का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु अष्टक विभाग को ही स्वीकार किया है।

(2) बाष्कल संहिता–बाष्कल भी शाकल के ही शिष्य थे। इन्होंने भी अपनी शाखा का प्रवचन् किया था। इस शाखा के अनुसार ऋग्वेद में आठ अष्टक हैं। प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ऋग्वेद में चौंसठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में वर्गों की संख्या भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक वर्ग में मन्त्रों की संख्या प्रायः पाँच है। इस प्रकार ऋग्वेद में 8 अष्टक, 64 अध्याय, 2024 वर्ग तथा 10552 मन्त्र हैं। शाकल तथा वाष्फल संहिता के प्रथम मण्डल के सूक्तों के चयन क्रम में अन्तर है। दोनों संहिताओं के अन्तिम मन्त्र भी पृथक्-पृथक् हैं।

मण्डल क्रम का विभाजन निम्न प्रकार है–

मण्डल	सूक्त संख्या	मन्त्र संख्या	सूक्त के ऋषि
1	191	2006	मधुछन्दा, मेधातिथि, दीर्घतमा आदि अनेक ऋषि
2	43	429	गृत्समद एवं उसके वंशज
3	62	617	विश्वामित्र एवं उसके वंशज
4	58	729	वामदेव एवं उसके वंशज
5	87	729	अत्रि एवं उसके वंशज
6	75	765	भरद्वाज एवं उसके वंशज
7	104	841	वसिष्ठ एवं उसके वंशज
8	103	1716	कण्व, भृगु, अँगिरस तथा वंशज
9	114	1108	पवमान सोम आदि अनेक ऋषि
10	191	1754	त्रित, इन्द्र, श्रद्धा आदि अनेक ऋषि

(3) आश्वलायन संहिता–चरणव्यूह में ऋग्वेद की पाँच शाखाओं का उल्लेख किया गया है, इनमें आश्वलायनी शाखा की गणना सर्वप्रथम की गयी है।[1] कई हस्तलेख संग्रहों में आश्वलायनसंहिता के हस्तलेखों का उल्लेख मिलता है। अग्निपुराण[2] में ऋग्वेद की शाखायन तथा आश्वलायन शाखाओं का उल्लेख मिलता है, किन्तु इनकी स्वतन्त्र संहिता के विषय में कुछ नहीं कहा गया। अतः विद्वानों का अनुमान है कि आश्वलायन नाम की कोई शाखा तथा संहिता न थी।

(4) मुद्गलशाखा–पं० भगवद्दत्त के अनुसार प्रपंचहृदय नामक ग्रन्थ लिखे जाने तक यह शाखा विद्यमान थी। वहाँ ऋग्वेदीय शाखाओं के नामों में मुद्गल का नाम आया है।[3]

ऋग्वेद की 27 शाखाएँ[4]

1 मुद्गल, 2 गालव, 3 शालीय, 4 वात्स्य, 5 शैशिरि, 6 बोध्य, 7 आग्निमाठर, 8 पराशर, 9 जातुकर्ण्य, 10 आश्वलायन, 11 शांखायन, 12 कौषीतकी, 13 महाकौशीतकी, 14 शाम्ब्य, 15 माण्डूकेय, 16 बह्वृच, 17 पैङ्ग्य, 18 उद्दालक, 19 शतबलाक्ष, 20 गजशाखा, 21–23 बाष्कलि भारद्वाज की शाखा, 24 ऐतरेय, 25 वसिष्ठ, 26 सुलभ, 27 शौनक

शेष शाखाएँ

(6) शैशिरि शाखा–यद्यपि इस संहिता के संहिता, ब्राह्मण आदि नहीं मिलते, किन्तु अनेक स्थानों पर इसका उल्लेख मिलता है। अनुवाकानुक्रमणी में इस शाखा के सम्बन्ध में एक श्लोक दिया गया है।[4] ऋक् प्रातिशाख्य के प्रारम्भिक श्लोकों में उसे शैशिरीय शाखा कहा गया है।

---

1. एतेषां शाखाः पञ्चविधा भवन्ति। आश्वलायनी, शांखायनी, शाकला, वाष्कला माण्डूकायनाश्चेति। चरणव्यूह 1/7–8
2. भेदः शांखायनश्चैक आश्वलायनो द्वितीयकः। अ०पु० 27/12
3. पं० भगवद्दत, वै०वा० का इति० प्रथम भाग, पृ० 131 वैदिक अनुसंधान शाला, माडल टाउन, लाहौर, 1935
4. ऋग्वेदे शैशिरीयायां संहितायां यथाक्रमम्।
   प्रमाणमनुवाकानां सूक्तैः शृणुत शाकलाः।।

ऋग्वेद के ऋषि

ऋग्वेद में सूक्तों के प्रारम्भ में ऋषि, देवता तथा छन्द निर्दिष्ट रहते हैं। इनमें देवता का अर्थ तो सुस्पष्ट है कि जिसका वर्णन मन्त्र में है, वही उस सूक्त या मन्त्र का देवता है। ऋषियों का स्वरूप कुछ स्पष्ट नहीं है। सर्वप्रथम इनका निर्देश कात्यायन की ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी में प्राप्त होता है। अतः यह सम्भावना भी हैं कि इससे पूर्व में ऋषि मन्त्रों तथा सूक्तों पर पठित नहीं रहे होंगे। सूक्तों के ऋषि तीनों ही लिङ्गों में प्राप्त होते हैं। यथा—भाववृत्तम् आदि नपुंसक, लिंग, श्रद्धा कामायनी, शची पौलोमी, इन्द्राणी, रोमशा ब्रह्मादिनी, उर्वशी, गोधा, लोपामुद्रा, सूर्या, सावित्री, आदिति आदि स्त्री लिंग में है। अधिकांश ऋषि पुल्लिंग में ही है।

इन ऋषियों की निम्न विशेषताएँ हैं—

(1) एक ही सूक्त के एकाधिक ऋषि निर्दिष्ट है। यथा—ऋ० 81 सूक्त के पाँच ऋषि हैं। इसी प्रकार—

(2) ऋषियों में विकल्प भी दिखलाया गया है। यथा—असितः काश्यपो देवलो वा (ऋ० 9/4–24)

(3) इन ऋषियों में वंशपरम्परा भी विद्यमान है। यथा—प्रगाथः काण्वः (ऋ० 8/64) कलिः प्रागाथः (ऋ० 8/66)

(4) अनेक ऋषि बिना वंशपरम्परा भी निर्दिष्ट हैं।

(5) पशु-पक्षियों आदि के नामों पर भी ऋषि नाम है। यथा—सरमा देवशुनी, कूर्म, मत्स्य, सर्प, तार्क्ष्य, श्येन आदि।

(6) कुछ ऋषिनाम केवल विशेषण मात्र ही प्रतीत होते हैं। यथा—ऋ० 8/95 का ऋषि तिरश्ची। इसी प्रकार ऋ० 8/98 का ऋषि नृमेध है। कहीं-कहीं नृमेधपुरुमेधौ भी ऋषि हैं।

(7) कहीं-कहीं सूक्त का देवता तथा ऋषि समान नाम वाले हैं। यथा—ऋ० 10/159 सूक्त का ऋषि तथा देवता दोनों ही शची पौलोमी हैं।

(8) यदि कोई मन्त्र समान रूप में एकाधिक मन्त्रों में आया है तो वहाँ उनके ऋषि भिन्न-भिन्न भी प्राप्त होते हैं। यथा—चत्वारि शृंगाः (ऋ० 41/58/3) में वामदेव ऋषि है, जबकि यजुर्वेद 17/91 में इसका ऋषि साध्या लिखा है।

(9) एक ही वेद में पुनरुक्त मन्त्र के ऋषि भी विभिन्न स्थलों में भिन्न-भिन्न मिलते हैं। यथा–'इडामग्ने पुरुदंसम्' मन्त्र का ऋषि ऋ॰ 3/1/12 में गाथिन विश्वामित्र है, 3/15/7 में उत्कील काण्व ऋषि है, जबकि 3/23/5 में देवश्रवा देववातश्च भारतौ ऋषि हैं।

ऋग्वेद का वर्ण्यविषय

ऋग्वेद में प्रायः लौकिक एवं अलौकिक सभी विषयों का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें जहाँ एक ओर अग्नि, इन्द्र, आश्विनौ, मरुत् आदि देवों की स्तुतियां हैं, वहीं दूसरी ओर धर्म, दर्शन, संस्कृति, राजनीति, समाज, शिक्षा, विवाह, नारी, सृष्टिउत्पत्ति, विज्ञान, काव्य, युद्ध, शस्त्रास्त्र, परिवार, वर्णाश्रम, कृषि, व्यापार, चिकित्सा, यज्ञ, धर्मा-धर्म, परलोक, ज्योतिष आदि के क्षेत्रों से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री भी ऋग्वेद में उपलब्ध होती है। ऋग्वेद विश्व का सर्व प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें मानव जाति को समुन्नत बनाने वाली तथा विविध क्षेत्रों में उसका मार्गदर्शन करने वाली पर्याप्त सामग्री विद्यमान है।

अध्यात्मिक क्षेत्र में ईश्वर का स्वरूप एवं उसकी उपासना, यज्ञों का महत्त्व, मोक्ष, पुनर्जन्म, लोक-परलोक आदि अनेक विषयों पर ऋग्वेद में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। सांस्कृतिक दृष्टि से जीवन-दर्शन, सदाचार, हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य, पाप-पुण्य आदि की चर्चा ऋग्वेद में की गयी है। सामाजिक दृष्टि से वर्णव्यवस्था, वर्णों के कर्त्तव्य, विवाह, नगर-पुर-ग्राम, खान-पान, परिधान, अलंकरण, सामाजिक ऐक्य आदि अनेक विषयों का वर्णन इसमें किया गया है। इसी प्रकार राजनीतिक दृष्टि से राजा का चयन, उसके अधिकार तथा कर्त्तव्य, राजतन्त्र एवं प्रजातन्त्र, राज्याभिषेक, राष्ट्र की कल्पना, राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य इत्यादि विषयों का वर्णन इसमें किया गया है।

आर्थिक दृष्टि से कृषि, व्यापार, कृषि के उपकरण, आजीविका के साधन, पशुपालन, विविध वृत्तियाँ, रत्न, सुवर्ण आदि का वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है इसी प्रकार दार्शनिक दृष्टि से नासदीय, हिरण्यगर्भ तथा पुरुषसूक्त में सृष्टि उत्पत्ति का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन इसमें किया गया है। प्राचीनतम ग्रन्थ होने के कारण ऋग्वेद काव्यशास्त्रीय दृष्टि से भी रस, छन्द, अलंकार आदि के क्षेत्र में हमारा पथ प्रदर्शक है। शिल्प अथवा वैज्ञानिक दृष्टि से पृथिवी तथा अन्तरिक्ष में चलने वाले विमान, समुद्रचारिणी नौकाएँ, ग्रह निर्माण आदि का वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है।

इसका नवम मण्डप पवमान सोम के नाम से भी जाना जाता है। इस मण्डल में सोम का विविध रूपों में वर्णन तथा उससे होने वाले विविध लाभों का वर्णन पाया जाता है। ऋग्वेद में कुछ संवादसूक्त भी है, जिनके माध्यम से विविध विषयों पर प्रकाश पड़ता है। इनका वर्णन यहाँ पर पृथक् से किया गया है। दशम मण्डल में ही दानस्तुतियाँ तथा दाशराज्ञयुद्ध का वर्णन भी उपलब्ध हैं। कुछ लोग इन्हें ऐतिहासिक वर्णन मानते हैं तो दूससरे पक्ष वाले इन सूक्तों में पठित व्यक्ति वाचक नामों की यौगिक व्याख्या करके अन्य ही अर्थ करते हैं।

ऋग्वेद में पशु-पक्षियों का वर्णन भी प्राप्त होता है। पशुओं में पालतू तथा जंगली दोनों ही प्रकार के पशु उल्लिखित है। गो, अश्व, हाथी, भेड़, अजा, महिष आदि पालतू पशु तथा मृग, सिंह, ऋक्ष, वराह, वृक, कपि आदि का वर्णन प्राप्त होता है। पक्षियों में हंस, मयूरी तथा एक बार चक्रवाक का भी वर्णन है। विषैले जीवों, कृमियों तथा इनसे उत्पन्न होने वाले रोगों तथा ओषधियों का वर्णन भी है। वृक्षादि का वर्णन ऋग्वेद में स्वल्प ही है। दशम मण्डल के 146वां सूक्त में अरण्यानी की प्रशंसा की गयी है। सोमलता का वर्णन ऋग्वेद में पर्याप्त है। रोगनिवारक तथा आयुवर्धक मन्त्र भी इसमें पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त विवाहसूक्त में वैवाहिक प्रक्रिया एवं अन्त्येष्टिपरक पाँच सूक्त भी विद्यमान हैं। ऋग्वेद में प्रहेलिकाएँ भी विद्यमान है। ऊपर से देखने में इनका अभिधेय अर्थ अट-पटा सा प्रतीत होता है, किन्तु इनमें गूढ रहस्य भरा रहता है, जिसे मन्त्रस्थ शब्दों की विशेष व्याख्या से ही स्पष्ट किया जा सकता है। कुछ संवादसूक्त तथा आख्यानसूक्त भी ऋग्वेद में पाये जाते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद लगभग सभी विषयों का आकरग्रन्थ है। मण्डलक्रम से ऋग्वेद के विषयों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है-

प्रथम मण्डल-इस मण्डल के देवता इन्द्र, अग्नि, वायु, विष्णु, अश्विनौ, मित्रा-वरुणौ, रुद्र, सूर्य, आदित्य आदि है। इनमें अग्नि तथा इन्द्र ये दोनों प्रमुख हैं। इस मण्डल में अग्नि तथा इन्द्र की स्तुति, इन्द्र के विविध स्वरूप एवं कार्यों का पर्याप्त वर्णन है। यहाँ पर अग्नि को पापनाशक तथा देवों का दूत कहा गया है।[1] यही हमारी आहुति को देवों तक पहुँचाता है। एक सूक्त के आठों मन्त्रों का अन्तिम चरण यही है-अपः नः शोशुचदघम्। यह अग्नि हमें पाप से बचाए! 1/81 सूक्त में इन्द्र का एक योद्धा के रूप में भी वर्णन है। मरुत् इन्द्र के

1. अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। ऋ॰ 1/12/1

सहायक हैं। ऋ॰ 1/165 में मरुतों का वर्णन सैनिक के रूप में है। इन्हें रुद्रा: = शत्रुरोदक राजा के पुत्र कहा जाता है। इन्द्र को ही प्रजा जन अपनी रक्षार्थ छोटे-बड़े युद्धों में पुकारते हैं।[1] यह राजा या सेनापति आदि कोई भी हो सकता है। इसी सूक्त में इन्द्र को पृथिवी तथा अन्तरिक्ष को पूर्ण करने वाला द्युलोक में नक्षत्रों को बाँधने वाला भी कहा गया है जो कि इसके परमेश्वरीय स्वरूप को प्रकट करता है।[2] परमेश्वर को यहाँ पर अज = जन्म न लेने वाला कहा गया है जिसने द्यु लोक तथा पृथिवी को धारण किया हुआ है।[3]

इस मण्डल में अनेक वैज्ञानिक संकेत भी प्राप्त होते हैं। यथा पृथिवी को सूर्य की परिक्रमा करने वाला तथा सूर्य को भी हिरण्य रथ के द्वारा गति करने वाला कहा गया है।[4] सूर्य की किरणें ही उसका रथ है। ओषधियों तथा विषनाशक उपायों का वर्णन भी इस सूक्त में है। 'अप्स्वन्तरमृतम्' कह कर जलों में भी अमृत बतलाया है। 191 सूक्त का देवता 'अबोषधिसूर्या:' है। इसमें सूईं के समान पतले तथा अंगों में समाविष्ट हो जाने वाले कृमियों का वर्णन भी है। यहाँ पर शकुन्तिका तथा मयूरी को विषनाशक कहा गया है। सूर्य को भी विषनाशक कहा गया है।[5]

इस सूक्त में ज्योतिष के संकेत भी हैं। सूर्य को 12 अरे वाला[6] बाहर परिधियों के चक्रवाला[7] कहा गया है। वर्ष में 12 महीने ही उसकी परिधि हैं। इसी सूक्त में रुद्र की स्तुति भी हैं तथा उससे गौ तथा पुरुषों के हत्यारों को दूर करने की[8] तथा उसके क्रोध से बचने की प्रार्थना की गयी है।[9] मित्र वरुण इन दोनों का सम्मिलित वर्णन भी इस सूक्त में है।[10] विद्वानों के अनुसार आक्सीजन तथा हाईड्रोजन दोनों गैसें ही मित्र तथा वरुण हैं जिनके मिलने से जल की उत्पत्ति होती है। मित्र तथा वरुण से ही सरल मार्ग पर ले जाने की

---

1. तस्मिन् महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे। ऋ॰ 1/81/1
2. आपप्रौ पार्थिवं रजो बद्बधे रोचना दिवि। मं॰ 5
3. अजो न द्यां दाधार। ऋ॰ 1/67/3
4. हिरण्ययेन सविता रथेन याति। ऋ॰ 1/35/2
5. सूर्ये विषमासजामि। ऋ॰ 1/191/10
6. द्वादशारं न हि तज्जराय। ऋ॰ 1/64/1
7. द्वादशप्रधयश्चक्रमेकनेमि। ऋ॰ 1/164/48
8. आरे गोघ्नमुत पुरुषघ्नम्। ऋ॰ 1/114/10
9. मा नो वधी: पितरं मोत मातरम्। ऋ॰ 1/114/7
10. मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादशम्। ऋ॰ 1/2/7

प्रार्थना भी इस सूक्त में की गयी है।[1] अकेले वरुण का ऐसा सर्वव्यापक स्वरूप भी यहाँ प्राप्त होता है जो आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की गति को भी जानता है।[2] विष्णु के तीन विक्रमणों का उल्लेख भी यहाँ पर प्राप्त होता है।

समस्त भुवन विष्णु के इन क्रमणों में ही समाहित है। आर्य तथा दस्यु इन दो वर्गों की चर्चा भी[3] इसमें दस्यु को घन के द्वारा मारने का उपदेश यहाँ पर है।[4] 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' कहकर वाणी के चार रूपों की चर्चा भी इस सूक्त में है। इस सूक्त में ऋतु का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। कहा गया है कि हम सत्य के द्वारा समस्त अनृतों को पार करते हैं।[5]

द्वितीय मण्डल–इसके देवता वरुण, अग्नि, इन्द्र, सविता, अश्विनौ आदि हैं। इन्द्र का वर्णन यहाँ पर सर्वशासक के रूप में है। वरुण ऐसी शक्ति है जो सभी को देख रही है तथा मनुष्यों को उनके कर्मानुसार दण्ड भी प्रदान करती है तथा पाशों से बाँध लेती है। इसीलिए वरुण के पाश से छूटने की प्रार्थना यहाँ पर की गयी है।[6] अग्नि को यहाँ पर रुद्र, असुर, द्रविणोदस्, इन्द्र तथा घृतव्रत वरुण कहकर उसके विविध रूपों की चर्चा की गयी है।

तृतीय मण्डल–इसके देवता अग्नि, इन्द्र, नद्यः उषा, वाजिनीवती, विश्वेदेवा आदि हैं। इस मण्डल में ऋत पर बल देते हुए कहा है कि हम सदा सत्य ही बोले।[7] यहाँ पर देवों की संख्या नौ, तीस, तीन सौ तथा तीन सहस्र बतलायी गयी है।[8] इस मण्डल में संवादसूक्त भी हैं। यथा 3/33 में विश्वामित्र तथा नदियों का संवाद। इकावनवे सूक्त के देवता 'इन्द्रपर्वता' हैं इनसे रथ के द्वारा अन्न लाने की प्रार्थना की गयी है। अग्नि का यहाँ पर पर्याप्त वर्णन है। इसके विशेषण वृषा, ऊर्जानपात्, वरेण्य तथा विप्र आदि दिये गये हैं। यह अग्नि सौभाग्य का, सुवीर्य का तथा गो आदि से युक्त धन का स्वामी है।[9]

---

1. ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्। ऋ० 1/90/1
2. वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। ऋ० 1/25/7
3. विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः ऋ० 1/5/8
4. वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेन। ऋ० 1/33/4
5. अवोचाम महते सौभागाय सत्यम्। ऋ० 1/152/1
6. विमच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य। ऋ० 1/152/1
7. ऋतमिद् वदेम। ऋ० 3/55/3
8. त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्। ऋ० 3/9/9
9. अयमग्निः सुवीर्यस्येशे महः सौभगस्य राय ईशे०। ऋ० 3/16/1

चतुर्थ मण्डल–इसके देवता अग्नि, इन्द्र, वायु, अश्विनौ, ऋभवः तथा वैश्वानर आदि हैं। इस मण्डल में संवाद भी हैं। यथा इन्द्र-अदिति-संवाद। ये संवाद वास्तविक न होकर प्रतीक रूप में ही हैं। वनस्पति भी इस सूक्त का प्रमुख देव है। बृहस्पति ने ही पृथिवी को थाम रखा है। इस मण्डल के सूक्त 57 में कृषि का वर्णन भी है। कीनाश, लांगलम् आदि पद वहाँ पर पढ़े हुए हैं। इन्द्र यहाँ का शक्तिशाली देव हैं जिसके साथ मैत्री की कामना की गयी है, किन्तु साथ ही यह भी कह दिया गया है कि अयाज्ञिक तथा कृपण धनपति के साथ इन्द्र मित्रता नहीं करता है।[1] अहं भूमिमदामार्याय (4/26/2) कह कर यहाँ भी आर्य की श्रेष्ठता दिखलायी गयी है। इसी प्रकार पुरुषार्थ की महिमा बतलाते हुए कहा गया है कि अश्रान्त न होने वाले व्यक्ति की सहायता देव गण भी नहीं करते हैं।

पंचम मण्डल–अग्नि, इन्द्र, मरुत्, अश्विनौ आदि इस मण्डल के देवता हैं। मरुतों का वर्णन योद्धा के रूप में किया गया हैं इन्हें रुद्रासः रुद्रपुत्राः कहा गया है। सुधन्वानः इषुमन्तः, ऋष्टिमन्तः इत्यादि विशेषण मरुतों के सैनिक स्वरूप के ही द्योतक हैं। इसी सूक्त में वस्त्र बुनना[2] तथा सीने आदि गृहकार्यों का भी वर्णन है। योग[3] तथा सन्तानोत्पत्ति आदि कार्य भी इस मण्डल में वर्णित हैं। अग्नि के विशेषण घृतपृष्ठ, होता, विश्ववित् तथा विष्पति आदि दिये गये हैं। वरुण तथा मित्रावरुणौ भी इस मण्डल के देवता हैं। वरुण ने तीन द्युलोकों तथा तीन अन्तरिक्षों को धारण किया हुआ है। इसी प्रकार अश्विनौ के विविध कार्यों का वर्णन भी इस मण्डल में है।

षष्ठ मण्डल–इस सूक्त के देवता अग्नि, इन्द्र, इन्द्राविष्णू, द्यावापृथिव्यौ आदि हैं। इन्द्र की स्तुति त्राता, शूर, पुरुहूत आदि के रूप में की गयी है। धनु, ज्या, इषुधि, सारथि, रथ, अश्वा, इषव आदि के वर्णन से कई स्थानों पर युद्ध जैसा वर्णन उपलब्ध होता है। अग्नि को सभी प्रजाओं का पतिा कहा गया है। यह अमृत स्वरूप तथा देवों का दूत है तथा वृत्र को भी नष्ट करता है।[4] अग्नि से यह प्रार्थना भी की गयी है कि हम दुरितों का त्याग करें। इस मण्डल में यह कामना भी की गयी है कि प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्ति की सभी प्रकार से रक्षा करें।[5]

---

1. न रेवता पणिना सख्यमिन्द्रोऽसुन्वता सुतपा सं गृणीते। ऋ॰ 4/25/7
2. वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति। ऋ॰ 5/47/6
3. युञ्जते मन उत युञ्जते धियः। ऋ॰ 5/8/1
4. अग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्। ऋ॰ 6/16/34
5. पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः। ऋ॰ 6/75/4

सप्तम मण्डल–इस मण्डल के देवता अग्नि, इन्द्र, उषा, इन्द्र, विश्वेदेवा, मित्रावरुणौ, अश्विनौ आदि है। दानस्तुतियों को भी मन्त्रों का देवता बनाया गया है। यथा–सुदासः पैजवनस्य दानस्तुतिः। मन्त्रों में इळा, भारती तथा सरस्वती का वर्णन भी है जिन्हें वाणी तथा भूमि का वाचक भी माना गया है। विश्वेदेवों से शान्ति की तथा रुद्र से रक्षा की प्रार्थना की गयी है। अश्विनौ च्यवन के वार्धक्य को दूर करके उसे पुनः युवा बनाते हैं। वरुण का नैतिक नियमों के अधिपति के रूप में वर्णन है। पाप के कारणों की चर्चा भी यहाँ की गयी है। सुरा, मन्यु, जुआ, अज्ञान इत्यादि इनमें प्रमुख है। वरुण के गुप्तचर सबको सर्वत्र, सर्वदा देख रहे हैं। वरुण पापी जनों को दण्ड भी देता है। विष्णु का त्रिविक्रमण भी यहाँ पर उल्लिखित है,[1] जिसकी चर्चा अन्यत्र भी कई स्थानों पर की गयी है। मण्डूक सूक्त (103) वर्षाकालीन वेदाध्ययन को सूचित करता है। इस काल में मण्डूक भी वर्षा से तृप्त होकर वेदपाठी ब्राह्मणों के समान क्रमिक ध्वनि कर रहे हैं।[2] ऋत की चर्चा भी इस मण्डल में की गयी है। इन्द्र तथा विष्णु के द्वारा शम्बर के 99 पुरों का भेदन भी यहाँ वर्णित है। ऋ॰ 7/18 में कुछ मन्त्रों का देव इन्द्र तथा कुछ का सुदासः पैजवनस्य दानस्तुति है। इस सूक्त में दाशराज्ञ युद्ध का वर्णन माना जाता है। यौगिक पक्ष में सुदास, पिजवन आदि शब्दों के अर्थ अन्य ही होते हैं। यथा–यास्क कहते हैं–सुदाः कल्याणदानः। पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः। पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवो वा, मिश्रीभावगतिर्वा।[3] उलूक, भेड़िया, श्वान, कोक, गृध्र, सुपर्ण आदि पशु-पक्षियों के नाम भी यहाँ पर प्राप्त होते हैं।[4]

अष्टम मण्डल–इस मण्डल के देवता अग्नि, इन्द्र, वरुण, अश्विनौ, इन्द्राग्नी आदि हैं। कुछ दानस्तुतियाँ भी मन्त्रों के देवता हैं। यथा–बिभिन्दोर्दानस्तुतिः आदि। अश्विनौ के विविध कार्यों का वर्णन इसमें हैं। यथा–वे अन्धत्व, जलाभाव आदि को दूर करते हैं। इस प्रकार अश्विनौ चिकित्सक तथा शिल्पी के रूप में यहाँ वर्णित है। कण्वास[5] आदि पद भी यहाँ पर आये हैं, जिनका

---

1. त्रिर्देवः पृथिवीमेष एतां विचक्रमे शतर्चसं महित्वा। ऋ॰ 7/100/3
2. संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
   वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः। ऋ॰ 7/103/1
3. नि॰ 2/24
4. उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्। ऋ॰ 7/104/22
5. कण्वास इन्द्र ते मतिं विश्वे वर्धन्ति पौंस्यम्। ऋ॰ 8/6/31

अर्थ कण्ववंशीय आदि किया जाता है, किन्तु निघ० (3/15) में कण्व पद मेधाविनामों में पठित है जिससे असुक् आगम हुआ है। अतः यौगिक पक्ष में इस प्रकार के शब्दों का अर्थ मेधावी व्यक्ति किया जाता है। इस मण्डल के अठाईसवें सूक्त में तैंतीस देवों का वर्णन है। अग्नि को देवों का दूत बतलाया गया है जो द्रव्य का वाहक है।[1]

नवम मण्डल—इस मण्डल का प्रमुख देव पवमान सोम है। सूक्त में अधिकांश में सोम की महिमा तथा गुणों आदि का वर्णन है।

दशम मण्डल—इसके देवता अग्नि, इन्द्रो वैकुण्ठ, सूर्य, श्रद्धा, अक्षाः, इन्द्र, सोम, विश्वेदेवा आदि अनेक हैं। कुछ संवादसूक्त भी इस मण्डल में प्राप्त होते हैं। यथा—यमयमीसंवाद, पुरूरवा उर्वशीसंवाद, सरमापणिसंवाद। दार्शनिक सूक्त भी यहाँ पर विद्यमान हैं। यथा—भाववृत्तम् या नासदीयसूक्त। दार्शनिक विचारों का यह सर्वोच्च उदाहरण है। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन जिस सूक्ष्मता के साथ किया गया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। हिरण्यगर्भ (10/121) में भी इसी प्रकार की विवेचना है। पुरुषसूक्त (10/90) में ब्राह्मणादि चारों वर्णों की समता प्रजापति परमेश्वर के मुख आदि अवयवों से की गयी है। इसी प्रकार ज्ञानसूक्त (10/71) भी श्रेष्ठ दार्शनिक सूक्त है। इसमें वाणी की उत्पत्ति तथा इसके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। 10/125 वाक्सूक्त भी उत्कृष्ट दार्शनिक सूक्तों में है।

दार्शनिक सूक्तों के अतिरिक्त इस मण्डल के अन्य सूक्त अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों के प्रतिपादक हैं। यथा—137वें तथा 186वें सूक्त में वायु-प्राण चिकित्सा का वर्णन है। इस वायु को यहाँ पर पिता, भ्राता तथा सखा कहा गया है।[2] यह वायु हृदय के लिए सुख-शान्तिदायक है।[3] क्योंकि इसमें अमृत की निधि निहित है।[4] इस मण्डल में अन्यत्र भी चिकित्सावर्णन मिलता है। यथा—10/163 सूक्त का देवता यक्ष्मघ्न है। इसमें शरीर के सभी अंगों से यक्ष्मानाश का वर्णन है।[5] 164 सूक्त का देवता दुःस्वप्नम् है। इसमें दुःस्वप्न नाश के उपाय बतलाये

1. अग्निं दूतं पुरोदधे हव्यवाहम्। ऋ० 8/44/3
2. उत वात पितासि नः उत भ्रातोत नः सखा। ऋ० 10/186/3
3. वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे। ऋ० 10/186/1
4. यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः। वही, म० 3
5. यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तदिदं विवृहामि ते। ऋ० 10/163/5

गये हैं। याज्ञिक हवि को भी यहाँ पर रोगनाशक[1] तथा आयुवृद्धिकारक[2] कहा गया हैं सूर्य की महिमा का वर्णन करते हुए उसे दीर्घ आयुकारक भी माना है।[3] रुद्र को जल चिकित्सक कहा है।[4] 10/9 में जलों में विविध प्रकार की औषधियाँ बतलायी गयी हैं। इस प्रकार इस सूक्त में रोगों तथा ओषधियों का वर्णन पर्याप्त मात्रा में है।

इस मण्डल में ओजस्वी तथा उदात्त भाव भी प्रर्याप्त मात्रा में हैं। 18वें सूक्त में मृत्यु को भी ललकारा गया है।[5] इसी प्रकार एक अति उत्साही व्यक्ति के मुख से कहलाया गया है। कि मैं इन्द्र हूँ। मुझे कोई नहीं जीत सकता। मृत्यु भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती है।[6] असुनीति से पुनः आयु, प्राण आदि की प्रार्थना करने से पुनर्जन्म का संकेत भी माना जाता है।[7]

सांसारिक जीवन को नदी मानते हुए यहाँ कहा गया है कि यहाँ पर परस्पर सहयोग एवं सहायता से ही आगे बढ़ा जा सकता है। हमें अपने अशिव कार्यों तथा भावों को यहीं छोड़ देना चाहिए।[8] दास तथा दस्यु का भेद बतलाते हुए कहा गया है कि कर्महीन व्रतहीन तथा अमननशील व्यक्ति ही दस्यु हैं। इससे विपरीत स्वभाव वाला आर्य है।[9] इसी प्रकार ऋ॰ 10/85 में विवाहसम्बन्धी, 10/14-18 में अन्त्येष्टीसम्बन्धी, 10/134/ में द्यूतनिन्दा तथा कृषि सम्बन्धी 10/103 आदि में युद्धसम्बन्धी, 10/117 आदि में दानसम्बन्धी तथा अन्यत्र स्त्रियों से सम्बन्धित भी अनेक मन्त्र यहाँ विद्यमान है।

ऋग्वेद का महत्व

ऋग्वेद का महत्त्व इसी से सिद्ध है कि इसे संसार की सर्वप्रथम पुस्तक माना

1. मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय। ऋ॰ 10/161/1
2. शतयुषा हविषा जीवनाय। ऋ॰ 10/161/1
3. सविता नो रासतां दीर्घमायुः। ऋ॰ 10/36/14
4. रुद्रं जलाष भेषजम्। ऋ॰ 1/43/4
5. परं मृत्योरनुपरेहि पन्थाम्। ऋ॰ 10/18/1
6. अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽतस्थे कदाचन। ऋ॰ 10/48/5
7. असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणं नो धेहि भोगम्। ऋ॰ 10/65/5
8. अश्मन्वती, रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरत सखायः। ऋ॰ 10/53/8
9. अकर्मा दस्युभि तो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः। ऋ॰ 10/22/8

गया है। भारतीय परम्परा तो ऐसा मानती ही है, पाश्चात्य् विद्वान् मैक्समूलर ने भी ऐसा ही विचार प्रकट किया है। ऋग्वेद का महत्त्व कई दृष्टियों से है। धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, दार्शनिक, वास्तुशास्त्रीय, वैज्ञानिक सभी प्रकार की सामग्री ऋग्वेद में प्राप्त होती है। आध्यात्मिक दृष्टि से इसमें अग्नि आदि देवों की स्तुति, यज्ञों का महत्त्व, ईश्वर का वास्तविक स्वरूप, पाप-पुण्य, मोक्ष आदि के विषय में प्रचुर सामग्री विद्यमान है। राजनीतिक दृष्टि से इसमें सुचारु राज्य व्यवस्था, राजा के अधिकार, कर्त्तव्य तथा निर्वाचन, राज्याभिषेक, प्रजावर्ग के कर्त्तव्य आदि विषयों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।

सामाजिक दृष्टि से वर्णव्यवस्था, वर्णों के कर्त्तव्य, परिवार, समाज, विवाहादि, नगर-पुर-ग्रामादि, खान-पान, वेषभूषा, अलंकरण आदि के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री इसमें प्राप्त होती है। सांस्कृतिक दृष्टि से उच्च सांस्कृतिक जीवन, सदाचार, सत्य-असत्य का स्वरूप, हेय-उपादेय का विचार आदि का वर्णन उपलब्ध है। आर्थिक दृष्टि से जीवनयापन के साधनों के रूप में विविध वृत्तियाँ, कृषि के उपकरण, अन्नों के नाम, पशुओं के नाम तथा पालनविधि, व्यापार, रत्न, सुवर्ण आदि धातुओं का वर्णन उपलब्ध होता है।

ऋग्वेद का दार्शनिक दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है। इसके पुरुष तथा नासदीय सूक्तों में जिस सूक्ष्मता के साथ सृष्टि की उत्पत्ति तथा विराट् पुरुष का वर्णन उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसके साथ ही ब्रह्म-जीव, मोक्ष, पुनर्जन्म का वर्णन भी यहाँ उपलब्ध है। अग्नि-इन्द्र आदि देवों का पार्थक्य होते हुए भी एक ही परमसत्ता का प्रतिपादन ऋग्वेद में किया गया है। इसे ही एकेश्वरवाद भी कहते हैं।

ऋग्वेद काव्यशास्त्र की दृष्टि से भी पथप्रदर्शक ग्रन्थ है। काव्य के सभी गुण इसमें विद्यमान हैं। रस, छन्द, अलंकार, भाषासौष्ठव प्रसंगानुसार शब्दसंचय ऋग्वेद में विद्यमान है। इसके साथ ही नाटक, आख्यान तथा कथा साहित्य का स्रोत भी इसमें दिखलायी पड़ता है।

ऋग्वेद के उपदेश मानवमात्र के लिए कल्याणकारक है। न केवल ऋग्वेद ही, अपितु सभी वेदों की शिक्षाएँ तथा उनमें वर्णित विषय किसी काल या देश विशेष के लिए न होकर सभी कालों में सभी मानवों के लिए उपादेय हैं। 1893 में शिकागो में आयोजित प्रथम विश्वधर्म सम्मेलन में पश्चात् यह प्रश्न उपस्थित

हुआ कि विश्वधर्म अथवा वैज्ञानिक धर्म की क्या विशेषताएँ होनी चाहिए। इसके लिए एक समिति का गठन किया गया जिसने विश्वधर्म की चार विशेषताएँ स्वीकार की जो इस प्रकार हैं–

(1) समता (Equality), (2) विश्वव्यापी भ्रातृत्व (Universal Brotherhood), (3) सर्वांगपूर्ण विकास (Harmonious Development) तथा (4) वैज्ञानिक आधार (Scientific Base)। ये चारों विशेषताएँ न केवल ऋग्वेद में ही, अपितु चारों वेदों में विद्यमान हैं।

वेदों के व्यापक महत्त्व के कारण ही मनु ने वेद को पितरों, देवों तथा मनुष्यों का शाश्वत नेत्र कहा है।[1] पाश्चात्य विद्वान् प्रो॰ मैक्समूलर इस विषय में कहते हैं–

जब तक धरती पर पर्वत तथा नदियाँ रहेंगी, तब तक ऋग्वेद की महिमा संसार में व्याप्त रहेगी।

ऋग्वेद में प्रतिपादित संस्कृति

ऋग्वेद में प्रतिपादित संस्कृति को ही प्रायः ऋग्वेदकालीन संस्कृति भी कह दिया जाता है। ऋग्वेद वेदकालीन कहने का यह अर्थ नहीं है कि ऋग्वेद का कोई विशेष काल था, जबकि मानवों में वह संस्कृति व्याप्त थी। ऋग्वेद में वैदिक संस्कृति के सभी धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि तत्त्व समाहित हैं। मनुष्य को पारलौकिक एवं इहलौकिक उन्नति किस प्रकार करनी चाहिए, यह सभी वहाँ पर बतलाया गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उस काल में ही ऐसा होता था। ऋग्वेद में प्रतिपादित संस्कृति के अंगों को पृथक्-पृथक् रूप में इस प्रकार दिखलाया जा सकता है–

(1) ऋत एवं सत्य–ऋग्वेद का धर्म ऋत एवं सत्य पर आधारित है। वहाँ पर कहा गया है सृष्टि के प्रारम्भ में ऋत एवं सत्य ही उत्पन्न हुए।[2] ऋत का प्रयोग सत्य के अर्थ में भी होता है, किन्तु जब ये दोनों पद इकट्ठे आते हैं, तब ऋत का अर्थ ऐसे शाश्वत नियम हैं, जो सृष्टि में निरन्तर प्रवाहित हो रहे

---

1. पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
   अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः।। मनु॰ 12/94
2. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ऋ॰ 10/190/1

हैं[1] तथा जिनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। इस विषय में डॉ॰ मंगलदेव शास्त्री लिखते हैं–'बाह्यजगत् की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमों के अधीन चल रही हैं। उन सारे नियमों में परस्पर विरोध न होकर एकरूपता या ऐक्य विद्यमान है। इसी को ऋत कहते हैं।[2] सूर्य प्रतिदिन नियम पूर्वक उदित होता है, सभी ऋतुएं क्रमिक रूप में नियमत: आती हैं। पृथिवी आदि सभी ग्रह निरन्तर धूम रहे हैं। यह सब कार्य ऋत-सृष्टिनियम के कारण हो रहा है। ऋग्वेद में वरुण को ऋत का रक्षक कहा गया है। ऋत तथा सत्य का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को वह दण्ड भी देता है। वह ऋतगोपा-ऋत का रक्षक है। मनुष्यों के सन्दर्भ में ऋतु का अर्थ नैतिक नियम हैं जिनके तोड़ने पर वरुण कुपित होता है। ऋत के अवलम्बन को पापों का नाशक[3] तथा सत्य को सब ओर से रक्षक कहा गया है।[4]

(2) धार्मिकअवस्था–ऋग्वैदिक धर्म स्तुति तथा यज्ञ प्रधान है। अग्नि तथा इन्द्र आदि देवों की स्तुतियाँ यहाँ पर की गयी हैं। उनके ऐश्वर्य तथा नाना पदार्थों की प्रार्थना की गयी है। अग्नि से भी ऐश्वर्य की मांग की गयी है। यहाँ स्तुति का अर्थ गुणगान नहीं है। यास्क ने ईड् धातु को अध्येषणाकर्मा कहा है। अध्येषणा का अर्थ विविध कार्यों में उपयोग है। अग्नि का विविध कार्यों में प्रयोग करके हम ऐश्वर्य को प्राप्त करें, यह अभिप्राय है। इसी प्रकार इन्द्र की स्तुति से हम शक्ति, उत्साह आदि गुणों को प्राप्त करें। इन विविध गुणों की प्राप्ति के लिए अग्नि, इन्द्र, विष्णु आदि देवों का आह्वान यज्ञ में किया जाना है, उनके नाम से आहुतियाँ दी जाती हैं। देवताओं की स्तुतियों का यही अर्थ है।

इन देवों को सोमरस अति प्रिय है। इन्द्र का तो यह विशेष पेय है। सोमरस एक शक्ति-स्फूर्तिवर्धक पेय था, जो अब अप्राप्य हैं। यज्ञ में भी इसकी आहुति दी जाती थी। ऋग्वेद में वर्णित देव पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युस्थानीय हैं। इन्हें लक्षित करके ही आहुति दी जाती है।

ऋग्वेद में ईश्वर को अनादि, अजन्मा, निराकार, सर्वव्यापक आदि विशेषणयुक्त माना गया है।[5] यहाँ पर प्रतिमापूजन तथा अवतार आदि का सर्वथा अभाव है–

1. ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्रः। ऋ॰ 9/73/9
2. भारतीय संस्कृति का विकास, पृ॰ 243 पर फुटनोट
3. ऋतस्य धीतिर्वृजनानि हन्ति। ऋ॰ 2/23/8
4. सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः। ऋ॰ 10/37/2
5. स पर्गाच्छुक्रमकायमव्रणम्। यजु॰ 40/8

ऋग्वेद में यद्यपि अग्नि, इन्द्र, विष्णु, वरुण, यम आदि अनेक देवों का वर्णन है।, अग्नि, वायु आदि जड़ पदार्थों को भी वहाँ देव माना गया है। इस विषय में निरुक्त कहता है 'देवो दानात्' अग्नि, वायु, सूर्य आदि जड़ पदार्थ भी संसार को निरन्तर प्रकाश, ऊर्जा तथा प्राण आदि देने के कारण देवपदवाच्य हैं। ऋग्वेद में श्रद्धा, मन्यु आदि भावात्मक देव भी विद्यमान हैं। देवों की संख्या 33, 3300 तथा तैंतीस हजार तक है। मित्रावरुणौ, अश्विनौ, इन्द्राविष्णू आदि युगलदेव भी वहाँ पर हैं। इस विषय में गोविन्द चन्द्र पाण्डेय कहते हैं[1]–आध्यात्मिक सन्दर्भ में इन्द्र आत्मशक्ति का प्रतीक है। वज्र विवेक है, वृत्र अज्ञान, गुहा हृदय तथा गाय ज्ञान की प्रतीक है। जीवात्मा अपने विवेक से हृदयस्थ अज्ञान को नष्ट करके अवरुद्ध ज्ञानमार्ग को खोल देता है, यही है बाडे से गोओं को मुक्त करने का अर्थ।

(3) सामाजिक अवस्था–ऋग्वेद में मानवमात्र दो वर्गों में विभक्त किया गया है–आर्य एवं दस्यु। ऋतु एवं सत्य पर आधारित श्रेष्ठ जीवन जीने वाला व्यक्ति आर्य है तथा इसके विपरीत दुष्कर्मा, नास्तिक, धर्मध्वसंक व्यक्ति दस्यु है। इसे ही अनार्य भी कहा गया है। दस्यु शब्द 'दसु उपक्षये' धातु से बना है। इसका अर्थ है कि जो अपने गर्हित कार्यों के कारण उपक्षय-विनाश के योग्य है, वह दस्यु है। आर्य एवं दस्यु नाम से दो जातियाँ नहीं है, अपितु मनुष्यों के ही विभिन्न आचरण के आधार पर दो भेद हैं। दस्यु का समानार्थक दास पद भी ऋग्वेद में प्राप्त होता है, किन्तु यह सर्वदा मनुष्य के ही अर्थ में नहीं आया है। 'दासपत्नीरहिगोपा' (ऋ॰ 1/32/11) में मेधस्थ जलों को दासपत्नी कहा गया है।

ऋग्वेद में वर्णव्यवस्था का प्रतिपादन है। सम्पूर्ण मानवसमाज चार भागों में विभक्त है–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। ऋग्वेद[2] तथा अन्य वेदों में भी एक ब्रह्माण्ड पुरुष से चारों वर्णों की उत्पति बतलाते हुए कहा गया है। कि ब्राह्मण उस विराट् पुरुष के मुख के समान है, क्षत्रिय भुजाओं के समान समाज के रक्षक हैं, वैश्य जंघाओं के समान अर्थात् खाद्यादि पदार्थों को व्यापारिक रीति से इधर-उधर ले जाने वाला तथा वितरण कर्त्ता हैं। इनके अतिरिक्त चतुर्थ वर्णके विषय में कहा गया है–पद्भ्यां शूद्रोऽजायत। यहाँ पर 'पद गतौ' धातु है।

1. वैदिक संस्कृति, पृ॰ 80
2. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
   उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।। ऋ॰ 10/90/12

शूद्र सेवा कार्य द्वारा सतत गतिशील रहता है, यह अर्थ है। ऋग्वेद में जातिप्रथा का उल्लेख नहीं है।

ऋग्वेद में आदर्श पारिवारिक व्यवस्था उपलब्ध है। पुत्र को पिता के व्रत का अनुसरण करनेवाला तथा माता के साथ समान विचार वाला होना चाहिए। ऋग्वेद स्वयंवर विवाह का प्रतिपादक है। बहुपत्नी तथा बहुपति प्रथा वेद में नहीं है। एक ही व्यक्ति को एक ही स्त्री के साथ विवाह पूर्वक गार्हस्थ करने की आज्ञा वेद में है। बालविवाह वेदानुमोदित नहीं है। युवा ब्रह्मचारिणी का विवाह वेदविहित है।[1] पर्दाप्रथा भी वेद में नहीं है। भाई-बहन का विवाह निषिद्ध है। तलाक भी वेद विहित नहीं है। वेद कहता है। 'क्रीलन्तौ पुत्रनप्तृभिर्विश्वमायुर्व्यनुतम्' अपने पुत्र-पौत्रों के साथ में आमोदपूर्वक सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करो।

नारी की स्थिति–ऋग्वेदीय परिवार में नारी को उच्च स्थान प्रापत है। ऋ॰ 10/85/47) में नववधु को आशीर्वाद देते समय उसे घर में साम्राज्ञी बन कर रहने के लिए कहा गया है, किन्तु साथ ही साम्राज्ञी का स्वरूप भी बतला दिया है कि जिस प्रकार नदी समुद्र में जाकर मिल जाती है, उसी प्रकार नववधु पतिगृह में जाकर वहाँ का अंगभूत हो जाए।[2] ऋग्वेदीय नारी का प्रवेश युद्धक्षेत्र में भी है। प्रतीक रूप में वहाँ पर विश्पला का वर्णन है। युद्ध में जिसकी जांघ टूट जाने पर अश्विनौ उसे चिकित्सा से आयसी जंघा लगा देते हैं। ऋग्वेद में मन्त्रद्रष्ट्री ऋषिकाएँ भी विद्यमान हैं। वैदिक नारी अबला नहीं है। वह अपने गुणों से स्वयं प्रतिष्ठित है, जिस कारण उसके पति पर भी उसकी कीर्ति का प्रभाव है। वह शत्रुञ्जयी वीर पुत्र-पुत्रियों को जन्म देनेवाली है।[3] ऋ॰ (3/53/4) में 'जायेदस्तम्' कहकर पत्नी को ही परिवार का आधार कहा गया है।

खानपान एवं परिधान–ऋग्वेद में उष्णीष, वासस् नीवी, उत्क आदि के रूप में सूती तथा ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्र चर्चित हैं। इनमें अद्योवस्त्र = नीवी तथा उत्तरीय (वासस्) प्रमुख हैं। सोने के तारों का काम, जिसे आजकल जरी कहा जाता है, वह भी वस्त्रों पर होता था। स्त्री तथा पुरुष दोनों ही आभूषण पहनते थे। पैरों के लिए जूता = द्रुपद का उल्लेख भी है। ऋग्वेद में खाद्य

---

1. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अथर्व॰ 11/5/18
2. यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
   एवा त्वं साम्राज्ञीएधि पत्युरस्तं परेत्य।। अथर्व॰ 14/1/43
3. मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्। ऋ॰ 10/159/3

पदार्थों एवं विविध अन्नों के नाम भी उल्लिखित हैं। इनमें गेहूँ, मसूर, मूंग, उड़द, चावल, अपूप, यवागू (ऋ० 3/52/1) करम्भ, दही, घृत तथा दूध प्रमुख हैं। वेद में मांसभक्षण एवं सुरा आदि मादक द्रव्यों के सेवन का सर्वथा निषेध है। ऐसे व्यक्तियों को यातुधान कहा गया है तथा उन्हें मारने की आज्ञा वहाँ पर है।[1] गो को तो वहाँ पर अघ्न्या कहा गया है। जिसका अर्थ सर्वथा अवध्य होता है।[2] सुरा को भी बुद्धिनाशक, पाप का जनक, अतएव पतन का साधन कहा गया है।[3]

ऋग्वेद में दान की भी पर्याप्त महिमा है। अकेले खाने वाले को पापी कहा गया है।[4] इसलिए व्यक्ति को बांटकर ही खाना चाहिए। दान देने वाला कभी भी नष्ट नहीं होता, न ही कष्ट को प्राप्त करता है।[5]

शिक्षाव्यवस्था—ऋग्वेद में शिक्षा पद कई बार प्रयुक्त हुआ है।[6] स्त्री तथा पुरुषों के लिए शिक्षा का विधान समान रूप में है। शूद्रों के लिए भी वेदाध्ययन का समान अधिकार वहाँ पर है।[7] शिक्षा के अधिकारियों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि कुछ लोग सामने होने पर भी विद्या को नहीं पढ़ पाते, न ही सुनकर भी उसके रहस्य को जान पाते हैं। सुपात्र जिज्ञासु के लिए ही विद्या अपने स्वरूप को प्रकट करती है।[8] ददर्श क्रिया के द्वारा ऋग्वेद में लिपि या लेखन-कला की सत्ता विद्यमान है।

---

1. (क) यः पौरुषेण क्रविषा समङ्क्ते, यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
   यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने, तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥
   ऋ० 10/87/16
   (ख) अनुदह सह मूरान् क्रव्यादः। ऋ० 10/87/19
2. (क) अघ्न्येति गवां नाम क एनां हन्तुमर्हति। ऋ०
   (ख) मा गामनागामदितिं वधिष्ट। ऋ० 8/101/15
3. (क) सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः। ऋ० 7/86/6
   (ख) पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्। ऋ० 8/2/12
4. केवलाघो भवति केवलादी। ऋ० 10/117/6
5. न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः ऋ० 10/107/18
6. (क) शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो। ऋ० 2/11/81
   (ख) शिक्षा ण इन्द्र राय आ पुरु ऋ० 8/92/9
7. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
   ब्रह्मराजन्याभ्याँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। यजु० 26/2
8. उत त्व पश्यन्न ददर्श वाचं उत त्व शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
   उत त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा। ऋ० 10/71/4

आर्थिक अवस्था–ऋ० में धन का आधार कृषि एवं व्यापार है। मन्त्रों में कारु, लांगल तथा कीनाश पद उपलब्ध होते हैं। भूमि हल तथा बैलों द्वारा जोती जाती है। जिन्हें यहाँ पर 'वाहा' कहा गया है।[1] पशुओं में गाय तथा अश्व का स्थान महत्त्वपूर्ण है। खेती की सिंचाई के साधन कुल्या, (ऋ० 10/43/9) झील, नदी, कूप (ऋ० 7/49/2), नहर आदि हैं। हिरण्य, तथा रजत का उल्लेख ऋग्वेद में हैं। अयस् का कच्ची धातु अश्मन से तथा सुवर्ण का अयस् से धमित होने का उल्लेख भी मिलता है।[2] अयस् का कार्य करने वालों को धमकः, ध्मात एवं कर्मकार कहा गया है। खेती से प्राप्त अन्नों में गेहूँ, जौ, मूंग, मसूर, उड़द, तिल आदि प्रमुख हैं। अच्छी फसल के लिए खाद का उल्लेख भी प्राप्त होता है, जिसे करिष कहा गया है। धन एवं खाद्य पदार्थों के जमाखोरों को यहाँ पणि कहा गया है। राजा को कहा गया है कि ऐसे जमाखोरों का पता लगाकर उनकी छिपी सम्पत्ति को प्रजा में बाँट दे।[3] सिक्कों के रूप में निष्क या पण का प्रयोग होता था। समुद्र से प्राप्त होने वाले धन का उल्लेख भी ऋग्वेद में है। जिसका अर्थ समुद्री व्यापार या समुद्र में छिपे मूंगे, मोती आदि धन हो सकता है।

आजीविका–इनके अतिरिक्त विविध प्रकार के व्यवसाय भी आजीविका के साधन रूप में वेद में उल्लिखित हैं। इनके करने वालों को कर्मार (शिल्पी) तक्षा (बढई), वासोवाय (जुलाहा) रथकार आदि कहा गया है। लोहे तथा अन्य धातुओं से विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करनेवाले लोहकार कहे गये हैं। इसी प्रकार चमड़े से विभिन्न प्रकार की चीजों का निर्माण करने वाले चर्मकार संज्ञक हैं। वेद के ये सभी शब्द जातिवाचक न होकर व्यक्तियों के कार्यों के आधार पर हैं। एक ही घर के सदस्यों द्वारा विविध कार्यों को करने का उल्लेख इस प्रकार किया गया है–

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना (ऋ० 9/12/3) इसका यही अर्थ किया जाता है कि मैं शिल्पी हूँ, अन्य व्यक्ति वैद्य है तथा माता पीसनहारी है। ऋण के लेन-देन का वर्णन उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में धनप्राप्ति के साधनों में अग्नि का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अग्नि से यशकारक, पुष्टिकारक तथा वीरत्व युक्त धन की कामना की गयी है। इसका यही अर्थ है कि वैज्ञानिक रीति से अग्नि का विविध कार्यों में उपयोग करके नाना ऐश्वर्यों को प्राप्त करना चाहिए।

---

1. शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः। ऋ० 4/57/8
2. सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽयो न देवा जनिमा धमन्तः। ऋ० 4/2/17
3. अर्यो वेदो दाशुषां तेषां नो वेद आभर। ऋ० 1/8/9

सभी वैज्ञानिक अन्वेषण अग्नि द्वारा साध्य ही हैं। यातायात के साधनों में रथ, शिविका, नौका आदि का वर्णन है। धनप्राप्ति के साधनों में व्यापार भी प्रमुख है। ऋग्वेद में कहा गया है–**इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि।** समुद्रमार्ग से नौका आदि के द्वारा भी व्यापार करने का वर्णन प्राप्त होता है। वृक्षों में अश्वत्थ, उदुम्बर, न्यग्रोध, कर्कन्धु किंशुक, शमी, बिल्व, खदिर, पलाश, शिंशपा का वर्णन है। घासों में उलप काश, कुश, दर्भ, दूर्वा, बल्वज, शतपर्ण, शतकाण्ड, शुम्बल आदि का उल्लेख प्राप्त होता हैं

युद्ध कला–ऋग्वेद में उच्चस्तरीय युद्ध कला के दर्शन होते हैं। इन्द्र युद्ध का ही देवता है जिसके विषय में यास्क भी कहते हैं–या का च बलकृतिरिन्द्रकमैव तत्। ऋग्वेद में इन्द्र का एक राजा, सेनापति, योद्धा के रूप में वर्णन है। इन्द्र के सैनिक मरुत पद वाच्य हैं। वे पुरुभुजा दस्रा, द्रापिनः, पृषदश्व-चितकबरे घोड़ों वाले, रुद्रा, पृश्निमातरः=भूमि को माता मानने वाले इत्यादि विशेषणों से युक्त है। इन्द्र तथा उसके सैनिकों के हाथों में निषंग, वज्र, धनुष, बाण, ऋष्टि, तलवार, परशु, स्वधिति आदि शस्त्रास्त्र हैं।[1] वे कवच, शिरस्त्राण, हस्तघ्न आदि से अपने शरीरों को सुरक्षित रखते हैं तथा भुजाओं पर सैनिक का चिह्न = रुक्म धारण करते हैं[2] ये सैनिक अश्व, रथ आदि से युद्ध करते हैं। प्रजागण युद्ध का अवसर होने पर राजा को ही पुकारते हैं। राजा शत्रुओं का धन जीत कर प्रजा में बाँट देता है। युद्ध में ध्वजा का प्रयोग भी होता है। ऋग्वेद में वीर प्रजा घोषणा करती है–अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु (ऋ॰ 10/103/11) निम्न मन्त्र भी युद्धघोषणा का उत्कृष्ट उदाहरण है–

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।

उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ।। ऋ॰ 10/103/13

ग्राम तथा नगर–कुछ विद्वानों के अनुसार ऋग्वेदीय संस्कृति ग्राम्य संस्कृति है, क्योंकि वहाँ पर नगरों का वर्णन नहीं है। मंगलदेव शास्त्री लिखते हैं 'वैदिक साहिताओं में ग्राम शब्द अनेक बार आया है, किन्तु नगर शब्द का प्रयोग उसमें कहीं भी नहीं मिलता।'[3] वेदों में नगर का वाचक पुर शब्द बहुधा प्रयुक्त है। आज तो लोक

---

1. स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी, ऋ॰ 10/103/3
2. समानमञ्जेषां भ्राजन्ते रुक्मासो अधिबाहुषु दविद्युतत्यष्टयः। ऋ॰ 8/20/11
3. मंगलदेव शास्त्री, भारतीय संस्कृति का विकास

व्यवहार में भी इस शब्द का प्रयोग होने लगा है। यथा–महापौर इत्यादि शब्द सुप्रसिद्ध है। इस विषय में डॉ॰ गोविन्द चन्द्र पाण्डेय लिखते हैं–'यह सामान्य धारणा है कि पूर्व वैदिक सभ्यता ग्रामीण थी तथा पौरजीवन से अपरिचित थी, किन्तु यह निःसन्देह है कि ऋग्वेद में पुर का उल्लेख ग्राम से अधिक बार आया है। ऋग्वेद में ग्राम 9 बार, पुर 85 बार से कम नहीं आता। पुर का अर्थ नगर मानने के विरुद्ध कोई अकारण युक्ति नहीं दीखती। वे (पाश्चात्य) इस भ्रामक मान्यता को लेकर चले थे कि पूर्व वैदिकसमाज नागरिक और साक्षर सभ्यता के पूर्व का अल्पविकसित समाज था। उन्होंने वैदिक सभ्यता के सामुहिक और व्यापारिक पक्ष की प्रायः उपेक्षा की है।'[1]

ऋग्वेद का काव्यसौन्दर्य

विभिन्न विद्याओं का आकर ग्रन्थ होने के साथ-साथ ऋग्वेद एक काव्य भी है। न केवल, काव्य ग्रन्थ ही, अपितु सर्वप्राचीन होने के कारण ऋग्वेद अपने से उत्तरवर्ती काव्य ग्रन्थों का उत्स भी है। ऋग्वेद में वे सभी लक्षण घटित होते हैं जो कि उत्कृष्ट काव्य में होने चाहिएं। रस, रीति, अलंकार, भाषा-सौष्ठव, प्रकृतिवर्णन आदि सभी तत्त्वों का समावेश ऋग्वेद में है। यम-यमी पुरूरवा-उर्वशी, सूर्या-सोम आदि आख्यान सूक्तों में नैतिक उपदेश के साथ-साथ उत्कृष्ट काव्य सौन्दर्य भी विद्यमान है। यहाँ मन में सहज रूप से उदित होने वाले भावों को अलंकारों के माध्यम से हृदयग्राही रूप में अभिव्यक्त किया गया है। काव्य के अन्तरंग सौन्दर्य के अतिरिक्त बाह्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति सर्वाधिक उपमा के माध्यम से की गयी है।

अलंकार–ऋग्वेद में रूपक, उपमा, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, समासोक्ति जैसे अर्थालंकार एवं श्लेष, अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों का प्रयोग उत्कृष्ट रूप में हुआ है। उपमा का एक भावभरित उदाहरण देखिए–

(1) स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये।

ऋ॰ 1/1/15

यहाँ अग्नि की उपमा पिता से देकर पिता के स्वरूप को भी वेद ने बतला दिया है। इसी प्रकार उषा के वर्णन में कवि कहता है कि अन्धकार को वस्त्र की भाँति हटाती हुई उषा आ रही है–

1. वैदिक संस्कृति। पृ॰58

अव स्यूमेव चिन्वती मघोन्युषा याति। ऋ॰ 3/60/4

समुद्र की ओर बहते जलों की उपमा बछंड़ों से देते हुए बछड़े के प्रति उसकी माता की ममता को भी कवि इस प्रकार चित्रित कर रहा है–

वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्ज समुद्रमव जग्मुरापः। ऋ॰ 1/35/1

जिस प्रकार बछड़े के प्रेमवश रम्भाती हुई, भागती हुई गाय बछड़े की और जाती है, उसी प्रकार शब्द करती हुई वेगवती जलधारा समुद्र की ओर भाग रही है।

इसी प्रकार उषा की उपमा स्त्री से देकर जहाँ उषा में स्त्रीत्व का आरोप कर दिया है, वहीं पति के प्रति जाया के मनोभावों को भी सूक्ष्मता से इस प्रकार दिखलाया है–

जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः ऋ॰ 1/124/7

शिवसंकल्प सूक्त में जहाँ एक ओर विभिन्न उपमाओं का सौन्दर्य चित्रित है, वहीं दूसरी ओर शब्दसाम्य में नादसौन्दर्य भी विद्यमान है। यथा–

सुसारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीषुभिर्वाजिन इव (यजु॰ 2/16)

(2) रूपक–ऋग्वेद में रूपक की तो भरमार है। यथा–दिवोरुक्म उरुचक्षा उदेति (ऋ॰ 7/63/4) सूर्य आकाश का स्वर्णिम मणि है।

(3) अतिशयोक्ति–इस अलंकार का एक उदाहरण देखिए–

मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मः ऋ॰ 5/97/3

(4) व्यतिरेक–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति ॥ ऋ॰ 1/164/20

मन्त्र के उत्तरार्ध में दोनों पक्षियों का स्वभाव भिन्न होने के कारण व्यतिरेक अलंकार है। इसके माध्यम से मन्त्र में जीवात्मा तथा परमात्मा का स्वरूप भी बतला दिया गया है।

(5) अनुप्रास–प्रतार्यग्ने प्रतरं न आयुः (ऋ॰ 4/12/6) नृसद्वरसदृतसद् वसुरन्तरिक्षसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम् (ऋ॰ 4/40/5)। हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् होता वेदिषद् में अक्षरों एवं वर्णों की पुनरावृत्ति ही अनुप्रास

अलंकार का मूलाधार है। इस प्रकार विभिन्न अलंकारों के माध्यम से कवि ने अपनी बात कही है।

रस विधान–वैदिक मन्त्र शुष्क नहीं हैं, अपितु रसाप्लुत हैं। वीर एवंशृंगार रस तो अति मनोरम रूप में पुनः पुनः प्रयुक्त हैं। इन्द्र के वर्णनों में प्रायः वीर रस ही रहता है। उषा आदि के वर्णन में शृंगार। इन्द्र अपनी वीरता का वर्णन करता हुआ कहता है कि मैंने भरपेट सोमपान कर लिया है। मैं चाहूँ तो पृथिवी को इधर से उधर उठा कर रख दूँ।

पृथिवीं निदधानीहवेह वा कुवित् सोमेस्यापामिति। इसी प्रकार–

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनःक्षोभणश्चर्षणीनाम् (ऋ॰ 10/103/1)।।

यह मन्त्र वीर रस के साथ-साथ उपमा, अनुप्रासादिक अलंकारों का भी उत्तम उदाहरण है।

शृंगार–सोम-सूर्या, यमी-यमी, पुरूरवा उर्वशी आदि के वर्णनों में शृंगार रस का परिपाक दृष्टि गोचर होता है। उर्वशी के विरह में व्याकुल पुरूरवा का विलाप विप्रलम्भशृंगार का उत्कृष्ट उदाहरण है। यथा 'इषुर्न श्रय इषुधैरगसा गोपाशतसा न रहिः।' उषः सूक्त में सम्भोगशृंगार का वर्णन इस रूप में किया गया है–

कन्येव तन्वा३ शासदानाँ एषि देवि देवमियक्षमाम्।

संस्यमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुते विभाति। ऋ॰ 1/23/10

हास्य–वर्षाकाल में टर्राते हुए मेढ़कों की तुलना वेदपाठी ब्राह्मणों से हास्य रस के माध्यम से इस प्रकार की गयी है–

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः ।ऋ॰ 7/102/5

अक्षसूक्त 10/34 में जुआरी का वर्णन पाठक के हृदय में करुण रस का संचार कर देता है, जो इस प्रकार है–

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं तताप अन्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।

पूर्वाह्णे अश्वान् युजुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्त वृषलः पपाद।। ऋ॰ 10/34/11

भाषा–काव्य में भाषा का बहुत महत्त्व है। कुशल कवि ही प्रकरण के अनुसार कठोर तथा ललित भाषा का प्रयोग करके काव्य को हृदयग्राही बना सकता है। वेद में ऐसा ही किया गया है। यथा–उषा विषयक मन्त्रों में सौन्दर्य

भावना, इन्द्र सम्बन्धी मन्त्रों में तेजस्विता तथा वरुण विषयक मन्त्रों में वरुण से प्रार्थना करते हुए स्तोता कैसी नम्रतापूर्वक भाषा बोलता है–

किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत् स्तोतारं जिघांससि सखायम्। ऋ॰ 7/86/4

हे वरुण! मुझे बतलाओं तो सही कि मेरा क्या अपराध है।

दूसरी ओर एक वैदिक नारी ओजस्विनी वाणी में अपना परिचय इस प्रकार देती है–

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।

उतोऽहमस्मि संज्ञया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः। ऋ॰ 10/159/3

इन्द्र के सहचर मरुतों के वर्णन में (ऋ॰ 5/57/2 में) प्रयुक्त की गयी ओजस्विनी वाणी इस प्रकार है–

वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान इषुमन्तो निषंगिणः।

श्वश्वाः स्थ सुरक्षाः पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम्।।

इस प्रकार ऋग्वेद में सर्वत्र भावानुसारिणी भाषा प्रयुक्त है।

प्रकृतिचित्रण–ऋग्वेद में अन्तः एवं बाह्य दोनों प्रकार की प्रकृतियों का चित्रण उत्कृष्ट रूप में हुआ है। बाह्य प्रकृति के लिए उषा सूक्त, अरण्यानी सूक्त आदि द्रष्टव्य है। पर्वतों एवं नदियों के वर्णन के साथ उनकी उपयोगिता भी इस प्रकार बतायी गयी है–

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत। ऋ॰ 8/6/28

अन्तःप्रकृति के वर्णन का एक उदाहरण देखिए–

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः (ऋ॰ 10/71/4)

स्त्री से वाणी की उपमा देते हुए अत्यन्त शालीन शब्दों में पति के सामने जाया के मनोभावों की अभिव्यक्ति यहाँ कर दी गयी है। वेद में उषासूक्त के वर्णन के इस प्रकार के विषय में बलदेव उपाध्याय लिखते हैं इस प्रकार उषा केवल बाह्य सौन्दर्य की प्रतिमा न होकर कवि के लिए आन्तरिक सुषमा का भी प्रतीक बन जाती है।[1]

इस प्रकार ऋग्वेद अपने से परवर्ती सभी प्रकार की साहित्यिक विधाओं का स्रोत है। गद्य, पद्य, गीतिकाव्य, नाटक, आख्यानविद्या आदि सभी का मूल वेद

1. वैदिकसाहित्य और संस्कृति, पृ॰ 342

में है। इस विषय में विन्टरनित्स लिखते हैं 'गीतिकाव्य के उत्कृष्ट उदाहरण, जिनमें कि प्राकृतिकसौन्दर्य तथा प्रवाहपूर्ण भाषा निहित है, सूर्य, पर्जन्य, उषा तथा मरुत् सम्बन्धी सूक्त हैं।

ऋग्वेद में दार्शनिक विचारधारा के बीज

दर्शन शब्द का अर्थ–दर्शन का अर्थ है–'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाए। संसार में विद्यमान सभी स्थूल–सूक्ष्म पदार्थों को देखा जाए। संस्कृत के शब्दकोषों में दर्शन शब्द का अर्थ देखना तो है ही, इसके साथ-साथ 'जानना या समझना' भी है।[1] हलायुधकोष के अनुसार जिसके द्वारा यथार्थतत्त्व का दर्शन किया जाए उसे दर्शन कहते हैं–'दृश्यते यथार्थतत्त्वमनेनेति दर्शनम्।'

जड़ पदार्थों में गति एवं प्रेरणा उत्पन्न करने वाली चेतना सत्ता का दर्शन भी आन्तरिक दिव्य चक्षुओं द्वारा ही किया जा सकता है। दर्शन के द्वारा ही सूक्ष्म, स्थूल, भौतिक, आध्यात्मिक अथवा जड़-चेतना जगत् के सत्यभूत तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। भारतीय दर्शन का चरम लक्ष्य तत्त्वज्ञान है, जिसके द्वारा मानव दुःख एवं बन्धनों से मुक्त होकर परम आनन्द की प्राप्ति करता है।

इस परिभाषा के अनुसार तो सृष्टि उत्पत्ति, जन्म-मरण, जीव, ईश्वर, कर्म तथा पुनर्जनम आदि विषय दर्शन के अन्तर्गत आ जाते हैं।

दर्शन-शास्त्र का उदय–दर्शन-शास्त्र का मूल सन्देह और जिज्ञासा में समाहित है। जिन दिव्य शक्तियों का स्वतन वैदिक ऋषियों द्वारा किया जाता था, उनके विषय में संशय ऋग्वेद के सूक्तों में दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद का प्रमुख देव इन्द्र है और उसके विषय में भी वहाँ सन्देह किया गया है–"इन्द्र कहीं नहीं है, किसने उसे देखा है, हम किसकी स्तुति करें?"[2] एक मन्त्र में आदिसत्ता के विषय में जिज्ञासा व्यक्त की गई है–"प्रथम उत्पन्न होते हुए को किसने देखा?"[3] सृष्टि के विषय में अनेक स्थानों पर प्रश्न किया गया है–"कौन निश्चय से जानता है, कौन इसे बतायेगा यह सृष्टि कहाँ से आ गई और किससे बनी?"[4] ऐसी भावनाओं में ही दर्शन-शास्त्र का उदय दृष्टिगोचर होता है।

---

1. 'दर्शन' शब्द पर वी॰एस॰ आप्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।
2. नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभिष्टवाम। ऋक्॰ 8/100/3
3. को ददर्श प्रथमं जायमानम्। ऋक्॰ 1/104/4
4. को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। ऋक्॰ 10/129/6

ऋग्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति का विचार

'नासदीय सूक्त' में सृष्टि के पहले की अवस्था में सत्–असत्, अन्तरिक्ष, मृत्यु एवं अमृत का निषेध करके अन्धकार से ही अन्धकार को आवृत बताकर आदि तत्त्व के रूप में सर्वत्र चिह्नरहित सलिल का अस्तित्व स्वीकार किया गया है।[1] विश्व के एकमात्र विधाता विश्वकर्मा को सम्बोधित सूक्त में कहा है–"सृष्टि से पूर्व उसे ही जलों ने गर्भ के रूप में धारण किया।[2]" यहाँ मनु की उस धारणा का मूल दिखाई देता है जिसके अनुमान भगवान् स्वयम्भू ने पहले जलों की सृष्टि की और उसमें बीज को छोड़ा–"अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।"[3]

ऋग्वेद में सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। एक मन्त्र में असत् से सत् की उत्पत्ति का वर्णन है।[4] 'पुरुषसूक्त' में पुरुष की हवि द्वारा सृष्टि रचना का वर्णन है।[5] ऋक् 10/190 में ब्रह्मा के द्वारा तपे गए महान् तप से ऋत और सत्य, उसके बाद रात्रि, समुद्र संवत्सर, अहोरात्र, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, द्यु एवं अन्तरिक्ष की उत्पत्ति बतायी गयी है।[6]

बिलासपुर, छत्तीसगढ़ के अभियान्त्रिक महाविद्यालय के निवृत्त प्राचार्य डॉ॰ विष्णु कान्त वर्मा ने 'वैदिक सृष्टि–उत्पत्तिरहस्य' नामक अपनी पुस्तक में इस विषय में अच्छा वैज्ञानिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। इसके प्रथम भाग में वैदिक रसायन तथा नाभिकीय विज्ञान के अन्तर्गत ऋग्वैदिक तथा वैज्ञानिक पदार्थ की अवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए पुरूरवा, उर्वशी, वशिष्ठ, अगस्तय आदि शब्दों में निहित रहस्यों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। द्वितीय भाग में वृत्र, इन्द्र, अग्नि, वज्र, त्वष्टा, शम्बर, हिरण्यगर्भ, वैश्वानर, अंगिरस, मरुद्गण तथा सप्तसिन्धु आदि वैज्ञानिक प्रतीकों के आधार पर सृष्टि

1. (क) नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। ऋक्॰ 10/129/1
   (ख) न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि...। ऋक्॰10/129/2
   (ग) तम आसीत् तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। ऋक्॰ 10/129/2
2. तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपः। ऋक्॰ 10/82/6
3. मनु॰स्मृति 1/7
4. देवानां पूर्व्ये युगे असतः सदजायत। ऋक्॰ 10/72/2
5. ऋक्॰ 10/90 सम्पूर्ण सूक्त
6. ऋक्॰ 10/190 सम्पूर्ण सूक्त

के आदिकालीन महाविस्फोट (Big Bang theory) बृहदग्नि काण्ड, आपः तत्त्व का विभाजन नक्षत्र तथा ग्रहों आदि की उत्पत्ति, आकाशीय पिण्डों का गुरुत्वाकर्षण काल, स्थान आदि का विश्लेषण किया है। इनके अनुसार अदिति तीन मौलिक तत्त्वों-मित्र वरुण तथा अर्यमा के संघात का प्रतीक है। वृत्र केवल वर्षा का पार्थिव बादल नहीं है, अपितु आदि सृष्टिकाल की ऊर्जा का बादल है।[1]

चेतन-तत्त्व (जीवात्मा)–मानव-शरीर में व्यष्टिचेतन या जीवात्मा तत्त्व को ऋग्वेद ने माना है, जिसका विनाश नहीं होता तथा मृत्यु के बाद भी वह विद्यमान रहता है। इसका ऋग्वैदिक मन्त्रों में आत्मा एवं जीव शब्दों द्वारा निर्देश दिया गया है–ऋग्वेद में लगभग 30 बार जीव पद अनेक विभक्तियों के रूप में तथा 10 बार समस्त रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार आत्मन् शब्द भी लगभग 22 बार स्वतन्त्र रूप से भिन्न विभक्तियों में तथा चार बार संयुक्त रूप में प्रयुक्त हुआ है।

उदीर्ष्व जीवो असुर्न आगात्। ऋक्॰ 1/113/16

जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिः। ऋक्॰ 1/164/30

परलोक–ऋग्वेद में शरीरक्षय के बाद मानव-आत्मा के उस लोक में जाने का वर्णन है जहाँ पहले पितर लोग गये हुए हैं और यम के साथ आनन्द मना रहे हैं।[2] इसे पुण्यात्माओं का लोक कहा गया है। ऐसे वर्णनों में परलोक की मान्यता विद्यमान है।

कर्मसिद्धान्त–पुण्यात्माओं के लिए स्वर्ग और आनन्दोपभोग तथा दुरात्माओं को अन्धतमस् में धकेलने की धारणा के साथ कर्म का सिद्धान्त भी है। ऋग्वेद ने कर्म के महत्त्व को स्वीकार किया है।[3] मनुष्य अपने यज्ञ, दान आदि कर्मों के फलों को सर्वोच्च स्वर्ग में जाकर भोगता है, ऐसा वर्णन भी प्राप्त होता है।[4]

---

1. देखें, ओम प्रकाश पाण्डेय, वैदिकसाहित्य और संस्कृति का स्वरूप तथा विकास, नाग पब्लिशर्स, 2005
2. (क) प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा न पूर्वे पितरः परेयुः। ऋक्॰ 10/14/7
   (ख) अथा पितृन् सविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति। ऋक्॰ 10/14/10
3. ऋक् 3/36/1, 9/88/4. 10/55/8
4. संगच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्। ऋक्॰ 10/14/8

पुनर्जन्म–ऋग्वेद में पुनर्जन्म का स्पष्टतः वर्णन नहीं किया गया है, परन्तु अस्पष्ट रूप में पुनर्जन्म-सिद्धान्त का बीजारम्भ देखा जा सकता है। इस मन्त्र में ऋषि वामदेव ने "मैं मनु हुआ, मैं सूर्य हुआ" इत्यादि वर्णन में अपने अनेक पूर्वजन्मों का संकेत किया है।[1]

सुबन्धु की आत्मा को यम के यहाँ से लौटाने का वर्णन एक दूसरे मन्त्र में किया है।[2] मन्त्रों में चक्षु, प्राण एवं शरीर के पुनः प्राप्त करने की प्रार्थनाएँ भी की गई हैं[3] एक स्थान पर आत्मा के जल एवं ओषधियों में भी चले जाने का संकेत है।[4] यह कथन अनुचित नहीं है कि ऋग्वैदिक मन्त्रों के ये विचार ही उपनिषद् और भारतीय दर्शनों में विकसित पुनर्जन्म सिद्धान्त को लाने में सहायक हुए होंगे।

इन्द्र को ऋग्वेद में प्रमुख और शक्तिशाली देवता के रूप में माना है। एक मन्त्र में कहा है कि "इन्द्र अपनी शक्तियों द्वारा बहुत-से रूपों को धारण कर लेता है–इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।"[5] इसमें कठोपनिषद् की वह भावना दृष्टिगोचर होती है, जिसके द्वारा एक ही विश्वात्मा सब रूपों में तथा उनके बाहर भी है–"एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।"[6]

ऋग्वेद में ब्रह्मशब्द का प्रयोग औपनिषदिक अर्थ में नहीं हुआ है, परन्तु उपनिषद्[7] में जिस परमतत्त्व का निर्देश 'पुरुष' शब्द द्वारा किया है, उसकी अभिव्यक्ति पुरुषसूक्त के पुरुष में स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है। इससे ऐसा प्रतीक होता है कि ऋग्वेद में "अभयं ज्योति", "परमं पदम्" और "परमे व्योमन्" इत्यादि पदों से उसी व्यापक परम-शक्ति का निर्देश किया गया है।[8] भारतीय दर्शन का चरम लक्ष्य परमपद अथवा मोक्ष की प्राप्ति है।

ऋग्वेद केवल दर्शन-ग्रन्थ नहीं है, अपितु सभी विद्याओं का उद्गम है। डॉ० उमेश मिश्र लिखते हैं–"यह तो साक्षात् प्राप्त ज्ञान के स्वरूपों का संकलन है,

1. अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः। ऋक्० 4/26/1
2. यमादहं वैवस्वतात् सुबन्धोर्मन आभरम्। ऋक० 10/60/10
3. असुनीते पुनस्मासु चक्षुःपुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्। ऋक्० 10/59/6
4. अपो वा गच्छ यदि ते तत्र हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः। ऋक्० 10/16/3
5. ऋक्० 6/47/18
6. कठोप० 5/9/10
7. कठोप० 5/9/10
8. ऋक्० 2/27/11, 14: 1/22/20-21 : 1/143/2

भण्डार है। इसी से तत्त्वों को निकालकर बाद में विद्वानों ने अपने-अपने विचार के लिए एवं दर्शनों के लिए ज्ञान का संचय किया।"[1] महर्षि दयानन्द ने तो वेदों को सभी सत्य विद्याओं की पुस्तक कहा है।

ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्त

ऋग्वेद में समाज, शिक्षा, विज्ञान आदि विषयों के साथ-साथ अनेक दार्शनिक सूक्त भी विद्यमान हैं। इन सूक्तों में विभिन्न विषयों का प्रतिपादन प्रश्नोत्तर तथा अन्य रूपों में किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में सूक्ष्मचिन्तन भी इन सूक्तों में विद्यमान है। यथा ऋ॰ 10/31/7 तथा 10/81/4 में पूछा गया है कि वह कौन सी लकड़ी थी तथा कौन सा वृक्ष था जिससे आकाश तथा पृथिवी का निर्माण हुआ। जब निर्माण करने वाला आकाश तथा पृथिवी का निर्माण कर रहा था, तब वह कहाँ खड़ा था। इसी प्रकार प्रथम मण्डल के 'अस्यवामीय' सूक्त में सृष्टिविषयक अनेक रहस्य समाहित हैं। इस सूक्त के 4-7 मन्त्रों में पहेली के रूप में आध्यात्मिक प्रश्न पूछे गये हैं।

ऋ॰ 1/164/20 में विश्व की कल्पना एक वृक्ष के रूप में की गयी, जिस पर परमात्मा तथा जीवात्मा दो पक्षियों की भाँति बैठे हुए हैं। इनमें जीवात्मा कर्मफल भोक्ता है, जबकि परमात्मा केवल साक्षीभाव से देख रहा है। इसी सूक्त के 33वें मन्त्र में प्रकृति तथा पुरुष के योग से ब्रह्माण्ड की रचना बतलायी गयी है। 34वें मन्त्र में 35वें मन्त्र में इसका समाधान किया गया है।

ऋ॰ 10/72 देवसूक्त भी सृष्टि विषयक रहस्यों से परिपूर्ण हैं। यथा अदिति सूर्य को उत्पन्न करके अपने सात पुत्रों के साथ चली गयी तथा अपने आठवें पुत्र मार्त्तण्ड को जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश के लिए छोड़ गयी। ऋ॰ 10/81-82 में विश्वनिर्माता को विश्वकर्मन् के नाम से पुकारा गया है। यह विश्वश्चक्षुः, विश्वतोमुख, विश्वतोबाहु तथा विश्वतस्पात् के रूप में यहाँ पर वर्णित है। यह विश्वकर्मन् सर्वव्यापक, सर्वधारक, सर्वद्रष्टा तथा सभी का निर्माता है। इसी विश्वकर्मन् को सृष्टि का मूलतत्त्व स्वीकार किया गया है।

ऋ॰ 10/90 पुरुष सूक्त में इसी तत्त्व को पुरुष नाम से कहा गया है। पुरुष की हवि द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन इस सूक्त में है। यह पुरुष भी सहस्राक्ष, सहस्रपात् तथा सहस्रशीर्षा है। यह समस्त जगत् उसकी महिमा मात्र

---

1. डॉ॰ उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन, पृ॰ 17

है। वह स्वयं इससे दशांगुल अधिक है। 'दशांगुलम्' सायण के अनुसार उपलक्षण है तथा इस बात का द्योतक है कि वह पुरुष ब्रह्माण्ड के अन्दर ही नहीं, अपितु उसके बाहर भी व्याप्त है।[1] किन्तु ग्रिफिथ ने 'दशांगुलम्' को मनुष्य के हृदय का वह प्रदेश कहा है जहाँ आत्मा का निवास है।[2] इसी सूक्त के छठे मन्त्र से चौदहवें मन्त्र तक आध्यात्मिक तथा आधिदैविक यज्ञ के माध्यम से सर्वहुत् पुरुष से विभिन्न तत्वों की उत्पत्ति कही गयी है। इससे ही विभिन्न प्रकार के प्राणियों, चारों वर्णों, अग्नि आदि महाभूत आदि के रूप में सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति बतलाकर 'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' कह दिया गया है।

ऋ० 10/121 हिरण्यगर्भ सूक्त में हिरण्यगर्भ को ही समस्त विश्व का धारक माना गया है। इसे ही प्रजापति कहते हुए इसी सुखस्वरूप देव के लिए (कस्मै) हवि देने के लिए कहा गया है। वेदों में बहुदेववाद के समर्थक पाश्चात्य विद्वानों ने इस सूक्त में पठित 'कस्मै' पद को प्रश्नवाची मानते हुए कहा है कि श्रद्धा से अभिभूत ऋषि संशयात्मक रूप में पूछ रहा है कि मैं किस देवता को हवि दूं। यह व्याख्या इसलिए उचित नहीं है कि भारतीय वाङ्मय में 'कः' शब्द को स्पष्ट रूप में अनिर्ज्ञात स्वरूप वाले प्रजापति का वाचक माना है,[3] अथवा सृष्टि की कामना करने वाला प्रजापति 'क' है, अथवा 'कम्' सुख का नाम है, उस सुखस्वरूप प्रजापति के लिए यहाँ हवि देने को कहा गया है। यह हिरण्यगर्भ प्रजापति ही समस्त विश्व का एक मात्र स्वामी तथा नियन्ता है। यह आत्मदा है, बलदा है तथा अमृत एवं मृत्यु उसकी छाया मात्र हैं। इस प्रजापति से अतिरिक्त कोई भी समस्त विश्व को व्याप्त नहीं कर रहा है।

ऋ० 10/129 नासदीय सूक्त में भी सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए ऐसे एक तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है जो सृष्टि से पूर्व भी बिना श्वास लिए (अवातम्) ही विद्यमान था। वह तब भी विद्यमान था, जब न दिन था, न रात्रि थी, न ही सूर्य था। यहाँ तक कि सृष्टि का अभिव्यंजक कोई भी चिह्न उस समय विद्यमान नहीं था।

---

1. दशांगुलमिव्युवलक्षणम्। ब्रह्माण्डाद्बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थितः। ऋ० 10/90/1 सा०भा०
2. इसी मन्त्र पर ग्रीफिथ का अनुवाद एवं टिप्पणी
3. प्रजापतिर्वै कः। शत० 7/4/9, कं सुखं तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते। सायणभाष्य

इस सूक्त में सृष्टि की आरम्भिक अवस्था का वर्णन अति रहस्यमय रूप में करते हुए कहा गया है कि तब न सत् था न ही असत् था। इन्हीं शब्दों के आधार पर इस सूक्त का नाम ही नासदीय सूक्त पड़ गया। 'तम आसीत्तमसा मूळ्हमग्रे' के रूप में कहा गया है कि तब अन्धकार से आवृत अन्धकार ही था, अन्य किसी का कोई चिह्न भी नहीं था। उस अनादि तत्त्व के मन में सर्वप्रथम काम = कामना = सिसृक्षा उत्पन्न हुई, उससे ही यह सृष्टि बनी। इसके वास्तविक रहस्य को पूर्णतः वही जान सकता है, क्योंकि वही इसका अध्यक्ष है।

सृष्टिसूक्त (10/190) में तपस् से सृष्टि का प्रारम्भ माना गया है। अभीद्ध तप से ऋत तथा सत्य उत्पन्न हुए। इसके बाद रात्रि, समुद्र, संवत्सर, दिन-रात, पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक उत्पन्न हुए। यहाँ पर यह भी कहा गया है कि इन सम्पूर्ण तत्त्वों की रचना परमेश्वर ने पहले जैसी ही की (यथा पूर्वमकल्पयत्)। यह सूक्त अघमर्षण सूक्त के नाम से भी प्रसिद्ध है।

वागम्भृणी सूक्त (10/125) में शब्द ब्रह्म को व्यक्त करने वाली वाक् की शक्तियों का वर्णन स्वयं वाणी के द्वारा ही कराया गया है। यह वाक् अति शक्तिशालिनी तथा सर्वविध व्यवहारकर्त्री है। इसके द्वारा ही प्राणीमात्र व्यवहार करते हैं। यही वसुओं की संगमनी है। यह शक्तिरुपा वाक् कारण ब्रह्म से उत्पन्न होकर आकाश का निर्माण करती है। आकाशादि पंच महाभूतों की सृष्टि करने के पश्चात् वाक्शक्ति ने सर्वलोक तथा सभी पदार्थों के अन्दर प्रवेश किया। यही वाक्शक्ति 'परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव' के रूप में है।

इस प्रकार ऋग्वेद में उच्च कोटि के दार्शनिक सूक्त उपलब्ध हैं जिनमें सृष्टि विषयक विभिन्न रहस्यों का समाधान किया गया है।

नासदीय सूक्त पर टिप्पणी करते हुए डॉ॰ राधाकृष्णन् लिखते हैं "पहली पंक्ति हमारे सिद्धान्तों की अपूर्णता को प्रकाशित करती है। परमसत्ता को जो समस्त विश्व की पृष्ठभूमि है, हम सत् तथा असत् किसी भी रूप में ठीक-ठीक नहीं जान सकते।[1] डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं–ब्रह्म सत्

1. "The first line brings out the inadequacy of our categories. The absolute reality which is back of the whole world cannot characterised by us as either existent or nonexistent" Dr. Radha Krishnan : "Indian Philosophy" Vol. I P. 101.

तत्त्व है, प्रधान या प्रकृति असत्।[1] इसके अतिरिक्त असत् को अभौतिक तथा सत् को भौतिक तत्त्व भी कहा गया है।[2] आचार्य उदयवीर शास्त्री ने सत् एवं असत् का अर्थ व्यक्त एवं अव्यक्त किया है।"[3]

ऋत–यह सिद्धान्त ऋग्वेद की मौलिक देन है। वेद का अध्ययन करने वाले विद्वानों एवं भाष्यकारों ने 'ऋत' शब्द के अनेक अर्थ किऐ हैं।

(1) 'ऋत्' शब्द का विवेचन–'ऋत' शब्द का अर्थ आचार्य यास्क ने उदक, सत्य और यज्ञ किया है।[4] सायण ने भी ऋग्वेद के मन्त्रों के भाष्य में यास्क के समान ही अर्थ किए हैं[5] सायण ने 'ऋत' का अर्थ 'कर्मफल', 'स्तोत्र' एवं 'गति' भी किया है।[6]

पाश्चात्य भाष्यकार ग्रिफिथ ने ऋत शब्द का अर्थ विश्व की व्यवस्था एवं उसका विधान किया है। इसी कारण ऋग्वैदिक सूक्तों के अनुवाद में 'ऋत' शब्द का अर्थ शाश्वतविधान (Internal Law) अथवा पवित्रनियम (Holy Order) किया है।[7]

'ऋत' का रॉथ ने प्रकृति का नियम माना है। यज्ञ सम्बन्धी नियम तथा मानव जीवन के व्रत आदि को इन्होंने 'ऋत' का अभिधायक बताया है।[8]

'मोनियर विलियम' ने अपनी डिक्शनरी में 'ऋत' को अनेक अर्थों में युक्त माना है। ये 'ऋत' का अर्थ यज्ञ-सम्बन्धी नियम, दैवीनियम तथा दैवीसत्य मानते हैं।[9]

अरविन्द के अनुसार ऋत सदाचार का मापदण्ड है। अरविन्द लिखते हैं–"सब वस्तुओं का सारभूत पदार्थ 'ऋत' है, भौतिक से आध्यात्मिक रूप में परिवर्तन का कारण 'ऋत' ही है 'ऋत' सूर्य, चन्द्र आदि का नियम दिखाई देता है, किन्तु वस्तुतः यह आचरण का नियम है।"[10]

---

1. डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल, वेदरश्मि, नासदीय सूक्त, पृ॰ 67
2. पं॰ हरिशंकर जोशी, वैदिक विश्वदर्शन, पृ॰ 222
3. पं॰ उदयवीर शास्त्री, सांख्यसिद्धान्त, पृ. 352
4. (क) ऋतमित्युदकनाम्। निरुक्त 2/25 (ख) ऋतं सत्यं वा यज्ञं वा। वही 4/19
5. ऋक्॰ 1/2/8, 10/5/2, 5/3, 67/2, 85/1, 92/4 पर सायणभाष्य।
6. ऋक॰ 1/1/8, 65/3, 65/5, 185/10, 10/5/7 पर सायणभाष्य।
7. ऋग्वैदिक सूक्तों में ऋत शब्द का ग्रिफिथ का अनुवाद।
8. एनाल्स ऑफ भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वाल्यूम 35, पृ॰ 27 (1959)
9. 'ऋत' शब्द पर मोनियम विलियम डिक्शनरी, पृ॰ 223
10. अरविन्द, सीक्रेट ऑफ वेदाज़ (वेदरहस्य) पृ॰ 102 तथा 107

डॉ॰ मंगलदेव 'शास्त्री' के अनुसार 'ऋत' एवं 'सत्य' के सिद्धान्त का अभिप्राय है "सारे विश्वप्रपंच में व्याप्त नैतिक आधार।"[1]

(2) यजुर्वेद

यजुस् का अर्थ–यजुर्वेद के यजुस् शब्द की विभिन्न दृष्टियों से कई व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। मुख्य रूप से यजुस् के निम्न अर्थ हैं–

(1) यजुर्यजतेः–यजुस् शब्द यज्ञार्थक यज् धातु सम्बन्धित हैं।

(2) इज्यतेऽनेनेति यजुः–जिस मन्त्रों से यज्ञ-यागादि किए जाते हैं, वे यजुस् कहलाते हैं।

(3) अनियताक्षरावसानो यजुः–जिन मन्त्रों में पद्यों के समान अक्षरसंख्या निर्धारित नहीं है।

(4) शेषे यजुः शब्दः (पूर्वमीमांसा 2/1/37), पद्यबन्ध और गीति से रहित मन्त्रात्मक रचना को यजुस् कहते हैं।

यजुर्वेद के विशिष्ट अध्याय

नवम अध्याय–इस अध्याय में राजा के राज्याभिषेक, उसके अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का विस्तृत वर्णन है। राष्ट्र की श्रीवृद्धि, जनकल्याण तथा राष्ट्र का सर्वांगीण विकास करना राजा का कर्त्तव्य है। महते जानराज्याय (यजु॰ 9/40) के द्वारा यहाँ पर विशाल प्रजातन्त्रीय राज्य की बात कही गयी है। राष्ट्रवासियों को जनभृत = प्रजा के हित चिन्तक तथा विश्वभृत = विश्वकल्याणकारी[2] होना चाहिए।

एकादश अध्याय–यह अध्याय वैज्ञानिक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण है। इसमें जलमन्थन के द्वारा विद्युत् की उत्पत्ति तथा उत्खनन (drilling) का उल्लेख है यजुर्वेद में जिसे पुरीष अग्नि कहा गया है,[3] वह प्राकृतिक गैस से ही है, जो भूमि से निकलती है।

---

1. डॉ.॰ मंगलदेव शास्त्री, भारतीयसंस्कृति का विकास। पृ॰ 393
2. जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त विश्वभृत स्थ॰। यजु॰ 10/4
3. पृथिव्या सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् आभर।। यजु॰ 11/28

षोडश अध्याय—यह रुद्र अध्याय के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें रुद्र के विराट् रूप का वर्णन किया गया है। रुद्र वृक्ष-वनस्पति आदि का स्वामी है। इसलिए रुद्र का वर्णन वृक्ष-वनस्पति रूप में किया गया है। इस रूप में यह रुद्र कार्बन डाई ऑक्साइड नामक वायु का भक्षण करके आक्सीजन का उत्सर्जन करता है। इसे ही आलङ्कारिक भाषा में रुद्र का विषपान तथा अमृतप्रदान करना कहते हैं।

इकत्तीसवां अध्याय—यह विष्णुसूक्त तथा पुरुषसूक्त नाम से भी प्रसिद्ध है। इसमें तथा बत्तीसवें अध्याय में विराट् पुरुष का वर्णन है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति हुई। इसी विराट् पुरुष में समस्त विश्व समाहित है। बत्तीसवें अध्याय में पुरुष का दार्शनिक वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण विश्व को उससे ही उत्पन्न बतलाया गया है।

चौंतीसवां अध्याय—इसके प्रारम्भ में छह मन्त्र शिवसंकल्प सूक्त के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसमें मन के स्वरूप एवं शक्तियों का गम्भीर विवेचन है।

चालीसवां अध्याय—यह अध्याय ईशोपनिषद् नाम से भी प्रसिद्ध है। इसमें निष्काम भाव से 100 वर्ष तथा इससे भी अधिक जीने की शिक्षा दी गयी है।

शुक्ल तथा कृष्णयजुर्वेद के नामकरण के कारण

यजुर्वेद के दो भाग हैं—शुक्ल तथा कृष्ण। कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ गद्यात्मक विनियोगों का भी मिश्रण है, जबकि शुक्लयजुर्वेद में गद्यात्मक विनियोगों का अभाव है। महीधरभाष्य के अनुसार बुद्धि की मलिनता से यजुषों का रंग काला पड़ जाने के कारण यजुर्वेद की एक शाखा का नाम कृष्ण पड़ गया, दूसरी ओर सूर्य की तपस्या के वरदान स्वरूप याज्ञवल्क्य ने शुक्ल यजुषों को प्राप्त किया। इस कारण इस शाखा का नाम शुक्ल हुआ।

1. विद्वानों का विचार है कि जिस प्रकार अन्धकार में रखे हुए विभिन्न पदार्थों के पार्थक्य का ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार तैत्तिरीय आदि संहिताओं में मन्त्र तथा ब्राह्मणभाग के पार्थक्य का ज्ञान सुगमता से न होने से ये संहिताएँ कृष्ण कहलाती है तथा वाजसनेय शाखाओं में मन्त्र तथा ब्राह्मण पृथक्-पृथक् होने से इन्हें शुक्ल कहा जाता है।

2. आर्यसिद्धान्त सुधाकर के रचयिता यज्ञेश्वर भट्ट का कथन है कि यज्ञकर्म के अनुष्ठान कार्य में दुर्ज्ञेयता के कारण तैत्तिरीयसंहिता कृष्ण कहलाती है।[1]

1. यज्ञकर्मानुष्ठानमार्गस्य दुर्विज्ञेयत्वात् कृष्णत्वमिति।

3. तृतीय पक्ष है कि दर्शपौर्णमासेष्टि को प्रारम्भ करने के विषय में दो पक्ष हैं–

1. मैत्रायणी आदि संहिताओं के अनुसार अमावस्या से इष्टि प्रारम्भ की जाती है, जबकि शतपथ ब्राह्मण तथा मीमांसा आदि में पौर्णमासेष्टि का प्राथम्य कहा गया है। इसके पश्चात् दर्शेष्टि होती है। तैत्तिरीय आदि संहिताएँ दर्शेष्टि के प्राथम्य की प्रतिपादक हैं। अतः कृष्णपक्ष से सम्बन्धित होने के कारण ये संहिताएँ भी कृष्ण कहलाती हैं तथा शुक्लपक्ष से सम्बन्धित होने के कारण वाजसेनयी संहिताएँ शुक्ल कही जाती हैं।

वाजसनेयी शाखाध्यायी वेदाध्ययन का प्रारम्भ शुक्लपक्ष की चतुर्दशी युक्त पूर्णिमा में करते हैं। इसलिए शुक्लसंज्ञा का व्यवहार हुआ। तैत्तिरीय शाखाध्यायी कृष्णप्रतिपदा से मिली हुई पूर्णिमा में अध्ययन का आरम्भ करते हैं। अतः तैत्तिरीय संहिता की कृष्ण संज्ञा हुई।

यजुर्वेद की शाखाएँ

पतंजलि ने महाभाष्य में यजुर्वेद की एक सौ शाखाओं का उल्लेख किया है–"एकशतमध्वर्युशाखा"। सर्वानुक्रमणीवृत्ति[1] और कूर्मपुराण।[2] में भी 100 शाखाओं का उल्लेख मिलता है। चरणव्यूह[3] में यजुर्वेद की निम्न प्रकार से वर्गीकृत 86 शाखाओं का ही उल्लेख मिलता है। (क) चरक शाखा 12, (ख) मैत्रायणीय 7, (ग) वाजसनेय 17, (घ) तैत्तिरीय-6, (ङ) कठ 44 इससे ज्ञात होता है कि यजुर्वेद की शाखाएँ क्रमशः लुप्त होती जा रही थी और चरणव्यूह के समय के समय में केवल 86 शाखाएँ ही उपलब्ध थीं। कठशाखा के 44 ग्रन्थों के लेखकों के नाम भी लुप्त हो चुके थे। इनमें से केवल 6 शाखाएँ उपलब्ध हैं। जिनमें 2 शुक्ल यजुर्वेद की तथा 4 कृष्णयजुर्वेद की हैं।

शुक्लयजुर्वेद की शाखाएँ–'शुक्लस्य यजुषः पंचदश शाखास्ताःस्मृताः' कात्यायन मुनि के उक्त कथन से यजुर्वेद की पन्द्रह शाखाएँ हैं। पं॰ भगवदत्त ने भी पन्द्रह शाखाओं का उल्लेख किया है। जो इस प्रकार है–

1. यजुरेकशतमध्वकम् (षड्गुरुशिष्य, सर्वानुक्रमणीवृत्ति)।
2. शाखानां तु शतेनाथ यजुर्वेदमथाकरोत्। कूर्म॰ 49-51।
3. यजुर्वेद, सं॰ सातवलेकर 1927 भूमिका पृ॰ 6-7

(1) जाबाल शाखा–इसकी संहिता तथा ब्राह्मण अनुपलब्ध है। केवल जाबालोपनिषद् प्राप्त होती है।

(2) काण्व शाखा–

(3) माध्यन्दिन शाखा–इन दोनों शाखाओं की संहिता तथा ब्राह्मणग्रन्थ उपलब्ध हैं।

(4) वैजवाप शाखा–इस शाखा का गृह्यसूत्र उपलब्ध है।

(5) पराशर शाखा–इसका धर्मसूत्र उपलब्ध है।

(6) कात्यायन शाखा–इसके श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र उपलब्ध है।

अन्य नौ शाखाएँ जिनका कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं, निम्न हैं–

(7) बौधेयशाखा–इसके अन्य नाम बौधायन गौधायन आदि भी हैं।

(8) शापेयी (9) तापनीया (10) कापोला (11) पौण्ड्रवत्सा (12) आवटिका (13) परमावटिका (14) वैनतेथा (15) वैधेया

शुक्ल यजुर्वेद की संहिताएँ–इस वेद की दो संहिताएँ उपलब्ध हैं–काण्व तथा माध्यन्दिनी। काण्वसंहिता में 40 अध्याय 328 अनुवाक तथा 2086 मन्त्र हैं। माध्यन्दिन संहिता में 40 अध्याय तथा 1975 मन्त्र हैं। इस शाखा को अपर नाम वाजसनेय भी है जो वाजसनी के पुत्र याज्ञवल्क्य के नाम पर पड़ा है। ये ही इसके प्रथम आचार्य हैं। यही शाखा सम्प्रति प्रचलित है। मन्त्रों तथा क्रम की दृष्टि से काण्व तथा माध्यन्दिनी संहिता में पर्याप्त भिन्नता है। पं॰ सालवलेकर ने काण्व संहिता के साथ ही वाजसनेय संहिता के पाठभेद परिशिष्ट रूप में दिये हैं। काण्वशाखा का प्रचार महाराष्ट्र में है जबकि माध्यन्दिनी का उत्तर भारत में है। याज्ञवल्क्य के शिष्य माध्यान्दिन ने इस शाखा का प्रचलन किया था। उसी के नाम पर इस शाखा का नाम भी माध्यन्दिनी है।

वाजसेनय संहिताओं के दो भेद–याज्ञवल्क्यप्रोक्त वाजसनेय चरण की 15 शाखाएँ दो पक्षों में विभक्त हो गयी। एक पक्ष आदि आदित्यानों का था तो दूसरा पक्ष आङ्गिरसायनों का था। शतपथ 4/4/5/18-20 में इसका उल्लेख इस प्रकार प्राप्त होता है।

एतदादित्यानामयनम्। आदित्यानीमानि यंजूषीत्याह। एतदाङ्गिरसानामयनम्।

इसी प्रकार कात्यायनप्रोक्तप्रतिज्ञापरिशिष्ट में भी लिखा है–

द्वयान्येव यजूंषि आदित्यानामङ्गिरसाम्। प्रतिज्ञापरिशिष्ट 31/4

माध्यन्दिनी संहिता के विषय में वसिष्ठ ने लिखा है–

माध्यन्दिनी तु शाखा सर्वसाधारणी हि सा।

कृष्णयजुर्वेद की शाखाएँ

(1) चरकशाखा–उवट ने अपने शुक्लयजुर्वेदभाष्य में चरकसंहिता के मन्त्र तथा सायणाचार्य ने चरकब्राह्मण का उल्लेख किया है।

(2) कठशाखा–इसकी काठक संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, कठोपनिषद् एवं काठक गृह्यसूत्र उपलब्ध है।

(3) कपिष्ठलकठशाखा–इसकी उपलब्ध संहिता अपने स्वरूप में पूर्ण नहीं है। वाराणसी के सरस्वतीभवन में इस शाखा के ग्रह्य सूत्र की हस्तलिखित प्रति विद्यमान है।

(4) चारायणी शाखा–इस शाखा की संहिता एवं शिक्षा उपलब्ध है।

(5) श्वेताश्वत्तर शाखा–इसका श्वेताश्वरोपनिषद् उपलब्ध है।

(6) मैत्रायणी शाखा–इसकी मैत्रायणी संहिता, ब्राह्मण, गृह्यसूत्र तथा मैत्रायणीयोपनिषाद् उपलब्ध है।

(7) मानव शाखा–यह मैत्रायणी शाखा की उपशाखा है। इसके मानव श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, शुल्बसूत्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

(8) वाराह शाखा–इसके श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र के परिशिष्ट तथा गृह्यपद्धति उपलब्ध है।

(9) हारिद्रवीय शाखा–इसके ब्राह्मण, गृह्यसूत्र, खिल एवं उपखिल ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता है, ग्रन्थ नहीं मिलते।

(10) तैत्तिरीय शाखा–इसकी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् उपलब्ध हैं।

(11) खाण्डिकेय शाखा–इसके खाण्डिकेय ब्राह्मण का उल्लेख मात्र प्राप्त होता है।

(12) आपस्तम्ब शाखा–इसके श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र उपलब्ध है।

(13) बौधायन शाखा

(14) **हिरण्यकेशी शाखा**–इन दोनों शाखाओं के श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र एवं शुल्बसूत्र उपलब्ध है।

(15) **भारद्वाज शाखा**–इसके श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र उपलब्ध है।

(16) **वैखानस शाखा**–इसके श्रौतसूत्र एवं स्मार्तसूत्र सुप्रसिद्ध हैं।

(17) **वाधूल शाखा**–इस शाखा का स्वल्प सूत्रसाहित्य उपलब्ध है।

(18) **आग्निवेश्य शाखा**–इस शाखा के केवल कल्पसूत्र उपलब्ध है।

(19) **हारीत शाखा**–इस शाखा का उल्लेख बौधायन एवं आपस्तम्ब धर्मसूत्रों में प्राप्त होता है।

इस प्रकार इन शाखाओं का आंशिक या पूर्ण वाङ्मय उपलब्ध है, किन्तु निम्न शाखाओं का कोई भी ग्रन्थ प्राप्य नहीं है। (21) प्राच्य कठ शाखा (22) वारायणीय शाखा (23) वार्त्तवीय शाखा (24) औपमन्यव शाखा (25) पातंडनीय शाखा (26) दुन्दुभ शाखा (27) श्यामायन शाखा (28) औखेय शाखा (29) सत्याषाढ शाखा (30) आत्रेय शाखा (31) आलम्बी शाखा (32) पलंग शाखा (33) कमल शाखा (34) लंडी शाखा (35) क्लाप अथवा कलापी शाखा (36) तुंबरु शाखा (37) उलप शाखा (38) कौण्डिन्य शाखा (39) छागलेय शाखा।

कृष्णयजुर्वेद की सहिताएँ–इस समय कृष्ण यजुर्वेद की निम्न चार सँहिताएँ उपलब्ध हैं।

(1) **तैत्तिरीय सँहिता**–यह तैत्तिरीय शाखा की सँहिता है तथा कृष्ण यजुर्वेद की सबसे प्रमुख सँहिता है। इसमें मन्त्र तथा ब्राह्मण का पूर्ण सांकर्य है। इसमें 7 काण्ड, 44 प्रपाठक और 631 अनुवाक हैं। यह सभी अंगों से पूर्ण शाखा है। इसके ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौत-गृह्य-धर्म-शुल्ब सूत्र सभी प्राप्त हैं। शुक्लयजुर्वेद के समान ही इसके भी विविध यागानुष्ठान हैं। इस सँहिता का विशेष प्रचार महाराष्ट्र, आंध्र एवं दक्षिण भारत में है। इसमें मन्त्र और व्याख्याभाग मिश्रित है। शाखा के अनुयायी नर्मदा के दक्षिण में रहते थे। इसकी एक शाखा हिरण्यकेशिन् भी है।

(2) **मैत्रायणी सँहिता**–यह मैत्रायणी परम्परा की सँहिता है। इसका दूसरा नाम कालाप भी है। इसमें भी मन्त्र व व्याख्या भाग मिश्रित है। कृष्णयजुर्वेद की यह शाखा गद्य-पद्य उभयात्मक है। इसमें 4 काण्ड 54 प्रपाठक और कुल

2144 मन्त्र हैं। जिनमें 1701 मन्त्र ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों के मन्त्रों के समान ही हैं। ये मन्त्र मुख्यत: ऋग्वेद के प्रथम, षष्ठ ओर दशम मण्डल से हैं। इस शाखा के अनुयायी उस समय में नर्मदा के दक्षिण की ओर प्राय: सौ मील तक एवं नासिक से बड़ौदा तक बसे हुए थे। इनका अस्तित्व आज भी गुजरात एवं अहमदाबाद में प्राप्त होता है।

(3) काठक संहिता–इसको कठसंहिता भी कहते हैं। "ग्रामे ग्रामे कालापकं काठकं च प्रोच्यते" पतंजलि के महाभाष्य[1] की इस पंक्ति के द्वारा प्राचीन काल में इस शाखा के प्रचार का अनुमान किया जा सकता है। यह कठ शाखा की संहिता है। इसका स्वरूप भी मन्त्र ब्राह्मणात्मक है। इसमें 40 स्थानक और 843 अनुवाक हैं। इसमें मन्त्रों की संख्या 3091 तथा मन्त्रब्राह्मणों की सम्मिलित संख्या 18 हजार है। इसमें भी शुक्लयजुर्वेद के यागादि है। इस शाखा के अनुयायी यूनानी आक्रमण के समय पंजाब में रहते थे। उसके बाद वे कश्मीर में रहने लगे और वे अब कश्मीर के निवासी हैं। इसके प्रणेता आचार्य कठ थे जो कि आचार्य वैशम्पायन के अन्तेवासी थे। इस संहिता में अगस्त्य, वसिष्ठ आदि ऋषियों, आयु, मनु आदि राजाओं, मेनका, उर्वशी आदि अपसराओं तथा वातापि, नमुचि आदि असुरों का वर्णन प्राप्त होता है।

(4) कपिष्ठल-कठ संहिता–यह कपिष्ठल-शाखा की संहिता है। यह शाखा आंशिक रूप में जीर्ण-शीर्ण अवस्था में प्राप्त है। इसको डॉ० रघुवीर ने 1932 में लाहौर से प्रकाशित किया था। इसमें 6 अष्टकों में 48 अध्याय हैं। इसमें अध्याय 9 से 24, 32, 33 और 43 पूर्णत: खंडित हैं। इस शाखा पर भी ऋग्वेद का प्रभाव परिलक्षित होता है चरणव्यूह के अनुसार चरक शाखा के अन्तर्गत ही इस शाखा का उल्लेख मिलता है। कपिष्ठल एक ऋषि हैं जिनका स्मरण पाणिनि ने "कपिष्ठलो गोत्रे" 8/3/91 सूत्र में किया है। दुर्गाचार्य ने भी अपने को "अहं च कपिष्ठलो वासिष्ठ:" (नि० 4/4 दुर्गटीका) कहा है। विद्वानों की धारणा है कि यह संहिता कुछ पाठान्तरों के साथ काठक संहिता का ही नवीन संस्करण है। डॉ० रघुवीर ने इन दोनों संहिताओं के समानान्तर पाठों, लोपों तथा अधिक पाठों की सूची अपनी भूमिका में दी है। जायसवाल जी के अनुसार कठ लोग मानवीय साहित्य में अपने उपनिषदों तथा वेदों के ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थे। ये कृष्णयजुर्वेद के अनुयायी थे।

1. म० भा० 4/3/101

यजुर्वेद का धर्म एवं संस्कृति

यजुर्वेद या किसी भी वेद में वर्तमान काल में प्रचलित किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं है। वेद का धर्म वैदिकधर्म है तथा धर्म का अभिप्राय ऐसे तत्त्वों से है जिनसे कि विश्व शान्ति एवं सुखपूर्वक रह सके। धर्मों धारयते प्रजा:। संस्कृति भी अलग-अलग नहीं होती, अपितु मानव को सभ्य, सुसंस्कृत बनाने वाले गुणों का नाम ही संस्कृति है। इन गुणों का वर्णन यजुर्वेद में किस प्रकार से किया गया है, यहाँ संक्षेप में यही दिखलाया जायेगा।

यजुर्वेद यद्यपि यज्ञ का वेद माना जाता है। इसका ऋत्विक् भी अध्वर्यु कहलाया है। जो अध्वर अर्थात् यज्ञ की कामना करे, वह अध्वर्यु कहलाता है। अध्वंरं कामयते इति वा (निरुक्त) यज्ञ का वेद होने के साथ-साथ यजुर्वेद में अन्य भी अनेक विषयों से सम्बन्धित पर्याप्त मन्त्र विद्यमान हैं। यथा-सृष्टिविद्या, चिकित्सा, राजनीति, युद्धकला, लोकव्यवहार, ईश्वर का स्वरूप, पितर इत्यादि विविध विषयों का प्रतिपादन इसमें किया गया है।

मानव का लक्ष्य-यजुर्वेद का प्रारम्भ 'ईषे त्वोर्जे त्वा' से होता है। इष का अर्थ अन्न तथा ऊर्क् का अर्थ शक्ति है। यहाँ पर वेद के प्रारम्भ में ही मानव का लक्ष्य बतला दिया है कि अन्न तथा शक्ति की प्राप्ति प्रथम लक्ष्य है। इनके बिना तो जीवन भी नहीं चल पायेगा। मनुष्यों को सम्बोधित करके कहा गया है-वायव स्थ। हे मनुष्यों! तुम वायु के समान गतिशील हो 'वा गतिगन्धनयो:'। क्रियाशील हो। तुम्हे सविता सबके उत्पादक तथा प्रेरक परमेश्वर ने संसार में 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' श्रेष्ठतम कार्य करने के लिए भेजा है। श्रेष्ठ में भी तमप् प्रत्यय लगाना कर्म की अत्यन्त श्रेष्ठता का सूचक है। अत: अन्न तथा शक्ति की प्राप्ति के लिए हम कर्म तो करें, किन्तु श्रेष्ठतम कर्म ही करें, निकृष्ट नहीं। इस प्रकार प्रारम्भ में ही वेद ने मानव को उसका लक्ष्य बतला दिया है। इसी मन्त्र में गो के लिए अध्न्या पद भी पठित है। इसका अर्थ 'हत्या न करने योग्य' है। जो लोग वेदों के आधार पर यज्ञों में पशु हिंसा का आश्रय लगाते हैं, उनके लिए यह सशक्त उत्तर है। इतना ही नहीं यजुर्वेद में बार-बार पशुओं की रक्षा की बात कही है।[1] अत: पशुहत्या का तो यहाँ प्रश्न ही नहीं है।

---

1. (क) यजमानस्य पशून् पाहि। यजु॰ 1/1

(ख) आयु: प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानञ्च वर्धय। यजु॰ 34/56

सत्य एवं पवित्रता–यजुर्वेद का लक्ष्य मानव को शुद्ध एवं पवित्र बनाना है। इस पवित्रता सर्वोत्कृष्ट साधन यज्ञ है क्योंकि बाह्य अपवित्रता तो जलादि से दूर हो जाती है किन्तु मानसिक मन की अपवित्रता तो यज्ञ से ही दूर होगी। यजुर्वेद में इसीलिए यज्ञ को भी पवित्र कहा गया है–वसो पवित्रमसि (यजु॰ 1/2–3) यज्ञ की अग्नि भी पवित्र होती है जिसके संसर्ग में रहकर यजमान पवित्र होने की प्रार्थना करता है–अग्निः पवित्रं स मां पुनातु। अग्नि पवित्र है। अतः वह मुझे भी पवित्र करे।

मन की पवित्रता के लिए सत्य अनिवार्य है। इसी लिए मनु जी कहते हैं–मनः सत्येन शुध्यति। मन तो सत्य से ही शुद्ध होता है। यजुर्वेद में सत्य के आचरण पर बहुत बल दिया गया है। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि। मैं अनृत से सत्य को प्राप्त करता हूँ। सत्याचरण के लिए व्रत लेना पड़ता है। व्रत लेकर ही कोई कार्य परिपूर्ण होता है। इसी दृष्टि से यजुर्वेद में अग्नि–वायु–सूर्य–चन्द्र आदि के सामने व्रत लेकर अनृत से सत्य की ओर चलने की कामना की गयी है। इनमें अग्नि ही सर्वप्रमुख है, क्योंकि वही यज्ञ का देव है तथा वही व्रतपति है।[1] व्रतपूर्ण होने के पश्चात् अग्नि से पुनः कहा जाता है कि मेरा व्रतपूर्ण हुआ तथा अग्नि ने मुझे इसके लिए समर्थ बनाया है।[2]

यज्ञ से लाभ–एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि हे ब्रह्मणस्पति! तू उठ, यज्ञ कर तथा इस यज्ञ से देवों को जगा। इस यज्ञ के द्वारा प्राण, प्रजा, पशू, कीर्त्ति तथा यजमान की वृद्धि कर।[3] इससे यह सिद्ध होता है कि यज्ञ के द्वारा इन वस्तुओं की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार एक मन्त्र में सविता देव से प्रार्थना की गयी है कि यज्ञ तथा यज्ञपति को ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए प्रेरित करे। "प्रसुव यज्ञं यज्ञपतिं भगाय।" यज्ञ से ऐश्वर्य प्राप्ति का सम्बन्ध ऋग्वेद में भी जोड़ा गया है–अग्निना रयिमश्नुवत्। इस प्रकार वैदिकयज्ञ केवल अग्नि में आहुति देने तक ही सीमित नहीं है। अपितु वह याज्ञिक को इहलौकिक तथा आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति भी कराता है।

---

1. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
   इदमहमनृतात्सत्य मुपैमि। यजु॰ 1/5
2. अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषन्तदशकन्तन्मोराधीत्। यजु॰ 2/28
3. उतिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
   आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय।। यजु॰ 34/56

लौकिक व्यवहार—यजुर्वेद में लौकिक व्यवहार का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि लेन-देन दोनों ओर से होना चाहिए, तभी व्यवहार स्थिर रह सकता है—

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे। यजु॰ 3/50

इस मन्त्र की व्याख्या कई प्रकार से होती है। यथा—यदि प्रजा राजा को कर आदि के रूप में धन देती है तो राजा भी बदले में प्रजा के लिए सुखदायक कार्य करता है। इसी प्रकार लौकिक व्यवहार में यदि कोई हमें कुछ वस्तु प्रदान करता है तो हमारा कर्त्तव्य भी उसे कुछ देने का है। आध्यात्मिक पक्ष में हम परमेश्वर को अपनी भक्ति अर्पित करते हैं तो बदले में वह भी हमें नाना प्रकार के सुख देता है।

एक अन्य मन्त्र में व्यक्ति के आचरण को नियन्त्रित करता हुआ वेद कहता है कि हे मानव, तू सर्प के समान कुटिल आचरण मत कर तथा दूसरों के लिए विषवमन मत कर। इसी प्रकार एक ही स्थान पर पड़े रहने वाले पृदाकु = महा भयंकर अजगर के समान आचरण मत कर जो अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही अपने से छोटे प्राणियों को निगल जाते हैं।[1]

योग एवं अध्यात्म—यजुर्वेद कर्मकाण्ड का वेद है, किन्तु इसमें आध्यात्मिक मन्त्रों की भी कमी नहीं है। इसका चालीसवां अध्याय तो इस दिशा में आदर्श है। जो कि ईशोपनिषद् के नाम से ही प्रसिद्ध हो गया। वहाँ पर विद्या-अविद्या, सम्भूति-असम्भूति आदि पर प्रकाश डालते हुए मानव को उसका लक्ष्य एवं उसकी इयत्ता भी समझा दी गयी है कि यह शरीर तो नष्ट हो जाने वाला है, किन्तु इसके अन्दर रहने वाला जीवात्मा अमृतस्वरूप है। वह कभी भी नहीं मरता। केवल एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता रहता है। इसीलिए उसे मन्त्र में वायु[2] कहा गया है। मन्त्र कहता है कि मानव! तू ओम् का स्मरण कर तथा अपने किये गये कार्यों का स्मरण कर।

कर्म की प्रेरणा—उक्त मन्त्र में जीव को क्रतु कहा गया है। क्रतु का अर्थ कर्म तथा प्रज्ञा है अर्थात् यह जीव कर्मशील तथा प्रज्ञावाला है। इसी अध्यायके द्वितीय मन्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जीव को संसार में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिए।[3] इस प्रकार यजुर्वेद व्यक्ति को मृत्युपर्यन्त कर्मशील रखना चाहता है। जो व्यक्ति सेवानिवृत्ति के पश्चात् अथवा

---

1. माऽहिर्भूर्मा पृदाकुः। यजु॰ 6/12
2. वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
   ओम क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतं स्मर। यजु॰ 40/15
3. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जीजिविशेच्छतं समाः। यजु॰ 40/2

बड़ी आयु होने पर लौकिक कार्यों से निवृत्त हो जाते हैं, उनके लिए यह मन्त्र उत्तम प्रेरणादायक है। मन्त्र में यह भी कहा गया है कि कर्म करते हुए हमें उनमें आसक्ति भाव से लिप्त नहीं हो जाना चाहिए, अपितु अनासक्त भाव से ही कर्म करने चाहिए ऐसा करने से वे कर्म व्यक्ति को बाँधने वाले नहीं होते। इस प्रकार हम अध्याय में कर्म तथा अध्यात्म दोनों की प्रेरणा साथ-साथ ही दी गयी है।

परमेश्वर का स्वरूप—कर्म का उपदेश देते हुए यहां पर परमेश्वर का स्वरूप भी बतला दिया गया है। यह ऐसा स्वरूप है कि इससे उत्कृष्ट वर्णन परमेश्वर का नहीं हो सकता। ऐसे परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए।[1] यह परमेश्वर ब्रह्माण्ड में सर्वव्यापक है। यह अकेला ही है, अन्य कोई भी इसके समकक्ष या इससे उत्कृष्ट नहीं है। वह गतिरहित है, किन्तु ब्रह्माण्ड में सर्वत्र सञ्चरणशील है। वह सबके पास भी हैं तथा दूर भी है। इस ब्राह्मण्ड के भीतर तथा बाहर सर्वत्र वह विद्यमान है। इस प्रकार ईश्वर की सर्वव्यापकता यहाँ पर बतलायी गयी है।[2] उस परमेश्वर की कोई मूर्ति आदि नहीं हो सकती। न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः। यजु॰ 32/30।

परमेश्वर की प्राप्ति—ऐसे सर्वव्यापक परमेश्वर को कौन लोग नहीं जान सकते, इसका वर्णन मन्त्र में इस प्रकार किया गया है कि अज्ञान से आवृत्त, जल्प तथा वितण्डा में लगे हुए तथा केवल अपने ही भरण-पोषण में रत रहने वाले स्वार्थीजन परमेश्वर को नहीं जान सकते।[3] परमेश्वर की प्राप्ति ध्यान तथा योगादि साधनों से होती है। इसीलिए वेद कहता है कि अपने मन तथा बुद्धि को निश्चल भाव से परमेश्वर में लगाकर उसे ही प्राप्त किया जा सकता है।[4]

युद्ध विद्या—यजुर्वेद में युद्धपरक मत्र भी हैं जिनमें इन्द्र के रूप में राजा या सेनापति का वर्णन करते हुए वेद कहता है—

वि न इन्द्रो मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
योऽस्माँ अभिदासत्यधरंगमया तमः। यजु॰ 8/44

---

1. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
   कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्॰।। यजु॰ 40/8
2. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
   तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।। यजु॰ 40/5
3. नीहारेण प्रावृत्ता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति। यजु॰ 17/31
4. युग्जते मत उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। यजु॰ 11/4
   युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे स्वर्ग्याय शक्त्या। यजु॰ 11/2

हे इन्द्र! जो शत्रु हमें दास बनाना चाहता है तथा सेना लेकर लड़ने के लिए आ रहा है, उस पर विजय प्राप्त कीजिए। कुछ मन्त्रों में एक युद्धरत सैनिक का वर्णन इन शब्दों में किया गया है–

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनश्क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
सङ्क्रन्दनो निमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः॥ यजु॰ 17/33

शत्रुओं के लिए भयंकर शत्रुसेना को क्षुब्ध कर देने वाला, तेजस्वी, सुखवर्षक इन्द्र अकेला ही सेनाओं को जीत लेता है। यह इन्द्र सेनापति निषङ्गिभिः=हाथ में धनुष लिए हुए सैनिकों के साथ मिलकर शत्रु से युद्ध करता है। इस प्रकार यह इन्द्र प्रभञ्जत् सेना को कंपाता हुआ, प्रमृणो युधा, शत्रु सैनिकों को कुचलता हुआ हमारी रक्षा करता है।[1]

विज्ञान–यजुर्वेद में विज्ञान के संकेत भी पर्याप्त हैं। यथा–

अपां रसमुद्वयसं सूर्ये सन्तं समाहितम्।
अपां रसस्य यो रसः तं वो गृह्णाम्युत्तमम्।। यजु॰ 9/3

यहाँ सूर्य से निकलने वाली गैसों का वर्णन है। जलों का रस = सार अग्नि है। यह अग्नि गैस रूप में सूर्य विद्यमान है।

यजु॰ 11/28 में कहा गया है कि पुरीष्य अग्नि को पृथिवी के अन्दर से निकालता हूँ।[1] तेल तथा प्राकृतिक गैस भी पुरीण्य अग्नि हैं।

राष्ट्रीय भाव एवं प्रार्थना–यजुर्वेद में राष्ट्रीय भावों का एवं राष्ट्रीयता का प्रदर्शन अत्यन्त सशक्त शब्दों में किया गया है। प्रजाजन इन्द्र से प्रार्थना करते हैं–राष्ट्रं में पाहि। मेरे राष्ट्र की रक्षा कीजिए। कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि भारत कभी एक राष्ट्र नहीं रहा। ऐसा कहना ठीक नहीं है। चारों वेदों में ही राष्ट्र एवं राष्ट्रीय भावों का प्रदर्शन उत्तम रीति से किया गया है। इस विषय में यजुर्वेद 22/22 का मन्त्र 'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्' इत्यादि सुप्रसिद्ध है। इसमें ब्राह्मण आदि वर्णों, उत्तम घोड़े, पुरन्धियोषा, सभेय युवा, दोग्ध्री धेनु, इषुहस्तो महारथी आदि का वर्णन आदि उत्तम रीति से किया गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि हमारी इच्छा तथा आवश्यकता के अनुसार बादल जल बरसाता रहे। जिससे ओषधि-वनस्पति आदि फलवती बनें। इस प्रकार यह समूचे राष्ट्र की प्रार्थना है।

---

1. पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमंगिरस्वत् खनामि। यजु॰ 11/28

सृष्टिविद्या—यजुर्वेद में सृष्टिविद्या का प्रतिपादन तो विस्तार से किया गया है। वहाँ कहा गया है कि वह कौन सा वन था जिससे द्युलोक तथा पृथवीलोक को घड़ा गया है। तेईसवें अध्याय के 39/62 मन्त्रों में प्रश्नोत्तर रूप में सृष्टि विद्या का विस्तार से वर्णन किया गया है। तृतीय अध्याय में पुरुषसूक्त ऋग्वेद के समान ही है जिसमें सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष तथा सहस्रपाद वाले पुरुषपरमेश्वर से सभी की उत्पत्ति कही गयी है।

प्रश्नोत्तर शैली—यजुर्वेद में प्रश्नोत्तर शैली में भी अति महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी हैं। तेईसवें अध्याय में प्रकृति का स्वरूप यज्ञवेदि आदि का वर्णन करते हुए पूछा है कि पृथिवी का अन्त क्या है तथा भुवन की नाभिः = केन्द्र क्या है।[1] इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि यज्ञवेदि ही पृथिवी का अन्त है तथा यह यज्ञ ही भुवन की नाभि है।[2] यहाँ पर रेखागणित का यह संकेत भी छिपा है कि यज्ञवेदि भी गोल होती है तथा पृथिवी भी गोल है। गोल वस्तु का मध्यबिन्दु कहीं भी माना जा सकता है। इसका यह अर्थ भी है कि इस संसार का आधार या केन्द्र बिन्दु यज्ञ ही है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में उसकी नाभि—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसी प्रकार विश्व में यज्ञ अति महत्त्वपूर्ण है। यज्ञीय भावना ही विश्व का आधार है।

यजुर्वेद में यज्ञ को मख कहकर 'मखाय त्वा मखस्य त्वा' पदों का प्रयोग कई बार किया गया है। मख का अर्थ जिसमें ख अर्थात् छिद्र कोई न्यूनता नहीं है। वस्तुतः यज्ञ सम्पूर्ण मानव जीवन के क्रियाकलाप को दर्शाने वाली एक प्रक्रिया है। जिस प्रकार यज्ञ दोषरहित है, उसी प्रकार व्यक्ति का जीवन भी निर्दोष होना चाहिए। इसीलिए अभिप्राय से 'पुरुषो वाव यज्ञः' कह दिया गया है। इस यज्ञ को यजुर्वेद में अतमेरु कम्पित या नष्ट न होने वाला कहा गया है। यज्ञपति भी इसी प्रकार से अतमेरु बने।

यज्ञ का केवल यही महत्त्व नहीं है, अपितु यज्ञ को विश्व के प्रत्येक पदार्थ के लिए आवश्यक है। आज पर्यावरण की विश्वव्यापी समस्या उत्पन्न हो गयी है। नदियों का जल भी प्रदूषित है, वायु तथा मिट्टी भी प्रदूषित हैं। इस प्रकार पंच महाभूतों में से पृथिवी, जल तथा पवन प्रदूषित हो चुके। इनका प्रदूषण आकाश को भी प्रदूषित कर रहा है। किसी भी साधन से इसका संशोधन नहीं

---

1. पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः। यजु॰ 23/61
2. इयं वेदिः परोऽअन्तः पृथिव्याः। अयं यज्ञो भुवनस्य नाभि॰। यजु॰ 23/62

हो सकता। यजुर्वेद में यज्ञीय हवि को इन सबके संशोधन का उपाय माना गया है।[1] यज्ञ को यहाँ अध्वर कहा गया है। अन्य अनेक स्थानों पर भी यज्ञ के लिए यह विशेषण प्रयुक्त किया गया है। ध्वरा हिंसा को कहते हैं। नास्ति ध्वरा यत्र। अर्थात् यज्ञ में हिंसा नहीं होनी चाहिए। शारीरिक हिंसा, पशुहत्या आदि तो दूर, वाचिक तथा मानसिक हिंसा का कष्ट भी दूसरों को नहीं देना चाहिए, तभी यज्ञ सफल होगा।

पवित्रता की भावना—यजुर्वेद यज्ञ तथा अन्य साधनों के द्वारा व्यक्ति के जीवन को पवित्र एवं सुखमय बना देना चाहता है। यहाँ कहा गया है। यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नम्। अर्थात् यज्ञ देवों के सुख की ओर जाता है, उन्हें सुख प्राप्त कराता है। यह यज्ञीय अग्नि तनूपा मेरे शरीर की रक्षा करने वाला है यही व्रतपा है, यही आयुवर्धक है। यही तेज देने वाला है।[2]

यही नहीं यज्ञीय अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि जो भी त्रुटि मेरे जीवन में हो, हे अग्नि तुम उसे पूर्ण कर दो। व्यक्ति का जीवन असत्य एवं दुश्चरित से भरा रहता है। अग्नि से प्रार्थना की गयी कि हे अग्नि, तू मुझे दुश्चरित से हटा कर सुचरित्र की ओर ले चल। जिससे हम कल्याण के मार्ग पर चल सके तथा सभी प्रकार के दुखों को हमसे दूर करके हे अग्नि तू हमें धन को प्राप्त करा।[3] यजुर्वेद व्यक्ति को पूर्णत निष्काम एवं पवित्र बना देना चाहता है। इसी का प्रतिपादन अनेक यज्ञों में किया गया है।

पितर, पितामहों आदि से भी पवित्र करने की प्रार्थना की गयी है।[4] यजुर्वेद में उल्लिखिल ये पितर जीवित ही हैं, मृत नहीं। लोक में प्रवाद है कि मरने पर पितर कहलाते हैं तथा आश्विन मास में श्राद्ध के दिनों में पितर भोजन करने आते हैं। ये सब मिथ्या मान्यताएँ हैं। श्राद्ध के पक्षपातियों द्वारा इस सम्बन्ध में यजुर्वेद के मन्त्र ही उद्धृत किये जाते हैं, किन्तु उनका गलत अर्थ किया जाता

---

1. हविष्मतीरिमाऽआपो हविष्माँ आविवासति।
   हविष्मान् देवोऽध्वरो हविष्माँ अस्तु सूर्यः।। यजु॰ 6/23
2. तनूपाऽअग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेस्यायुर्मे देहि वर्चोदाऽअग्नेऽसिवर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनन्तन्मऽआपृण। यजु॰ 3/17
3. परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज।
   उदायुषोदस्थाममृता अनु।। यजु॰ 4/28-29
4. पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धिया।
   पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि माम्।। यजु॰ 19/39

है। यजुर्वेद में 2/31, 3/51, 19/36-71 मन्त्रों में पितर शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है तथा पितरों से यज्ञ में आने की प्रार्थना की गयी है कि हमारे बुलाने पर वे पितर इस यज्ञ में आये , वे यहाँ आकर हमारी बात सुने तथा यहाँ अन्न से तृप्त होकर हमे उपदेश प्रदान करें[1] ये क्रियाएँ जीवित पितरों से ही सम्बन्धित है। मृतों से नहीं। यह भी कहा गया है कि वे यहाँ आकर आज्याजानु=जघां भाग को नीचे करके अर्थात् पालथी मारकर बैठे। यहाँ पितरों को सोम्यासः तथा अग्निष्वात्ता कहा गया है। इनसे रक्षा की प्रार्थना की गयी है। यहाँ अग्नि का अर्थ 'अग्निना स्वात्ता दग्धा' करके मृत पितरों का प्रतिपादन किया जाता है। यह उचित नहीं है क्योंकि इन मन्त्रों में अन्य जो भी विशेषण दिये गये हैं वे जीवित पितरों पर ही घटते हैं, मृतकों पर नहीं। अग्निष्वात्ता का अर्थ अग्नि का स्पर्श करने वाले अर्थात् यज्ञ करने वाले है। इस प्रकार जीवित पितर होते हैं, मृत नहीं।

मेधा की प्रार्थना–यजुर्वेद में अनेक बार मेधा की प्रार्थना की गयी है। यह सामान्य बुद्धि नहीं है, अपितु योगदर्शन में वर्णित ऋतम्भरा प्रज्ञा है, जो केवल सत्य को ही ग्रहण करती है, असत्य को नहीं। पितरों तथा देवगणों से मेधा की प्रार्थना की गयी है।[2] पितर तो गृहस्थ को पार कर करके वनस्थ आदि व्यक्ति हैं तथा विद्वानों को देव कहते हैं। ये सभी हमें मेधावी बनावें।

जीवन तथा मन की पवित्रता– यजुर्वेद जीवन तथा मन की पवित्रता पर बल देता है। इसके चौंतीसवें अध्याय के प्रथम छह मन्त्र इसी सम्बन्ध में है। इनमें मन के विभिन्न स्वरूप तथा कार्यों को बतलाकर सभी मन्त्रों के अन्त में कहा गया है–तन्मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु। अर्थात् यह मेरा शुभ विचारों वाला होवे। यजुर्वेद में एक विशेष बात यह भी कही गयी है कि व्यक्ति स्वप्नावस्था भी पाप करता है। मन्त्र में जाग्रत् तथा स्वप्न दोनों अवस्थाओं के पापों को दूर करने की प्रार्थना की गयी है।[3] जीवन की पवित्रता के लिए यजुर्वेद में यज्ञ को

---

1. उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
   त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्।। यजु॰ 19/57
   आयन्तु न पितरः सोम्यासोऽग्निष्वाताः पथिभिर्देवयानैः।
   अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्ववस्मान्।। यजु॰ 19/58
2. यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
   तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु। यजु॰ 32/14
3. यदि जाग्रद् यदि स्वप्नद् एनांसि चकृमा वयम्।
   सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वहंसः।। यजु॰ 20/16

आवश्यक माना गया है। अठारहवें अध्याय के उन्नीस मन्त्रों में बार-बार 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' पद आया है। मेरा खान-पान, रहन-सहन, मेरी हड्डियाँ, मेरे प्राण-अपान आदि मेरी आयु, मेरी धनादि की प्राप्ति सभी कुछ यज्ञ से समर्थ तथा पवित्र बनें। यजुर्वेद में सम्पूर्ण विश्व को एक घर मानते हुए कहा है–यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। ऐसा उन्मुक्त विचार अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलेगा। इस प्रकार यजुर्वेद केवल यज्ञ का न होकर सम्पूर्ण मानवजीवन को पवित्र एवं नियन्त्रित करने तथा वैश्विक बन्धुत्व का वेद है। इन क्रियाओं को यहाँ यज्ञ के माध्यम से कराया गया है।

(3) सामवेद

सामन् शब्द का अर्थ गान हैं।[1] ऋग्वेद के मन्त्रों का विशिष्ट गान-पद्धति से गाया जाना ही सामन है।[2] इसलिए पूर्वमीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी ने विशिष्ट गीति या गान को ही साम कहा है।[3] ऋग्वेद और सामवेद अर्थात् ऋचा और गान ही समान है। इसी को ही सामान्य या अलंकारिक रूप में इस प्रकार कहा गया है। जैसे–(1) ऋक् ही साम है।[4] (2) सा = ऋच् + अम = गीत = सामन्। स या सा का अर्थ ऋग्वेद है और अम का अर्थ गान है। अतः साम का अर्थ दोनों का समन्वय है। (3) छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि ऋक् पर आधृत ही साम गाया जाता है।[5] (4) बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है कि ऋक् तथा गान ही साम का सामत्व है।[6]

वाचस्पति गैरोला ने साम की यह व्युत्पत्ति भी दी है–स्यति नाशयति विघ्नमिति सामन्। समयति सन्तोषयति देवान् अनेनेति सामन्।[7]

सामवेद का पृथक् अस्तित्व–वर्तमान में उपलब्ध सामवेद के 99 मन्त्रों को छोड़कर शेष सभी मन्त्र ऋग्वेद में प्राप्त हो जाते हैं। यह भी कल्पना की जाती है कि ये मन्त्र भी ऋग्वेद की किसी लुप्त शाखा में होंगे। अतः मैक्डानल,

1. जायसवाल, हिन्दू राजतन्त्र, भाग 1, पृ॰ 139–140
2. गीतिषु सामाख्या। पू॰ मी॰ 2/1/37
3. विशिष्या काचिद् गीतिः सामेत्युच्यते। पू॰मी॰ 2/1/37 शाबरभाष्य
4. या ऋक् तत् साम। छाँ॰ उ॰ 1/3/4
5. ऋचि अध्यूढं साम गीयते। छां॰ उ॰ 1/6/1
6. सा च अमश्चेति तत् साम्नः सामत्वम्। बृ॰ उ॰ 1/3/22
7. गैरोला, सं॰सा॰ का इति॰ पृ॰ 76

विन्तरनित्स आदि का विचार है कि सामवेद ऋग्वेद से ही उद्धृत है। यह विचार इसलिए उचित नहीं है क्योंकि–

(1) पश्चिमी विद्वानों के अनुसार ही गृत्समद आदि के द्वारा दृष्ट ऋग्वेद के मण्डल प्राचीन हैं, किन्तु उनमें भी सामों का वर्णन है। यथा–ऋ० 2/23/16–17, 2/5/2, 2/43/1–12 आदि में सामों का वर्णन है।

(2) सायणादि प्राचीन भाष्यकारों की दृष्टि में भी साम का स्वतन्त्र अस्तित्व माना है। इसीलिए सायण ने सामवेद पर पृथक् भाष्य किया है।

(3) पं० सत्यव्रतसामश्रमी ने अपने ग्रन्थ त्रयीपरिचय में प्रतिपक्ष के तर्कों का निराकरण करते हुए कहा है कि जैसे ऋक् संहिता में सूक्त हैं। उसी प्रकार सामवेद में दशतियां है। फिर साम को ऋक् से उद्धृत कैसे माना जाए?

(4) ऋग्वेद तथा सामवेदीय मन्त्रों के स्वरों में भी भिन्नता है। स्वर के कारण अर्थभेद स्पष्ट है। अतः दोनों संहिताएँ पृथक्–पृथक् ही हैं।

वर्तमान काल में सामवेद की दो प्रकार की संहिताएं प्राप्त होती है–आर्चिक संहिता तथा गानसंहिता। **आर्चिक संहिता** उन ऋचाओं का संकलन है जिनके ऊपर साम का गान किया जाता है। इसलिए इन ऋचाओं को सामयोनि ऋक् कहा जाता है। इनमें अर्थप्रधान शब्दों की प्रधानता होती है, जबकि गान में भावपूर्ण लय का प्राधान्य होता है, अर्थ का नहीं। पं० सत्यव्रत सामश्रमी के अनुसार आर्चिक तथा गानसंहिता दोनों ही प्राचीन हैं। यद्यपि विद्वत्परम्परा आर्चिक संहिता को ही मूल सामवेद मानती है, किन्तु सायणादि भाष्यकारों ने गानसंहिता को ही मूल सामवेद माना है। वस्तुतः आर्चिक तथा गानसंहिता दोनों ही सामवेद हैं। आर्चिक संहिता का सामवेदत्व इस रूप में है कि इनके ऊपर सामगान किया जाता है। गानसंहिता का सामवेदत्व सामरूप होने के कारण है।

सामवेद की गुरुपरम्परा–वायु, विष्णु तथा भागवत पुराण के अनुसार व्यासजी ने अपने शिष्य जैमिनि को साम की शिक्षा दी। जैमिनि ने अपने पुत्र सुमन्तु को, सुमन्तु से सृत्वा को, सृत्वा ने सुकर्मा को तथा सुकर्मा ने अपने शिष्य सूर्यवर्चासहस्र को साम का ज्ञान दिया। इसी परम्परा में आगे हिरण्यनाभ, प्राच्य सामग, लौगाक्षि, कुथुमि, कुशीति तथा लांगली आदि आचार्य हुए। लौगाक्षि की शिष्य परम्परा में ताण्ड्यपुत्र राणायण, सुविद्वान् मूलचारी, साकेति पुत्र तथा सहसात्य पुत्र हुए।

महाभारत से लगभग 150 वर्ष पूर्व उत्पन्न उपमन्यु ऋषि भी सामशाखाकार हुए हैं। इन्होंने सामवेद की औपमन्वय शाखा का प्रवर्तन किया था। छान्दोग्य उपनिषद् में एक कथा है कि महर्षि अँगिरस घोर ने कृष्ण को वेदान्त की शिक्षा देते समय सामवेद का गानतत्त्व भी समझाया था। इसी आधार पर कृष्ण ने छालिक्य नामक गान का आविष्कार करके अपनी मुरली पर इसे गाया था। महाभारत शान्तिपर्व के अनुसार पितामह भीष्म की शवदाह क्रिया के समय भी सामगान गाया गया था।

सामवेद की शाखाएँ–सामवेद की एक सहस्र शाखाएँ मानी जाती हैं। पुराणों में भी सामवेद की एक सहस्र शाखाओं का उल्लेख मिलता है। पतंजलि "सहस्रवर्त्मा सामवेदः" वाक्य सुप्रसिद्ध ही है। महर्षि शौनक कहते हैं कि सामवेद के 1000 भेद होते हैं जिनमें से अनेक अनध्याय के समय पढ़े जाने के कारण इन्द्र के द्वारा अपने व्रज-प्रहार से नष्ट कर दिये गये।[1] इसका अभिप्राय यह है कि सामवेद की एक सहस्र शाखाएँ थी, परन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार वर्त्मन् शब्द शाखावाचक नहीं है। इसका तात्पर्य केवल यही है कि सामवेद के गान की सहस्र पद्धतियाँ प्रचलित थी। श्री सत्यव्रत सामश्रमी और सातवलेकर ने इसी मत को उपयुक्त बताया है।[2] इस बात की पुष्टि इस बात से भी होती है कि सामतर्पण में केवल 13 सामवेदी आचार्यों का स्मरण किया जाता है। यदि उससे अधिक सामवेद के शाखाकार होते तो उनका सामतर्पण में या अन्यत्र भी उल्लेख मिलता। प्रपंचहृदय, दिव्यावदान, चरणव्यूह तथा जैमिनिसूत्र (1/14) के अनुसार 13 शाखाओं के नाम उपलब्ध हैं, जो इस प्रकार हैं–

(1) राणायन (2) शाट्यमुग्रय (3) व्यास (4) भागुरि (5) औलुण्डी (6) गैल्गुलवि (7) भानुमानौपमन्यव (8) काराटि (९) मशकगार्ग्य (10) वार्षगण्य (11) कुथुम (12) शालिहोत्र (13) जैमिनि।

इन तेरह शाखाओं में से केवल तीन शाखाएँ ही उपलब्ध हैं–(1) राणायनीय (2) कौथुमीय (3) जैमीनीय (या तवलकार)। वस्तुतः दोनों शाखाओं में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। वे ही मन्त्र दोनों में उसी क्रम से हैं।

---

1. सामवेदस्य ही सहस्रभेदा भवन्ति। एषु अनध्यायेषु अधीयानः ते शतक्रतुवज्रेनाभिहताः। शौनक, चरणव्यूहपरिशिष्ट।
2. सामवेद, सम्पा॰ दामो॰ सातवलेकर, 1996, भूमिका, पृ॰ 2

केवल गणनापद्धति में अन्तर है। राणायनीय शाखा में मन्त्रों की गणना इस प्रकार है–(1) प्रपाठक (2) अर्धप्रपाठक (3) दशति (4) मन्त्र।

कौथुमीय शाखा का प्रकार है–(1) अध्याय (2) खण्ड (3) मन्त्र। जैमिनीय शाखा की संहिता डॉ॰ रघुवीर ने प्रकाशित की थी। सातवलेकर ने परिशिष्ट में जैमीनीय शाखा के पाठभेदों का पूरा विवरण दिया है।

कौथुमशाखा–यह इन तीनों शाखाओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं उपादेय है। इस शाखा के दो भाग हैं–(1) पूर्वार्चिक, (2) उत्तरार्चिक। इन दोनों भागों में केवल उन ऋचाओं का ही उल्लेख किया गया है जो ऋग्वेद में उपलब्ध होती है। दोनों भागों की समस्त ऋचाएँ 650 + 1225 = 1875 हैं। इनमें से कुछ की बार-बार आवृत्ति हुई है। बार-आर आवृति वाली ऋचाओं को अलग करने पर मौलिक ऋचाओं की संख्या 1549 रह जाती है और इन्हीं में से 75 को छोड़कर समस्त ऋचाएँ ऋग्वेद संहिता के अष्टम व नवम मण्डल में उपलब्ध हैं। प्रस्तुत ऋचाओं की रचना अधिकतर गायत्री एवं प्रगाथ छन्द में है। गेयता के कारण सामवेद में प्राप्त ऋग्वेदीय मन्त्रों का उच्चारण भी अलग हो गया। सामवेद की मुख्य वस्तु स्वर है जो कि उद्‌गाता नामक ऋत्विज् का आवश्यक गुण है। ऋग्वेद में प्राप्त न होने वाली 75 ऋचाओं में से कुछ ऋचाएँ तो अन्य संहिताओं की हैं एवं कुछ पाठान्तर के साथ ऋग्वेद में उपलब्ध हो जाती हैं। थ्योडर ऑफ्रेच्ट (Theodor Aufrecht) का विचार है कि यह पाठान्तर स्वैच्छिक है। इसका कारण सांकल्पिक एवं आकस्मिक परिवर्तन ही सम्भव है। इसी कारण सामवेद में पाठतत्त्व पर ध्यान न देकर गेयतत्त्व पर अधिक ध्यान दिया गया है। सामवेद संहिता की परम्परा में उद्‌गाता पुरोहित बनने की इच्छा से शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्वान् को पहले आर्चिक की सहायता से संगीत की दीक्षा लेनी पड़ती थी। तत्पश्चात् उसे उत्तरार्चिक के कुछ स्रोतों को कंठस्थ करना भी अनिवार्य था। इसी पद्धति के द्वारा वह उद्‌गाता पुरोहित के पद पर प्रतिष्ठित हो जाता था।

सामवेद संहिता के पूर्वार्चिक में 650 ऋचाएँ (गीत) हैं। जिनमें यज्ञ के अवसर पर प्रयोग में आने वाले विभिन्न साम संगृहीत हैं। साम शब्द का वास्तविक अर्थ स्वर या गीत है; परन्तु ऋक् मन्त्रों के ऊपर गाए जाने वाले गीत ही वस्तुतः साम शब्द के द्वारा जाने जाते हैं। पूर्वार्चिक के पहले प्रपाठक में अग्निविषयक ऋङ्मन्त्रों का संग्रह है। अतः इसे आग्नेय काण्ड कहते हैं। द्वितीय से चतुर्थ प्रपाठक तक इन्द्र की स्तुतियाँ की गई हैं। अतः इसे ऐन्द्रपर्व

कहा जाता है। पंचम पर्व को पावमान पर्व कहा जाता है, क्योंकि इसमें सोमपरक स्तुतियाँ हैं। षष्ठ प्रपाठक को आरण्यक पर्व कहते हैं। कुछ विद्वान् आग्नेय काण्ड से पावमान काण्ड तक तीन काण्डों को पूर्वार्चिक तथा आरण्य काण्ड एवं महानाम्नी ऋचाओं को स्वतन्त्र मानते हैं। सातवलेकर तथा सी॰वी॰ वैद्य आग्नेय काण्ड से लेकर महानाम्नी तक पूर्वार्चिक मानते हैं। विन्टरनित्स भी आरण्यकाण्ड तथा महानाम्नी ऋचाओं को पूर्वार्चिक से बाहर मानते हैं। हरिप्रसाद शास्त्री आरण्यक को पूर्वार्चिक का शेष मानते हैं[1] आजकल इसे पूर्वार्चिक का ही अंग मान लिया गया है। उपलब्ध साम संहिताओं में आरण्यककाण्ड के पश्चात् महानाम्नी ऋचाएं हैं। सत्यव्रत सामश्रमी इन्हें आरण्यक काण्ड का परिशिष्ट मानते हैं।

सामवेद के उत्तरार्चिक में 400 सूक्त हैं। प्रत्येक सूक्त में प्रायः तीन ऋचाएँ हैं। कुछ स्थानों पर 2-2 तथा 4-4 ऋचाएं भी मिलती हैं। इनके द्वारा ही याज्ञिक समय पर गाए जाने वाले स्तोत्रों का निर्माण हुआ है।

पूर्वार्चिक में जहाँ ऋचाओं का क्रम छन्द एवं देवताओं के आधार पर हुआ है, वहीं उत्तरार्चिक में यज्ञों के आधार पर उनके क्रम का निर्धारण हुआ है। उत्तार्चिक में 21 अध्याय या 9 प्रपाठक हैं, आदि के 5 प्रपाठकों में दो-दो अर्ध या अध्याय है, परन्तु अन्त के प्रपाठकों में तीन-तीन अध्याय हैं। इनमें छोटे-छोटे मन्त्र समूह पाये जाते हैं। इस उत्तरार्चिक का साहित्यिक महत्त्व पूर्वार्चिक की अपेक्षा कम है; क्योंकि इसके अधिकतर मन्त्र प्रथम आर्चिक की पुनरावृत्ति मात्र हैं। इसके अतिरिक्त पूर्वार्चिक में इस प्रकार की अनेक योनि (ऋचाएँ) ताल एवं लय हैं जो उत्तरार्चिक में प्राप्त नहीं होते और उत्तरार्चिक को पूर्वार्चिक का परिष्कृत रूप भी माना जा सकता है। उत्तरार्चिक के सम्पूर्ण मन्त्रों की संख्या 1225 है। उत्तरार्चिक के सम्बन्ध में विन्टरनिट्ज का कहना है कि-

We may compare the Uttarchika to a song book in which the complete text of the songs is given, while it is presumed that the melodies are already known.

वास्तव में "गीतिषु समाख्या" इस जैमिनीय सूत्र (2/1/36) के अनुसार गीति ही साम है; और स्वर गीति के प्राण हैं, गीतों का प्रणयन भी सामवेद की ऋचाओं के आधार पर था "ऋचि अध्युढं साम गीयते"। इसी कारण इन ऋचाओं

1. हरिप्रसाद शास्त्री, वेदसर्वस्वम् पृ. 158

को सामयोनि ऋक् कहा जाता है। ऋचाएँ पदों के समान हैं और उनके साम रागों के समान सामवेद की ऋचाओं को संगीत में बदलने के लिए कुछ पादों को जोड़ा जाता है जिन्हें स्तोभ कहते हैं यथा–हाऊ, होई, औ, हो, ओह इत्यादि। ये स्तोभ कुछ ऐसे अक्षर एवं पद हैं जैसे आलाप के लिए गेय पदों में राग–रागिनीगायन के लिए गायक जोड़ देते हैं। ऋग्वेद 10/90/9 में ऋक् तथा साम दोनों का उल्लेख है। ऋक् का ही जब गान किया जाता है, तब वह साम कहलाता है।

सामविकार के नाम से पाँच भाग हैं, जो इस प्रकार हैं–(1) विकार (2) विश्लेषण (3) विकर्षण (4) अभ्यास (5) विराम (6) स्तोभ।

सामगान के भी पाँच भाग होते हैं, जो इस प्रकार हैं–

(1) प्रस्ताव–इसका गान प्रस्तोता करता है।

(2) उद्गीथ–इसका गान उद्गाता नामक ऋत्विज करता है।

(3) प्रतिहार–इसका गान प्रतिहार नामक ऋत्विज करता है।

(4) उपद्रव–इसका गान भी उद्गाता नामक ऋत्विज करता है।

(5) निधन–इसका गान प्रस्तोता, उद्गाता एवं प्रतिहर्त्ता नामक तीनों ऋत्विज ही करते हैं।

सामवेद में स्वरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उच्चारण की दृष्टि से स्वर उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन प्रकार के हैं तथा संगीत की दृष्टि से सात प्रकार के हैं, जो इस प्रकार हैं–मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, निषाद, धैवत एवं पंचम। इस संहिता में गेय पदों के ऊपर एक, दो-तीन आदि से सात तक के अंकों द्वारा संगीत के स्वरों का निर्देशन किया जाता है।

पूर्वार्चिक में प्रारम्भ से पाँचवें अध्याय तक की ऋचाएँ ग्रामगान हैं और षष्ठ अध्याय की ऋचाएँ अरण्यगान के नाम से जानी जाती है। इसके अतिरिक्त 'ऊहगान' एवं उह्यगान नाम के दो भिन्न प्रकार के गीत भी प्राप्त होते हैं। ऊहगान का सम्बन्ध ग्रामगेयगान से है और उह्यगान का सम्बन्ध अरण्यगेय गान से हैं इन दोनों का विकृत एवं रहस्यात्मक होने से अरण्य में ही गान होता है। जिन गीतियों की रचना ऋचाओं के आधार पर हुई थी, कौथुमीय एवं राणायनीय शाखओं के अनुसार उनकी संख्या 2722 है एवं जैमीनीय शाखा के अनुसार 3681 है। कौथुमीय शाखा में 1187 गाम्यगेयगान, 295 अरण्यगेय

गान, 1.26 ऊहगान तथा 205 ऊह्यगान है। जैमिनीय शाखा में यही संख्या क्रमशः 1232, 291, 1802 तथा 356 है। इस प्रकार कौथुमीय शाखा 2722 तथा जैमिनीय शाखा में 3681 गान हैं।

राणायनीय शाखा–यह शाखा कौथुमशाखा से अधिक भिन्न नहीं है। इसके मन्त्र प्रायः कौथुमशाखा के तुल्य हैं, परन्तु उच्चारण में भेद है। राणायनीयों की ही एक प्रशाखा का नाम शात्यमुग्री है। पंतजलि का मानना है कि शात्यमुग्री लोग एकार तथा ओकार का ह्रस्व उच्चारण किया करते हैं।

जैमिनीय शाखा–इस शाखा में 182 मन्त्र कौथुम शाखा से कम हैं। मन्त्रों की कुल संख्या 1687 है। कौथुम शाखा में सामगानों की संख्या 2782 है जबकि जैमिनीय शाखा में 3681 है। जैमिनीय शाखा के ब्राह्मण उपनिषद् श्रौत्-गृह्यसूत्र आदि सभी सम्बद्ध ग्रन्थ मिलते हैं। जैमिनीय शाखा की एक प्रशाखा तवलकार भी है; जिसका उपनिषद् केनोपनिषद् है। उसे तवलकारोपनिषद् भी कहा जाता है। तवलकार जैमिनि के शिष्य थे।

चरणव्यूह के आधार पर सम्पूर्ण सामों की संख्या आठ सहस्र थी और गायनों की संख्या चौदह हजार आठ सौ बीस थी।

सामवेद का स्वरांकन–सामवेद की स्वरांकन पद्धति भिन्न प्रकार की है। यहाँ उदात्त के ऊपर 1 स्वरित को ऊपर2 तथा अनुदात्त के ऊपर 3 का अंक लिखा होता है। कहीं-कहीं पर इसके अतिरिक्त भी स्वरचिह्न रहते हैं। यथा–

(1) अन्तिम उदात्त के ऊपर 2 का अंक होता है। यथा–गिं१रा२।

(२) '२ र' यह विशिष्ट चिह्न है। जब एक ही समय में दो उदात्त प्रयुक्त होते हैं, तब प्रथम उदात्त पर १ अंक लिखते हैं जबकि दूसरा उदात्त चिह्नरहित रहता है। दूसरे उदात्त से परे स्वरित पर '२ र' चिह्न रहता है। यथा–उर्तद्विंषो मर्त्यस्य। जब अनुदात्त से परवर्त्ती स्वरित पर '२ र' चिह्न रहता है, तब पूर्व अनुदात्त पर '३क' चिह्न रहता है यथा–त=ना जब दो उदात्तों का युगयंत् प्रयोग हो, तथा इनके बाद अनुदात्त आए तो प्रथम उदात्त के ऊपर '२' चिह्न रहता है तथा द्वितीय उदात्त अचिह्नित ही रहता है। यथा– ऊँ२ त्वा३क वसो३।

सामवेद का प्रतिपाद्य–सामवेद केवल उपासना का वेद नहीं है। इसे उपासना प्रधान तो माना जा सकता है, किन्तु केवल उपासना का प्रतिपादक

नहीं। इस वेद में भी अन्य वेदों की भाँति विभिन्न विषय हैं। विज्ञान, राजधर्म, सामाजिक ज्ञान आदि विषय भी सामवेद में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। यहाँ इन सबका विश्लेषण न करके केवल एक-दो विषयों के सम्बन्ध में लिखा जायेगा–

सामवेद में अग्नि तथा इन्द्र ही प्रमुख देव हैं। इस वेद का आरम्भ ही अग्नि से होता है। यद्यपि अग्नि पद परमेश्वर का भी वाचक है, किन्तु सामवेद के प्रारम्भ में यह विज्ञान में प्रयुक्त होने वाली अग्नि का भी वाचक है। यथा–

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्।

(साम. पूर्वा 1/1/1/3)

यही अग्नि दूत बन कर दूरभाष द्वारा देश-विदेश में स्थिति व्यक्तियों से हमारी बातचीत करा देता है तथा यही अग्नि विद्युत् के रूप में उपस्थित होकर प्रकाश आदि नाना कार्यों को सम्पन्न कर रहा है। मैं इस अग्नि का वरण स्वीकार करता हूँ अर्थात् उसे नाना कार्यों में प्रयुक्त करके ऐश्वर्य को प्राप्त करूँ, यही यहाँ पर बतलाया गया है। चतुर्थ मन्त्र परमेश्वर के साथ-साथ यज्ञाग्नि का भी प्रतिपादक है, जो इस प्रकार है–अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया समिद्धः शुक्र आहुतः। साम. पूर्व. (1/1/1/4)। यह परमेश्वर रूपी अग्नि अग्नि मेरे समस्त दुर्गुणों तथा दुर्विचारों को नष्ट कर देता है जो कि मुझे चारों ओर से घेरे हुए हैं। इसी प्रकार यह यज्ञाग्नि भी रोगों के समस्त कीटाणुओं को नष्ट कर देता है जो कि मेरे शरीर को घेरे हुए हैं। यज्ञाग्नि में रोगनाशक शक्ति होती है, यह तथ्य निर्विवादित है। इसी उद्देश्य से यज्ञ की सामग्री में रोगनाशक पदार्थ भी डाले जाते हैं। अग्नि को सम्बोधित करके मन्त्र पुनः कहता है–

अमैरमित्रमर्दय। साम॰ 1/1/2/1

अर्थात् हे अग्नि, तुम अमित्र को नष्ट करो। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि वृत्र तथा अमित्र का नाश करना अग्नि का मुख्य धर्म है। सामवेद में वृत्रवध का उल्लेख बार-बार तथा प्रमुखता के साथ हुआ है। इस वृत्रवध को अग्नि तथा इन्द्र दोनों ही सम्पन्न करते हैं। यथा–तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे। स वृषा वृषभो भुवत् (साम.पूर्वा., 2/1/3/15) अर्थात् महान् वृत्रवध के लिए हम इन्द्र का आह्वान कहते हैं। यह इन्द्र राजा भी हो सकता है। इस पक्ष में समाज तथा राष्ट्र को घेर लेने वाले दुष्ट लोग या शत्रुराजा भी वृत्र पदवाच्य हो सकते हैं। इन सभी का वध करना राजा का परम कर्त्तव्य है।

सामवेद में पर्याप्त मन्त्र इस प्रकार के हैं जिनमें इन्द्र नाम से लौकिक राजा के स्वरूप तथा युद्धादि का स्पष्ट वर्णन किया गया है। यथा–

इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः।

तस्मिन् महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे। स वाजेषु प्रनोऽविषत् (साम.पूर्वा. 5/1/313)

इन्द्र अर्थात् राजा हर्ष (मदीहर्षे) या प्रसन्नता को प्राप्त करने के लिए तथा शक्ति को प्राप्त करते के लिए सैनिकों के साथ बढ़ रहा है, समुन्नत हो रहा है। यह इन्द्र वृत्र अर्थात् दुष्टविनाशक है। छोटे तथा बड़े युद्धों में हम इन्द्र को ही पुकारते हैं। संग्रामों में वह हमारी रक्षा करे। इस प्रकार यहाँ एक राजा का ही वर्णन है। एक अन्य मन्त्र में भी स्पष्ट ही कह दिया गया है–असि हि वीर सेन्यो। हे इन्द्र! तुम सेनापति हो। यह स्पष्ट रूप में सेनानायक का ही वर्णन है।

यह इन्द्र वृत्र अर्थात् दुष्ट विनाशक तथा प्रजारक्षक है, इसीलिए प्रजा इसे अपनी रक्षार्थ पुकारती है। एतद्विषयक एक मन्त्र इस प्रकार है–

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतम वाजसातौ।

शृण्वन्तमुग्रमुत समत्सु ध्नन्तं वृत्राणि सञ्जितं धनानि।। (साम.पूर्वा. 4/1/4/7)

भर इति संग्राम नाम। इस संग्राम में हम वृत्रों के हन्ता इन्द्र को पुकारते हैं। इसी प्रकार अन्य मन्त्र है–

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे सुहवं सूरमिन्द्रम्। सा॰पू॰ 4/1/5/2

यह इन्द्र हम प्रजाजनों का रक्षक है। अतः हम युद्ध में इसी शूरवीर इन्द्र को पुकारते हैं। यह इन्द्र वृत्रवध के साथ-साथ हम प्रजाजनों को धन भी प्रदान करता है। यथा–हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजं दाता मघानि मधवा सुराधाः। यह इन्द्र सैकड़ों किनारों वाले वज्र से वृत्रवध करता है। मन्त्र में इसे इस रूप में कहा गया है–

वृत्रं जयति वृत्रहा वज्रेण शतपर्वणा।

इस वज्र की रचना भी ध्यान देने योग्य है। इसमें शिवजी के त्रिशूल की भाँति सैकड़ों तीक्ष्ण नोक या किनारे हो सकते हैं।

इन्द्र वृत्रवध करके अपनी प्रजा को पूर्णतः निर्भीक बना दे, यह प्रार्थना सामवेद में इस प्रकार की गयी है–

यत इन्द्र भयामहे ततो तो अभयं कृधि। –सा॰पू॰ 3/2/4/2

एक अन्य मन्त्र में इन्द्र के सांग्रामिक स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है–

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।

सङ्क्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः।।

(साम॰ उत्त॰ 9/3/1/1)

अर्थात् यह इन्द्र सुखवर्षक है, शत्रुओं के लिए भयप्रद है तथा उसकी सेना को मथ देने वाला है। यह अकेला ही सैकड़ों सेनाओं को जीत लेता है। शत्रु के प्रति इन्द्र के सैनिकों के प्रयाण को बतलाने वाला एक मन्त्र इस प्रकार है–

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।

उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथा सथ।। (साम. उत्त॰ 9/3/5/2)

यह प्रयाणगीत है। हे सैनिकों! उठो विजय के लिए कूच करो। तुम किसी से भी पराजित नहीं होने वाले हो। तुम्हारी भुजाएं तीक्षण शास्त्रों से युक्त हैं। इस प्रकार सामवेद में पर्याप्त मन्त्र युद्धपरक एवं राजनीति विषयक है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विषय इस प्रकार हैं। निम्न मन्त्र में वृष्टियज्ञ का वर्णन स्पष्ट रूप में विद्यमान है–

पवस्व, वृष्टिमासु नोऽपामूर्मिं दिवस्परि...घृतं पवस्व धारया यज्ञेषु देववीतमः अस्मभ्यं वृष्टिमापव। (साम. उत्त. 6/3/1/1)

सामवेद में दो सेनाओं के मध्य होने वाले युद्ध का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि जो यह शत्रु सेना हमारी सेना के साथ स्पर्धा करती हुई आ रही है, उसको ऐसे अन्धकार से आवृत कर दिया जाए कि जिससे एक-दूसरे को भी कोई न जान सकें।[1] यह अश्रुगैस जैसा कोई पदार्थ हो सकता है, जिसे छोड़ने से गहन अन्धकार उत्पन्न हो जायेगा। इस युद्ध में दोनों ओर से वाणों की वर्षा हो रही है जिसे इस रूप में कहा गया है–

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव। साम.उ. 9/3/6/3

सामवेद में इन्द्र तथा अग्नि दोनों को ही शत्रुसेना का विनाशक कहा गया है। ये दोनों राजा तथा सेनापति ही हो सकते हैं। मन्त्र इस प्रकार है–

1. असौ या सेना मरुतः परेषामभ्येति व ओजसा स्पर्धमाना।
तां गूहत तसमापव्रतेन यथैतेषामन्यो अन्यं न जानात्। साम.उत्त. 9/3/4/3

अमित्रसेनां मघवन् अस्मान् शत्रूयतामभि

उभौ तामिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्चदहतं प्रति।। साम.उत्त. 9/3/6/2

इन्द्र तथा अग्नि इस प्रकार का युद्ध करें कि शत्रुसेना गिद्धों का भोजन बन जाए। यथा–

कङ्काःसुपर्णा अनुयन्त्वेनात् गृध्रामनमसावस्तु सेना। (साम.उत. 9/3/6/1)

सामवेद में सोम का भी पर्याप्त वर्णन है। इन्द्र सामवेद का प्रमुख देव है तथा उसे सोमप्रिय है। सामवेद में विस्तार से सोम के गुणों का वर्णन किया गया है। इसके लिए बार-बार पवस्व 'सहस्रधारया' कहा गया है। ये सहस्रधाराएं क्या हैं? इस पर विचार करना होगा। यहाँ आध्यात्मिक वर्णन है। सोम अर्थात् परमेश्वर के आनन्द में जब उपासक निमग्न होता है। तब उसके मानस में सहस्र धाराओं के रूप में ज्ञान का आविर्भाव होता है। उपासक इन धाराओं से उसी प्रकार सराबोर हो जाता है जिस प्रकार वर्षा की धाराओं में स्नान करने वाला व्यक्ति। सामवेद में यही उपमा इस रूप में दी गयी है–मधोः पवस्व धारया पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव। यह सोम उपासक के हृदय में ज्ञानज्योति को उत्पन्न करता है। जिसका वर्णन इस प्रकार किया गया है–

सना ज्योतिः सना स्वर्विश्वा च सोम सौभगा। अथा नो वयसस्कृधि।

साम, उ॰ 4/1/4/2

सना दक्षमुतक्रतुमपसोम मृधो जहि। साम॰, उ॰ 4/1/4/3

सामवेद में सोम को आयुवर्धक भी कहा गया है जो इसके सेवनकर्त्ता को सम्पूर्ण अर्थात् 100 वर्ष की आयु प्रदान करता है। इसे सामवेद में विश्वमायुमाकरम् के रूप में कहा गया है। सोम के समान जल के गुणों का वर्णन भी सामवेद में विस्तार ही किया गया है।

(4) अथर्ववेद

अथर्ववेद के विषय

काण्ड 1–विविध रोगों की निवृत्ति, पाशमोचन, रक्षोनाशन, शान्तिप्राप्ति आदि। काण्ड 2–रोगकृमि तथा शत्रुनाशन, दीर्घायुष्यप्राप्ति। काण्ड 3–राजा का निर्वाचन, शत्रुसेनासम्मोहन, शालानिर्माण, कृषि तथा पशुपालन।

काण्ड 4–ब्रह्मविद्या, विषनाश, राज्याभिषेक, वृष्टि, पापमोचन तथा ब्रह्मौदन। काण्ड 5–ब्रह्मविद्या तथा कृत्यापरिहार। काण्ड 6–दुःस्वप्ननाशक तथा अन्नसमृद्धि। काण्ड 7–आत्मा। काण्ड–8 प्रतिसरमणि, ब्रह्मवर्णन। काण्ड 9–मधुविद्या, पञ्चौदन, अज, अतिथिसत्कार, यक्ष्मनाश, गोमहत्त्व। काण्ड 10–कृत्या निवारण, ब्रह्मविद्या, सर्पविशनाश। काण्ड 11–ब्रह्मोदन, रुद्र, ब्रह्मचर्यसूक्त। काण्ड 12–पृथिवीसूक्त। काण्ड 13–अध्यात्म। काण्ड 14–विवाह। काण्ड 15–व्रात्यवर्णन। काण्ड 16–दुःखमोचन। काण्ड 17–अभ्युदय प्रार्थना, सम्मोहन। काण्ड 18–पितृमेध। काण्ड 19–यज्ञ, नक्षत्रनाम, मणियाँ, राष्ट्रवर्णन, सुरक्षा, काल, दीर्घायुष्य।

अथर्ववेद के प्रमुख सूक्त–

भूमिसूक्त–(12/1) इसमें भूमि की महिमा तथा गुणों का वर्णन करते हुए पृथिवी की सुरक्षा के उपाय बतलाये गये है तथा समस्त पृथिवी को मनुष्य मात्र की माता माना है।

ब्रह्मचर्य सूक्त–(11/5) इसमें ब्रह्मचर्य की महिमा बतलायी गयी है कि देव, राजा, आचार्य आदि सभी ब्रह्मचर्य के कारण ही राष्ट्र की रक्षा करते हैं तथा मृत्यु को भी जीत लेते हैं।

कालसूक्त–(19/53-54) इन दोनों सूक्तों में काल की महिमा बतलाते हुए कहा गया है कि यही विश्व का नियन्ता है। मनीषी ज्ञानी जन ही काल का सदुपयोग करके काल को जीतते हैं।

विवाहसूक्त–(14/1) इसमें आदर्श गृहपत्नी के कर्त्तव्य बतलाये गये हैं तथा विवाहोपरान्त पति-पत्नी कैसा अचारण करें, यह भी बतलाया गया है।

व्रात्यसूक्त–पन्द्रहवें काण्ड के 18 सूक्त व्रात्य सूक्तनाम से विख्यात हैं। इनमें व्रात्य का वर्णन ब्रह्मरूप में किया गया है। यही प्रजापति है तथा यही महादेव है।

मधुविद्यासूक्त–(18/1) इसके 24 मन्त्रों में मधुविद्या का वर्णन है। संसार के सभी पदार्थों में माधुर्य है इससे सांसारिक जन आनन्दित होते हैं। मधुमान होकर लोक को जीता जा सकता है।

ब्रह्मविद्यासूक्त–अथर्ववेद के कई सूक्तों में ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है। इसमें ईश्वर, जीव तथा प्रकृति का विवेचन है। ब्रह्म को अनेक नामों से

अभिहित किया गया है। यथा–विराड्ब्रह्म, उच्छिष्टब्रह्म, स्कम्भब्रह्म, रोहितब्रह्म, ज्येष्ठब्रह्म इत्यादि।

अथर्ववेद के विविध नाम

इस वेद के लिए अथर्ववेद, अथर्वाङ्गिरस्वेद, भैषज्यवेद, क्षत्रवेद, भृग्वङ्गिरस्वेद, ब्रह्मवेद आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं। इसका सबसे पुराना नाम, 'अथर्वाङ्गिरस्' है। यह नाम अथर्ववेद संहिता में ही प्राप्त होता है।[1] महाभारत[2], मनुस्मृति[3], याज्ञवल्क्यस्मृति (1/321) आदि ग्रन्थों में भी यह शब्द प्रयुक्त है। यह दो पदों का द्वन्द समास है। ब्लूमफील्ड आदि विद्वानों की धारणा है कि अथर्ववेद में अथर्वन् तथा अंगिरस् संज्ञक दो प्रकार की सामग्री समाविष्ट है। इनमें अथर्वन् का अर्थ शान्त तथा पौष्टिक कर्मों का उल्लेख करता है, जबकि अंगिरस् पद घोर कर्मों की ओर संकेत करता है।[4] कौशिक सूत्र (3/19) तथा वैतान सूत्र (5/10) में शान्त तथा घोर कर्मों का अन्तर दिखलाया गया है।

अथर्वा शब्द को गोपथब्राह्मण में अथार्वाक् का संक्षिप्त रूप माना गया है। 'अथ अर्वाक्=अथार्वाक्', अथर्वा। इसका अभिप्राय गोपथ में इस प्रकार दिया है–समीपस्थ आत्मा को अपने अन्दर देखना या जिस वेद में आत्मा को अपने अन्दर देखने की शिक्षा है।[5] अथर्ववेद (10/226 से 28) में भी इसी प्रकार अध्यात्मवर्णन वाले मन्त्र हैं। कुछ विद्वानों ने तो कौटिल्य और हिंसा अर्थ वाली थर्व धातु से अथर्वन् की व्युत्पत्ति मानी है, परन्तु ऐसी कोई धातु पाणिनीय धातुपाठ में नहीं है। भ्वादिगण में धुर्वी धातु हिंसार्थक पाठित है। यास्क ने थर्व धातुको गतिकर्मा मानकर अथर्वा को इसका प्रतिषेध वाचक माना है।[6] इस प्रकार अथर्वा को स्थिरता का वाचक भी माना जाता है।

1. सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्। अथर्व. 10/7/20
2. अथर्वाङ्गिरसि श्रुतम्। महाभारत, 3/305/2
3. अथर्वाङ्गीरसी श्रुतिः। मनु. 11/32
4. ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद भूमिका, अनुवाद, भू.पृ. 18
5. अथ अर्वाग् एनम्...तदथर्वाऽभवत्। गो०ब्रा० 1/4
6. अथर्वाणोऽथर्वणवन्तः। थर्वतिश्चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः। नि. 11/18

2. क्षत्रवेद—शत. 14/8/14/1-4 में अथर्ववेद के लिए क्षत्रवेद का प्रयोग किया गया है। अथर्ववेद में राजनीति विषयक पर्याप्त सामग्री होने से सम्भवत: इसे यह नाम दिया गया है।

3. भृग्वङ्गिरो वेद—गोयथ ब्राह्मण आदि परवर्ती ग्रन्थों में यह नाम प्राप्त होता है। इसका प्रयोग आथर्वणिक ग्रन्थों के अतिरिक्त कहीं नहीं मिलना।

4. ब्रह्मवेद—गोपथब्राह्मण 1/2/16 में सर्वप्रथम ब्रह्मवेद शब्द का प्रयोग मिलता है। मुण्डकोपनिशद् में कुछ पाठान्तर के साथ तथा रामायण 1/65/22 एवं महाभारत 7/23/39 में भी यह नाम प्राप्त होता है। सम्भवतः अथर्ववेद में ब्रह्मविषयक पर्याप्त सामग्री होने के कारण उसे यह नाम दिया गया है।

5. भिषग्वेद—अथर्ववेद में विभिन्न रोगों तथा ओषधियों का उल्लेख होने से इसे भिषग्वेद भी कहा जाता है।

अथर्ववेद की शाखाएँ

पतंजलि ने महाभाष्य में "नवधाऽऽथर्वणो वेदः" कहकर नौ शाखाओं का उल्लेख किया है। सायण की अथर्ववेदभाष्य-भूमिका, प्रपंचहृदय और चरणव्यूह में भी नौ शाखाओं को ही उल्लेख है लेकिन इनके नामों में भेद है। इनके नाम इस प्रकार वर्णित हैं। (1) पैप्पलाद (2) तौद (3) मौद (4) शौनकीय (5) जाजल (6) जलद (7) ब्रह्मवेद (8) देवदर्श (9) चारणवैद्य। कौशिकसूत्र व्याख्या (4/1/86) तथा अथर्वपरिशिष्ट (22/2) से पता चलता है कि चारणवैद्य शाखा थी तथा इसमें 6026 मन्त्र थे। इस समय यह शाखा अनुपलब्ध है। मौदशाखा का उल्लेख महाभाष्य (4/1/86) तथा शाबरभाष्य (1/1/30) में प्राप्त होता है। इनमें से केवल शौनक और पैप्पलाद की ही संहिताएँ उपलब्ध हैं। अथर्ववेद के पंचमांश मन्त्र ऋग्वेद के मन्त्रों के समान ही हैं।

(1) शौनकीय शाखा—अथर्ववेद संहिता की शौनकीय शाखा ही आजकल प्रचलित है। इसका विभाजन काण्ड, अनुवाक तथा सूक्त रूप में है। इसमें 20 काण्ड, 730 सूक्त एवं 5987 मन्त्र हैं। इसमें सबसे बड़े काण्ड 20 में (मन्त्र 958), 6 में (मन्त्र 454) और 19 में (मन्त्र 453) हैं। अथर्ववेद का सबसे छोटा काण्ड 17वाँ है। इसके मन्त्रों की संख्या केवल 30 है। अथर्ववेद में भी यजुर्वेद के समान गद्य अंश है जो पूरे ग्रन्थ का लगभग 1/6 है। गद्य में 50 से अधिक सूक्त हैं। 15वाँ सारा तथा 16 वाँ कांड तथा अन्य कांडों में मिलाकर 30 सूक्त गद्यबद्ध है।

शौनक संहिता का प्रतिपाद्य

पाश्चात्य विद्वानों ने एक भ्रान्त धारणा को जन्म दिया कि अथर्ववेद में अभिचार सम्बन्धी मन्त्रों का संकलन है। वे इसे श्वेत White तथा कृष्ण Black यातु सम्बन्धी कार्यों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का संकलन मानते थे। विद्वानों द्वारा अब इस धारणा का प्रतिवाद करके अथर्ववेद के वास्तविक स्वरूप को प्रकट किया जा रहा है जैसा कि ब्रजबिहारी चौबे लिखते हैं 'यह धारणा गलत हैं। वस्तुः अथर्ववेद में ऐहिक तथा आमुष्मिक दोनों प्रकार के विषयों से सम्बन्धित सूक्त हैं। जिसको अभिचार कर्म कहा जाता है, वह श्वेत या कृष्ण यातु नहीं, बल्कि सामान्य वैदिक समाज में प्रचलित गृह्यकर्म है।"[1]

इस प्रकार के मन्त्र ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में भी स्वल्प मात्रा में विद्यमान हैं। अथर्ववेद में वे अधिक हैं। अथर्ववेद में जनसामान्य के जीवन से सम्बन्धित सूक्त अधिक मात्रा में विद्यमान हैं। अथर्ववेद के विषयों को तेरह वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–(1) भैषज्यानि, (2) आयुष्याणि, (3) अभिचार कर्माणि, (4) स्त्रीकर्माणि, (5) राजकर्माणि, (6) सांमस्यानि, (7) पौष्टिकानि, (8) प्रायश्चितानि, (9) ब्रह्मकर्माणि, (10) सृष्टिविद्या, (11) कर्मकाण्ड, (12) एक-एक काण्डों में प्रतिपादित विषय, (13) कुन्ताप।

विभिन्न रोगों के नाम, उनके शमन के उपाय, चिकित्सा तथा ओषधियों से सम्बन्धित सूक्त भैषज्यानि कहलाते हैं। ऐसे कुछ रोगों के नाम इस प्रकार हैं–यक्ष्मा, कुष्ठ, कास, क्लीवत्व, गण्डमाला, उन्मत्तता, मूत्रावरोध, हृदयरोग, पीलिया, क्षेत्रियरोग आदि की चिकित्सा वर्णित है। अथर्व. 6/109 में पिप्पली नामक औषधि से कटे अंग की चिकित्सा वर्णित है। सर्प आदि के विष के प्रभाव को दूर करने का वर्णन भी यहाँ है। अथर्व 1/3 में मूत्रावरोध तथा 1/2, 2/3 में अतिसार की चिकित्सा वर्णित है। अथर्व. 4/12 तथा 5/5 में अरुन्धती, लाक्षा, सिलाची आदि ओषधियों से धाव तथा टूटी हड्डियों की चिकित्सा का वर्णन है। चर्मचिकित्सा तथा मज्जा आदि की वृद्धि भी यहाँ वर्णित है।[2]

---

1. सं. वा. का बृहद् इति., प्रथम भाग, पृ. 351
2. मज्जा मज्जा संधीयतां चर्मणा चर्म रोहतु।
   असृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु।।। अथर्व. 4/12/4
   लोम लोम्ना सं कल्पनया त्वचा सं कल्पनया त्वचम्। वही, 4/12/5

आयुष्याणि सूक्तों के अन्दर दीर्घायुष्य के साधनों तथा दीर्घायु के बाधक रोगों तथा कीटाणुओं के विनाश का वर्णन है। इस वर्ग के मन्त्रों का सम्बन्ध यजुर्वेद के यजुष् मन्त्रों से है जिनमें आयुष्य आदि की कामना की गयी है। दाक्षायण हिरण्य को धारण करने का उल्लेख भी मिलता है।[1] तै॰ 3/8/2/4 कहता है—वीर्यं वै हिरण्यम्। ओजस् के रूप में परिवर्तित होने वाला वीर्य ही दाक्षायणा हिरण्य है। यह ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारियों का होता है। यथा—भीष्म पितामह का। अन्यत्र भी 'ब्रह्मचर्यं आयुष्यम्' ब्रह्मचर्य को आयुवर्धक कहा गया है। मानवशरीर का ऊर्ध्व भाग ही उत्तरायण तथा अधोभाग दक्षिणायन है। सामान्य जनों का वीर्य अधोगामी होता है जबकि विशुद्ध ब्रह्मचारियों का वीर्य ऊर्ध्वगामी होकर ओज में परिवर्तित हो जाता है। यही दाक्षायण हिरण्य है।

अभिचारविषयक मन्त्रों में मानवशत्रुओं, पशु आदि के नाशकों के विनाशार्थ अनेक प्रकार के कार्यों का वर्णन है। वहाँ इन्हें पिशाच, राक्षस, अतव्य, सदान्वा, यातुधान, किमीदिन आदि नाम देकर इनके विनाश के उपाय बतलाये गये हैं। यथा—अथर्व॰ (1/16/4) में गाय, अश्व आदि पशुओं तथा मनुष्यों को मारने वाले मनुष्य रूपी राक्षसों के वधार्थ सीस नामक धातु के प्रयोग का विधान है।[2] सम्भवतः यह बन्दूक आदि में प्रयुक्त होने वाली सीसे की गोली हो सकती है। अथर्व॰ 1/7, 7, 28 में यातुधान, किमीदिन, पिशाच आदि के विनाशार्थ अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहा गया है। कि यह हवि यातुधानों को नदी के फेन की भाँति दूर कर दे।[3] यह कोई अभिचारिक कर्म नहीं है, अपितु यज्ञिय हवि के द्वारा रोग के कीटाणुओं के विनाश का उपाय हैं। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि यज्ञ के द्वारा नाना प्रकार के रोगाणु नष्ट होते हैं इन्हें ही यहाँ पिशाच कहा गया है। पिशितं मासंम् अञ्चन्तीति पिशाचाः। अर्थात् जो रोगों के कीटाणु शरीर में प्रविष्ट होकर रक्त तथा मांस चूसते हैं, वे ही पिशाच हैं। इनके नाश के उपाय यहाँ पर वर्णित हैं।

स्त्रीकर्माणि सूक्तों में मुख्य रूप में स्त्रियों से सम्बन्धित कार्यों—विवाह, संस्कार, स्त्री-पुरुष का प्रेम आदि का वर्णन है। एक मन्त्र में पति द्वारा अपनी

---

1. नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमं ह्येतत्।
   यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः।। अथर्व. 1/35/2
2. यदि नो गां हंसि यदश्वं यदि पूरुषम्।
   तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा। अथर्व॰ 1/16/4
3. इदं हविर्यातुधानान् नदीफेनमिवावहत्। अथर्व॰ 1/8/1

स्त्री के मन को अपने प्रति अभिमुख करने का उपदेश है।[1] यह कार्य अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा गृहस्थजीवन ठीक नहीं चल पायेगा। ऐसे मन्त्रों को वशीकरण नाम देकर व्यर्थ ही इन पर आक्षेप किया जाता है। विवाहिता स्त्री के आत्मा तथा शरीर में कोई दोष है तो उसे दूर करने की प्रार्थना अथर्व॰ 1/18 में की गयी है। वैवाहिक जीवन तथा सन्तानोत्पत्ति से सम्बन्धित कई सूक्त इसमें प्राप्त होते हैं। पति-पत्नी के मन एक दूसरे के अनुकूल रहने के लिए कहा गया है–

अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति। अथर्व॰ 7/36/1

इस प्रकार अथर्ववेद में विवाह एवं दाम्पत्यप्रेम विषयक स्वतन्त्र सूक्त हैं जिनमें विवाह का आदर्श बतलाया गया है।

सांमनस्यानि सूक्तों द्वारा परिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन में सामंजस्य स्थापित किया गया है।[2] इसके अभाव में सर्वत्र ईर्ष्या-द्वेष, कलह तथा दुःख दिखलाई देता है। अतः सामंजस्य अति अनिवार्य है। इस विषय में अथर्व॰ (3/30) का सामंनस्य सूक्त सुप्रसिद्ध हैं इसमें कहा गया है कि हम सभी द्वेषरहित तथा सहृदय बनें तथा परस्पर प्रेम भाव से रहें। परिवार में पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई आदि परस्पर अनुकूल रहें। घर में प्रधान पुरुष के साथ मिलकर सभी रथ के चक्र की भाँति गतिशील रहें। यहीं पर सामाजिक दृष्टि से कहा गया है कि समाज में सभी व्यक्तियों के खाने-पीने के स्थान सर्वसामान्य होने चाहिए।[3] न कि छुआछूत तथा जाति आदि के आधार पर पृथक् पृथक्।

राजकर्माणि सूक्तों में राष्ट्र, राजा, प्रजा, शासनव्यवस्था, सैन्य, राज्यकोष, राजा का निर्वाचन तथा कर्त्तव्य आदि अनेक बातों का उल्लेख किया गया है। अथर्व॰ 3/4 में समस्त प्रजाजनों के द्वारा राजा के निर्वाचन का उपदेश है।[4] यहाँ पर मतपत्र को पर्णमणि नाम दिया गया है। इस प्रकार इन सूक्तों में सम्पूर्ण राज्य व्यवस्था चित्रित है।

---

1. यथेदं भूम्या अधि तृणो वातो मथायति।
   एवा मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः। अथर्व॰ 2/30/1
2. समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मन्त्रं सह चित्तमेषाम्।
   समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभि संविशध्वम्।। अथर्व॰ 6/64/1-2
3. समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
   समयञ्चोऽग्निं समर्यतारा नाभिमिवाभितः।। अथर्व॰ 3/30/6
4. त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पंचदेवीः। अथर्व॰ 3/4/2

पौष्टिकानि सूक्तों में प्रायः गृह, अन्न, वर्षा, पशु, व्यापार, प्रवास आदि की सुरक्षा, वृद्धि एवं पुष्टि की कामना की गयी है। कृषि तथा वाणिज्य का वर्णन भी यहाँ पर है।

पापनिवारकानि मन्त्रों में पाप या अपराध को दूर करने की प्रार्थना की गयी है। एतद्विषयक लगभग 40 सूक्त हैं। इन सूक्तों को प्रायश्चित्तानि नाम ब्लूमफील्ड आदि ने दिया है, किन्तु इसके स्थान पर पापनिवारकानि नाम ही उपयुक्त है। एक विचित्र बात यह है कि अथर्ववेद में स्वप्न में किये गये पाप से पाप से छूटने की भी प्रार्थना की गयी है।[1]

ब्रह्मण्यकर्माणि सूक्तों में ब्राह्मण की वृद्धि तथा महत्ता विषयक कई सूक्त हैं। इनमें 5/17 सूक्त ब्रह्मजाया के नाम से प्रसिद्ध है। 5/18-19 सूक्तों की ब्रह्मगवी संज्ञा है इनमें ब्राह्मण की हत्या का निषेध हैं कुछ मन्त्रों में ब्राह्मण के पौरोहित्य का भी उल्लेख है।[2] अवधेय है कि यहाँ ब्राह्मण पद जाति वाचक नहीं है। कई सूक्तों में दक्षिणा, दीक्षा, मेधा, तप आदि की प्रशंसा की गयी है। इन गुणों से ही व्यकित ब्राह्मण बनता है। सृष्टिविषयक सूक्तों में सृष्टितत्त्व का विवेचन किया गया है। ब्रह्म का इनमें विशेष वर्णन है। इन सूक्तों में प्रमुख सूक्त ये हैं—विराट् सूक्त (8/9-10), काम (9/2), पञ्चौदन अज (79/5), अतिथि (9/6), आत्मा (9/9-10), ब्रह्म प्रकाशन, (10/2), सर्वाधार ब्रह्म (10/7), ज्येष्ठ ब्रह्म (10/7), ब्रह्मौदन (11/1), उच्छिष्ट ब्रह्म (11/7), रोहित (13/1-9)। ये सभी सूक्त अध्यात्मप्रधान, सृष्टिविषयक तथा सर्वोच्च कोटि के हैं। इन्हें देखकर ब्लूमफील्ड भी अपनी इस शंका का निराकरण नहीं कर सके कि अभिचार कार्यों के प्रतिपादक अथर्ववेद में इतनी उच्च कोटि के सूक्त कैसे आ गये। वस्तुत अथर्ववेद को अभिचार का वेद कहना ही ब्लूमफील्ड की मिथ्या धारणा है। याज्ञिकानि सूक्तों में हविप्रदान, सोमदान आदि का वर्णन है। अथर्व॰ 5/87 के आप्री सूक्तों का यज्ञ से विशेष सम्बन्ध है।

इनके अतिरिक्त ऐसे सूक्त भी विद्यमान हैं जिनमें एक-एक विषय का ही प्रतिपादन किया गया है। यथा—बारहवें काण्ड का भूमिसूक्त पृथिवी की महिमा का विशद् वर्णन करता है। 14वां काण्ड विवाह विषयक है। सबसे अन्त में

1. यदि जाग्रद् यदि स्वप्नेन एनस्योकरम्।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम्।। अथर्व॰ 6/115/2
2. संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः। अथर्व॰ 3/19/1

20वें काण्ड के 10 सूक्तों (127–136) एक समुदाय कुन्ताप सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। इन्हें खिल भी माना जाता है। गोपथ-ऐतरेय तथा कौषीतकि ब्राह्मणों के अनुसार कुन्ताप शब्द का अर्थ पापकार्यों को जलाने वाला सूक्त या मन्त्र है। यज्ञविधान में इन मन्त्रों का प्रयोग आवश्यक था।

(2) पैप्पलाद शाखा–इस शाखा की पैप्पलाद संहिता उपलब्ध है। 1970 में कश्मीर के राजा महाराज रणवीर सिंह को अपने पुस्तकालय में शारदा लिपि में भोजपत्रों पर इसका हस्तलेख मिला था।[1]

बाद 1895 में यह धूर्विजन वि॰वि॰ को मिली जिसके आधार पर 1901 में अमेरीका के बाल्टीमोर नगर से इसका रंगीन फोटो प्रकाशित किया गया। इसके आधार पर ब्लूमफील्ड ने 1901 में 'दि कश्मीरियन अथर्ववेद' के नाम से अंग्रेजी अनुवाद के साथ इसे प्रकाशित किया था।[2] बाद में डॉ॰ रघुवीर ने भी इसका सुन्दर संस्करण प्रकाशित कराया था।

प्रपंचहृदय में पैप्पलाद संहिता का उल्लेख मिलता है।[3] महाभाष्य में अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र 'शन्नोदेवी' माना गया है। गृह्यसूत्रों में भी यही मन्त्र उद्धृत है। यह मन्त्र पैप्लाद संहिता में ही है, शौनक में नहीं।

सन् 1959 में दुर्गामोहन भट्टाचार्य को पैप्पलाद संहिता के कई हस्तलेख प्राप्त हुए। उन्होंने इसका सम्पादन किया। इसका प्रथम खण्ड 1964 में तथा दूसरा खण्ड 1970 में कलकत्ता संस्कृत कॉलेज से प्रकाशित हुआ।

पैप्पलाद संहिता का विभाग

वह संहिता भी 20 काण्डों में विभक्त है। सम्पूर्ण संहिता में 923 कण्डिका या सूक्त तथा 8000 से कुछ कम मन्त्र हैं, जबकि शौनक संहिता में 762 सूक्त तथा 5977 मन्त्र हैं। पैप्लाद संहिता में 3000 ऐसे मन्त्र हैं जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलते।

---

1. इस हस्तलेख की दो प्रतियाँ तैयार की गयी थी। एक प्रति अब भाण्डारकर ओरिण्यल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना में है तथा दूसरी प्रति 1874 में महाराजा ने राथ को दी थी। यह प्रति कश्मीर में 1926 विक्रमी में तैयार की गयी थी। पं॰ भगवदत्त, वै॰वा॰ का इति॰ भाग 1, पृ॰ 253
2. पं॰ भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, पृ॰ 223
3. तथाथर्वणिके पैप्पलादशाखायां मन्त्रो विंशतिकाण्डः। प्र॰ हृदय

विषय वस्तु–शौनक संहिता के समान ही इसकी विषय वस्तु भी दो भागों में विभक्त है–ऐहिक फलभाग तथा आमुष्मिक फलभाग। आथर्वणकर्म से सम्बन्धित ऐहिक कर्मों के अन्तर्गत यहाँ दो प्रकार की सामग्री प्राप्त होती है–शान्त या कल्याणकारी मन्त्र तथा घोर, हिंसक मन्त्र। दुर्गामोहन भट्टाचार्य के अनुसार ब्रह्मसूत्र के रचयिता बादरायण तथा इसके भाष्यकर्ता शंकराचार्य ब्रह्म की सत्ता के प्रतिपादन में पैप्पलाद संहिता पर अधिक आश्रित रहे हैं।

प्रचारदेश–पहले इसे कश्मीर से सम्बन्धित माना जाता था, किन्तु दुर्गामोहन भट्टाचार्य का कथन है कि पहले यह संहिता उत्तर भारत में प्रचलित थी, पश्चात् मध्यकाल में दक्षिण भारत में प्रचलित रही। प्रथम शताब्दी के अन्त में यह कर्नाटक से आन्ध्र होती हुई उड़ीसा पहुँची।

अथर्ववेद में कृत्या-अभिचार आदि

अथर्ववेद में जिन मन्त्रों के आधार पर कृत्या, अभिचार, सम्मोहन, वशीकरण, जादू-टोने आदि का वर्णन माना जाता है, उनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है। अथर्ववेद के कई मन्त्रों में कृत्या पद पठित है तथा 5/31 सूक्तों का देवता 'कृत्या परिहाणम्' है। इनके आधार पर कृत्या का वर्णन अथर्ववेद में माना तो जाता है, किन्तु कृत्या के स्वरूप को किसी ने भी स्पष्ट नहीं किया है। केवल अनुमान या पूर्वाग्रह के आधार पर इन्हें कोई मारक प्रयोग मान लिया गया।

इस सूक्त में विभिन्न प्राणियों तथा पदार्थों के कृत्या करने का विधान है, किन्तु यह कृत्या किस प्रकार की जायेगी, इसका स्वरूप क्या है, ऐसा वर्णन यहाँ प्राप्त नहीं होता।

(1) कृत्या–चतुर्थ काण्ड के 14-15 सूक्तों से कृत्या के स्वरूप पर कुछ प्रकाश पड़ता है। सूत 17 का देवता 'अपामार्ग ओषधिः' है। सूक्त में भेषज तथा ओषधि पदों का प्रयोग कई बार हुआ है। मूर्च्छा, दुःस्वप्न आदि रोगों की ओषधियाँ भी यहाँ पर वर्णित हैं। अपामार्ग (कुकुरमुत्ता) को क्षुधा तथा तृषा का मारक (मं॰ 6-7) में कहा गया है। यह परीक्षित प्रयोग है कि अपामार्ग के बीजों को दूध में पकाकर खीर बनाकर खाने से लगभग एक मास तक भूख नहीं लगती। सूक्त के अष्टम मन्त्र में अपामार्ग को सभी ओषधियों का वशकर्त्ता कहा गया है।[1] इसी सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में कृत्या का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है।

---

1. अपामार्ग औषधीनां सर्वासामेक इद् वशी, अथर्व॰ 4/17/8

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते।

आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि।। अथर्व॰ 4/17/4

इस सूक्त के आठ मन्त्रों में केवल इसी अकेले मन्त्र में कृत्या का वर्णन है। अन्य मन्त्रों में रोगों तथा ओषधियों के नाम हैं। इससे प्रतीत होता है कि कृत्या के रूप में ये भी रोगविशेष ही हैं जो कि व्यक्ति के मांस तथा रुधिर आदि में उत्पन्न होते हैं। आठों मन्त्रों में से अकेला यही मन्त्र प्रकरण विरुद्ध नहीं हो सकता।

इसी काण्ड के अठारहवें सूक्त में भी आठ मन्त्र हैं। इस सूक्त का देवता भी 'अपामार्ग वनस्पति' ही है। सूक्त में ओषधियों तथा कृत्या का वर्णन कई बार आया है। सूक्त में पंचम मन्त्र में स्पष्ट रूप में कहा गया है कि ओषधि के द्वारा मैंने ऐसी कृत्या को नष्ट कर दिया। जिसे क्षेत्र, गौओं तथा पुरुषों में किया गया था।

अनयाऽहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम्।

यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु।। अथर्व॰ 4/18/5

इसका वर्णन बिल्कुल स्पष्ट ही है कि यहाँ रोग को ही कृत्या नाम से कहा गया है। ये रोग पशुओं तथा मनुष्यों में तो होते ही हैं, खेतों में खड़ी फसल में भी लग जाते हैं जिससे पूरी फसल ही नष्ट हो जाती है। आजकल कीटनाशक ओषधियों के प्रयोग से फसल के रोगों को नष्ट किया जाता है। सूक्त के अन्तिम मन्त्र में कहा गया है कि जो भी यातुधान = रोगोत्पादक कृमि तथा अरातियाँ हैं, उन सबको हम अपामार्ग के द्वारा दूर हटाते हैं।[1] यह अनुसन्धान का विषय है कि अपामार्ग में किन-किन रोगों तथा रोगकीटाणुओं को नष्ट करने की शक्ति है।

अथर्व॰ काण्ड 5, सूक्त 31 का देवता भी 'कृत्यादूषणम्' है। इसमें 12 मन्त्र हैं। इनमें गर्दभ आदि पशुओं, कृकवाक आदि पक्षियों, तथा सेना, कूप, श्मशान आदि स्थानों के नाम लेकर कहा गया है कि इनमें यदि कृत्या का प्रयोग किया गया है तो उसे हम दूर करते हैं। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि कृत्या ऐसे घातक प्रयोग हैं जिन्हें शत्रु विभिन्न प्राणियों के वधार्थ या हानि पहुँचाने के लिए करता है। कूओं में विष मिला देना, सभास्थल या सेना आदि में कोई ऐसी वस्तु

1. अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपमृज्महे। अथर्व॰ 4/18/8

छिपा कर रख देना जो नियत समय पर सामुहिक रूप में सबको हानि पहुँचाए। आजकल आतंकवादियों द्वारा बम का प्रयोग करना इसी प्रकार का कार्य है। सेना के गन्तव्य स्थल में भी इन्हें सुरंग बिछाकर छिपा दिया जाता है। राजा बनकर चन्द्रगुप्त मौर्य जिस नवनिर्मित राजमहल में प्रवेश करने वाला था, उसमें सुरंग बनाकर नन्द के महामन्त्री अमात्य राक्षस ने विस्फोटक पदार्थ भरवा दिये थे। चन्द्रगुप्त के शयन कक्ष में भी हत्यारों को छिपा दिया गया था, उसके पीने की ओषधि में विष मिला दिया गया था, ये सभी प्रयोग सम्राट् चन्द्रगुप्त के वधार्थ गुप्त रूप से राक्षस ने कराये थे, जिनको आचार्य चाणक्य ने असफल कर दिया था। इसी प्रकार के धाातक प्रयोग कृत्या कहे जा सकते हैं।

(2) सम्मोहन–अथर्व॰ काण्ड 3, सूक्त 8 आदि को इस पक्ष में प्रस्तुत करके कहा जाता है कि मन्त्रों के द्वारा किसी भी व्यक्ति अथवा प्रतिपक्षी को सम्मोहित कर दिया जाता है। इस सम्बन्ध में इस सूक्त का निम्न मन्त्र उद्धृत किया जाता है–

अहं गृम्णामि मनसा मंनासि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।

मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत। अ॰ 3/8/6

अर्थात् मैं तुम्हारे मन, हृदय, गति आदि को अपने वश में करता हूँ। सूक्त का देवता 'मित्र तथा विश्वदेवाः' हैं। वस्तुतः यह तो एक प्रकार से राष्ट्रपति का अभिभाषण है। इसके प्रथम मन्त्र में ही स्पष्ट रूप में कहा गया है–'बृहद् राष्ट्रम् अस्मभ्यं संवेश्यं दधातु।' हम सब प्रजाजनों के लिए इस महान् राष्ट्र को प्रवेशयोग्य बना कर धारण करे। पूरे सूक्त में इसी का वर्णन हैं। सूक्त के पंचम मन्त्र में कहा गया है कि हम तुम्हारे मन, व्रत, संकल्प आदि को परस्पर मिलाते हैं। जो लोग विव्रत = व्रत रहित हो गये हैं, उन्हें अनुकूल करते हैं। यह किसी प्रकार का सम्मोहन नहीं है। आजकल भी अनेक व्यक्ति राष्ट्रीय भावनाओं एवं एकता के प्रतिकूल कार्य करते रहते हैं। कश्मीरी अलगाववादी तथा असम के उल्फा आदि संगठन इसी प्रकार के हैं। राष्ट्रपति इन्हें राष्ट्रीय धारा में लाने के लिए उक्त अभिभाषण देता है तथा प्रयत्न करता है।

अथर्व॰ काण्ड 4 सूक्त 5 में भी सम्मोहन माना जाता है इस सूक्त का देवता 'स्वप्नम्, वृषभः' है। पूरे सूक्त में यही भाव व्यक्त किया गया है कि विभिन्न प्राणियों को हम स्वापयामसि = सुला देते हैं। यह सूक्त तो स्पष्टतः अनिद्रा रोग का नाशक हैं अनेक प्रकार के रोगों, मानसिक विकारों तथा चिन्ताओं के कारण

व्यक्ति अनिद्रा का शिकार बन जाता है। वह रात्रि में भी नहीं सो पाता। आजकल शहरों में यह रोग प्रचुर रूप में देखा जाता है। इस सूक्त में इसी अनिद्रा रोग की चिकित्सा का विधान है। यह किसी प्रकार की जादू जैसा सम्मोहन (Hipnotism) नहीं है।

(3) वाजीकरण–अथर्व० काण्ड 4 के सूक्त 4 को वाजीकरण का प्रतिपादक माना जाता है। इसका देवता वनस्पति है तथा सूक्त में ओषधियों का वर्णन है। इनमें पुरुष के जननेन्द्रिय को सशक्त करने की ओषधि का वर्णन भी है। नपुंसकता एक रोग है, जो पुरुषों में आजकल भी देखा जाता है। ऐसा व्यक्ति सन्तान उत्पन्न करने में भी समर्थ नहीं होता। इस सूक्त में ऐसे ही व्यक्ति की चिकित्सा का विधान है। इसमें न कोई जादू हैं तथा नहीं अश्लीलता। आजकल भी इस रोग की चिकित्सा की जाती है।

(4) वशीकरण–यह भी माना जाता है कि अथर्ववेद में ऐसे मन्त्र पठित हैं जिनके द्वारा किसी को भी अपने वश में किया जा सकता है। कौशिकसूत्र में मानसिक एकता उत्पन्न करने के लिए अथर्ववेद के सात सूक्तों[1] का विनियोग करके कुछ विधियों का उल्लेख किया गया है। यथा–कलहरत जनसमुदाय के चारों ओर घृतानुलिप्त कलश को घुमा कर उनके मध्य उड़ेल दिया जाता है। इन सूक्तों में सांमनस्य = मन की अनुकूलता का तो उल्लेख है, किन्तु वेद में कौशिक सूत्र में वर्णित विधियाँ निर्दिष्ट नहीं है। वेद में इस सामंजस्य को उत्पन्न करने के साधन सहृदयता, प्रेम तथा द्वेषरहितता आदि दिये गये हैं।

अथर्व० 3/30/7 में सामंजस्य को उत्पन्न करने का एक साधन संवनन भी दिया गया है।[2] सायणाचार्य ने संवनेन का अर्थ 'वशीकरणेन सामंजस्यकर्मणा' दिया है। इससे ऐसी भ्रान्ति होती है कि इन मन्त्रों को पढ़कर किसी को अपने वश में किया जा सकता है। इनका यह अर्थ नहीं है। यदि ऐसा होता तो कोई भी व्यक्ति अपने विरोधी या शत्रु को इन मन्त्रों का पाठ करके ही वश में कर लिया करता, किन्तु ऐसा नहीं होता है। संवनन में 'वनषण सम्भक्तौ' 'वन' धातु हैं इसका अर्थ परस्पर मेल है, वशीकरण नहीं। इस सूक्त में सामंजस्य उत्पन्न करने के साधन ही गिनाये गये हैं। कौशिक सूत्र में इन

1. अथर्व० 3/30, 5/1/5, 6/64, 6/73, 6/74, 6/94, 7/52
2. सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन् संवनेन सर्वान्। अ० 3/30/7

मन्त्रों को कर्मकाण्ड विशेष से सम्बन्धित करके धार्मिक रूप दे दिया गया है, जिससे कि लोगों की श्रद्धा बनी रहे।

अथर्व० 2/30 सूक्त भी ऐसा ही है। कहा जाता है कि इस सूक्त के द्वारा कन्याओं के मन को वश में किया जाता है। इस सूक्त में पाँच मन्त्र हैं। इनमें बतलाया गया है कि विवाह के लिए वर-वधू में कौन से गुण अनिवार्य रूप में होने चाहिएं। उन दोनों का भग = ऐश्वर्य अर्थात् धन-सम्पत्ति, मन तथा कार्य एक दूसरे के अनुकूल होने चाहिएं।[1] आजकल भी लोक में ऐसा ही देखने में आता है। विपरीत होने पर विरोध या अलगाव भी देखा जाता है। अन्तिम पंचम मन्त्र में यह भी कहा गया है कि वर-वधू दोनों के अन्दर ही एक दूसरे के प्रतिकामना होनी चाहिए तभी प्रेम स्थिर रहेगा।[2]

(5) इन्द्रजाल–अथर्ववेद में इन्द्रजाल का वर्णन भी माना जाता है। आजकल इन्द्रजाल जादू जैसे कार्यों के लिए प्रसिद्ध है जैसा कि अनेक जादूगर अपने आश्चर्यजनक खेल दिखलाया करते हैं। वेद में भी ऐसे कार्यों का प्रतिपादन समझ लिया जाता है। इस विषय में अथर्व० काण्ड 8 के सूक्त 8 को उपस्थित किया जाता है। इस सूक्त में 24 मन्त्र हैं। इस पर विचार करते हैं–

इस सूक्त का देवता 'इन्द्रः वनस्पतिः परसेनाहननं च' हैं। इस सूक्त में सेना पद कई बार पठित है तथा इन मन्त्रों का भाव है कि इन्द्र ने शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न, नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इन्द्र के विशेषण यहाँ शक्रः, पुरन्दरः आदि दिये गये हैं। इस सूक्त में उन उपायों का वर्णन है, जिनके द्वारा शत्रु सेना पर विजय प्राप्त की जा सकती है। यथा–शत्रुसेना के आयुधों को नीचे गिरा देना। अपने मारक अस्त्रों से ऐसा अब भी किया जाता है। तोपों से विमान तक को नीचे गिरा दिया जाता है। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि शत्रुसेना को हरा कर उनसे आत्मसमर्पण (Surrender) करा देना। सेना में अग्नि का प्रयोग करना धूम्र से उनकी दृष्टि अवरुद्ध कर देना, किसी बड़े जाल में सैनिकों को अवरुद्ध कर देना अर्थात् सेना का घेरा आदि डाल देना। इस प्रकार के प्रयोग सेना द्वारा प्रतिपक्षी सेना को जीतने के लिए आजकल भी किये जाते हैं।

इस सूक्त के कई मन्त्रों में जाल तथा इन्द्रजाल शब्द आये हैं। यह कोई वर्तमान जादू जैसा कार्य नहीं है, अपितु इन्द्र अर्थात् राजा के द्वारा शत्रुसेना के विनाशार्थकिये गये उपाय हैं। सूक्त के अष्टम मन्त्र में लोक को ही इन्द्र-राजा का इन्द्रजाल

---

1. सं वां भगासो अग्मत संचित्तानि समु व्रता। अथर्व० 2/30/2
2. एयमगन्पतिकामा जनिकामोऽहमागमम्। अथर्व० 2/20/5

कहा गया हैं। इस लोक अर्थात् अपनी प्रजा रूपी इन्द्रजाल की सहायता से सम्राट् शत्रुसेना को परास्त करे। इस प्रकार पूरे सूक्त में यही वर्णन है कि राजा-इन्द्र द्वारा शत्रुसेना को किस प्रकार वश में किया जाए। सूक्त के अन्तिम मन्त्र में राजा घोषणा करता है कि इधर भी हमारी विजय है, उधार भी हमारी विजय है, हम अच्छी प्रकार जीतते हैं। हमारे सैनिक जीतें तथा शत्रु सैनिक पराजय को प्राप्त हो।[2]

यहाँ पर यह बात विशेष ध्यान देने की है कि इस सूक्त में इन्द्र द्वारा दस्युओं की सेना को मारने की ही बात कही गयी है—दस्यूनां शक्र: सेनामयामयत् (मं॰ 5)। प्रत्येक राष्ट्र में राष्ट्र एवं प्रजाविरोधी गुप्त संगठन होते हैं। डाकू भी अपने संगठन रखते हैं। ये सभी राष्ट्रविरोधी जन दस्यु पद वाच्य हैं। ये शस्त्रस्त्रों से भी सुसज्जित रहते हैं तथा राष्ट्र की सेना एवं नागरिकों पर आक्रमण करते रहते हैं। आजकल भी आतंकवादियों के कई संगठन इसी प्रकार के हैं। राजा का कर्त्तव्य है कि इन सभी प्रकार के दस्युओं तथा आक्रान्ता शत्रु सेना को परास्त करे। यही शिक्षा इस सूक्त में दी गयी है। अथर्ववेद में राजनीति का उत्कृष्ट एवं विस्तृत प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार यह सूक्त किसी मिथ्या इन्द्रजाल जादू आदि का प्रतिपादक न होकर युद्धविद्या का प्रतिपादक है।

(6) मणिबन्धन आदि—अथर्ववेद में मणिबन्धन का विधान भी हैं। यहाँ पर मणियों के नाम भी दिये गये हैं तथा रोगों में उनका उपयोग बतलाया गया है। यह भी कोई जादू जैसी विद्या नहीं, अपितु मणि आदि धातुओं के गुण यहाँ समझाते गये हैं। लोहा, सोना आदि प्रत्येक धातु का अपना-अपना विशिष्ट गुण होता है। यथा—सुवर्णपात्र में विषयुक्त वस्तु रखने से उसका रंग बदलने लगेगा। मगध के राजा नन्द के राक्षस नामक महामात्य द्वारा प्रेषित वैद्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के लिए विषयुक्त ओषध लाया था। आचार्य चाणक्य द्वारा उसे सुवर्णपात्र में डलवाने पर ओषध का रंग बदलने से चाणक्य समझ गये कि यह विषयुक्त है। उसी वैद्य को उसे पीने को दे दिया गया जिससे उसका प्राणान्त हो गया। सुवर्ण भस्म अनेक रोगों में लाभप्रद है। नाखूनों के फास चटक उखड़ने पर ताबें कांका छल्ला अंगूठे में पहिना जाता है। इसी प्रकार मणियों में भी गुण हैं। विभिन्न मणियों के धारण करने से रोग निवारण होता है, यह समझाया गया है।

1. अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान्।
   तेनाहमिन्द्रजालेनामूँस्तमसाभि दधामि सर्वान्। अथर्व॰ 8/8/8
2. इतो जयेतो विजय सं जय जय स्वाहा।
   इमे जयन्तु पराऽमी जयत्तां। अथर्व॰ 8/8/24

इस प्रकार अथर्ववेद में वर्णित ये विद्याएं जादू या अवास्तविक न होकर लोककल्याणकारिणी हैं। वेद में इनका वर्णन होना कोई दोष नहीं।

क्या अथर्ववेद अन्य वेदों से पर्याप्त बाद का है?

पाश्चात्यों तथा उनके अनुयायी कुछ भारतीय विद्वानों का विचार है कि अथर्ववेद अन्य वेदों की अपेक्षा पर्याप्त बाद में बना। इस पक्ष में प्रबल हेतु यह दिया जाता है कि वेदत्रयी शब्द वैदिक वाङ्मय में सुप्रसिद्ध हैं। इसे ऋग्, यजु तथा साम का वाचक माना जाता है। (2) ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में अथर्ववेद का नाम नहीं है। (3) अथर्ववेद की विषयवस्तु अन्य वेदों की विषय वस्तु से भिन्न है, (4) अर्थवेद की भाषा भी अर्वाचीन प्रतीत होती है। इनके आधार पर अथर्ववेद को पर्याप्त बाद का माना जाता है। ब्लूमफील्ड आदि ने तो यह निराधार कल्पना भी की है कि अथर्ववेद को मान्यता दिलाने के लिए एक लम्बा संघर्ष करना पड़ा। पता नहीं, ब्लूमफील्ड को इस संघर्ष का इतिहास कहां से मिल गया? सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में तो इसका वर्णन नहीं है। यह कल्पना पूर्णतः ब्लूमफील्ड आदि की बुद्धि की ही उपज है।

उत्तर पक्ष–उपर्युक्त सभी तर्क तर्काभास हैं। इनसे अथर्ववेद का पारवर्तित्त्व सिद्ध नहीं होता। वेदत्रयी पद संहिता वाचक न होकर रचना त्रैविध्य का द्योतक है तथा ज्ञान–कर्म–उपासना से भी इनका सम्बन्ध बतलाया जाता है। जिनके प्रतिपादक क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद हैं। अथर्ववेद में गद्य–पद्य तथा गान तीनों के ही मन्त्र हैं। अतः वेदत्रयी में उसका समावेश भी हो जाता है। ऋग्वेद में ऋचाओं का प्राधान्य है, यजुर्वेद में यजुषों का तथा सामवेद में सामों का। अतः इनके आधार पर ही इन वेदों का नामकरण है। अथर्ववेद में इन तीनों का अस्तित्व समान आधार पर है। अतः इनके आधार पर अथर्व का नामकरण नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में ब्रह्म, राजनीति, रोग–ओषधि–चिकित्सा, परिवार, समाज, राष्ट्र आदि से सम्बन्धित अनेक विषयों के मन्त्र हैं। अतः ज्ञान–कर्म–उपासना में इनका समावेश नहीं किया जा सकता। (2) जहाँ तक अन्य वेदों में अथर्ववेद के नाम की बात है। यह तो कई स्थानों पर सुस्पष्ट है। यथा यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते (ऋग॰ 1/83/5), अग्निर्जातो अथर्वणा (ऋ॰ 10/21/1), इममु त्यम् अथर्ववदग्निं मन्थन्ति वेधसः (ऋ॰ 6/15/17), इत्यादि में स्पष्ट रूप में अथर्व का नाम आया है। इस विषय में एक मन्त्र सुप्रसिद्ध है–

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋच् सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जजिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।। ऋ॰ 10/91/0

यहाँ पर छन्द पर अथर्ववेद के लिए ही आया है क्योंकि अथर्ववेद का एक नाम छन्दोवेद भी है। ऋक्, यजु तथा सामों का तो नामशः उल्लेख मन्त्र में है ही। अतः यह कहना कि अन्य वेदों में अथर्व॰ का नाम नहीं, सत्य का अपलाप करना ही है।

इस मन्त्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द लिखते हैं कि वेदों में सभी मन्त्र गायत्री आदि छन्दों में ही हैं। अतः पुनः छन्दांसि कहने से अथर्ववेद की उत्पत्ति ज्ञापित है।[1] गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी लिखते हैं, "सबके द्वारा पूजनीय और यज्ञनीय परमात्मा से ऋक्, यजुः, साम और छन्दः अर्थात् अथर्ववेद प्रकट हुए।[2]"

(3) विषय वस्तु का पार्थक्य तो अथर्ववेद के गौरव को ही बढ़ाता है। यह पार्थक्य ही अथर्ववेद का वैशिष्ट्य है। इससे अथर्ववेद परवर्ती सिद्ध नहीं होता।

(4) एक तर्काभास यह भी दिया जाता है कि अथर्ववेद के सृष्टिसम्बन्धी तथा आध्यात्मिक सूक्त भी इसे परवर्ती सिद्ध करते हैं। कहा जाता है कि इस सूक्तों में निहित आध्यात्मिकता उपनिषत्कालीन है। जैसा कि विन्टरनिज लिखते हैं–

We also find in these hymns as a fairly developed philosiphical terminology and a development of pantheism standing on a level with the philosophy of upanishads

कितना विपरीत हेतु दिया गया है यह। अथर्ववेद को क्योंकि परवर्ती सिद्ध करना था। अतः कहा गया कि उपनिषदों का अध्यात्म ही अथर्ववेद में वर्णित है। हास्यास्पद हेतु है यह? क्योंकि उपनिषदें तो पर्याप्त अर्वाचीन काल की हैं। वस्तुतः वेदों में प्रतिपादित अध्यात्म का प्रतिपादन ही परवर्ती काल में उपनिषदों में किया गया है। ऋग्वेद में भी आध्यात्मिक एवं दार्शनिक सूक्त कम नहीं हैं–तो उसे उपनिषदों से परवर्ती क्यों नहीं माना जाता। ऋग्वेद के 1/164, 1/89 सूक्त, नासदीय तथा पुरुषसूक्त आदि सूक्तों में उच्चकोटि की दार्शनिकता निहित है। अध्यात्मवाद तो ऋग्वेद में पर्याप्त है। इस आधार पर यदि ऋग्वेद को उपनिषदों से पर्याप्त प्राचीन माना जाता है तो अथर्ववेद को इसी आधार पर उपनिषदों से अर्वाचीन कैसे माना जा सकता है? वस्तुतः वेदों का अध्यात्म ही उपनिषदों में वर्णित है।

(5) जनसामान्य का वेद–अथर्ववेद के विषय में डॉ॰ ओमप्रकाश पाण्डेय लिखते हैं 'वास्तव में अन्य वेद जहाँ विशिष्ट एवं अभिजात्य वर्ग की निधि थे, वहीं

1. वेदानां गायत्र्यादिछन्दोन्वितत्वात् पुनश्छन्दांसीति पदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम्।
ऋ॰भा॰ भू॰, पृ॰ 9

2. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ॰ 50

अथर्ववेद साधारण जन से था।"[1] यहाँ पर डॉ॰ पाण्डेय तथा डॉ॰ जयदेव वेदालंकार दोनों ने ही अंग्रेजी की यह पंक्ति भी बिना नाम लिए ही उद्धृत की है–Atharva veda was the veda of masses, while other vedas uses the vedas of classes.

यह धारणा पाश्चात्य एवं उनके अनुयायियों की है, किन्तु नितान्त ही मिथ्या है, क्योंकि चारों वेदों की अन्तरंग परीक्षा से ऐसे प्रमाण नहीं मिलते कि जिससे उपर्युक्त धारणा को ठीक माना जा सके। ऋग्वेदादि तीनों वेदों में भी समाज, संगठन, राजनीतिक तथा सामान्य जनों से सम्बन्धित अनेक सूक्त तथा मन्त्र हैं तथा अथर्ववेद में भी। ऋग्वेद का उषा सूक्त जनसामान्य के लिए ही है। इसके अक्षसूक्त (ऋ॰ 10/34/7) में जनसामान्य को ही जुए से बचने की प्रेरणा दी गयी है। इसका संगठन सूक्त तो जनसामान्य के संगठन का आधार ही है। इस स्थिति में यह कहना कि ये तीनों वेद अभिजात्य वर्ग की निधि थे, उचित नहीं है।

पं॰ बलदेव उपाध्याय ने भी अथर्ववेद के सम्बन्ध में कुछ इसी प्रकार के विचार इस तरह प्रकट किये हैं "अथर्ववेद में बहुत से अध्यात्मवाद तथा ऋषिवाद से सम्बद्ध सूक्त भी उसे पीछे की रचना सिद्ध करते रहे हैं। इन सूक्तों का अध्यात्मवाद उपनिषदों के दार्शनिक अध्यात्मवाद की कोटि में आ जाता है।"[2] राजकिशोर सिंह आदि लेखकों ने उपाध्याय जी के उक्त विचारों के अनुसार ही अपनी सम्मति स्थिर कर ली, जो कदापि उचित नहीं जान पड़ती।

वस्तुत: चारों वेदों में ही धर्म, दर्शन, अध्यात्म, राजनीति, समाज, राष्ट्र, ज्ञान-विज्ञान, चिकित्सा, शिक्षा आदि विभिन्न विषयों से सम्बन्धित सूक्त विद्यमान है। यह अलग बात है कि किसी वेद में किन्हीं विचारों का प्राधान्य है तो अन्य वेद में अन्य विचारों का। यथा ऋग्वेद में अग्नि तथा इन्द्र का प्राधान्य है। वहाँ की अग्नि यह सामान्य अग्नि नहीं है, अपितु नाना कार्यों में नाना रूपों में व्यवहृत होने वाली वैज्ञानिक, गार्हस्थ तथा यज्ञीय अग्नि है। सामवेद में सोम का वर्णन अधिक है, किन्तु यहाँ भी इन्द्र प्रधानता से चर्चित है। इस विषय वैविध्य के आधार पर वेदों का पौर्वापर्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। भाषा के आधार पर भी यह पौर्वापर्य सिद्ध नहीं होता। वेद सर्वप्राचीन हैं। उन्होंने परवत। सहित्य से भाषा को ग्रहण नहीं किया, अपितु परवर्ती साहित्य ने ही वेदों से भाषा के वैविध्य को अपनाया है। वेद पाणिनि से पर्याप्त पूर्ववर्ती हैं तथा लौकिकभाषा के आदर्श एवं उद्गमस्थली भी हैं। अत: भाषा के आधार पर वेदों का कालनिर्धारण करना युक्तियुक्त नहीं है।

---

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप तथा विकास, पृ. 141
2. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ॰ 236

(6) भाषा–भाषा के आधार पर कहा जाता है कि ऋग्वेद में 'जनासः गन्तवे' आदि प्रयोग प्राप्त होते हैं जो इसे प्राचीन सिद्ध करते हैं, जबकि अथर्ववेद में जनाः तथा गन्तुम् आदि प्रयोग लौकिक संस्कृत के समान उपलब्ध है। अतः यह परवर्ती है। यह मिथ्या धारणा है। सभी प्रकार के प्रयोग न्यूनाधिक रूप में सभी वेदों में प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद के विषय में उक्त धारणा बनाने वाले गवेषक यदि अथर्ववेद को देख लेते तो उन्हें यह मिथ्योक्ति न करनी पड़ती कि अथर्ववेद में 'जनासः' आदि प्रयोग नहीं है। अथर्ववेद 20/34 सूक्त में 18 मन्त्र हैं। इस सूक्त के 17 मन्त्रों का अन्तिम चरण यही है–'सः जनासः इन्द्रः'। इसी अकेले सूक्त में 17 बार जनासः पद प्रयुक्त है। इसी सूक्त के अठारहवें मन्त्र में प्रियासः तथा सुवीरासः पद भी प्रयुक्त हैं। पुनरपि में विद्वान् अथर्ववेद में इस प्रकार के प्रयोगों का अभाव बतला रहे हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए स्वयं वेद कह रहा है–उत त्व पश्यन्न ददर्श वाचम्। ये लोग देखते हुए भी वास्तविकता को नहीं देखते हैं। अथर्ववेद में ऋग्वेद के समान पूर्ववर्त्ती अन्य प्रयोग इस प्रकार हैं–

(1) भुवना (अथर्व॰ 6/34/4), मित्रावरुणा (अथर्व॰ 6/97/2)। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार यहाँ भुवनानि तथा मित्रावरुणौ बनना चाहिए। (2) एक ही मन्त्र में उभयविध प्रयोग-चित्रा इमा वृषभौ (अथर्व॰ 19/131/1) यहाँ भी 'इमौ' के स्थान पर इमा बना है। दासान्यार्याणि वृत्रा (अपर्व॰ 20/25/18), यहाँ भी वृत्राणि के स्थान पर वृत्रा बना है। ऋग्वेद में भी इस प्रकार के प्रयोग प्राप्त होते हैं। यथा–ऋ॰ 10/116/1 में दो बार पिबा-पिबा तथा दो बार ही पिब-पिब रूप पाये जाते हैं। अथर्व॰ 2/38/1 में भी 'पिबा सोम च' प्रयोग ऋग्वेद के समान ही उपलब्ध है। ऋ॰ 10/129/7 में 'परमे व्योमन्' पद पठित है। यह व्योमनि के स्थान पर प्रयुक्त है। अथर्व॰ 20/88/4 में भी व्योमन् पद ऋग्वेद की भाँति ही पठित है जिसे कि पूर्ववर्ती माना जाता है। स्वयं ऋग्वेद में उभयविध प्रयोग पाये जाते हैं। यथा–ऋ॰ 10/131 में 'यक्षः नयाति विश्वानि दुरिता' पद पाये जाते हैं। ये पद नयति तथा दुरितानि के स्थान पर प्रयुक्त हैं।

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि सभी वेदों में सभी प्रकार के प्रयोग पाये जाते हैं। पुनरपि यह कहना कि ऋग्वेद में पूर्ववर्ती प्रयोग हैं जबकि अथर्ववेद में लौकिक भाषा के प्रयोग हैं, गजनिमीलिका के समान माना जायेगा। अतः भाषा के आधार पर वेदों का पौर्वापर्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस विषय में पं॰ गजानन शास्त्री कहते हैं "भाषा के आधार पर अथवा विषयविवेचन या संज्ञा के बल पर अनुसन्धान, वेदविषय क्षेत्र में नपुंसक तुल्य है। अतः अथर्ववेद की भाषाविषयक

आलोचना निराधार है।"[1] भाषा के आधार पर अथर्ववेद को परवर्ती कहलाने वाले ब्लूफफील्ड के सामने भी ऐसे प्रयोग आये, जहाँ ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद का प्रयोग पूर्ववर्ती जान पड़ता है। यथा ऋ॰ 10/145/2 में अर्वाचीन कुरु पद का प्रयोग हुआ है जबकि अथर्व॰ 3/18/2 में इसके लिए कृधि पद पठित है।[2]

(7) छन्द–छन्दों रचना के आधार पर भी अथर्ववेद को परवर्ती बतलाया जाता है। कहा जाता है कि अथर्ववेद में प्राचीन गायत्री छन्द का प्रयोग कम हो गया। इसका उत्तर है कि गायत्री छन्द मुख्य रूप से स्तुति तथा गायन का छन्द है। अथर्ववेद में उस प्रकार का विषय न होने से इसकी न्यूनता, स्वाभाविक ही है।

(8) ऋग्वेद में चीते का उल्लेख नहीं है। अथर्ववेद में चीते का उल्लेख होने से भी इसे परवर्ती मान लिया गया। अजीब तर्क है यह। सभी वेदों में सभी पशु–पक्षियों के नाम उपलब्ध नहीं है। इनके आधार पर वेदों का पौर्वापर्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।

(9) **इतिहास**–काशीरत्न डॉ॰ रमाशंकर त्रिपाठी लिाते हैं–"अथर्ववेद के कुन्ताप सूक्तों में राजा परीक्षित का नाम बड़े आदर के साथ लिया गया है। इससे यह बात सिद्ध हाती है कि अथर्ववेद की रचना परीक्षित के राज्यकाल में हुई थी।[3] लुई रेनू ने परीक्षित का राज्यकाल 1400 ई॰पू॰ मानकर अथर्ववेद का रचनाकाल भी 1400 ई॰पू॰ माना है।[4]" यह पूर्णतः आधारहीन हेत्वाभास है। इसका समाधान इसी ग्रन्थ के पृ॰ 455 पर देखें।

(10) त्रिपाठी जी पुनः लिखते हैं, "अथर्ववेद में 6 बार कल्प शब्द का उल्लेख किया गया है। यहाँ कल्प शब्द से कल्प सूत्र अभिप्रेत है।[5]" क्या ही आश्चर्यजनक हेतु है यह? यदि ऐसा ही किया जाने लगे तो वेदों में बहुधा प्राप्य ब्राह्मण पद से ब्राह्मण ग्रन्थों का तथा शिक्षा स्तोतृभ्यः (ऋ॰ 2/11/21) में शिक्षा से वेदांग शिक्षा का ग्रहण भी होने लगेगा। अथर्व॰ 20/128/6–11 में 'कल्पेषु सम्मिता' पद पठित हैं यहाँ 'कल्प' पद कालवाचक है न कि ग्रन्थ वाचक। मनुस्मृति आदि में कालवाचक कल्प शब्द बहुधा प्रयुक्त है।

---

1. वैदिक साहित्य का इतिहास, पृ॰ 123
2. सपत्नीं मे पराणुद पतिं मे केवलं कृधि।
3. वै॰सा॰ और संस्कृति, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी वाराणसी, 2012, पृ॰ 169
4. The Cilvilization of Ancient India, Louis Renou, p. 174.
5. वै॰ सा॰ और संस्कृति, पृ॰ 169

यह भी कहा जाता है कि अथर्ववेद में आर्य तथा दस्यु का भेद विद्यमान होने से यह वेद परवर्ती हैं। ऋग्वेद में भी यह भेद उपलब्ध है, किन्तु किसी भी वेद में आर्य तथा दस्यु शब्दों का प्रयोग जाति के रूप में नहीं है। वेदों में सर्वत्र आर्य का अर्थ श्रेष्ठ है। वहां निकम्मे कर्महीन व्यक्ति को दस्यु कहा गया है। अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः (ऋ॰ 10/22/8)।

इस प्रकार किस भी तर्क के आधार पर अथर्ववेद परवर्ती सिद्ध नहीं होता। वस्तुतः पाश्चात्य लोग प्रारम्भ में ही यह पूर्वाग्रह बनाकर चले थे कि अथर्ववेद पर्याप्त बाद की रचना है। ऐसी कल्पना करके ही उन्होंने एतद्विषयक मिथ्या हेतुओं को उपस्थित किया, जिन्हें भारतीय विद्वानों ने भी वेदों की अन्तरंग परीक्षा के लिए बिना ही स्वीकार कर लिया।

प्राचीन साहित्य में सर्वत्र तीनों वेदों के साथ, अथर्ववेद का नाम भी आया है। यथा–काठक शताध्ययन ब्राह्मण के ब्रह्मौदन प्रकरण में चारों वेदों का उल्लेख इस प्रकार है–चत्वारो हीमे वेदाः। इसी प्रकार शतपथ 14/2/4/0 में भी चारों वेदों के नाम हैं।[1] चत्वारि श्रङ्गा त्रयो अस्य पादा (ऋ॰ 4/58/3) की व्याख्या में कठ ब्राह्मण कहता है 'चत्वारि श्रृङ्गा इति वेदा वा एतदुक्ताः। (ऋ॰ 10/71/11) के निम्न मन्त्र में चारों वेदों के ज्ञाता चार ऋत्विजों का उल्लेख इस प्रकार है–

ऋचां त्वःपोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वा वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीते उ त्वः।

चारों वेदों का ज्ञाता ही ब्रह्मा कहलाता है। यही ब्रह्मा यज्ञ में शेष तीनों वेदों के ज्ञाताओं–होता, उद्गाता तथा अध्वर्यु के क्रियाकलापों का नियन्त्रण करता है। इस प्रकार प्राचीनसाहित्य, यहाँ तक कि ऋग्वेद में भी अथर्ववेद का स्पष्ट उल्लेख होने से उसे परवर्ती नहीं माना जा सकता।

विद्वानों में वदतोव्याघात भी है। एक और तो अथर्ववेद को परवर्त्ती बतलाया जाता है तो दूसरी ओर अथर्ववेद के ही कुछ सूक्तों को ऋग्वेद से भी पूर्ववर्त्ती कहा जाता है। जैसा कि राजकिशोर लिखते हैं, "अथर्ववेद में कुछ ऐसे भी मन्त्र हैं जो ऋग्वेद के अधिकांश भाग से प्राचीन है।"[2]

वैदिक इतिहास के लेखक इस मिथ्या धारणा को भी लेकर चले कि चारों वेदों का संग्रह ही लम्बे काल तक किया जाता रहा है। अतः इनमें विभिन्न युगों

1. अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।
2. वैदिकसाहित्य का इतिहास, पृ. ॰ 129

के अंश सम्मिलित है। यह एक मिथ्या धारणा है। यहाँ पर हमें मनु का यह कथन ध्यान में रखना चाहिए।

सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।। मनु॰ 1/21

वेदों में वस्तुतः सार्वभौम एवं सार्वकालिक संस्कृति एवं धर्म-कर्मों का प्रतिपादन किया गया है। इसका प्रतिपादन किसी वेद में एक रूप में है तो दूसरे वेद में अन्य रूप में। इससे वेद न तो लम्बे काल तक किया जाने वाला संग्रह सिद्ध होते हैं तथा न ही वेदों का पौर्वापर्य इससे सिद्ध होता है। वेदों में भाषा, विषय आदि का वैविध्य है, किन्तु यह किसी उत्तरवर्ती काल या साहित्य के कारण नहीं है, अपितु इससे तो चारों वेदों की प्राचीनता ही सिद्ध होती है। वेदों के विषय तथा भाषागत इसी वैविध को परवर्त्ती साहित्य ने अपने-अपने ढंग से स्वीकार किया। वेदों में जो प्रकृति-प्रत्यय तथा शब्दरूपों के सम्बन्ध में वैविध्य है, वह भी परवर्ती काल के साहित्य के कारण नहीं है, अपितु वेद उस वैविध्य के उत्स ग्रन्थ है, जिसका दर्शन हमें परवर्ती साहित्य तथा व्याकरण आदि में प्राप्त होता है।

वेदों के सम्बन्ध में इस प्रकार की भ्रान्त मान्यताएँ वस्तुतः पश्चिमी विद्वानों की उपज है, जो प्रारम्भ से ही प्राचीन भारतीय परम्परा के विपरीत इन मनमानी मान्यताओं को लेकर चले हैं। भारतीय विद्वानों ने बिना सोचे-समझे उनका अनुगमन किया तथा एक लेखक ने जो लिख दिया, उत्तरवर्ती लेखक उसकी बात को ही मूलग्रन्थ की परीक्षा किये बिना लिखते चले आए। यह प्रवृत्ति शोध के क्षेत्र में बाधक है।

उपवेद

चरणव्यूहकार के अनुसार ऋग् आदि चारों वेदों के अपने पृथक्-पृथक् उपवेद भी हैं। जो इस प्रकार है-

वेदानामुपवेदाश्चत्वरो भवन्ति। ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदो, यजुर्वेदस्य धनुर्वेद-उपवेदः सामवेदस्य गान्धर्ववेदः, अथर्ववेदस्यार्थशास्त्रं चेत्याह भगवान् वेदव्यासः। सुश्रुत के अनुसार अथर्ववेद का उपवेद आयुर्वेद है। स्वामी दयानन्द ने भी ऐसा ही स्वीकार किया है। गोपथब्राह्मण के अनुसार अथर्ववेद के निम्न पाँच उपवेद हैं-सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद, पुराणवेद। शुक्रनीति के अनुसार चारों वेदों के उपवेद इस प्रकार हैं-

ऋग्यजुः साम चाथर्वा वेदा आयुर्धनुक्रमात्।
गान्धर्वश्चैव तंत्राणि उपवेदा प्रकीर्तिताः।। शुक्रनीति 4/3/27

वैदिक सम्प्रदाय में चरण एवं शाखा

जब एक ही मूलसंहिता में देश-काल तथा उच्चारण आदि की दृष्टि से अध्येताओं का पार्थक्य उत्पन्न हो गया, तब उस विशिष्ट संहिता के प्रवचन कर्त्ता के नाम पर वही संहिता प्रसिद्ध होकर शाखा कहलाने लगी। यथा-शाकल द्वारा प्रोक्त ऋग्वेदसंहिता शाकलसंहिता, बाष्कल द्वारा प्रोक्त संहिता वाष्कल कहलायी। इसी प्रकार अन्य तीनों वेदों के विषय में भी जानना चाहिए। यथा-तैत्तिरीय संहिता, कौमुथ संहिता आदि। इस प्रकार चारों वेदों की विभिन्न शाखा से संहिताएं अस्तित्व में आ गयी। पं॰ हरिप्रसाद के अनुसार प्रवक्ता के भेद से संहिता के भेद का नाम शाखा है।

इस शाखासंहिताओं के अध्येताओं के समुदाय को चरण कहा जाता है। गौण रूप से शाखा के लिए भी चरण शब्द का प्रयोग किया जाता है। यथा- निरुक्त 1/17 के 'सर्वचरणानां पार्षदानि' की व्याख्या दुर्गाचार्य ने सर्वशाखान्तराणाम् के रूप में की है। इतना होने पर भी दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि शाखा का अर्थ किसी आचार्य द्वारा प्रोक्त विशिष्ट वेदसंहिता है, जबकि चरण का अर्थ शाखाध्येतृ मनुष्यों का समुदाय है।

पाणिनि ने कई सूत्रों में चरण शब्द का प्रयोग किया है। भट्टोजि दीक्षित ने चरण का अर्थ शाखा किया है[1], किन्तु काशिका[2] न्यास[3] तथा बालमनोरमा[4] में चरण का अर्थ शाखा के अध्येताओं का समुदाय ही किया गया है। हरदत्त चरण को मुख्य रूप से कठादि प्रोक्त शाखा का वाचक तथा गौण रूप में उस शाखा के अध्येताओं के समूह का वाचक मानते हैं।[5] इस भ्रान्ति का कारण यह है कि चरणों के जो विविध नाम मिलते हैं, उनका प्रयोग चरण तथा शाखा दोनों अर्थों में प्रचलित था।

1. चरणः शाखा। पा॰ 6/3/26 पर सि॰ कौ॰
2. चरणशब्दः शाखानिमित्तकः पुरुषेषु वर्त्तते। काशिका॰ 2/4/3
3. चरणशब्दोऽयमध्ययननिमत्तमुपादाय पुरुषेषु वर्तते। काशिका॰ 6/3/72 पर न्यास
4. शाखाध्येतृविशेषाश्चरणाः। पा॰ 2/4/3 पर बाल मनोरमा
5. चरणशब्दः कठकलापादौ शाखाविशेषे मुख्यः। तदध्यायिषु पुरुषेषु गौणः। काशिका 6/3/86 पर पदमंजरी

इस विषय में प्रो॰ चौबे लिखते हैं "चरण वस्तुतः एक प्रकार की शिक्षासंस्था थी, जिसमें वेद की एक शाखा का अध्ययन शिष्य समुदाय करता था। शाखा का मूल प्रवर्तक ही चरण का संस्थापक आचार्य होता था। डॉ॰ वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार कठ आदि शब्दों का प्रयोग लोक में चरण अर्थ में ही प्रचलित था, शाखा के लिए नहीं। इसी नियम को पाणिनि ने 'तद्विषयता' कहा है। जितना भी साहित्य चरण के अन्तर्गत बनता गया, सबमें तद्विषयता का नियम लागू होता गया अर्थात् सबका नामकरण चरण के नाम से ही हुआ। उदाहरण के लिए तित्तिरि आचार्य के तैत्तिरीय चरण में तैत्तिरीय संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्-प्रातिशाख्य आदि जितने ग्रन्थों का प्रणयन सैकड़ों वर्षों तक होता रहा, उन सबका नामकरण चरण के आधार पर ही हुआ।"[1]

ये सभी चरण एक जैसे नहीं थे, अपितु इनमें कुछ प्रधान तथा कुछ अप्रधान थे। प्रधान चरणों में शाखा संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, प्रातिशाख्य, धर्मसूत्र, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र आदि सम्पूर्ण साहित्य का निर्माण हुआ तथा छोटे चरणों में केवल सूत्रसाहित्य का निर्माण हुआ। कोई चरण किसी स्थानविशेष में बद्ध नहीं रहता था। ये दूर-दूर तक फैले रहते थे। पतंजलि का कहना है कि कठ तथा कालाप गाँव-गाँव में फैले रहते थे।[2] पाणिनि के समय तक चरणों ने जाति का रूप ग्रहण कर लिया था। पाणिनि के सूत्र 'कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने' (पा॰ 2/1/63) के उदाहरण 'कतरः कठः, कतमः कठः' से यह बात सुस्पष्ट है।

परिषद्-चरणों के अन्तर्गत ही एक प्रकार की विद्वत्सभा परिषद् कहलाती थी जो व्याकरण तथा उच्चारण सम्बन्धी नियमों का निश्चय करती थी और शाखा के पाठ आदि के विषय में भी विचार करती थी। परिषद् में रचित साहित्य को पार्षद कहा जाता था। शाखा के उच्चारणगत वैशिष्ट्य को बतलाने वाली रचनाओं को पार्षद तथा आचार्यों की जिस सभा में वैसी रचनाएँ होती थी उसे परिषद् या पार्षद कहा जाता था।[3] पाणिनि द्वारा प्रयुक्त परिषद् शब्द को पतंजलि ने परिषदों में बने साहित्य के अर्थ में व्याख्यात किया है।[4] परिषदों में बने साहित्य के लिए यास्क ने पार्षद कहा है।[5]

1. वै॰वा॰बृ॰ इति॰, वेदखण्ड, पृ॰ 60-6।
2. ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं चोच्यते। म॰भा॰ 4/3/101
3. सं॰ वा॰ बृ॰ इति॰, वेदखण्ड, पृ॰ 60-61।
4. सर्ववेदपरिषदं हीदं शास्त्रम्। म॰भा॰ 2/1/58
5. पदप्रकृतिसर्वचरणानां पार्षदानि। नि॰ 1/17

मैक्समूलर चरण तथा परिषद् में अन्तर करते हुए कहते हैं कि इनमें चरण गुरु-शिष्य की परम्परा का नाम है जिसमें किसी एक विशेष शाखा का अध्ययन-अध्यापन किया जाता है, जबकि परिषद् ब्राह्मणों के एक समुदाय या वर्ग का नाम है जिसमें किसी भीं चरण के अनुयायी आ सकते हैं। इस प्रकार एक ही चरण के सदस्य विभिन्न परिषदों के सदस्य भी हो सकते थे। दुर्गाचार्य के अनुसार पार्षद ग्रन्थों का अभिप्राय प्रातिशाख्य ग्रन्थों से है जो चरणों की परिषदों में बनाये जाते थे।

शाखा तथा मूलवेद–वर्तमान में जो ऋग्वेदादि संहिताएं उपलब्ध होती हैं, वे भी किसी न किसी शाखा से सम्बन्धित हैं। यथा ऋग्वेद शाकल शाखा से, यजुर्वेद माध्यन्दित शाखा से, सामवेद कौथुम शाखा से तथा अथर्ववेद शौनक शाखा से सम्बन्धित है। इस पर प्रश्न होता है कि क्या मूलवेद संहिता इनसे भिन्न थी, जिसकी ये शाखाएँ हैं। इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार एक वृक्ष की सभी शाखाएँ समान होती हैं, उसी प्रकार शाखाएँ भी समान होनी चाहिएं, उनमें कर्मभेद नहीं होना चाहिए। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद की पृथक्-पृथक् विषय वस्तु है। अतः इन्हें किसी एक मूल वेद की शाखा मानना उचित नहीं। ये पृथक्-पृथक् वेद हैं। इनके नाम में सांकर्य नहीं है। इसलिए ये शाखा नहीं है। ये चारों वेद शाखा के रूप में कभी व्यवहृत नहीं हुए। इसके विपरीत तैत्तिरीयसंहिता, माध्यन्दिनसंहिता, काण्वसंहिता आदि जितनी भी यजुर्वेद से सम्बन्धित संहिताएँ हैं, वे सभी विभिन्न शाखीय होने पर भी यजुर्वेद ही कहलाती हैं। ऐसा ही ही अन्य वेदों की शाखा के विषय में भी जानना चाहिए। मैक्समूलर के अनुसार शाखाएँ प्राचीन सूक्तों का कोई स्वतंत्र संकलन न होकर एक ही मूलसंहिता के विविध संस्करण है, जो मौखिक परम्परा में बहुत दिनों तक प्रचलित होने के कारण कुछ परिवर्तित से हो गये।[1] स्वामी दयानन्द ने भी ऋग्वेद की शाकल, यजुर्वेद की माध्यन्दिन सामवेद की कौथुम तथा अथर्ववेद की शौनक संहिताओं को मूलवेदसंहिता मानते हुए इन्हें स्वतः प्रमाण माना है, जबकि अन्य 1127 शाखाओं को मूलवेदों के व्याख्यान माना है। इसमें उन्होंने यह युक्ति दी है कि शाखाओं में मूल वेदों के मन्त्रों को प्रतीक रूप में उपस्थित करके उनकी व्याख्या की गयी है, जबकि मूल वेदों में ऐसा नहीं हैं।[2]

---

1. History of Sanskrit Literature, p. 119
2. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदसंज्ञाविचार, पृ॰ 92

वेदार्थज्ञान में सहायतार्थ अन्य साहित्य

वेदज्ञ मनीषियों ने वेदों की रक्षा तथा वेदार्थज्ञान के अनेक उपाय किये हैं। इनमें अनुक्रमणी साहित्य, बृहद्देवता तथा निम्नलिखित कुछ अन्य ग्रन्थ सम्मिलित हैं इनका विवरण इस प्रकार है–

अनुक्रमणी साहित्य

वेदों की रक्षा के अनेक उपाय किये गये हैं। इसमें अनुक्रमणी साहित्य का पर्याप्त योगदान है। अनुक्रमणीकारों ने मन्त्रसंख्या, पदसंख्या तथा वर्णसंख्या की भी गिनती करके प्रस्तुत की है। मन्त्रों के ऋषि-देवता-छन्द-अनुवाक तथा सूक्तों को भी अनुक्रमणियों में निबद्ध किया गया है।

ऋग्वेद की अनुक्रमणियाँ

षड्गुरुशिष्य के अनुसार आचार्य शौनक ने ऋग्वेद की रक्षार्थ दश ग्रन्थों की रचना की थी यथा–

शौनकीया दशग्रन्थास्तदा ऋग्वेदगुप्तये।
आर्ष्यनुक्रमणीत्याद्या छान्दसी दैवती च।।
अनुवाकानुक्रमणी च सूक्तानुक्रमणी तथा।
ऋक्पादयोर्विधाने च बृहद्दैवतमेव च।।
प्रातिशाख्यं शौनकीयं स्मार्तं दशमुच्यते।।

अर्थात् शौनक ने दश अनुक्रमणी इस प्रकार बनायी–

आर्षानुक्रमणी, छन्दोनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी, ऋग्विधानम्, पादविधानम्, बृहद्देवता, प्रातिशाख्यम्, शौनकस्मृति।

इनका विवरण इस प्रकार है–

1. **आर्षानुक्रमणी**–इसमें 200 श्लोकों में ऋग्वेद के ऋषियों के नाम दिये गये हैं।

2. **छन्दोऽनुक्रमणी**–में ऋग्वेद के समस्त छन्दों का विवरण है।

3. **देवताऽनुक्रमणी**–में ऋग्वेद के देवताओं का विवरण है।

4. अनुवाकानुक्रमणी–इसमें केवल 40 श्लोक हैं। इसमें ऋग्वेद के अनुवाकों का क्रमशः वर्णन है। प्रत्येक अनुवाक में कितने सूक्त तथा कितने मन्त्र हैं, यह विवरण भी इसमें है।

5. सूक्तानुक्रमणी–इसमें ऋग्वेद के सूक्तों का विवेचन है।

6. बृहद्देवता–यह अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें आठ अध्यायों में लगभग 1200 पद्य है जिनमें ऋग्वेदीय देवों के स्वरूप, स्थान वैशिष्ट्य तथा आख्यान आदि का वर्णन है।

पाठकों की सुरक्षा तथा वेदार्थ के स्पष्टीकरण की दृष्टि से लिखे गये ग्रन्थों में बृहद्देवता का स्थान अति महत्त्वपूर्ण है। षड्गुरुशिष्य तथा सायणाचार्य आदि इसके अंशों को प्रचुरता से उद्धृत करते हैं। बृहद्देवता का सर्वाधिक सम्बन्ध निरुक्त तथा सर्वानुक्रमणी के साथ है। यह ग्रन्थ निरुक्त से बहुत कुछ ग्रहण करता है तथा सर्वानुक्रमणी को इसने पर्याप्त सामग्री प्रदान की है। इन दोनों ग्रन्थों के मध्य इसका रचनाकाल है।

इस ग्रन्थ में 8 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में 30 वर्ग तथा प्रत्येक वर्ग में प्रायः 5 श्लोक हैं। इस प्रकार इसमें कुल 1224 श्लोक हैं। प्रथम अध्याय तथा द्वितीय अध्याय के 125 श्लोकों में बृहती भूमिका दी गयी है। भूमिका के अन्त में निपात, उपसर्ग, नाम, सर्वनाम तथा समास आदि शब्दों के विभाजन पर प्रकाश डाला गया है। शेष ग्रन्थ में ऋग्वेद के सूक्तों तथा मन्त्रों में आये देवताओं का क्रमिक वर्णन है। इसके अतिरिक्त अन्य सामग्री भी इसमें प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। यथा–सूक्तों से सम्बन्ध रखने वाले लगभग 40 उपाख्यान इसमें हैं। इसके अतिरिक्त ऋषियों तथा ऋषिकाओं से सम्बन्धित वाहनों की सूचियाँ, आप्रीसूक्तों का विस्तृत वर्णन तथा वैश्वदेव सूक्तों की प्रकृति पर पर्याप्त चर्चा इसमें की गयी है।

7. ऋग्विधानम्–इसमें ऋग्वेदीय मन्त्रों का विनियोग विविध यागों दिखलाया गया है।

8. सर्वानुक्रमणी–यह कात्यायनप्रणीत है। इसमें ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त का प्रथम पद, प्रत्येक सूक्त में मन्त्रसंख्या, सूक्त के ऋषि का नाम, गोत्र, मन्त्रों के देवता, छन्द आदि विषय का विस्तार से वर्णन किया गया है। षड्गुरुशिष्य ने इस ग्रन्थ पर वेदार्थदीपिका नामक टीका लिखी है।

9. **ऋग्वेदानुक्रमणी**–यह ग्रन्थ माधवभट्ट द्वारा प्राणीत है। इसमें ऋग्वेद के स्वर, आख्यात, निपात, ऋषि, छन्द तथा देवता का विवेचन किया गया है।

यजुर्वेद की अनुक्रमणियाँ–यजुर्वेद की तीन अनुक्रमणियाँ मिलती हैं–एक तैत्तिरीयों की आत्रेयी शाखा की, दूसरी चारायणीय शाखा की तथा तीसरी वाजसनयिओं की माध्यन्दिन शाखा की। कात्यायनप्रणीत 'शुक्लयजुः सर्वानुक्रमसूत्र' नामक ग्रन्थ इस विषय में है। इसमें शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता के ऋषि-देवता तथा छन्दों का विवेचन है।

सामवेद की अनुक्रमणी–सामवेद के श्रौतयाग से सम्बन्धित कुछ ग्रन्थ मिलते हैं जो इसकी अनुक्रमणी का कार्य सम्पन्न कर देते हैं। यथा–

(1) **कात्यानुक्रमणी**–इसमें दो प्रपाठक हैं। प्रत्येक प्रपाठक में 12 पटल हैं। यह आर्षेयकल्प तथा क्षुद्रसूत्र का परिशिष्ट प्रतीत होता है।

(2) **उपग्रन्थसूत्रम्**–इसमें चार प्रपाठक हैं। सायण के अनुसार इसके कर्त्ता कात्यायन ही हैं। सत्यव्रत सामश्रमी ने उषा नामक पत्रिका में 1897 ई० में इसे कलकत्ता से प्रकाशित कराया था।

(3) **अनुपदसूत्रम्**–इसमें दश प्रापाठक हैं। यह पंचविंशब्राह्मण की संक्षिप्त व्याख्या है।

(4) **निदानसूत्रम्**–इसमें भी दश प्रपाठक हैं।

(5) **लघुऋक्तत्रसंग्रह**–इसमें पदपाठ भी उपलब्ध है। गुण-वृद्धि, पूर्वरूप आदि का निर्देश भी इसमें किया गया है।

(6) **उपनिदानसूत्रम्**–इसमें दो प्रपाठक हैं। इसके दो आर्चिकों में मन्त्रों के छन्दों का विवरण है।

(7) **सामसप्तलक्षणम्**–पद्यबद्ध लघुकाय इस ग्रन्थ में सामसम्बन्धी ज्ञातव्य तथ्यों का समावेश है।

(5) अथर्ववेद से सम्बन्धित ग्रन्थ

(1) **पंचपटलिका**–इसके पांच पटल = अध्याय हैं। इनमें अथर्ववेद के काण्ड तथा मन्त्रों की संख्या है।

(2) दत्त्योष्ठविधि–लघुकलेवर वाला यह ग्रन्थ अथर्ववेद के मन्त्रों के उच्चारण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें 116 पदों के स्वरूप आदि का विवेचन किया गया है। इसमें दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में दश तथा द्वितीय में 12 श्लोक हैं।

(3) बृहत्सर्वानुक्रमणी–इसमें अथर्ववेद के प्रत्येक काण्ड के सूक्त-मन्त्र-ऋषि-देवता तथा छन्दों का विवेचन है। इनके अतिरिक्त अथर्ववेद से सम्बन्धित निम्न ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हैं–कौशिकसूत्रम्। वैतानसूत्रम्। नक्षत्र कल्प। अंगिरसकल्पः। शान्तिकल्प।

वेदों में पुनरुक्तियाँ

यह बात सुसिद्ध है कि वेदों में पुरुक्तियाँ हैं। ये पुनरुक्तियाँ दो प्रकार से है। एक ही वेद में किसी मन्त्र या मन्त्रांश की पुनः पुनः आवृत्ति तथा सभी वेदों के कुछ मन्त्र या मन्त्रांश अन्य वेदों में पुनरुक्त हैं। कुछ लोगों का विचार है कि इन पुनरुक्त मन्त्रों को एक वेद ने अन्य वेद से चुरा लिया है तथा ये पुनरुक्तियाँ निरर्थक हैं।

वेदों की ये पुनरुक्तियां सदोष नहीं, अपितु सप्रयोजन हैं। कभी-कभी किसी बात पर अधिक बल देने के लिए भी वाक्य को पुनरुक्त किया जाता है यथा–जाओ, जाओ। इसका अर्थ है–अभी जाओ। नहीं खाऊँगा, नहीं खाऊँगा–यह वक्ता के दृढ़ संकल्प को सूचित कर रहा है। इसी प्रकार वेदों में भी है। यथा–शिवसंकल्प सूक्त के 6 मन्त्रों का अन्तिम चरण 'तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु' है। यह पुनरावृत्ति मन की शिवसंकल्पता पर बल देने के लिए है। सूक्त का प्रयोजन मन को शिवङ्कल्प वाला बनाना ही है। न केवल मन्त्र बोलने में ही, अपितु अन्य समयों में भी इसी भावना को दोहराते रहना पड़ेगा, तभी मन शिवसंकल्प वाला बन सकता है, अन्यथा नहीं।

पूरे मन्त्रों की पुनरुक्ति–यदि कोई पूरा मन्त्र उसी वेद में या अन्य वेदों में पुनरुक्त है तो वहाँ भी प्रकरणानुसार उसका अर्थ बदल जायेगा। इस प्रकार यह शाब्दिक पुनरावृत्ति होगी, न कि आर्थिक। यथा–शन्नो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रवन्तु नः। यह मन्त्र चारों वेदों में पुनरुक्त हैं, किन्तु इसका अर्थ सभी स्थानों पर पृथक्-पृथक् है। यजुर्वेद (36/12) में पठित इस मन्त्र

का विनियोग आचमन करने में है, क्योंकि यज्ञ तथा सन्ध्या में आचमन आवश्यक है। यहाँ देवी आपः का अर्थ दिव्य गुणों से युक्त जल है।

जब यही मन्त्र सामवेद (सूत्र॰ 1/1/3/13) में आयेगा तो वहाँ देवी का अर्थ परमेश्वर होगा, क्योंकि सामवेद उपासना का वेद है। परमेश्वर को हम देवः, देवी तथा ब्रह्म के रूप में तीनों लिंगों में पुकारते हैं। वह दिव्य शक्तियों वाला परमेश्वर हमारे लिए कल्याणप्रद होवे। इस पक्ष में आपः का अर्थ सर्वव्यापक परमेश्वर है। 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से आपः शब्द बनता है।

यही मन्त्र जब ऋग्वेद में आता है तो वहाँ इस मन्त्र का विनियोग रोगमुक्ति के लिए है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में इस नवम सूक्त में नौ मन्त्र हैं। यहाँ जल को रोगनाशक ओषधि के रूप में प्रयुक्त किया गया है। सूक्त के पंचम मन्त्र में 'अपो याचामि भेषजम्' कहकर जलों को साक्षात् भेषज ही कहा है आज जलीय चिकित्सा का महत्त्व किसी से छिपा नहीं है। प्राकृतिक चिकित्सा में तो जल का ही विभिन्न रूपों में उपयोग किया जाता है।

अथर्ववेद (1/6/1) में भी यह मन्त्र चिकित्साप्रकरण में है। इससे पूर्ववर्ती चतुर्थ तथा पंचम सूक्तों में भी जलचिकित्सा का प्रकरण चल रहा है। सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में स्पष्ट रूप में कहा गया है—अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्। जलों में अमृतत्व यथा ओषध है।

सप्तसिन्धु

ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में अनेक स्थलों पर सप्तसिन्धवः पद का प्रयोग हुआ है। गंगा आदि नाम भी वेदों में उपलब्ध है। इस आधार पर कहा जाता है कि वेदों में गंगा-यमुना आदि सात नदियों का उल्लेख है। यही प्रदेश सप्तसिन्धु कहलाता था तथा आर्यों की जन्मभूमि भी था। यद्यपि इस मान्यता के जनक भी पाश्चात्य विद्वान् ही हैं, किन्तु कुछ भारतीय विद्वानों ने भी उक्त धारणा का बलपूर्वक समर्थन किया है। इनमें डॉ॰ सम्पूर्णानन्द, अविनाशचन्द्र दास आदि प्रमुख हैं। जिस मन्त्र को इस सन्दर्भ में उपस्थित किया जाता है, वह इस प्रकार है—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तया आर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया।। ऋ॰ 10/75/5

निम्न मन्त्र में भी सप्तसिन्धून्, पद प्रयुक्त हुआ है–

अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्त्तवे सप्तसिन्धून्।। ऋ॰ 1/32/13

इसमें कहा गया है कि हे इन्द्र तुमने गोओं तथा सोम को जीता तथा बहने के लिए सात नदियों को मुक्त किया। इसी प्रकार 'यो हत्वाऽहिमरिणात् सप्त सिन्धून्' (अथर्व॰ 20/34/3) तथा अहन्नहिमरिणात् सप्तसिन्धून् (अथर्व॰ 20/91/12) में भी यह कहा गया है कि इसने अहि को मार कर सप्त सिन्धुओं को मुक्त किया। यहाँ अहि का अर्थ मेघ किया गया है। जो निरुक्त के आधार पर ही है।

(1) प्रश्न है कि जब यहाँ अहि का अर्थ बादल है तो गंगा आदि को भूलोक की सप्त नदियाँ कैसे माना जा सकता है। क्या अन्तरिक्षस्थ मेघ ने भूलोक में आकर इन नदियों को रोका हुआ था? यह तो सर्वथा ही असम्भव एवं अबुद्धिगम्य बात है, क्योंकि अन्तरक्षिस्थ मेघ कभी भी भूलोक पर नहीं आता। इसलिए प्रथम दृष्टि में ही गंगा आदि को भूलोक की नदियाँ मानने के विचार को उसी प्रकार खारिज कर दिया जाना चाहिए जिस प्रकार प्रमाणों के अभाव में कोई मिथ्या अभियोग न्यायालय में प्रथम दृष्टि में ही खारिज कर दिया जाता है। इतनी स्पष्टता होने पर भी पता नहीं किस आशय से विद्वज्जन मन्त्रोक्त गंगा आदि शब्दों से भूलोक की गंगा आदि नदियों का ग्रहण करते हैं। मन्त्र में गंगा आदि जो नाम हैं, इनकी संख्या नौ है, मन्त्र में सप्त सिन्धु प्रदेश का वर्णन मानने को छल कहें, बुद्धि-कौशल कहें या मूर्खता कहें? चारों वेदों में एक भी शब्द ऐसा नहीं है जहाँ सप्तसिन्धु प्रदेश लिखा हो। इतना ही नहीं, अपितु समूचे संस्कृतसाहित्य में भी 'सप्तसिन्धुदेश' का उल्लेख नहीं है। वेदों में अन्यत्र भी कई स्थानों पर सप्तसिन्धवः पद पठित है। यथा–यस्य ते सप्तसिन्धवः (ऋ॰ 8/69/12) इत्यादि। सायण आदि किसी ने भी यहाँ पर सप्तसिन्धवः से सप्तसिन्धुप्रदेश नहीं माना। सायण ने छः स्थानों पर सिन्धु का अर्थ सर्पणशील/स्पन्दनशील किया है।[1] तिलक इन्हें आकाश में बहने वाली जलधारा मानते हैं। ऋ॰ 9/66/6 में सप्त सिन्धवः को धेनवः कहा गया है। सिन्धु में न तो कभी सात नदियाँ थी तथा न अब हैं। इतने पुष्ट प्रमाण होने पर भी वेदों में सप्तसिन्धु प्रदेश का प्रतिपादन करना महान् आश्चर्य का विषय है।

1. ऋ॰ 2/12/2, 10/23/4 इत्यादि।

तृतीय अध्याय

वेदों के भाष्य एवं भाष्यकार एवं पाश्चात्य विद्वानों के वेदविषयक कार्य

वेदों के भाष्यकार तथा अनुवादकों को मुख्यरूप में दो भागों में बांट जा सकता है–

(1) भारतीयभाष्यकार तथा अनुवादक

(2) पाश्चात्यभाष्यकार तथा अनुवाद

भारतीयभाष्यकारों के भी दो भेद हैं–(1) मध्यकालीनभाष्यकार, (2) अर्वाचीनभाष्यकार।

स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव, आत्मानन्द, सायणाचार्य आदि मध्यकालीन भाष्यकार हैं तथा महर्षि दयानन्द, योगी अरविन्द आदि अर्वाचीन भाष्यकार हैं। यद्यपि इन भाष्यकारों से पूर्व यास्काचार्य आदि नैरुक्त हो चुके थे, किन्तु उनका उद्देश्य वेदों की व्याख्या या भाष्य करना न था। यास्काचार्य ने निरुक्त में कुछ पूरे मन्त्रों की तथा कुछ मन्त्रांशों की व्याख्या की है, तथापि यह उनका प्रमुख कार्य नहीं था। प्रसंगवश ही उन्होंने ऐसा किया है। यास्क स्वयं कहते हैं कि वैदिक शब्दों का संग्रह किया जा चुका। अब उसकी व्याख्या करनी चाहिए।[1] इस प्रकार यास्क को वेदभाष्यकारों का मार्गदर्शक तो कहा जा सकता है, वेदभाष्यकार नहीं। अब स्कन्दस्वामी आदि के विषय में थोड़ा सा लिखा जाता है–

ऋग्वेद के भाष्यकार

(1) स्कन्दस्वामी–ऋग्वेद के भाष्यों में यह सर्वप्राचीन है। निरुक्त पर भाष्य करने वाले स्कन्दस्वामी ही वेदभाष्यकर्त्ता हैं। सायण आदि भाष्यकारों ने इसे उद्धृत किया है। इस समय यह भाष्य सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। वेंकटमाधव

---

1. समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः। नि॰ 1/1

ने अपने ऋग्भाष्य में एक श्लोक[1] दिया है जिससे पता चलता है कि यह भाष्य स्कन्दस्वामी, उद्गीथ तथा नारायण ने बनाया था।

स्कन्दस्वामी ने ऋ० 1/80/16 के भाष्य में अपना परिचय इस प्रकार दिया है–

बलभीविनिवास्येतामृगर्थागमसंहतिम्।
भर्त्तृध्रुवसुतश्चक्रे स्कन्दस्वामी यथामति।।

इसके अनुसार यह बलभी निवासी था इसके पिता का नाम भर्त्तृध्रुव था। हरिस्वामी शतपथब्राह्मण के भाष्य की भूमिका में अपने आपको स्कन्दस्वामी का शिष्य कहता है तथा अपने भाष्य की तिथि कलि संवत् 3740 अर्थात् 638 ईश्वी दी है। कलियुग का प्रारम्भ 3102 ई०पू० में हुआ है। अतः स्कन्दस्वामी का काल सप्तम शताब्दी का प्रारम्भ है।

यह भाष्य अतिसंक्षिप्त तथा याज्ञिक मतानुसारी है। इसमें प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में प्राचीन, ब्राह्मणग्रन्थों के वचन भी उद्धृत हैं। अष्टक 4, अ० 8, वर्ग 3 की 2-3 ऋचाओं के भाष्य में शाकपूणि के निरुक्त के प्रमाण भी उद्धृत हैं।

(2) नारायण–वेंकटमाधव की ऋगर्थदीपिका के अनुसार नारायण, उद्गीथ तथा स्कन्दस्वामी ने मिलकर ऋग्वेद का भाष्य किया था। सामवेद का भाष्यकार माधवभट्ट अपने आपको नारायण का पुत्र कहता है। बाणभट्ट ने माधवभट्ट से कादम्बरी का मंगलश्लोक लिया है। अतः नारायण का समय बाणभट्ट से कुछ पूर्व अर्थात् सप्तम शताब्दी माना जा सकता है।

(3) उद्गीथ–उद्गीथ का भाष्य खण्डित रूप में प्राप्त होता है। इस समय यह ऋ० 10/5/4 से 10/12/5 तथा 10/13/2 से 10/83/6 तक ही प्राप्त है। उद्गीथ की व्याख्या शैली स्कन्दस्वामी से मिलती है। उद्गीथ ने अपने भाष्य के अध्यायों के अन्त में लिखा है। 'वनवासीविनिर्गताचार्योद्गीथस्य कृतौ ऋग्वेदभाष्ये...अध्यायः समाप्तः।' स्कन्द की तरह यह भाष्य भी याज्ञिकपद्धति प्रधान है।

इसका प्रकाशन सर्वप्रथम 1935 ई० में डी०ए०वी० कॉलेज लाहौर से हुआ था। 1965 में वि०वै०शो०सं० होशियारपुर से प्रकाशित है।

---

1. स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति ते क्रमात्।
   चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम्।। ऋग्वेदा० 8/4/10

(4) माधवभट्ट–माधव के नाम वाले चार भाष्यकार हुए हैं उनमें से एक सामवेद का तथा शेष तीन ऋग्वेद के भाष्यकार है। कुछ लोगों का विचार है कि सायण या वेंकट ही माधव नाम से प्रसिद्ध हैं दूसरों के अनुसार माधव का स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। ऋग्वेद पर इसका अभूतपूर्व पाण्डित्य है। इसके ऋग्वेद के प्रथम अष्टक की टीका सम्प्रति मद्रास विश्वविद्यालय ने प्रकाशित की है। यह टीका अति सारगर्भित तथा संक्षिप्त है, किन्तु मन्त्रार्थ के अवबोधन में इसकी विलक्षणता है। इस टीका से पूर्व माधव ने ग्यारह अनुक्रमणियाँ भी लिखी थी। इसमें से नामानुक्रमणी तथा आख्यातानुक्रमणी प्रकाशित हैं। निर्वचनानुक्रमणी, स्वरानुक्रमणी, छन्दानुक्रमणी आदि आजकल उपलब्ध नहीं हैं। माधव वेद के संदिग्ध स्थलों में स्वरभेद तथा प्रातिशाख्यभेद से अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। माधव के भाष्य के उद्धरण स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव तथा सायण आदि के भाष्य के उपलब्ध होने से माधव का समय छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

(5) धानुष्कयज्वा–यह वैष्णव आचार्य था। इसका समय 1300 वि॰पूर्व माना गया है। 'सुदर्शन मीमांसा' के लेखक वेदाचार्य ने इन्हें त्रिवेदीभाष्यकार तथा त्रयीनिष्ठवृद्ध कहा है, किन्तु आजकल इसका कोई भी भाष्य उपलब्ध नहीं है।

(6) वेंकट माधव–यह भाष्य सम्पूर्ण ऋग्वेद पर उपलब्ध है। वेंकटमाधव के नाम से ही 'ऋगर्थदीपिका' नामक लघुभाष्य तथा 'ऋग्वेदव्याख्या' नामक विस्तृत भाष्य उपलब्ध होते हैं। कुछ विद्वान् इन दोनों को अलग-अलग व्यक्ति मानते हैं तो कुछ एक ही व्यक्ति की दोनों रचना मानते हैं। ऋगर्थदीपिका मन्त्रों का अति संक्षिप्त अनुवादमात्र है। यह याज्ञिकपद्धति का अधिक अनुसरण नहीं करता। भाष्य के प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में स्वरचित श्लोक दिये हैं, जिनमें स्वर, लकार, उपसर्ग, निपात, सर्वनाम, छन्द, समास, देवता आदि पर प्रकाश डाला गया है। वेंकटमाधव वेदार्थ के लिए ब्राह्मणग्रन्थों को अधिक आवश्यक मानता है तथा यह भी कहता है–निरुक्तमग्रतः कुर्यात्। इसने शाकल्य, यास्क तथा पाणिनि को ऋगर्थपराः=ऋग्वेद के विशेषज्ञ कहा है। वेंकट ने भाष्य के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर कुछ श्लोक दिये हैं जिनके अनुसार वह चोलदेश में कावेरी नदी के तट पर गोमान ग्राम का निवासी था। इसके पिता का नाम वेंकटाचार्य पितामह का नाम माधव तथा माता का नाम सुन्दरी तथा मामा का नाम भवगोल था। पं॰ भगवदत्त के अनुसार वेंकट काल 1100-1200 विक्रम संवत् है। देवराज यज्वा ने निघण्टुवृत्ति की भूमिका में वेंकटमाधव का

स्मरण किया है।[1] देवराज यज्वा का काल 1313 ई० है। अतः वेंकट का काल निश्चित रूप में इससे पहले ही है।

(7) आनन्दतीर्थ–इसने ऋग्वेद के प्रथम भष्टक के 40 सूक्तों पर ऋग्भाष्य नाम छन्दोबद्ध व्याख्या लिखी है। यह कर्णाटकनिवासी था तथा माध्वाचार्य, मध्व तथा पूर्णप्रज्ञ नामों से भी प्रसिद्ध था। यह द्वैतसिद्धान्तसमर्थक था। आनन्दतीर्थरचित अन्य ग्रन्थ 'महाभारततात्पर्यनिर्णय के अनुसार इसका जन्म 1198 ई० में हुआ था। ऋग्भाष्य पर आनन्दतीर्थ के ही शिष्य जयतीर्थ ने 1308–1331 ई० के मध्य ऋग्भाष्य टीका लिखी। इसी प्रकार नारायणाचार्य ने 'माधवमन्त्रार्थमंजरी' तथा राघवेन्द्रतीर्थ ने 'मन्त्रार्थमंजरी' नामक टीकाएँ लिखीं। आनन्दतीर्थ तथा जयतीर्थ की वृत्तियों पर भी अनेक व्याख्याएँ तथा टीकाएँ लिखी गयी।

(8) आत्मानन्द–आत्मानन्द ने अस्यवामीयसूक्त (ऋ० 1/164) की वेदान्त के अद्वैत सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार आध्यात्मिक व्याख्या की है। आत्मानन्द शंकरमतानुयायी अद्वैतवादी है। इसने अपने भाष्य की समाप्ति पर लिखा है 'अधियज्ञविषयं स्कन्दादिभाष्यम्। निरुक्तम् अधिदैवविषयम्। इदं तु भाष्यम् अध्यात्मविषयमिति। अस्य भाष्यस्य मूलं विष्णुधर्मोत्तरे,' यह उद्‌गीथ आदि से परवर्ती तथा सायण से पूर्ववर्त्ती है। इसका समय 1200–1300 विक्रमी है। पं० भगवद्दत्त के अनुसार इसका काल विक्रम ही चौदहवीं शताब्दी है।[2]

(9) भट्टगोविन्द–इसके भाष्य के केवल 1–51 पन्ने प्राप्त हुए हैं। उसका यह हस्तलिखित ग्रन्थ वाराणसी के सरस्वतीभवनपुस्तकालय में सुरक्षित है। इसका काल 1367 वि० माना गया है।

(10) सायणाचार्य–इनके पिता का नाम मायण, माता का नाम श्रीमती तथा गुरु का नाम विद्यातीर्थ महेश्वर था। सायण विजयनगर के चार राजाओं से सम्बन्धित रहा है। राजा बुक्क का यह मन्त्री भी था। बुक्क ने सायण के ज्येष्ठ भ्राता माधव की प्रेरणा से सायण को वेदभाष्य का कार्य सौंपा था। सायण के द्वारा निम्नलिखित ग्रन्थों पर भाष्य किया गया है–

(1) कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता, (2) ऋग्वेद, (3) सामसंहिता, (4) शुक्लयजुर्वेद की काण्वय संहिता, (5) अथर्ववेद, (6) तैत्तिरीय, ऐतरेय, ताण्ड्य, सामविधान, षड्विंश, आर्षेय, देवताध्याय, उपनिषद्, संहितोपनिषद्, वंश

1. श्रीवेंकटाचार्यतनयस्य माधवस्य भाष्यकृतौ...।
2. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, पृ० 66

तथा शतपथ आदि ब्राह्मणों पर, तैत्तिरीय आरण्यक, ऐतरेय आरण्यक पर अर्थात् कुल मिलाकर 18 ग्रन्थों पर भाष्य लिखा है। सायण का वेदभाष्य प्रायः याज्ञिकप्रक्रियाप्रधान है। सायण ने वैदिक नामपदों का यास्कानुसार निर्वचन भी किया है, किन्तु साथ ही यद्वा कहकर उनके ऐतिहासिक अर्थ भी किये हैं। नरसिंहचार्य तथा डॉ॰ गुणे ने सायणभाष्यों की एककर्तृता को संदिग्ध माना है। सम्वत् 1443 के एक शिलालेख के अनुसार महाराजाधिराज श्रीहरि ने ब्रह्मरण्य श्रीपाद स्वामी के सम्मुख चतुर्वेदभाष्यप्रवर्तकनारायण वाजयेयी याजी, नरहरि सोमयाजी तथा पण्डर दीक्षित नामक तीन ब्राह्मणों को अग्रहार देकर सम्मानित किया था।[1] पं गजानन शास्त्री के अनुसार इन तीनों विद्वानों ने सायण के वेदभाष्य में सहायता की होगी।[2]

(11) मुद्गल–ऋग्वेद के सम्पूर्ण प्रथम अष्टक तथा चतुर्थ अष्टक के पंचम अध्याय तक भाष्य उपलब्ध है। यह भाष्य एक प्रकार से सायणभाष्य का ही संक्षेप है। इसका समय पंद्रहवी ई॰ माना गया है।[3]

(12) रावण–वेदभाष्यकारों में रावण का नाम भी लिया जाता है, यद्यपि सम्प्रति इसका भाष्य उपलब्ध नहीं है। यह रामायणकालीन रावण से भिन्न व्यक्ति है।

यजुर्वेद के भाष्यकार

(1) शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दित संहिता के भाष्यकार–उवट–यह आनन्दपुर निवासी वज्रट का पुत्र था। महाराज भोज के शासनकाल में ग्यारहवीं ई॰ के उत्तरार्द्ध में इसने अवन्ती में रहकर यह भाष्य किया, ऐसा स्वयं उवट ने अपने भाष्य के प्रारम्भिक श्लोकों में कहा है।[4] इसे कश्मीरी कहा जाता है। उवट का भाष्य प्रधानतया याज्ञिक तथा अशंतः आधिदैविक भी है। अनेक मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ भी किये गये हैं। उवट की अन्य कृतियाँ ऋक्प्रातिशाख्य टीका, यजुः प्रातिशाख्यटीका, ऋक्सर्वानुक्रमणी-भाष्य तथा ईशोपनिषद्भाष्य है।

---

1. मैसूर, आर्केलोजिकल रिपोर्ट फॅार 1908, पृ॰ 54
2. वैदिकसाहित्य का इतिहास, चौखम्भा संस्कृतसंस्थान, 2066, पृ॰ 379
3. भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, पृ॰ 79
4. आनन्दपुरवास्तव्यवज्रयाख्यस्य सूनुना।
   उव्वटेन कृतं भाष्यं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः।।

(2) महीधर–यह वाराणसी निवासी नागर ब्राह्मण था। काशी में ही अपना अध्ययन समाप्त करके यह काशीराज के आश्रित रहकर 'राजाश्रितपण्डित' कहलाया 'वेददीप' नामक इसका भाष्य प्राय: उवट का ही अनुसारी है। यह भाष्य प्रकाशित तथा सम्यक् प्रचारित है। उवट का काल विक्रम की सोलहवीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। डॉ॰ लक्ष्मणस्वरूप तथा पं॰ सामश्रमी महीधर के ग्रन्थों को 12वीं शताब्दी की रचना मानते हैं। महीधर मूर्धन्य तान्त्रिक भी था। वि॰स॰ 1647 में लिखित महीधर का तन्त्रविषयक ग्रन्थ 'मन्त्रमहोदधि' प्राप्त होता है। इसी कारण महीधर के वेदभाष्य में कहीं-कहीं तन्त्रग्रन्थ तथा वाममार्ग की छाया भी है। कुछ मन्त्रों के अश्लील अर्थ भी वहाँ उपलब्ध होते हैं।

(3) शौनक–शुक्लयजुर्वेद संहिता के कुछ अध्यायों पर ही इसका भाष्य उपलब्ध है। शौनक ने 'अपरे' 'केचित्' कहकर अपने से पूर्ववर्ती भाष्यकारों के मतों को भी उद्धृत किया है।

शुक्लयजुर्वेद की काण्व संहिता के भाष्यकार

(1) सायणाचार्य ने सम्पूर्ण काण्वसंहिता पर भाष्य किया है।

(2) हलायुध–हलायुध ने काण्वसंहिता का 'ब्राह्मणसर्वस्व' नामक भाष्य लिखा है। यह वत्सगोत्रीय था तथा इसके पिता का नाम धनंजय था। अपने भाष्य के प्रारम्भ में हलायुध ने अपना परिचय यह दिया है कि वह बंगप्रदेश के नरेश लक्ष्मणसेन की राज्यसभा के धर्माधिकारी पद पर स्थित था। अत: इसका काल 1170-1200 ई॰ है। हलायुध वैष्णव तथा शैवदर्शन, वेद तथा मीमांसा का मर्मज्ञ था। इसने ब्राह्मणसर्वस्व, मीमांससर्वस्व, वैष्णवसर्वस्व, शैवसर्वस्व तथा पण्डितसर्वस्व में पाँच ग्रन्थ रचे।

(3) आनन्दबोध–(1200 ई॰) यह जातवेद भट्टोपाध्याय का पुत्र था। इसने सम्पूर्ण काण्व संहिता का 'काण्ववेदमन्त्रभाष्यसंग्रह' नाम से भाष्य किया है। अपने भाष्य में इसने ऋषि-देवता-छन्द आदि का निर्देश किया है। भाषा सरल तथा सुबोध है। इस भाष्य पर उवट तथा महीधर भाष्य की छाया है, किन्तु कहीं-कहीं पर मौलिकता भी है। इस भाष्य के अन्तिम दश अध्याय वाराणसी की सरस्वतीसुषमा (संवत् 2007-2011) में प्रकाशित हुए हैं।

(4) अनन्ताचार्य–(16वीं ईसवी) इसके पिता का नाम नागेशभट्ट तथा माता का नाम भागीरथी था। यह काशीनिवासी था। इसने काण्वसंहिता के 21–40 अध्यायों का भाष्य किया है। इसके अतिरिक्त शुक्लयजुःप्रातिशाख्य भाष्यम्, शतपथब्राह्मणभाष्यम् (13वों काण्ड) ग्रन्थ भी रचे हैं। इसके भाष्य पर महीधरभाष्य की छाया है। अतः यह महीधर से उत्तरवर्ती है। इसने स्थान-स्थान पर मन्त्रों की विष्णुपरक व्याख्या की है।

कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयसंहिता के भाष्यकार

(1) सायणाचार्य–सायण का परिचय अन्यत्र दिया जा चुका। सायण ने सर्वप्रथम यही भाष्य किया था, ऐसा सायण ने स्वयं अपने भाष्य के प्रारम्भिक श्लोकों में कहा है।

(2) भवस्वामी–भवस्वामी ने भी तैत्तिरीयसंहिता का भाष्य रचा था, उत्तरवर्ती भाष्यकारों ने एतद्विषयक संकेत दिये हैं। यथा–भट्टभास्कर मिश्र ने अपने भाष्य के आरम्भ में 'भवस्वाम्यादिभाष्य' लिखा है। इसी प्रकार केशव स्वामी ने 'बोधायनप्रयोगसार' के प्रारम्भ में लिखा है 'भवस्वामिभाष्यमतानुसारिणा।'

(3) गुहदेव–देवराजयज्वा के निघण्टुभाष्य में सर्वप्रथम गुहदेव के भाष्य का उल्लेख पाया जाता है। रामानुजाचार्य ने 'वेदार्थसंग्रह' नामक अपने ग्रन्थ में गुहदेव को अपना शिष्य कहा है। यह भाष्य सम्प्रति उपलब्ध नहीं है।

(4) आचार्य क्षुर–(11वीं शती वि॰पू॰) सायणाचार्य प्रणीत माधवीयधातुवृत्ति में इसके भाष्य का उल्लेख किया गया है–'यथा त्रय एनां महिमानः सयन्त्र इत्यत्र क्षुरभट्टभास्करीययोः सयन्त्र समन्त इति।'

(5) भट्ट भास्करमिश्र–(1100–1500 वि॰) तैत्तिरीयसंहिता के भाष्यों में यह प्रमुख स्थान पर है। सायणाचार्य ने अपने भाष्य में भट्ट भास्कर का स्मरण किया है। सायण के पूर्ववर्ती लक्ष्मण नामक वेदाचार्य ने अपनी 'सुदर्शनमीमांसा' में भास्करमिश्र के भाष्य का नाम 'ज्ञानयज्ञम्' लिखा है। हरदत्त ने एकाग्निकाण्ड के भाष्य में भट्टभास्कर के भाष्य से सहायता ली है। इस भाष्य में अनेक वैदिक ग्रन्थों के उद्धारण दिये गये हैं। मन्त्रार्थप्रकाशन में अन्य प्राचार्यों के मतों को भी उद्धृत किया गया है। भट्टभास्कर ने याज्ञिकी व्याख्या के साथ-साथ आध्यात्मिक तथा आधिदैविक अर्थ भी किये हैं।

सामवेद के भाष्यकार

(1) सायणाचार्य–परिचय अन्यत्र दिया जा चुका।

(2) माधव–माधव सामसंहिता के प्रथम भाष्यकार कहे जाते हैं। इसके भाष्य का नाम विवरण है। सत्यव्रत सामश्रमी ने सामवेद के सायणभाष्य के साथ टिप्पणी रूप में सर्वप्रथम माधवभाष्य को प्रकाशित किया था। इसके पिता का नाम नारायण था। देवराज यज्वा ने अपने निघण्टुभाष्य की अवतरणिका में किसी माधव का निर्देश किया है।

(3) भरतस्वामी–(1300 ई०) यह भाष्य अभी अप्रकाशित है। अपने भाष्य में भरतस्वामी ने अपना परिचय दिया है कि यह काश्यपगोत्रीय था। इसके पिता का नाम नारायण तथा माता का नाम यज्ञदा था। होसलाधीश्वर रामराथराजा (1295 ई०) के शासन काल में इसने अपना भाष्य रचा। यह भाष्य अति संक्षिप्त है।

(4) गुणविष्णु–(1200–1300 वि०) यह आचार्य बंगप्रदेश तथा मिथिला में प्रसिद्ध था। इसने सामवेद की कौथुम शाखा पर 'छान्दोग्यमन्त्रभाष्य' की रचना की है। 'कलकत्तासंस्कृतपरिषद्' से इस भाष्य का प्रकाशन हुआ है। हलायुध ने इस भाष्य से सहायता ली, ऐसे प्रमाण भी हैं। गुणविष्णु ने 'छान्दोग्यमन्त्रभाष्यम्' मन्त्रब्राह्मणभाष्यम् तथा पारस्करगृह्यसूत्रभाष्यम् ग्रन्थ भी लिखे हैं।

अथर्ववेद के भाष्यकार

अथर्ववेद पर सायण से पूर्णवर्ती कोई भी भाष्य उपलब्ध नहीं है। इस समय यह भाष्य प्रकाशित है, किन्तु सम्पूर्ण नहीं, अपितु खण्डित रूप में ही। इसका प्रथम संस्करण काशीनाथ पाण्डुरंग ने सन् 1895–1898 ई० के मध्य मुम्बई से प्रकाशित किया। इसमें केवल 1, 2, 3, 4, 6, 7, 8, 11, 17, 20 काण्डों का भाष्य ही उपलब्ध है। सम्पूर्ण अथर्ववेद के सायणभाष्य की पाण्डुलिपि ग्वालियर (मध्यप्रदेश) में मानी जाती है।

वेदों के अर्वाचीनभाष्यकार

(1) स्वामी दयानन्द सरस्वती–इनके विषय में अन्यत्र पृ. 193 देखें। इन्होंने ऋग्वेद मण्डल 7, सूक्त 63 के द्वितीय मन्त्र तक तथा सम्पूर्ण शुक्लयजुर्वेद का भाष्य किया है।

(2) अरविन्द घोष–अरविन्द का जन्म 15-8-1872 को कोलकाता में हुआ था। कैम्ब्रिज (इग्लैंड) में शिक्षा प्राप्त करके ये क्रान्तिकारी भी रहे तथा 1910 में पाण्डेचेरी में 'योगाश्रम' की स्थापना करके योग एवं वेदभाष्य में व्यस्त हो गये। इन्होंने ऋग्वेद के 4500 मन्त्रों का अंग्रेजी अनुवाद किया अरविन्द का विचार है कि वेदमन्त्रों में एक उच्चतर, महान् व्यापक, शाश्वत तथा अपौरुषेय सत्य निहित है। रहस्यवेत्ता या योगी ही सच्चे वेदार्थ को जान सकता है। ऋग्वेद अध्यात्म का ग्रन्थ है, न कि असभ्य लोगों के लोकगीतों का। वेद में लौकिक व्यक्तियों का इतिहास नहीं है। वहाँ पर वर्णित सरस्वती आदि नदियाँ पंजाब की नदियाँ नहीं है, अपितु द्युलोक की सत्यधाराएँ हैं। ये मानवी प्रजा के लिए सत्य के द्वारों को खोल देती हैं। अरविन्द का वेदभाष्य मुख्य रूप से आध्यात्मिक है। उन्होंने स्वामी दयानन्द की शैली पर ही भाष्य किया है तथा वेदों की वैज्ञानिकता के विषय में लिखा है कि "दयानन्द का यह विचार कि वेदों में वैज्ञानिक तथा धार्मिक दोनों प्रकार के सत्य विद्यमान है अतिशयोक्ति नहीं है। मैं तो इसमें अपनी यह धारणा भी जोड़ना चाहूँगा कि वेदों में विज्ञान के ऐसे सत्य भी विद्यमान हैं, जिनका आधुनिक जगत् को कुछ भी पता नहीं है।"

अरविन्द वैदिकशब्दों की प्रतीकात्मक व्याख्या करते हैं। यथा–देवशुनी सरमा को इन्होंने बुद्धि में प्रकाशित होने वाली प्रकाश की किरण माना है। इनका भाष्य अंग्रेजी में है तथा सभी वेदों पर नहीं है।

(3) कपाली शास्त्री–अरविन्द की व्याख्यापरम्परा में टी०वी० कपाली शास्त्री प्रमुख हैं। इन्होंने ऋग्वेद के प्रथम अष्टक पर सिद्धाञ्जन नामक संस्कृत भाष्य अरविन्द के सिद्धान्तों के अनुरूप ही लिखा है।

इनका समय 1886-1953 तक माना जाता हे। कपालि शास्त्री का मानना है कि मन्त्रों का आन्तरिक पक्ष गुप्त हैं जबकि बाहरी अर्थ ही हमें दिखलाई पड़ता है। आन्तरिक अर्थ ही परमसत्य तथा आध्यात्मिक हैं। कपालिशाली मन्त्रों में एक विशिष्ट शक्ति मानते हैं। वे वेदों को मन्त्र की दृष्टि से त्रयी तथा संहिता की दृष्टि से चतुष्टयी मानते हैं। इन्होंने अपने भाष्य में यास्क, स्कन्द, वेंकट, सायण, दयानन्द आदि सभी से प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्राप्त किया है।

(4) पं० मधुसूदन ओझा–ओझा जी ने यद्यपि विधिवत् किसी भी वेद संहिता का भाग्य नहीं किया है। उन्होंने वेदों के वैज्ञानिक तत्त्वों के उद्घाटनार्थ स्वतन्त्र पुस्तकें लिखकर उनमें प्रसंगतः वेदमन्त्रों की व्याख्या भी की है। जिसके

द्वारा उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रशस्त किया है। इन्होंने लगभग 200 ग्रन्थों की रचना की इनमें से 50 ग्रन्थ प्रकाशित है।

(5) पं० दामोदर सातवलेकर–इन्होंने अनेक वैदिक संहिताओं के सम्पादन के साथ-साथ वेदों के सुबोधभाष्य भी लिखे हैं। वेदव्याख्या में उन्होंने राष्ट्रवादी तथा सामाजिक दृष्टिकोण को अपनाया है। इसके वेदविषयक ग्रन्थों की संख्या 100 से भी अधिक है। इनका अधिकांश कार्य हिन्दी तथा मराठी में है। महाराष्ट्र में 'स्वाध्याय मण्डल पारडी' उनकी कार्यस्थली रहा है।

(6) पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार–इन्होंने चारों वेदों का हिन्दीभाष्य यास्क की शैली पर महर्षि दयानन्द के भाष्य का अनुसरण करते हुए किया है। यह भाष्य पूर्णतः हिन्दी में होने से अधिक जनप्रिय बना।

(7) पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी–ये रेलवे में नौकरी करने थे। सेवानिवृत्त होकर इन्होंने संस्कृत सीख कर चारों वेदों का हिन्दीभाष्य विद्वत्तापूर्व किया है जो प्रकाशित है तथा उपलब्ध है।

(8) स्वामी ब्रह्ममुनि ने यजुर्वेदान्वयार्थ–भाष्य रचा है जो आर्य साहित्य मण्डल अजमेर से 1968 में छपा है

(9) हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्र स्वामी)–इनका जन्म 1907 ई० को जनपद प्रतापगढ़ के भटनी नामक ग्राम में हुआ था। इन्होंने कृष्णयजुर्वेद का भाष्य किया है। यह अति विस्तृत है। वेदार्थपरिजात नामक भाष्यभूमिका भी आपने लिखी है।

(10) पं० विश्वनाथ विद्यालंकार–गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक एवं वेदोपाध्याय थे तथा देहरादून (उत्तराखण्ड) में रहते थे। इन्होंने सम्पूर्ण अथर्ववेद का हिन्दीभाग्य किया है जो अधिकांश में अध्यात्मप्रधान है।

(11) पं. रामगोविन्द त्रिवेदी–इन्होंने सम्पूर्ण ऋग्वेद का हिन्दी अनुवाद किया है।

(12) पं० हरि शरण सिद्धान्तालंकार–उन्होंने चारों वेदों का भाष्य स्वामी दयानन्द की पद्धति तथा अपनी ऊहा के आधार पर किया है। यह भाष्य सुबोध एवं जनोपयोगी है।

(13) डॉ० रामनाथ वेदालंकार ने भी सामवेद का विद्वत्तापूर्ण भाष्य किया है, जो प्रकाशित है तथा हिण्डोन सिटी (राज०) से उपलब्ध है।

(14) स्वामी गंगेश्वरानन्द–ये उदासीन सम्प्रदाय के प्रज्ञाचक्षु विद्वान् साधु थे। इन्होंने सात्वत भाष्य के नाम से अपने निर्देशन में पण्डितों से कुछ सूक्तों का भाष्य कराया है किन्तु यह भाष्य नितान्त ही कल्पना पर आधारित है। यहाँ तक कि वेद के अग्नि आदि पदों की व्याख्या कृष्ण, अर्जुन तथा कालिन्दीपरक करके वेदार्थ के साथ उपहासास्पद खींच-तान की है। सुप्रसिद्ध गायत्री मन्त्र को भी इन्होंने श्रीकृष्ण से जोड़ दिया। इससे पूर्व किसी ने भी ऐसा नहीं किया।

(15) स्वामी सत्यप्रकाश–ये इलाहाबाद विश्वविद्यालय में साइंस के प्रोफेसर रहे हैं। संस्कृत के भी विद्वान् थे। सेवानिवृत्ति पर इन्होंने संन्यासी बनकर चारों वेदों का अंग्रेजी भाष्य किया है, जो वेदप्रतिष्ठान नयी दिल्ली से प्रकाशित है।

प्रकीर्ण वेदव्याख्याकार–पं॰ सत्यव्रत सामश्रमी ने बंगला में मन्त्रों के विद्वत्तापूर्वक अनुवाद किये हैं। इसका 'त्रयीपरिचय' ग्रन्थ अभी भी विद्वानों में समादृत है। श्रीराम शर्मा ने भी चारों वेदों का सामान्य हिन्दी अनुवाद किया है।

इनके अतिरिक्त भी अनेक विद्वानों ने सूक्तों या मन्त्रों की प्रकीर्ण व्याख्याएँ की हैं।

यास्कनिर्दिष्ट वेदार्थ की विभिन्नपद्धतियाँ

वैदिक शब्द किसी एक ही सीमित अर्थ के वाचक नहीं हैं, अपितु बह्वर्थक हैं। निघण्टु में एक ही अर्थ में एकाधिक शब्दों का संग्रह किया गया है, इससे यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जाती है। वहाँ पर जलवाची एक सौ एक नाम पद संगृहीत हैं। यद्यपि इनके अर्थों में स्वल्प सा भेद भी है, तथापि वे सभी जलवाची ही हैं। इसी प्रकार यास्क ने रश्मि, धनुष की डोरी, स्नाव, श्लेष्मा, वाणी तथा गोपशु ये सभी अर्थ गोशब्द के बतलाये हैं। पणिामस्वरूप वेदों में जहाँ भी गो शब्द आएगा, वहाँ वह प्रसंगानुसार उपयुक्त अर्थों में से किसी का भी वाचक हो सकता है। अन्य सभी वैदिक शब्दों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। इस प्रकार वैदिक शब्द तथा मन्त्र अनेक अर्थों के वाचक बन जाते हैं। इस विषय में आचार्य दुर्ग कहते हैं कि ये वेदमन्त्र बहुत महान् अर्थों के धारण किये हुए हैं। इनके जितने भी अर्थ हो सकें, वे कर लेने चाहिएं।[1]

1. त एते वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरमपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणम्। महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् अधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः। नि॰ 2/8, दुर्गभाष्य

यद्यपि वेदमन्त्रों के प्रकरणानुसार अनेक अर्थ हो सकते हैं, तथापि इन सबका समाहार अध्यात्म, अधिदेव तथा अधियज्ञ प्रक्रिया में हो जाता है। यास्काचार्य ने इन तीन प्रक्रियाओं का स्पष्ट उल्लेख निरुक्त में किया है। इस विषय में निरुक्त के टीकाकार स्कन्द कहते हैं। 'सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात् (नि॰ 7/5, स्कन्द भाष्य।)

इन तीन प्रक्रियाओं के आधार पर ही यास्क ने निरुक्त में वेदमन्त्रों की कई प्रकार की व्याख्याओं का नामोल्लेख किया है। यथा–(1) अधियज्ञप्रक्रिया, (2) अधिदैवतप्रक्रिया, (3) अध्यात्मप्रक्रिया, (4) परिव्राजकपक्ष, (5) आर्षप्रक्रिया, (6) नैरुक्तप्रक्रिया, (7) नैदानप्रक्रिया, (8) वैयाकरणप्रक्रिया, (9) ऐतिहासिकप्रक्रिया, (11) आख्यानप्रक्रिया, (12) अधिभूतप्रक्रिया। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

(1) **अधियज्ञप्रक्रिया**–यास्क ने 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह याज्ञदैवते पुष्पफले' कहकर आधियाज्ञिक प्रक्रिया को पुष्प तथा आधिदैविक प्रक्रिया को फल कहा है। पुष्प का स्थान फल से पहले होता है, किन्तु वह है फल के लिए ही। कालान्तर में याज्ञिक प्रक्रिया का प्राबल्य होने पर 'वेदाहि यज्ञार्थमाभिप्रवत्ताः' (वेदांग ज्योतिष) तथा आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यमतर्थानाम् (मी॰ 8/1/2/1) आदि वचन भी याज्ञिकप्रक्रिया की पुष्टि में कहे जाने लगे तथा वेदमन्त्रों की व्याख्या यज्ञपरक ही की जाने लगी।

यहाँ पर एताद्विषयक कुछ उदाहरण दिये जाते हैं–

(क) चत्वारिश्रृङ्गा त्रयो अस्य पादाः द्वेशीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश। ऋ॰ 4/58/3

याज्ञिकों के अनुसार यज्ञ ही महान् वृषभ है। चार वेद इसके चार सींग हैं, यज्ञ के तीन सवन ही तीन पैर है। प्रायणीय तथा उदयनीय ही इसके दो सिर हैं तथा सप्त छन्द ही इसके सप्त हाथ है। मन्त्रब्राह्मण तथा कल्प इनमें बंधा हुआ यह यज्ञ सभी मनुष्यों में व्याप्त है।

इसी प्रकार यास्क का कथन है कि नैरुक्तों के अनुसार सिनीवाली तथा कुहू देवपत्नियाँ हैं, जबकि याज्ञिकों के अनुसार पूर्व अमावस्या सिनीवाली है तथा

उत्तर अमावस्या कुहू है।[1] गो तथा धेनु पद नैरुक्तों के मत में माध्यमिका वाणी के वाचक है तो याज्ञिकों के मत में ये दुधारू गो के वाचक हैं।[2] स्कन्दस्वामी महीधर, उवट, सायण आदि भाष्यकारों ने प्राय:याज्ञिक अर्थ ही किये हैं। उत्तर काल में याज्ञिक प्रभाव अधिक करने पर यह दोष उत्पन्न हुआ कि सभी यज्ञों की विविध क्रियाओं के अनुरूप वेदमन्त्र न मिलने पर मन्त्रार्थ की अपेक्षा करके याज्ञिक क्रियाओं के साथ बलात् उनका सम्बन्ध जोड़ा जाने लगा अर्थात् वास्तविक मन्त्रार्थ की उपेक्षा करके काल्पनिक विनियोगों के साथ मन्त्रों को जोड़ा जाने लगा। यथा–दधि क्राव्णो अकारिषम् (ऋ० 9/39/6) यहाँ दधिक्रावन् शब्द अश्ववाचक हैं, किन्तु याज्ञिकों ने इसका सम्बन्ध दधि तथा उसके भक्षण से जोड़ दिया। इसी प्रकार अन्यत्र भी किया गया।

(2) आधिदैवत प्रक्रिया–यास्क ने वैदिक देवताओं को तीन श्रेणियों में बांटा है–पृथ्वीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय तथा द्युस्थानीय। ये सभी प्राकृतिक पदार्थ हैं जो अपने गुणों के कारण देव कहलाते हैं। यास्क ने अनेक मन्त्रों की व्याख्या आधिदैविक पक्ष में की है। यथा–यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम् (ऋ० 1/164/21) की व्याख्या यास्क ने अधिदैवत तथा अध्यात्मपक्ष में की है। अधिदैवतपक्ष में सूर्यरश्मियाँ ही सुपर्णा हैं, जबकि अध्यात्मपक्ष में इन्द्रियाँ सुपर्णा हैं। ब्राह्मण दैवत ग्रन्थों में भी यज्ञविधियों की व्याख्या करते समय उनका सम्बन्ध अधिदैव तथा आध्यात्म से जोड़ा गया है। यास्क से उत्तरवर्ती भाष्यकारों ने भी आधिदैवतपक्ष में व्याख्या की है। यथा–सायणाचार्य ने 'तरणिर्विश्वदर्शतो' (ऋ० 1/50/4) की व्याख्या अधिदैवत तथा अध्यात्मपक्ष में की है।

(3) अध्यात्मप्रक्रिया–यास्क ने दैवत को वाणी का पुष्प तथा अध्यात्म को फल कहा है। आत्मा, परमात्मा, विषयक ज्ञान अध्यात्म कहलाता है। प्राय: सभी भाष्यकारों ने कुछ मन्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्याएँ की है। स्वामी दयानन्द तो कहते हैं कि प्रत्येक मन्त्र में परमेश्वर का वर्णन किसी न किसी रूप में विद्यमान है।[3] इसी प्रकार ऋक्सर्वानुक्रमणी में कात्यायन कहते हैं कि अध्यात्म में ओंकार अथवा परमेश्वरीभावना ब्रह्म ही सब मन्त्रों का देवता है। यास्क ने अनेक मन्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्या की है। ऋग्वेद के निम्न सूक्त विशेष रूप में अध्यात्मपरक हैं–

---

1. सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ता: अमावस्ये इति याज्ञिका। नि० 11/31
2. वाग् माध्यमिक धर्मधुग् इति याज्ञिका। नि० 11/42
3. नेश्वरस्यैकस्मिल्लपि मन्त्रेऽत्यन्तं त्यागो भवति। दया०, ऋ० भा०भू०

अस्यवामीय सूक्त (1/164), विश्वकर्मसूक्त (10/81-82) हिरण्यगर्भ सूक्त (10/121), नासदीयसूक्त (10/129), भाववृत्तम् सूक्त (10/191) आदि। अथर्ववेद का ब्रह्मौदन सूक्त इसी प्रसंग में है।

(4) परिव्राजक प्रक्रिया–इसका उल्लेख यास्क ने निरुक्त में किया है तथा–'बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश' (ऋ० 1/164/32 मन्त्र) को उद्धृत करके लिखा है कि नैरुक्तों के अनुसार अनेक जीव-जन्तुओं को उत्पन्न करने वाला मेघ बरसकर पथिवी को प्राप्त करता है, जबकि परिव्राजकों के अनुसार बहुत सन्तानों वाला व्यक्ति कष्ट को प्राप्त करता है। यह सम्भव है कि कुछ मन्त्रों की व्याख्या परिव्राजकों के द्वारा वैराग्य या अध्यात्मपरक की जाती हो, किन्तु यह भाष्यकारों का कोई सम्प्रदाय विशेष प्रतीत नहीं होता।

(5) आर्षप्रक्रिया--यास्क ने निरुक्त में चार बार आर्ष पद का प्रयोग किया है।[1] चत्वारि वाक्परिमिता पदानि (ऋ० 1/164/45) की व्याख्या में यास्क लिखते हैं 'ओङ्कारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्' (नि० 13/9)। आर्षपक्ष के अनुसार ओङ्कार तथा भूः, भुवः, स्वः ये महाव्याहृतियाँ ही चार पद हैं। इसके विपरीत पशु, वाद्य, वन्यजीव तथा मनुष्यवाणी ही चार पद हैं। आर्षपक्ष अध्यात्म जैसा ही है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह अध्यात्म ही हो। इसमें ऋषिदृष्टि प्रधान है।

(6) नैरुक्त प्रक्रिया–नैरुक्त सभी शब्दों को आख्यातज मानते हैं। इसी के आधार पर यास्क ने शब्दों के निर्वचन किये हैं। यास्क एक ही शब्द के अनेक निर्वचन भी करते हैं। ऐसा इसलिए है कि एक निर्वचन एक प्रसंग में जो अर्थ देता है, वही शब्द अन्य निर्वचन में अन्य ही अर्थ देता है। यथा–अग्निः कस्मात्? अग्रणी भवति अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अंगं नयति संनममानः (नि० 7/14) इनमें प्रथम निर्वचन परमेश्वर, नेता, राजा आदि के पक्ष में है तो द्वितीय निर्वचन याज्ञिक अग्नि के पक्ष में तथा तृतीय निर्वचन विविध कार्यों में प्रयोग में आने वाली भौतिक अग्नि के पक्ष में।

स्पष्ट है कि इस प्रकार मन्त्रों के अर्थ भी विविध प्रकार से किये जायेंगे। यास्क ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले शब्दों का भी निर्वचन करते हैं। यथा–इन्द्र[2], उर्वशी[3], आदि। इससे सिद्ध है कि वे वेदों में इतिहास नहीं मानते। यास्क ने

1. नि० 6/27, 13/12, 9/8 तथा 13/9
2. इरां दृणातीति वा इरां दधातीति वा। नि० 10/9
3. उर्वशी अप्सरा। अप्सरा अप्सारिणी। नि० 5/13

निरुक्त में प्रायः आधिदैविक तथा आध्यात्मिक पक्ष में मन्त्रों की व्याख्या की है। प्रतीत होता है कि ऐसी व्याख्या करने वाले नैरुक्तों का परिपुष्ट सम्प्रदाय रहा है।

(7) नैदानप्रक्रिया—यास्क ने दो बार (नि॰ 6/9 तथा 7/12) नैदानों का उल्लेख किया है। दुर्गाचार्य लिखते हैं। 'निदानविदः शब्दस्य मूलतत्वगवेषकाः (नि॰ 6/9 पर दुर्गभाष्य)।' यास्क ने सामन् शब्द के विषय में लिखा है 'ऋचा समं मेने इति नैदानाः' (नि॰ 7/12) इससे स्पष्ट है कि किसी शब्द के अर्थ को जानने के लिए नैदान उसके धातु-प्रत्यय का अन्वेषण न करके शब्द के मूलतत्त्वों को जानने का प्रयास करते हैं। यह शैली भी निर्वचनप्रधान तथा केवल निर्वचन करने मात्र तक सीमित प्रतीत होती है। भाष्यकारों का यह कोई सम्प्रदाय विशेष नहीं है।

(8) वैयाकरणप्रक्रिया—वैयाकरण वेदभाष्यकारों का अलग से कोई सम्प्रदाय नहीं है, अपितु शब्दसिद्धि में उनका नैरुक्तों के साथ मतभेद है। नैरुक्त सभी शब्दों को आख्यातज मानते हैं जबकि कुछ वैयाकरण केवल प्रत्यक्षवृत्ति शब्दों को ही आख्यातज या यौगिक मानते हैं, शेष परोक्षवृत्ति तथा अतिपरोक्ष वृत्ति शब्दों को रूढ़ मानते हैं।[1] वैयाकरण प्रकृति-प्रत्यय के आधार पर शब्दसिद्धि करते हैं, जबकि नैरुक्त निर्वचन के आधार पर। यास्क कहते हैं कि शब्द का अर्थ जाने बिना उसके प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना नहीं की जा सकती तथा अर्थ का ज्ञान निरुक्त से ही होता है।

इस प्रकार निरुक्त में ही व्याकरण की सम्पूर्णता है।[2] इतना होने पर भी वैयाकरण शब्दार्थ के विषय में नैरुक्तों से मतभेद रखते हैं तथा अपने ढंग से ही कुछ मन्त्रों की या मन्त्रस्थ पदों की व्याख्या करते हैं। यथा—चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः (ऋ॰ 4/58/3) की व्याख्या भाष्यकार पतंजलि ने इस प्रकार की है कि नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात ही शब्द रूपी वृषभ के चार सींग है। तीनों काल ही इसके तीन पैर है। नित्य तथा अनित्य के रूप में इसके दो सिर हैं तथा सप्त विभक्तियाँ ही इसके सात हाथ हैं। वस्तुतः इस प्रकार की शाब्दिक व्याख्या कुछ ही मन्त्रों की की जा सकती है, सब की नहीं। शब्दशास्त्र वैयाकरणों का क्षेत्र है, किन्तु वेदभाष्य करना इससे बाहर है। स्वयं पतंजलि भी महान् वैयाकरण हैं, वेदभाष्यकार नहीं। अतः नैरुक्तों से शब्दसिद्धिविषयक मतभेद होने पर भी यह वेदभाष्यकारों का सम्प्रदाय नहीं है।

---

1. नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। स सर्वाणीनति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके। नि॰ 1/12
2. अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतीयतो नात्यन्तं संस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्र्यं स्वार्थसाधकं च। नि॰ 1/15

(9) ऐतिहासिकप्रक्रिया–वेदों में वसिष्ठ, उर्वशी आदि अनेक नाम ऐसे भी पाये जाते हैं जो लोक में व्यक्तिविशेष के वाचक भी हैं। सम्भव है कि इतिहास के पक्षपाती कुछ भाष्यकार ऐसे नामों से सम्बन्धित मन्त्रों की ऐतिहासिक व्याख्या करते हों। सायण आदि भाष्यकारों ने भी ऐसा किया है, किन्तु सायण ने अनेक स्थलों पर व्यक्तिवाचक शब्दों का निर्वचन करके उनके आध्यात्मिक या आधिदैविक अर्थ भी किये हैं। यास्क ने ऐसे मन्त्रों के ऐतिहासिक पक्ष को दिखलाकर यौगिक प्रक्रियानुसार उनके अन्य अर्थ भी किये हैं। इससे स्पष्ट है कि यास्क ऐतिहासिक पक्ष को स्वीकार नहीं करते। उदाहरण के रूप में 'त्रितःकूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये (नि॰ 4/6)' मन्त्र की व्याख्या में सायण ने शाट्यायिनो की परम्परा से त्रितों के एक इतिहास को उद्धृत कर दिया है। मन्त्र में इस इतिहास का संकेत भी नहीं है। यास्क त्रित के निर्वचन में कहते हैं–त्रितः तीर्णतमो मेधया बभूव। (नि॰ 4/6)। इसी प्रकार इन्द्रो दधीचोऽस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः जघान नवतीर्नव (ऋ॰ 1/84/13) की व्याख्या में भी शाट्यायिनों ने दधीची ऋषि से सम्बन्धित इतिहास को उद्धृत किया है, जबकि यास्क दधीची के निर्वचन में कहते हैं–दध्यङ् प्रत्यक्तो घ्यानमिति वा प्रत्क्तमस्मिन् ध्यानमिति वा (नि॰ 12/33)।

ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायः ऐसा किया गया है कि ऐतिहासिक प्रतीक होने वाले नाम पद जिन मन्त्रों में आये हैं, वहाँ पर उन्होंनें किसी न किसी इतिहास को उद्धृत कर दिया है, भले ही उस इतिहास का उस मन्त्र से सम्बन्ध न भी हो। इतना ही नहीं, अपितु अन्य अनेक नामों को भी कथा में जोड़कर बिल्कुल ही काल्पनिक इतिहास वहाँ प्रस्तुत कर दिया है। सम्भवतः कथा के माध्यम से वेदार्थ को हृदयंगम कराने के लिए उन्होंने ऐसा किया हो, लोक में भी ऐसा देखा जाता है। इन ब्राह्मणग्रन्थों का आश्रय लेकर ही सायणाचार्य आदि ने वेदभाष्य किये। अतः उनके द्वारा ऐतिहासिक अर्थ किया जाना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार वेदव्याख्या का ऐतिहासिक सम्प्रदाय सा ही बन गया जो कालान्तर में बद्धमूल हो गया। यह सम्भव था कि यदि सायण आदि के सामने ये ब्राह्मणग्रन्थ न होते तो वे मन्त्रों की ऐतिहासिक व्याख्या न करते। ऐसा केवल महर्षि दयानन्द ने किया है कि उन्होंने ब्राह्मणोक्त ऐतिहासिक कथाओं को सर्वथा नकार कर निरुक्त के आधार पर अनैतिहासिक वेदभाष्य किया है।

(10) आख्यानप्रक्रिया–अनेक वेदमन्त्रों में आख्यानशैली भी पायी जाती है। यास्क ऐसे मन्त्रों की आख्यानपरक व्याख्या करके मन्त्र के नित्यपक्ष को भी

दिखलाते हैं। जिससे मन्त्र का ऐतिहासिक पक्ष तिरोहित हो जाता है। उदाहरणार्थ–अजोहवीद् अश्विना, वर्तिका वृकस्य (ऋ॰ 1/117/16) की व्याख्या आख्यानपरक करके यास्क इसके नित्यपक्ष को दिखलाते हैं कि इस पक्ष में सूर्य ही वृक है तथा उससे ग्रसित उषा ही वर्त्तिका है। इस आख्यान के पक्ष में एक दोष यह है कि इससे मन्त्र की असंगत व्याख्या होती है। यथा–उक्त मन्त्र का आख्यान यह है कि वृक से ग्रसित वर्तिका को अश्विनों ने छुड़ाया। असंगति यह है कि वृक वर्तिका को ग्रसित करता ही नहीं। वर्तिका = बटेर एक पक्षी है। भेड़िया उसे ग्रास बना ही नहीं सकता। वह तो पशुओं को मारता है। इसी प्रकार–

एकः सुपर्णः समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे। ऋ॰ 10/104/4

इसकी आख्यानपरक व्याख्या यह है कि एक सुन्दर पंखों वाला पक्षी समुद्र में प्रवेश कर गया। वहाँ वह समस्त भुवन को देखता है। यहाँ असंगति यह है कि समुद्र में प्रवेश करके पक्षी समस्त भूमण्डल को देख ही नहीं सकता। इसीलिए यास्क के अनुसार इसकी आधिदैविक व्याख्या यह है कि–

सुपर्णाः सुपतनाः आदित्यररश्मयः समुद्रमन्तरिक्षम् आविवेश।

अर्थात् सूर्यरश्मि अन्तरिक्ष में प्रवेश करती है तो वहाँ माध्यमिकावाक् से उसका सम्पर्क होता है।

सायण ने भी सुपर्ण का यह अर्थ किया है–सुपर्णः सुपतनो मध्यस्थानी देवः, यद्वासुपर्णः पक्षवान् निराधारः सञ्चार्यकः प्राणवायुः परमात्मा वा। यह–आख्यानपक्ष भी ऐतिहासिक प्रक्रिया जैसा ही है तथा इसे मानकर वेदमन्त्रों की कोई भी सुसंगत व्याख्या की ही नहीं जा सकती। वेदों में यह शैली प्रस्तुत की गयी है जिसके आधार पर वेदों में विविध व्याख्यानों की मिथ्या कल्पना करली गयी है।

(11) अधिभूतप्रक्रिया–अधिभूत का अर्थ है भूतों अर्थात् प्राणियों एव पदार्थों को लक्ष्य में रख किया जाने वाला अर्थ। यह प्रक्रिया विश्व के जड़ तथा चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों से सम्बन्धित है। इसे अपना कर ही मन्त्रों के राष्ट्र, समाज, परिवार, धर्म, परलोक, विज्ञान, कृषि, वाणिज्य, राजनीति, आदि अनेक पक्षों में अर्थ किये जा सकते हैं। इस प्रकार वेदार्थ का क्षेत्र अति विस्तृत बन जाता है। प्रसंगानुसार विविध क्षेत्रों में मन्त्रों को इस प्रक्रिया के द्वारा व्याख्यात किया जाता है। मन्त्रों में स्वयं इसी प्रक्रिया के दर्शन होते हैं। यथा–अग्नि को

पुरोहित (ऋ॰ 2/1/7), गृहपति (ऋ॰ 6/48/8), राजा (ऋ॰ 6/7/3), भिषक् (ऋ॰ 5/29/1) आदि कहा गया है। ये अर्थ आधिभौतिक पक्ष में ही सम्भव है। इसी आधार पर स्वामी दयानन्द ने वेदों को सभी सत्यविद्याओं की पुस्तक कहा है। तदनुसार वर्तमान काल में प्रायः सभी वेदज्ञों के द्वारा वेदों में विविध विद्याओं का प्रतिपादन किया जा रहा है।

यास्क ने इस प्रक्रिया का यद्यपि पृथक् से उल्लेख तो नहीं किया, किन्तु यास्क के निर्वचन ही इसमें प्रमाण है कि यास्क आधिभौतिक पक्ष का प्रतिपादन कर रहे हैं। यथा–अग्नि, इन्द्र आदि पदों का निर्वचन यास्क ने विविध दृष्टियों से किया है।

यद्यपि ये प्रक्रियाएँ निरुक्त में उद्धृत हैं, तथापि यह आवश्यक नहीं कि इन सभी के आधार पर वेदभाष्य किये गये हों या किये जा सकते हों। वस्तुतः इन सभी का समाहार इन तीन प्रक्रियाओं में हो जाता है–आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक प्रक्रिया। ये तीनों यास्काभिमत भी हैं।

वेदव्याख्या के प्रयास एवं पद्धतियाँ

वेदों की व्याख्या के सम्बन्ध में कई पद्धतियाँ प्रचलित हैं। यास्क का कथन है कि प्रारम्भ में साक्षात्कृतधर्मा ऋषि विद्यमान थे, जिन्हें वेदार्थ स्वयं स्पष्ट का इसके पश्चात् इन्होंने असाक्षात्कृतधर्मा ऋषियों को वेदों का साक्षात् उपदेश दिया।[1] उत्तरवर्ती उपदेश को सुनकर ही इन्हें वेदार्थ का ज्ञान हुआ अतः इनको श्रुतर्षि कहा गया[2] जबकि पूर्ववर्ती ऋषियों का ऋषित्व उनकी तपस्या तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा के आधार पर था।

तदनन्तर वेदों की व्याख्या के सम्बन्ध में निम्न प्रयास किये गये–

(1) पदपाठ–वेदार्थ को समझने के लिए उसके पदों का ज्ञान अति आवश्यक है। इसी दृष्टि से वेदों के पदपाठ का यत्न किया गया। शाकल्य ने ऋग्वेद का पदपाठ किया। यास्क ने भी शाकल्य को उद्धृत किया है। ऋग्वेद का रावणरचित पदपाठ भी उपलब्ध है। शुक्लयजुर्वेद का अज्ञातकर्तृक पदपाठ

---

1. साक्षात्कृतधर्मा ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। नि॰ 1/20
2. अवरेभ्यः अवरकालीनेभ्य शक्तिहीनेभ्यः श्रुतर्षिभ्यः। तेषां हि श्रुत्वा ततः पश्चाद् ऋषित्वमुपजायते। नि॰ 1/20 दुर्ग टीका

उपलब्ध है। तैत्तिरीयसंहिता का पदपाठ आत्रेय ने तथा सामवेद का गार्ग्य ने किया। अथर्ववेद के पदपाठकार का नाम अज्ञात है। पदपाठकारों में परस्पर मतभेद भी है। यथा—ऋग्वेदीय पदपाठ में 'मेहना' को एक पद माना गया है जबकि सामवेदीय पदपाठकार यहाँ म, इह, ना के रूप में तीन पद मानते हैं। स्कन्दस्वामी ने इसीलिए कहा है—विचित्राः पदपाठकाराणामभिप्रायाः।

(2) **ब्राह्मणग्रन्थ**—ब्राह्मणग्रन्थों में वेदार्थानुशीलन का यत्न अन्य प्रकार से किया गया। वहाँ पर मन्त्रार्थ के अन्वाख्यान, विनियोग आदि के द्वारा इस दिशा में व्यापक प्रयास किया गया, तथापि ब्राह्मणग्रन्थों को वेदभाष्यों की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यास्क ने निरुक्त में अनेक ब्राह्मणवचनों को उद्धृत किया है तथा कई नैरुक्तों के नाम भी निरुक्त में दिये हैं। इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों को वेदभाष्य के दिशानिर्देशक ग्रन्थ कहा जा सकता है, भाष्य नहीं।

(3) **नैरुक्तपद्धति**—इसके पश्चात् उपदेश में भी अरुचि दिखलाते हुए उत्तरवर्तियों ने वेद को समझने के लिए वेदांगों का प्रणयन किया। प्रतीत होता है कि यहीं से वेद की विविध व्याख्याओं का मार्ग प्रशस्त हुआ है। यास्क ने निरुक्त में नैदानाः ऐतिहासिकाः, आत्मप्रवादाः याज्ञिका आदि के रूप में वेदार्थ की कई पद्धतियों का उल्लेख किया है। ये सभी अपने-अपने ढंग से वेदव्याख्या कर रहे थे। यास्क ने स्वयं आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक के रूप में वेदार्थ की तीन दिशा बतलाई हैं। आज वेदव्याख्या के सम्बन्ध में प्रायः सभी यास्कीय मत का ही अनुसरण करते हैं। वेदव्याख्या के विषय में यास्क के निम्न सिद्धान्त हैं—

(1) मन्त्रों की व्याख्या प्रकरणानुकूल ही करनी चाहिए, पृथक्-पृथक् नहीं। (नि॰ 13/12)

(2) वेदार्थ में तर्क का आश्रय भी लेना चाहिए, क्योंकि तर्क को ऋषि कहा गया है। (नि॰ 13/12)

(3) वेदार्थ के लिए ऋषित्व तथा तपस्या अनिवार्य है। इनके बिना वेदव्याख्या नहीं हो सकती।[1]

---

1. न हि पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। नि॰ 13/12

(4) वेदों के शब्द आख्यातज हैं, रूढ़ नहीं। अतः यौगिकपद्धति के आधार पर उनकी व्याख्या करनी चाहिए। यास्क ने स्वयं इसी पद्धति को अपनाकर वैदिक शब्दों का निर्वचन करते हुए एक ही शब्द को अनेक अर्थों में व्याख्यात किया है।

(5) वेदमन्त्रों का प्रतिपाद्य एक परमात्मा ही है। अग्नि, इन्द्र आदि सभी नाम उसी के वाचक हैं।

(6) वेदार्थ के लिए पारम्परिक ज्ञान भी आवश्यक है। परम्परा लिखित तथा मौखिक दोनों प्रकार की होती है। इसके भूयोविद्य पुरुष प्रशंसनीय होता हैं–

पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति। (नि॰ 1/16)

(4) मध्यकालीन भाष्यपद्धतियाँ–तत्पश्चात् मध्यकालीन ऐसे भाष्यकार आते हैं जिन्होंने विधिवत् वेदभाष्य करने का उपक्रम किया। इनमें वेंकटमाधव (सं॰ 1100-1200), आत्मानन्द (1200-1300), आनन्दतीर्थ (1255-1335), सायण (1372-1444), मुदगल (1402-1414), रावण (16वीं शती) आदि के नाम आते हैं। ये सभी ऋग्वेद के भाष्यकार हैं। यजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहिता पर उवट (सं॰ 1100) तथा महीधर (सं॰ 1645) के भाष्य हैं। काण्वसंहिता पर सायण तथा आनन्दबोध (1500-1600), अनन्ताचार्य (1700 वि॰) के भाष्य हैं, जो पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं है। कृष्णयजुर्वेद पर भट्टभास्कर 11वीं शती तथा सायण के भाष्य हैं। सामवेद पर माधव (वि॰ 7वीं शती) तथा सायण के भाष्य हैं। अथर्ववेद पर भी सायणभाष्य उपलब्ध है।

इन भाष्यकारों में स्कन्द, वेंकट माधव, उवट, महीधर तथा सायण आदि भाष्यकारों के भाष्य याज्ञिक पद्धति पर आधारित हैं। इन मध्यकालीन भाष्यकारों में अधिकांश का यह विचार रहा है कि वेद यज्ञ के लिए ही हैं–वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः। सायणाचार्य भी ऐसा ही कहते हैं–सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डपराः सान्ति। यद्यपि मध्यकालीन भाष्यकारों में भी याज्ञिकप्रक्रिया से भिन्न वेदार्थ करनेवाले कुछ भाष्यकार हैं–यथा–आनन्दतीर्थ (वि॰ 1255-1335) ने नारायण में ही सभी वेदों का तात्पर्य माना है–स एवाखिलवेदार्थः। यद्यपि आनन्दतीर्थ ऋगर्थ को तीन प्रकार का मानते हैं तथा उनका भाष्य भी तीनों प्रकारों से समन्वित है।[1] तथापि उन्होंने प्रधानतया ईश्वर सम्बन्धी अर्थ ही किये हैं। आनन्दतीर्थ से पूर्व

---

1. ऋगर्थश्च त्रिविधो भवति। एकस्तावत् प्रसिद्धाग्न्यादिरूपः। अपरस्तदन्तर्गतेश्वरलक्षणः। अन्योऽध्यात्मरूपः। तत् त्रितयपरं चेदं भाष्यम्।

भी शंकरमतानुयायी अद्वैतवादी आचार्य आत्मानन्द (1200–1300 वि॰) ने मन्त्रों का अध्यात्मपरक भाष्य किया है तथा उन्होंने स्पष्टरूप में कहा भी है कि यह भाष्य आध्यात्मिक है।

मध्यकालीन भाष्यों के अवलोकन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन भाष्यों में व्यापक दृष्टि नहीं अपनायी गयी है। यहाँ तक कि वेदार्थ की उस त्रिविध प्रक्रिया को इन भाष्यकारों ने नहीं अपनाया जिसका निर्देश यास्क ने 'याज्ञदेवते पुष्पफले देवाताध्यात्मे वा' (नि॰ 1120) के रूप में किया है। स्कन्दस्वामी ने नि॰ 7/5 की व्याख्या में तथा दुर्गाचार्य नि॰ 1/18 की व्याख्या में इस प्रक्रिया को स्वीकार किया है। त्रिविध प्रक्रिया को स्वीकार न करने के कारण अथवा याज्ञिक प्रक्रिया के प्रति अति मोहवश इन भाष्यकारों की दृष्टि एकांगी रही है।

उवट, महीधर तथा सायणाचार्य की पद्धति–सायणाचार्य ने चारों वेदों का भाष्य किया है। ऐसा करने में उन्होंने निरुक्त तथा ब्राह्मणग्रन्थों का भी पर्याप्त उपयोग किया है। व्याकरण तो उनके भाष्य में पदे-पदे सुस्पष्ट है। यद्यपि अपने भाष्य के प्रारम्भ में सायण ने वेदों को नित्य तथा आपौरुषेय माना है, किन्तु आगे चलकर वे अपनी इस मान्यता का निर्वाह नहीं कर सके। सायण ने प्रमुख रूप में याज्ञिकी व्याख्या की है तथा वेदों में प्राप्त आख्यानों एवं संवाद सूक्तों के आधार पर वेदों में इतिहास का प्रातिपादन भी किया है। इस प्रकार सदोष होते हुए भी सायणभाष्य ही सर्वप्राचीन एवं प्रामाणिक रूप में हमारे सामने हैं। पाश्चात्यों ने सायणभाष्य की आलोचना भी की है तथा प्रशंसा भी। यथा–मैक्समूलर, विल्सन, गेल्डनर आदि विद्वानों ने सायणभाष्य को ही अपना आधार बनाया तथा इसकी प्रशंसा की है। मैक्समूलर कहते हैं कि सायणभाष्य के बिना हम एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकते थे। इसी प्रकार विल्सन भी कहते हैं, कि सायण अन्य यूरोपीयन विद्वानों की अपेक्षा अपने भाष्य का उत्कृष्ट ज्ञान रखते हैं।[1]

व्याकरण-निरुक्त आदि ग्रन्थों का उपयोग करते हुए भी सायण ने कहीं-कहीं असंगत अर्थ भी कर दिये हैं। यथा–वेद में गो के लिए साक्षात् अध्न्या पद पठित है, जिसका अर्थ है–न मारने योग्य, किन्तु अथर्ववेद के एक सूक्त के भाष्य में सायणाचार्य लिखते हैं 'अघायताम् इति सूक्तं आहुत्यर्थं गोवधे विनियुज्यते'

---

1. Sayana undoubitedly had a knowledge of the his text far beyond the pretensions of any European scholar's translation of Rig Veda.

अर्थात् इस सूक्त का आहुति के लिए गोवधार्थ विनियोग किया जाता है। मन्त्रों की यज्ञीय व्याख्या करना सायणभाष्य का **केन्द्रीय दोष** है। योगी अरविन्द के अनुसार इस ढाँचे में सायण वेद की भाषा को ठोक-पीट कर ढालता है। इस यज्ञीय व्याख्या को भी गोवधार्थ प्रस्तुत करना तो वेद के आशय के सर्वथा ही विरुद्ध है। सायणभाष्य का **दूसरा दोष** गाथात्मक तत्त्व है। सायण वेदों में प्रयुक्त इन्द्र, मरुत्, अग्नि, उषा, सूर्य आदि के प्रतीकात्मक अर्थ न करके उसे पौराणिक आख्यानों से सम्बद्ध कर देते हैं। सायणभाष्य के इसी तत्त्व ने पाश्चात्य विद्वानों के तुलनात्मक गाथाशास्त्र को जन्म दिया है। अरविन्द के अनुसार सायण ने ऐसा करके पुरानी मिथ्या धारणाओं पर प्रामाणिकता की मोहर लगा दी है। सायणभाष्य का **तीसरा दोष** उसकी ऐतिहासिकता है। अपने भाष्य की संगति बैठाने के लिए सायण राजाओं तथा ऋषियों से सम्बन्धित अनेक उपाख्यानों को उद्धृत करते हैं। इस विषय में प्रो॰ घाटे कहते हैं, "कतिपय सूक्तों की व्याख्या करते हुए सायण ऐसे उपाख्यानों को उद्धृत करते हैं जो ऋग्वेद की भावना से नितान्त असम्बद्ध या असंगत हैं।[1] सायण से पूर्ण ऐतिहासिक सम्प्रदाय विद्यमान था, जिसका उल्लेख यास्क ने भी किया है। सम्भव है कि उसके प्रभाव से ही सायण ने ऐतिहासिक अर्थ किये हों अन्यथा ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले अनेक शब्दों की निरुक्ति भी सायण ने की है।

सायण का एक **अन्य दोष** यह है कि वे शब्दों की अप्रसांगिक व्याख्या करने में भी कोई दोष नहीं देखते। प्रो॰ घाटे के अनुसार सायण यह देखने की चिन्ता नहीं करते कि किसी शब्दविशेष का किसी सन्दर्भविशेष में जो अर्थ उन्होंने किया है, वह अर्थ उसी प्रकार के संदर्भों में उसी प्रकार की शब्दयोजना में ठीक बैठता है या नहीं।[2] अरविन्द के अनुसार सायण शब्दों के अर्थों की छायाओं को और उनमें होने वाले सूक्ष्म अन्तर को बिल्कुल मिटा देते हैं।[3]

उवट तथा महीधर ने शुक्ल यजुर्वेद की व्याख्या की है। इन दोनों भाष्यकारों ने प्रायः याज्ञिकी व्याख्या ही की है। इसके अतिरिक्त अनेक मन्त्रों में इतिहास एवं लौकिक आख्यानों का प्रतिपादन भी किया है। यजुर्वेद में प्राप्त अनेक नाम पदों को भी उन्होंने ऐतिहासिक रूप में ही व्याख्यात किया है। इसके साथ ही कहीं-कहीं पर आध्यात्मिक पक्ष को भी इन्होंने दिखलाया है। ब्राह्मणग्रन्थों

---

1. प्रो॰ घाटे, ऋग्वेद पर व्याख्यान, हिन्दी संस्करण, दि॰वि॰वि॰। 976, पृ॰ 79
2. पूर्ववत्
3. अरविन्द, वेदरहस्य, भाग 1, पृ॰ 29, हिन्दी अनुवाद, अरविन्द आश्रम पाण्डेचेरी।

तथा निरुक्त के आधार पर कुछ शब्दों के निर्वचन भी इन्होंने दिये हैं तथा कुछ शब्द निर्वचन स्वयं भी किये हैं।

महीधर के भाष्य का आधार कात्यायनसूत्र है। उसने एकमात्र उसे प्रमाण मानकर ब्राह्मण-निरुक्त आदि की उपेक्षा कर दी। उदाहरणार्थ यजु 6/14 में पठित 'चरित्राँस्ते शुन्धामि' में चरित्र का अर्थ महीधर घोड़े के पैर करता है जो कि सर्वथा अनुपयुक्त है। कात्यायन एवं महीधर को यह अर्थ इसलिए करना पड़ा कि उन्होंने इस मन्त्र का विनियोग यजमानपत्नी द्वारा घोड़े के अंग-प्रत्यंगों के शोधन में किया है। जबकि मन्त्र में इस क्रिया की गन्ध भी नहीं है। इसी प्रकार यजु॰ 23/24 में पठित वृक्ष[1] शब्द का अर्थ महीधर लकड़ी का बना हुआ पलंग करता है। इस प्रसंग में महीधर का ध्यान शतपथ के इस वचन पर भी नहीं गया जहाँ कहा गया है 'अग्रं वृक्षस्य रोहत इति। श्रीर्वैराष्ट्रस्याग्रम्। श्रियमेवमेनं राष्ट्रस्याग्रं गमयति।'[2] कितना संगत एवं युक्तियुक्त अर्थ है यह जिसकी उपेक्षा करके महीधर ने इस मन्त्र का ऐसा अश्लील एवं अनर्गत अर्थ किया है कि लज्जा को भी लज्जा आती है। इस अध्याय में महीधर ने ऐसे ही अर्थ किये हैं।

यजुर्वेद के पंचम अध्याय का देवता विष्णु हैं। इसके सोलहवें मन्त्र में कहा गया है–

व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधत्यर्थं पृथिवीमभितो मयूखैः।

यहाँ पर महीधर ने मयूख पद का तेज रूप अनेक जीव अथवा वराह आदि अवतार अर्थ करके मन्त्रार्थ किया है कि विष्णु अपने वराह आदि अवतारों से पृथिवी को धारण कर रहा है। इसके मूल में पुराणों में वर्णित विष्णु के वराह आदि अवतारों की कल्पना ही है। कितना असंगत एवं वेदविरुद्ध है यह अर्थ, यह स्वयं सिद्ध है। मन्त्र का विज्ञानसम्मत सीधा सा अर्थ यह है कि विष्णु अर्थात् सूर्य अपनी मयूख अर्थात् किरणों से पृथिवी को धारण कर रहा है। इस प्रकार इन मध्यकालीन भाष्यकारों के वेदभाष्य एकांगी तथा अन्य इसी प्रकार के दोषों से युक्त हैं।

(5) आधुनिक पद्धति

महर्षि दयानन्द की पद्धति–स्वामी दयानन्द ऐसे समय में वेदभाष्य करने में प्रवृत्त हुए जब पाश्चात्यों तथा उनके अनुयायी भारतीयों की ओर से भी वेदों पर निम्न आक्षेप हो रहे थे–

---

1. माता च ते पिता च ते अग्रं वृक्षस्य रोहतः।
प्रतिलामिति ते पिता गभे मुष्टिमतँ सयत्।। यजु॰ 23/24

2. शतपथ 12/2/9/7

(1) वेदों में यज्ञों में पशुहिंसा तथा गोवध आदि का प्रतिपादन है।

(2) वेदों में यम-यमी आदि का प्रेमप्रसंग तथा अन्य अनेक ऐसे अश्लील मन्त्र हैं, जिनका अनुवाद भी पाश्चात्य भाष्यकार शालीनतावश नहीं कर पाये।

(3) वेदों में उर्वशी-पुरूरवा, अगस्त्य, लोपामुद्रा, आदि के अनेक आख्यान हैं जिससे सिद्ध होता है कि वेद उस काल के बाद की रचना हैं।

(4) वेद नाना देवी-देवताओं के प्रतिपादक हैं, एकेश्वरवाद के नहीं।

(5) शूद्र तथा स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है।

(6) वेदों में वसिष्ठ, विश्वामित्र, शुनःशेप आदि अनेक व्यक्तियों का इतिहास विद्यमान है तथा गंगा-यमुना आदि नदियों के नाम भी विद्यमान हैं।

(7) वेदों में राजाओं की दानस्तुतियाँ तथा दाशराज्ञ युद्ध की ऐतिहासिक घटना विद्यमान हैं।

(8) वेदों का संग्रह लम्बे समय तक पुरोहितों तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा किया जाता रहा है।

(9) ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषदें तथा मन्त्रसंहिता सभी वेदपदवाच्य हैं।

महर्षि दयानन्द इन सभी आक्षेपों को मिथ्या मानते थे। उनका प्रयोजन वेदों को इन आक्षेपों से सर्वथा मुक्त करके उनके शुद्ध स्वरूप को जनता के सामने रखना था। इस कार्य के लिए स्वामी जी ने निरुक्त का आश्रय लिया। नैरुक्तों के अनुसार स्वामी जी भी वेद के सभी शब्दों को यौगिक मानते हैं, न कि योगरूढ़ तथा रूढ़ि।

स्वामी जी ने वेदों की प्राचीन व्याख्याविधि को ही अपने भाष्य का आधार बनाया है। वे लिखते हैं–

आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी।

तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा।। ऋ॰भा॰भू॰, पृ॰ 1

स्वामी जी ने अपने भाष्य में निरुक्त तथा ब्राह्मणग्रन्थों का पर्याप्त उपयोग किया है। वे यास्क के समान ही वैदिक शब्दों को आख्यातज मानकर उनके प्रसंगानुसार विविध अर्थ करते हैं। यथा–इन्द्र के अर्थ राजा, सेनापति आदि तथा अग्नि के अर्थ नेता, परमात्मा, विद्युत्, अग्नि के समान

दु:ख दाहक योगी आदि किये हैं। संक्षेप में स्वामीजी के भाष्य की निम्न विशेषताएँ हैं–

(1) वेदों के सभी शब्द यौगिक है, रूढ़ नहीं। इस आधार पर वेदों में प्राप्त वसिष्ठ, विश्वामित्र, उर्वशी, पुरूरवा आदि सभी शब्द विविध अर्थों के वाचक हैं, व्यक्तिविशेष के वाचक नहीं। निरुक्त[1] तथा अन्य ग्रन्थों में भी ऐसे अर्थ किये गये हैं।[2] अतिशयेन वसुमान्–वसिष्ठ:।

(2) इस आधार पर स्वामी जी वेदों में इतिहास नहीं मानते।

(3) स्वामी जी से पूर्व याज्ञिक क्रिया–कलाप को ही वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य माना जाता था। इस सम्बन्ध में 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता:' जैसी उक्तियाँ भी प्रचलित थी। स्वामी जी के अनुसार वेद मन्त्र केवल यज्ञविषयक नहीं हैं, अपितु वेदों में सभी सत्यविद्याएँ निहित हैं। आज सभी मानने लगे हैं कि सभी विद्याएँ वेदों में विद्यमान हैं।

(4) वेद एकेश्वरवाद के प्रतिपादक हैं। वेदों में वर्णित वायु अग्नि, इन्द्र आदि सभी नाम परमेश्वर के भी वाचक हैं तथा भौतिक अग्नि के वाचक भी, किन्तु वेद शरीरधारी किन्हीं देवों के प्रतिपादक नहीं हैं।

(5) चार मूल संहिताएँ ही वेद हैं, ब्राह्मणादि ग्रन्थ वेदसंज्ञक नहीं है।

इसी दिशा में स्वामी जी ने अपना वेदभाष्य किया है।

स्वामी दयानन्द प्रो॰ मैक्समूलर के समकालीन है। मैक्समूलर स्वामी जी के वेदभाष्य के नियमित ग्राहक थे तथा उनकी ग्राहक संख्या 204 थी।[3] स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश तथा ऋग्वेदभाष्य में मैक्समूलर के वेदभाष्य की न्यूनताओं को दर्शाया है। पाठक वहाँ इसे देख सकते हैं।

इसी प्रकार ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रो॰ मोनियर विलियन भी महर्षि के वेदभाष्य के ग्राहक थे तथा उनकी ग्राहकसंख्या 403 थी। मोनियर विलियम ने 5–3–1976 में मुम्बई में स्वामी जी का व्याख्यान भी सुना था। मोनियार विलियम ने अपने 'ब्राह्मणिक एण्ड हिदुत्व' ग्रन्थ में स्वयं लिखा है–'मेरा महर्षि से परिचय सन् 1876 में हुआ था। मैंने उन्हें 'आर्यजाति के

---

1. पुरूरवा: बहुधा रोरूयते। नि॰ 10/96
2. श्रौत्रं वै विश्वामित्रऋषि:। चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषि:। शत॰ 8/1/2/23
3. परोपकारी मासिक, मार्च, 2010 का अंक 6, कवर पृ॰ 63

धार्मिक विकास' पर एक प्रभावशाली वक्तृता देते सुना था। उन्होंने पहले ओ३म् का उच्चारण कर अत्यन्त सुरीले कण्ठ में वरुण को सम्बोधित किया। अपने इसी समय के साक्षात्कार में मैंने उनके द्वारा सोची गयी धर्म की मौलिक परिभाषा पूछी थी। प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा था सत्य ओर न्याययुक्त दृष्टि तथा पक्षपातरहित साहित्य का नाम धर्म है। साथ ही इन्द्रिय, तर्क एवं ईश्वरप्रदत्त ज्ञान के द्वारा निष्पक्ष होकर सत्यान्वेषण करना ही धर्म है।"[1]

स्वामीजी का भाष्य हिन्दी तथा संस्कृत दोनों में है। इसमें अन्वय पदार्थ तथा भावार्थ दिए गए हैं। हिन्दी में वेदभाष्य का सूत्रपात करने वाले स्वामी दयानन्द सर्वप्रथम व्यक्ति है। हिन्दी भाष्य होने से ही वेद का सम्बन्ध सामान्य जनता से हो सका, इससे पूर्व यह केवल संस्कृतज्ञों के पठन-पाठन की पुस्तक थी।

स्वामीजी की वेदभाष्यशैली

स्वामीजी वेद के शब्दों को यौगिक तथा योगरूढ़ मानते हैं, रूढ़ि नहीं। इसी आधार पर वे वेदों में किसी भी प्रकार के इतिहास को स्वीकार नहीं करते। स्वामीजी ने यास्कीय पद्धति को अपना वेद मन्त्रों के त्रिविध अर्थ किये हैं वे वेदों के ज्ञान-विज्ञान आदि सत्य विद्याओं की पुस्तक मानते हैं न कि केवल यज्ञ-यागादि से सम्बन्धित। स्वामीजी ने ब्राह्मणग्रन्थों तथा निरुक्त के आधार पर ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले वैदिक शब्दों के अन्य ही अर्थ किए हैं। यथा–उर्वशी = विद्युत्। अहि, वृत्र = मेघ। वसिष्ठ = अतिशय धनवान्।

इसी आधार पर उन्होंने इस प्रकार के सभी शब्दों को विभिन्न लौकिक अर्थों में व्याख्यात किया है।

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य की योजना तीन प्रकार से बनाई थी–

(1) उन्होंने सर्वप्रथम सं॰ 1930 विक्रमी में चारों वेदों के प्रत्येक मन्त्र पर मन्त्र के देवता का व्याख्यानविषय लिखा था। महर्षि की उत्तराधिकारिणी 'परोपकारिणी सभा' अजमेर ने इसे 'चतुर्वेदविषय-सूची' के नाम से छापा है। युधिष्ठिर मीमांसक ने भी इसे रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रकाशित किया है।

(2) इसके पश्चात् उन्होंने ऋग्वेद के कुछ सूक्तों पर विस्तृत भाष्य लिखा था, जो हस्तलेख के रूप में परोपकारिणी सभा में सुरक्षित है।

---

1. वही, मार्च 2010 का अंक 5 कवर पृ॰ 3

(3) स्वामी जी ने अन्तिमरूप में ऋग्वेद 7/61/2 तक तथा सम्पूर्ण यजुर्वेद का भाष्य किया। यहाँ अति विस्तृत शैली नहीं अपनायी गयी।

अन्य कार्य–चतुर्वेद विषयसूची के अन्त में तैत्तिरीयब्राह्मण तथा तैत्तिरीय शाखा पर भी ऋषि का कार्य है। पं॰ भगवद्दत्त तथा पं॰ युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार स्वामी जी ने ब्राह्मणग्रन्थों से वेदार्थ के संग्रह पर ग्रन्थ लिखा था।

स्वामी जी ने निरुक्त उसी शैली का आश्रय लेकर वेदों के समाज, राष्ट्र, राजनीति, धर्म, आत्मा परमात्मा, मोक्ष, कृषि, वाणिज्य, विज्ञान, शिक्षा आदि से सम्बन्धित अर्थ किये हैं। स्वामी का कथन है कि वेद के विषय तो अनेक हैं, किन्तु उनका समावेश ज्ञान, कर्म, उपासना तथा विज्ञान में हो जाता है। इस प्रकार व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सभी ज्ञान वेदों में है योगी अरविन्द ने स्वामी जी की वेदव्याख्या का मूल्याङ्कन निम्न शब्दों में किया है–

"वैदिक व्याख्या के सम्बन्ध में मुझे विश्वास है कि उनकी अन्तिम पूर्ण व्याख्या का स्वरूप चाहे कुछ भी रहे, दयानन्द को सूक्तों के प्रथम यथार्थ खोजकर्त्ता के रूप में सदा सम्मान की दृष्टि से देखा जायेगा। उन्होंने बन्द हुए स्रोतों के मुख पर लगी मोहरों को तोड़ फेंका।"[1]

स्वामी दयानन्द सभी वेदों का मुख्य प्रयोजन ईश्वर मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर का किसी भी मन्त्र में त्याग नहीं होता। वासुदेव शरण अग्रवाल ने स्वामी जी की इस धारणा को समर्थन निम्न शब्दों में किया है–

"समस्त वेदों का पर्यवसान अध्यात्मविद्या में है, यह दृष्टिकोण स्वामी दयानन्द ने अपनी विशाल विज्ञानमयी प्रतिभा से जिस दृढ़ता से रखा, उससे वैदिक अर्थों की शैली सचमुच बहुत लाभान्वित हुई है।"[2]

स्वामीजी की वेदभाष्यशैली की समालोचना में योगी अरविन्द लिखते हैं कि दयानन्द ने ऋषियों के भाषासम्बन्धी रहस्य का मूलसूत्र हमें पकड़ा दिया है तथा वैदिकधर्म के केन्द्र भूत विचार पर फिर से बल दिया है।

इन विशेषताओं के होते हुए भी स्वामी जी के भाष्य की आलोचना भी विद्वानों द्वारा की गयी है। यथा–स्वामी जी श्लेष तथा वाचकलुप्तोपमा अलंकारों

---

1. Dayanand and vedic, vedi Mazazine, Lohare, November 1916.
2. अग्रवाल वासुदेवशरण, उरूज्योति, भूमिका।

का अत्यधिक प्रयोग करते हैं। उनका भाष्य मन्त्रों का पदानुसारी भाष्य है, न कि अन्वयपरक, जिस कारण भाषा में सहजता तथा बोधगम्यता का अभाव हो गया है। कभी-कभी स्वामी दयानन्द के भाष्य पर ऐसे विचित्र कल्पित आक्षेप लगाये जाते हैं। जिन्हें पढ़कर भी हँसी आती है। जैसा कि डॉ॰ सूर्यकान्त बाली लिखते[1] हैं कि "दयानन्दभाष्य इसी का समर्थक है कि वेद भारतीयों का धर्मग्रन्थ है।" यह कथन पूर्णतः असत्य है। स्वामी जी ने कहीं भी वेदों को भारतीयों का धर्मग्रन्थ नहीं कहा। वे तो वेदों को घोषणापूर्वक सब सत्यविद्याओं की पुस्तक कह रहे हैं। डॉ॰ बाली का यह भी आक्षेप है कि स्वामी दयानन्द के अनुसार यास्कीय निरुक्त के आधार पर वेदभाष्य करना वैज्ञानिक है जबकि कौशिकसूत्र के आधार पर अथर्ववेद का व्याख्यान करना अवैज्ञानिक है। इस कार्य से स्वामी जी पर आक्षेप कैसे आ गया। यदि डॉ॰ बाली ने इसी ग्रन्थ में प्रकाशित डॉ॰ रामनाथ वेदालंकार के लेख 'अथर्ववेद के कौशिककृत विनियोगों पर दृष्टि' पढ़ लिया होता तो उन्हें कौशिकसूत्र की अप्रामाणिकता का स्वयंमेव बोध हो जाता। यास्क तो वेदार्थ की ठीक दिशा के प्रवर्तक तथा प्रदर्शक हैं। यास्क तथा कौशिक की तुलना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार सायण ने भी अपने वेदभाष्य में कल्पित कथानकों तथा गाथाओं को उद्धृत करके वेदों को जो इतिहासपुस्तक सिद्ध किया है तथा गोवध आदि का प्रतिपादन किया है, वेदविरुद्ध होने से उसका प्रतिकार करना आवश्यक था।

(6) पाश्चात्य विद्वानों की भाष्य पद्धति-पाश्चात्य विद्वानों ने वेदानुशीलन में तुलनात्मक भाषाशास्त्र का आश्रय लिया है। इसी आधार पर उन्होंने भाषाओं के योरोपीय परिवार की कल्पना करके वेदों से भी प्राचीन एक भारोपीय भाषा की कल्पना की हैं। यह विशुद्ध रूप से निराधार कल्पना की जिसे करके बाद में इसकी पुष्टि में प्रमाण खोजे गये। यह आश्चर्य है कि भाषाविज्ञान नामक वैज्ञानिक पद्धति के नाम पर सर्वथा निराधार यारोपीय भाषा की कल्पना को विद्वानों ने कैसे स्वीकार कर लिया?

पाश्चात्य विद्वानों ने अन्य कल्पनाएँ भी इसी प्रकार की है। यथा-वैदिक देववाद के विषय में उनका कहना है कि वेदों में बहुदेवतावाद का प्रतिपादन किया गया है। वे देव एक दूसरे से उत्कृष्ट तथा निकृष्ट भी थे तथा कोई एक देव उनमें सर्वातिशायी भी बन जाता था। यह भी उनकी कल्पना ही थी क्योंकि वेद एकेश्वरवाद के ही प्रतिपादक है। इस विषय में 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं

1. वेदों का समीक्षात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन, पृ॰ 94।

यमं मातरिश्वानमाहुः' आदि वेदमन्त्र प्रमाण हैं। यास्क भी स्पष्ट रूप में कह रहे हैं–

महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। नि० 7/4

पाश्चात्यों की एक अन्य धारणा यह थी कि वेदों में उत्कृष्ट विचारों के साथ-साथ निकृष्ट कोटि के मन्त्र भी पर्याप्त विद्यमान है। एतदतिरिक्त वहाँ पर पुरूरवा-उर्वशी आदि संवाद और राजाओं-ऋषियों आदि का इतिहास भी विद्यमान है। यद्यपि यह विचार उन्होंने सायणभाष्य से लिया था, किन्तु इसे उन्होंने ऐसे प्रबल शब्दों में कहा जिससे कि वेद के वेदत्व पर ही शंका उपस्थित हो गयी।

पाश्चात्य पद्धति का एक अन्य दोष यह है कि वे वैदिक शब्दों का अनुवाद मात्र करके उनके अभिधेयार्थ मात्र तक सीमित रहते हैं। वे उन शब्दों में दिये विशेष भावों तथा व्याख्या की अपेक्षा नहीं करते जबकि वास्तविकता यह है कि वेदार्थ को शाब्दिक अनुवाद से स्पष्ट नहीं किया जा सकता। उसकी तो विस्तृत व्याख्या ही अपेक्षित है। उदाहरणार्थ पाश्चात्यों ने अनुवाद के आधार पर गो का अर्थ Cow, यज्ञ का अर्थ Secrifice अश्व का अर्थ Horse किया है, जो कथमपि इन शब्दों के वास्तविक स्वरूप को प्रकट नहीं करता (2) इसी प्रकार का ऋ० 7/21/15 में शिश्नदेव पद पठित है। इसके अभिधेय के आधार पर ही पाश्चात्यों की कल्पना है कि वैदिक काल में लिंगपूजा प्रचलित थी। वस्तुतः यह अर्थ इस शब्द का नहीं है। दिव धातु व्यवहार, क्रीड़ा आदि कई अर्थों में पठित है। शिश्नो देवः अस्येति कामक्रीडायाँ व्याप्तः पुरुषः शिश्नदेवः। अतः एव यास्काचार्यने इसका अर्थ अब्रह्मचर्या-ब्रह्मचर्यहीन पुरुष किया है। (3) पारस्करगृह्यसूत्र में लिखा है 'कूर्मपित्तम् अंके निधाय जपति। इसका परम्परागत अर्थ यह है कि जल से पूर्ण घड़े को गोद में लेकर जपता है। ओल्डन वर्ग इसके विपरीत कहते हैं कि कछुए के पित्त को गोद में रखकर जपता है। यह अर्थ नितान्त अशुद्ध, उपहासस्पद एवं अव्यावहारिक है।

संहिताओं तथा अन्य ग्रन्थों का सम्पादन, सूचियाँ तथा कोशग्रन्थों के निर्माण में पाश्चात्य विद्वानों ने श्लाघनीय कार्य किया है, किन्तु वेदार्थ की प्राचीन प्रणाली की अवहेलना तथा पूर्वाग्रह आदि दोषों के कारण उनके वेदभाष्य को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। **इस प्रकार पाश्चात्य प्रणाली में निम्न दोष है–**

(1) अनेक पाश्चात्य विद्वान् इस पूर्वाग्रह के साथ वेदार्थ में प्रवृत्त हुए थे कि वेदमन्त्र प्रकृति के अन्धविश्वास युक्त तथा अर्धकवितायुक्त रूपक हैं तथा मानवीय इतिहास से भरे पड़े हैं।

(2) इसके द्वारा कर्मकाण्डीय पद्धति का ज्ञान नहीं हो सकता।

(3) इस पद्धति में भारतीय दृष्टिकोण की सर्वथा उपेक्षा की गयी है। उनकी वेदव्याख्यापद्धति में वेदों में निहित श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों, उदात्त आदर्शों तथा मानवता की हितकारिणी विचारधारा का उद्घाटन नहीं होता।

(4) अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् भारतीय संस्कृति को हेय सिद्ध करने तथा ईसाई मत के प्रचार-प्रसारार्थ ही वैदिक वाङ्मय के विश्लेषण में प्रवृत्त हुए थे। मैक्समूलर ने अपनी यह भावना अपने पत्रों में सुस्पष्ट व्यक्त की है।

(5) इस पद्धति से वैदिकशब्दों तथा मन्त्रों के वास्तविक अर्थ को नहीं समझा जा सकता, क्योंकि यह शाब्दिक अनुवादप्रधान है।

(6) पाश्चात्य विद्वान् स्वयं भी एक-दूसरे के समालोचक किंवा निन्दक रहे हैं। ऐसी अवस्था में किसे प्रमाण माना जाए, यह प्रश्न है।

(7) पाश्चात्य विद्वानों में कुछ विद्वान् प्राचीन भारतीय परम्परा के विरोधी भी रहे हैं। उन्होंने अपना वेदविषयक अनुसंधान भी इसी दृष्टि से किया है। यथा प्रो॰ रुडोल्फ राथ सायणाचार्य के धुर विरोधी तथा कटु समालोचक रहे हैं। इसीलिए उन्होंने सायणभाष्य में अनेक दोषों की उद्भावना की है। इनका उद्देश्य ही सायण को नीचे गिराना था। ऐसे में सत्यशोध की आशा कैसे की जा सकती है? पाश्चात्य विद्वानों के कार्य की समालोचना में आचार्य बलदेव उपाध्याय लिखते हैं–

"वेदों से भारतीयता को निकालकर उन्हें भारतेतर विज्ञान तथा धर्म की सहायता से समझने का दु:साहस करना 'मूले कुठाराघातः' की लोकोक्ति को चरितार्थ कर रहा है। इस प्रकार वेदों के अर्थ करके, तदनुसार आर्यों के विषय में इन लोगों ने विचित्र और अनर्गल बातें कह डाली।"[1]

इस विषय में सुप्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् रेने ग्वेनां लिखते हैं–'इन ओरियण्टलिस्टों की सबसे बड़ी गलती यह है कि वे हर वस्तु को अपने पाश्चात्य दृष्टिकोण से देखते हैं और अपनी ही सतरंगी मनोवृत्ति से जानने की कोशिश करते हैं।'

1. वैदिकसाहित्य और संस्कृति, शारदामन्दिर काशी, 1955, पृ॰ 62

डॉ॰ फतेह सिंह ने यही बात इस रूप में कही है–"तथाकथित वैज्ञानिक वेदव्याख्या गहराई में जाने का कोई यत्न नहीं करती, अपितु शब्दों के हेर-फेर या इधर-उधर की कौड़ी भिड़ाने में ही वैज्ञानिकता को सीमित कर देती है।"[1] ओमप्रकाश पाण्डेय ने ऐसे ही विचार प्रकट करके उत्त्प धारणाओं की पुष्टि की है–

"मैक्समूलर, मोनियर विलियम आदि के सन्दर्भ में बहुत सी ऐसी सामग्री उपलब्ध हुई है जिससे ज्ञात होता है कि अनेक पाश्चात्य विद्वानों के वेदव्याख्यान का उद्देश्य ही भारतीय वाङ्मय को दूषित करना, वैदिकधर्म को प्रकृत और बर्बर्तापूर्ण बतलाना तथा भारतीयसंस्कृति में अमानवीय स्थितियों की उद्भावना करता था। इन सबके माध्यम से ईसाई धर्म की श्रेष्ठता का परोक्ष प्रतिपादन ही उनका उद्देश्य रहा है। ईसाई मिशनरियों द्वारा किये जा रहे धर्मान्तरणहेतु इन विद्वानों ने प्रच्छन्न रूप में जमकर कार्य किया है।"[2]

पाश्चात्य वेदज्ञ विद्वानों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे विद्वान् है जिन्होंने समाज आदि सभी आधुनिक भाष्यकारों के भाष्यों की उपेक्षा करके यह स्थापना की कि आधुनिक युग में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान एवं ऐतिहासिक-अध्ययन के आधार पर वेदमन्त्रों के अर्थ को अच्छी तरह समझा जा सकता है।

बैनफी तथा राथ इस पद्धति के प्रबल समर्थक थे। राथ को तो नारा ही था Down with Sayan सायण का बहिष्कार करो। राथ ने सायण के अर्थों की कटु आलोचना करते हुए जर्मन कोष (Sanskrit worter buch) का निर्माण किया तथा वैदिकभाषाविज्ञान की स्थापना की। इसी आधार पर अवेस्ता तथा वेद की तुलना भी की गयी।[3] इन लोगों में अपने अभियान में भारतीय परम्पराओं तथा वैदिक मन्तव्यों की भी सर्वथा उपेक्षा कर दी। राथ के उक्त मत का यूरोप में ही जबरदस्त विरोध हुआ क्योंकि वह दुराग्रह एवं हठ को लेकर चला था। आश्चर्य है भारतीय विद्वान् पिछले दो-तीन दशक तक राथ की पद्धति का अनुसरण करते रहे।

---

1. वेदों का समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन, पृ॰ 186 में डॉ॰ फतेह सिंह का लेख।
2. वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप विकास पृ॰ 52।
3. A Reaction Arose, Vedic Reader, Introducation, p. xxx.

पाश्चात्य विद्वानों का दूसरा वर्ग यह स्वीकार करके लगा कि वेदमन्त्रों की पृष्ठभूमि विशुद्ध रूप में भारतीय है। अतः सायण आदि मध्यकालीन भाष्यकारों के भाष्यों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।[1] इसके परिणामस्वरूप इनके भाष्यों में सायणभाष्य का पूर्णतः अनुसरण किया गया। इस वर्ग में एच॰एच॰ विलसन, मैक्समूलर तथा ग्रिफिथ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। परिणामस्वरूप इनके भाष्यों में मध्यकालीन वेदभाष्यों के सभी दोष तो विद्यमान थे ही इनके साथ अन्य दोषों का समावेश भी हो गया, जिनका उल्लेख आगे किया जायेगा।

इस प्रकार की वेदव्याख्या से पाश्चात्य विद्वान् भी सन्तुष्ट न हो सके। परिणामस्वरूप तृतीय वर्ग के विद्वानों ने राथ आदि का खण्डन करते हुए भी एक समन्वित वेदव्याख्या-पद्धति का प्रतिपादन किया।[2] इस वर्ग में आर॰ पिशल तथा के॰एफ॰ गेल्डनर आदि विद्वान् हैं। इनका मानना था कि आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार वेदव्याख्या करते हुए भी सायण आदि के भाष्यों से सहायता लेनी चाहिए तथा वेद की व्याख्या स्वयं वेद के आधार पर ही करनी चाहिए।

यद्यपि वेदव्याख्या के सम्बन्ध में यह अच्छी धारणा थी तथापि इस शैली में भी कुछ न्यूनतनाएँ रह गयी। यथा–इन विद्वानों ने सायण का महत्त्व स्वीकार करके भी प्राचीन वैदिकवाङ्मय, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि तथा व्याकरण, निरुक्त कल्प आदि वेदांगों की ओर ध्यान नहीं दिया। (2) इन्होंने मन्त्रों तथा सूक्तों के पारस्परिक सम्बन्धों की भी उपेक्षा की (3) इन्होंने भी अनेक स्थानों पर मनमानी वेदव्याख्या कर दी।[3] (4) इनके कितने ही अनुवाद अस्पष्ट एवं भ्रामक है। यथा–शिश्नदेव का इन्होंने लिंगपूजक अर्थ करते हुए निरुक्त के इस वचन को भी ध्यान में नहीं रखा–शिश्नदेवा अब्रह्मचर्याः। नि॰ 4/19 अर्थात् व्यभिचारी व्यक्ति।

(5) इन्होंने अनेक वैदिक शब्दों के अर्थ उत्तरकालीन प्रचलित भाषाओं के आधार पर किये। (6) ग्रासमैन, लुड्विश, ओल्डनबर्ग आदि ने वैदिक शब्दों एवं भाषा में कठिनाइयाँ उपस्थित होने पर यत्र-तत्र पाठसंशोधन का सुझाव दिया।[4] इन्होंने अनेक स्थानों पर वेदों में पाठभेद की कल्पना की तथा उसे शुद्ध करने का प्रयास भी किया, किन्तु वेद मन्त्रों के आलङ्कारिक वर्णनों की ओर ध्यान नहीं दिया।[5]

1. Mocdonnel, Vedic Reader, Introduction, p. 30
2. Winternitz, Hostory of Indian Literature, I, p. 71
3. डॉ॰ रामगोपाल, वैदिकव्याख्या-विवेचन, भूमिका, पृ॰ 14
4. वही, पृ॰ 15
5. वही, पृ॰ 22–24

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदव्याख्या के सम्बन्ध में मध्यकालीन भारतीय भाष्यकारों का पक्षपात एक प्रकार का है तो पाश्चात्य विद्वानों का पक्षपात दूसरी प्रकार का है। मध्यकालीन सायण आदि भाष्यकार वेदों को केवल यज्ञपरक मानकर चले हैं तथा उनमें उत्तरकालीन याज्ञिक एवं पौराणिक विचारधारा का प्रतिपादन करते हैं तो पाश्चात्य विद्वान् वेदों में आदिम, जंगली तथा अनेक अन्ध विश्वासों से युक्त सभ्यता एवं संस्कृति का वर्णन देखते हैं। वे अनेकानेक अनिश्चित तथा निराधार मतों का प्रचार वेद के नाम पर करते हैं।[1]

यथा–ओल्डनबर्ग Religion Des Veda नामक अपने ग्रन्थ में वैदिक देवताओं तथा उनके उपासकों को जंगली (Berbarians) कहता है। ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में ग्रिफिथ ऋग्वेद को प्राचीन पाश्चात्यसाहित्य की अपेक्षा हीन कहता है तथा विण्टरनिज भी हिब्रूसाहित्य की तुलना में वेद को हीन सिद्ध करता है। मैक्समूलर तो खुले रूप में घोषणा करता ही है कि बहुत से वैदिकसूक्त अत्यधिक बचकाने, दुरूह, निम्नस्तरीय एवं अति साधारण है।[2]

इसी प्रकार के विचार ब्लूमफील्ड ने अथर्ववेद के भाष्य में प्रस्तुत किये हैं। इसके अनुसार अथर्ववेद के मन्त्र शान्त तथा आंगिरस अर्थात् घोर कर्मों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हीं घोर कर्मों के रूप में उनके अथर्ववेद में अभिचार क्रिया तथा जादू-टोने का प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से उसने अथर्ववेद के प्रथमकाण्ड से त्रयोदश काण्ड तक के केवल उस भाग को लिया जो उसे सबसे रोचक तथा अथर्वप्रकृति वाला लगा।[3] इस प्रकार ब्लूमफील्ड ने आभिचारिक कर्म को ही अथर्ववेद का केन्द्रबिन्दु मानकर स्कम्भसूक्त (अथर्व॰ 10/7) जैसे दार्शनिक सूक्त को अपने अनुवाद का पात्र नहीं समझा। यह कार्य ब्लूमफील्ड की निकृष्ट मानसिकता का स्पष्ट द्योतक है।

वास्तव में पाश्चात्यों की विचारधारा का मूलभूत सिद्धान्त विकासवाद का सिद्धान्त है। विकासवाद के सिद्धान्त की कसौटी पर ही ये प्रत्येक बात को ठीक या गलत ठहराते हैं। इनके लिए विकासवाद का सिद्धान्त सर्वप्रमुख है।

---

1. वही, पृ॰ 12–13
2. A large number of vedic hymns are childish in the extreme, tedious, tidious, low and common place. Chips from a german workship, 1866, p. 27
3. Naturally that half which stood to the thanslator the most interesting and characteristic LXII.

इसके पश्चात् जो कुछ देखा, उसे विकासवाद के सिद्धान्त पर घटाकर देखा जाता है। इस प्रकार के चिन्तन को मौलिक, वैज्ञानिक एवं विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।

प्रायः सभी पाश्चात्य भाष्यकारों का केन्द्रीय दोष यह है कि वे वैदिक शब्दों का केवल शाब्दिक अनुवाद करते हैं, उनके गूढार्थ को समझने का यत्न नहीं करते। दुर्गाचार्य कहते हैं–गम्भीरपदार्थो हि वेदः। पाश्चात्य विद्वान् वेद के इस गाम्भीर्य को न समझ कर कैसे अर्थ करते हैं, यहाँ एक-दो उदाहरण देना पर्याप्त होगा। (1) ऋ॰ 6/47/21 में 'कृष्णा असेधदप सद्मनो जाः' का अर्थ जब ग्रिफिथ Dark Aborigines (काले आदिवासी) कहता है तो लगता है कि जान पूछ कर वेद की आत्मा को छिपा दिया गया। इसी प्रकार ऋ॰ 1/35/5 में पठित 'वि जनाञ्छ्यावाः' का अर्थ जब मैक्समूलर Black horse with white foots करता है तो उसके इस वेदज्ञान पर हँसी ही आती है। सूक्त का देवता सविता है। अतः इस पद का अर्थ शुक्ल वर्ण वाली सूर्यकिरणें हैं। मैक्समूलर ने सूक्त के देवता पर भी ध्यान न देकर किस अज्ञानता से यहाँ घोड़े को उपस्थित किया है, इसे वही जाने। इसी प्रकार 'युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषम् चरन्तम्॰ (ऋ॰ 1/6/1) इस मन्त्र में मैक्समूलर ने ब्रध्न का अर्थ घोड़ा किया है। स्वामी दयानन्द इसके खण्डन में कहते हैं कि ब्रध्न का वास्तविक अर्थ परमेश्वर है। इन विद्वानों ने अन्यत्र भी वैदिक शब्दों के साथ यही अन्याय किया है। उदाहरणार्थ–ऋ॰ 9/73 ये पठित महिषा का अर्थ पाश्चात्यों ने भैंसे किया है। उनके अनुसार यह एक पुरोहित के लिए आया है। अर्थात् पुरोहित रूपी भैंसे। क्या ही निम्नस्तरीय अनुवाद है, यह कहने की आवश्यता नहीं। वस्तुतः महिषा का सीधा सा अर्थ महान् है, किन्तु इन मक्खीमार पाश्चात्य अनुवादकों यह भी समझ में नहीं आया। वेदों में प्रयुक्त अग्नि, इन्द्र, यज्ञ, गो, अश्व, घृत, वृत्र आदि शब्दों के स्वारस्य को ये जान ही नहीं पाए। इन्होंने अग्नि का अर्थ Fire, अश्व का अर्थ Horse तथा यज्ञ का अर्थ Sacrifice करके अपनी अवेदज्ञ मति का ही परिचय दिया है। पाश्चात्यभाष्यकारों का एक अन्य दोष यह है कि अनेक स्थानों पर ये काल्पनिक व्याख्या भी कर देते हैं। जैसा कि प्रो॰ घाटे लुड्विग तथा ग्रासमन के विषय में कहते हैं कि "निःसन्देह बहुत बार ये विद्वान् ममगढन्त व्याख्याएँ प्रस्तुत कर देते हैं तथा इनकी प्रवृत्ति ऐसे संशोधन एवं परिवर्तन करने की भी रही है जो कभी न कभी न केवल अनावश्यक होते हैं, अपितु अशुद्ध भी होते हैं।"[1]

1. प्रो॰ घाटे, ऋग्वेद पर व्याख्यान, पृ॰ 64

पाश्चात्यों की मनगढन्त व्याख्या का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है। 'यत्र नाव प्रभ्रंशनम्' की व्याख्या में वैदिक माइथॉलोजी में मैकडानल ने पुराणों तथा ब्राह्मणग्रन्थों में चर्चित मनु तथा मछली की कथा दी है जबकि यहाँ पदच्छेद 'यत्र न अव प्रभ्रंशनम्' हैं। मैक्डालन ने इसे गलती से नाव का प्रभ्रंशन समझ लिया।

इसी प्रकार की टिप्पणी राथ पर करते हुए प्रो॰ घाटे कहते हैं। "परिवर्तन विरोधी संस्कृज्ञों से भिड़ने के उत्साह में राथ दूसरे छोर तक पहुँच गये। भारतीय भाष्यकारों में पूर्णरूप से विश्वास खोकर, परम्परा के भवन को नष्ट कर देने के उत्साह में राथ ने तर्क पर आधारित एक ऐसा ढाँचा खड़ा किया, जिसमें एक पक्षपात का स्थान दूसरे ने ले लिया।"[1]

राथ आदि के समान मैक्समूलर के भाष्य की भी आलोचना की गयी। Boulanger ने 'सीक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट' सीरिज के रूसी संस्करण में मैक्समूलर के भाष्य की कठोर आलोचना करते हुए लिखा है–

What struck me in Max Mullers translation was a lot of absurdities, obscene passages and a lot of what is not lucid.

मैक्समूलर स्वयं भी अपने भाष्य की न्यूनता स्वीकार करते हुए लिखते हैं–My translation of veds is conjectural (Vedic hymns)। मैक्समूलर, ग्रिफिथ तथा विन्टरनिज आदि सभी ने स्वीकार किया है कि पाश्चात्यों के अनुवाद अपूर्ण तथा सन्दिग्ध है–

We must here remember the important fact that the Rigveda is as yet by no means fully explained. there are many verses and isolated passages of the Rigveda whose right meaning is still in the highest degree doubtful. History of Indian Literature, Vol. 1 p. 69.

पाश्चात्यों की वेदव्याख्याओं के सम्बन्ध में डॉ॰ आनन्दकुमार स्वामी की सम्मत्ति अधिक मूल्यवान् है क्योंकि डॉ॰ आनन्दकुमार स्वयं ईसाई थे तथा तमिलभाषी ईसाई पिता एवं ब्रिटिश माता की सन्तान थे। आनन्दकुमार कहते हैं कि "वैदिक ग्रन्थों के वर्तमान अनुवाद निर्वचन शास्त्र की दृष्टि से कितने भी युक्तियुक्त क्यों न हो, तथापि वे न तो समझ में आने योग्य हैं तथा न विश्वास के योग्य। यह बात कभी-कभी स्वयं अनुवादकों ने भी स्वीकार की है।"[2]

---

1. वही, पृ॰ 87
2. डॉ॰ फतेह सिहं वेदविद्या का पुनरुद्धार, वेदसंस्थान, नयी दिल्ली 2004, पृ॰ 20

पाश्चात्य विद्वानों की शैली को धांधली की संज्ञा देते हुए अरविन्द कहते हैं, "उन्नीसवीं शदी के पाश्चात्य पण्डितों के कमर कस कर अखाड़े में उतर आने से इस क्षेत्र में घोरतर विदेशी धांधली मची। पैट्रोगार्ड में नवीन मनोनीत निरुक्त तैयार कर वे उसी की सहायता से वेदव्याख्या करते हैं।"[1]

यद्यपि बोडेन चेयर से बंधा होने के कारण ईसाईयत के प्रचार की दृष्टि से मैक्समूलर ने वेदों की गलत व्याख्याएँ की, किन्तु अन्त में उसने इस तथ्य को स्वीकार कर ही लिया कि वेदभाष्य अति दुरूह कार्य है। यथा–

No one who knows any thing of the veda would think of attempting a translation of it at present. A translation of Rigveda is a faet of next century (Vedic hymns Vol. I, Max Mullar and H. Oldenberg. 1890, Introduction, p. ix)

वेदों की व्याख्या का विश्वसनीय मार्ग

प्रश्न है कि वेदों की व्याख्या के लिए किस मार्ग का अवलम्बन लिया जाए? यहाँ पर संक्षेप में इस पर विचार किया जाता है–

(1) वेद से ही वेदार्थ करना–वेदव्याख्या का सबसे प्रामाणिक प्रकार स्वयं वेदों से ही वेदों की व्याख्या करना है। इस विषय में योगी अरविन्द कहते हैं "वेद की व्याख्या के लिए वेद से ही आरम्भ करना होगा तथा वेद पर ही निर्भर करना होगा।"[2] स्व॰ पं॰ क्षेत्रेशचन्द्र चटोपाध्याय भी कहते हैं–ऋग्वेद : ऋग्वेदेन अधीयी। महर्षि दयानन्द तो इस मत के प्रबल समर्थक थे।

अथर्ववेद 10/2 सूक्त के 31वें मन्त्र में आठ चक्रों वाली तथा नौ द्वारों वाली अयोध्या का वर्णन किया गया है। इसके अन्दर हिरण्यकोश है।[3] मन्त्र 32 में कहा गया है कि इस हिरण्यकोश में यक्ष रहता है कि जिसे आत्मवेत्ता जन जानते हैं। यह अयोध्यापुरी उपराजित है। यद्यपि इन तीनों मन्त्रों से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह शरीर ही आठ चक्रों (स्वाधिष्ठान, मणिपूरक आदि आठ चक्र) तथा आँख–नाक–कान आदि नौ द्वारों वाली अयोध्या नगरी है। एतदतिरिक्त अथर्ववेद 10/8/43 में स्पष्ट रूप में कहा गया है–

1. वेदों का समालोचनात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन, भूमिका, पृ॰ 25
2. वेदरहस्य, भाग 2, पृ॰ 354
3. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। 10/2/3
   तस्यां हिरण्ययः कोषः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।। (अथर्व॰ 10/2/31)

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृत्तम्।

तस्मिन् यद् यक्षमात्मवन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदु:।। अथर्व॰ 10/8/43

इस मन्त्र की द्वितीय पंक्ति पूर्वोद्धृत अथर्व॰ 10/2/32 में अक्षरश: समान है। इस प्रकार अथर्व॰ 10/8/43 मे स्पष्ट कर दिया गया कि यह शरीर ही नौ द्वारों वाली नगरी है। इसी में यक्ष पूजनीय परमेश्वर विराजमान है। यहाँ पर शरीर को पुण्डरीक कहा गया है। इसी प्रकार वेद अन्यत्र भी अपने आशय को स्वयं ही स्पष्ट कर देता है। वेद के इसी स्वरूप के लिए स्वयं वेद कहता है–

उतो त्वस्मै तत्त्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा:। ऋ 10/71/4

(1) **युक्तियुक्तता**–कणाद मुनि कहते हैं 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वैशे॰ 6/1/1)। इसके अनुसार वेदव्याख्या ऐसी होनी चाहिए जो सृष्टिक्रम के विपरीत न होकर बुद्धिगम्य हो। बुद्धिहीन बातें को वेदों पर नहीं थोपा जा सकता।

(2) **निरुक्त**–यास्क मुनि कहते हैं–'अथपीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते।' (नि॰ 1/15)। इसका आशय यही है कि निरुक्त के बिना वेदार्थ को नहीं समझा जा सकता। निरुक्तकार ने वेदार्थ का मार्ग प्रशस्त किया है। सम्पूर्ण नैरुक्त सम्प्रदाय वैदिक नामपदों को आख्यातज मानता है। अत: वेदव्याख्या भी इसी आधार पर करनी चाहिए।

(3) **व्याकरणम्**–पतंजलि मुनि कहते हैं "रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्।" अत: वेदव्याख्या के लिए प्रमाणिक वैयाकरण होना अति आवश्यक है। व्याकरण से बिना वेदव्याख्या करने वाले पतंजलि के शब्दों में 'त्वरिता वक्तार:' ही कहलायेंगे।

(4) **तर्क**–इसे ऊहा भी कह सकते हैं। पतंजलि ने भी ऊहा को व्याकरण का प्रयोजन कहते हुए वेदार्थ में इसकी उपयोगिता मानी है। निरुक्तकार तो तर्क को साक्षात् ऋषि ही कह रहे हैं।[1] प्रत्येक व्यक्ति को तर्क के आधार पर कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है, अपितु अनूचान का तर्क ही वेदार्थ में उपयोगी होगा।

1. तर्कमृषिं प्रायच्छन्मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्माद् यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति। नि॰ 13/12

(5) प्रकरण–वेदव्याख्या में प्रकरण का ध्यान रखना अति अनिवार्य है। वेदमन्त्र तथा सूक्त परस्पर सम्बद्धता एवं तारतम्य लिए हुए हैं। उन्हें अलग-अलग करके वेदव्याख्या नहीं की जा सकती। यास्क स्पष्ट रूप में कहते हैं "न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। नि० 13/12"

(6) भूयोविद्यत्व–व्याकरण तथा निरुक्त आदि के साथ वेदव्याख्या के लिए भूयोविद्यत्व भी आवश्यक है। वेदों में परोक्ष तथा प्रत्यक्ष नाना विषयों से सम्बन्धित मन्त्र विद्यमान हैं। उनके रहस्य को तत्तत् विद्याओं को जाने बिना नहीं जाना जा सकता। व्यास जी कहते है–बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति। (महा० आ० पर्व 1/3/37)। वेदों की त्रिविध या अनेकविध व्याख्या के लिए वेद-व्याख्याकार को राजनीति, ओषध, अध्यात्म, ज्ञान, विज्ञान, समाज, यज्ञ, खगोल, भूगोल, गणित आदि विद्याओं का वेत्ता भी होना अनिवार्य है। यास्क भी कह रहे हैं–पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति। नि० 13/12

(7) ऋषित्व, मेधा तथा तपस्या–उक्त गुणों के साथ-साथ वेदभाष्यकार के पास ऋषिदृष्टि तथा योगदर्शन में चर्चित ऋतम्भरा प्रज्ञा होनी चाहिए जिसके विषय में व्यास जी कहते हैं 'या ऋतमेव बिभर्ति। नास्त्यत्र विपर्ययस्य गन्धोऽपि।' इस प्रज्ञा से युक्त योगी कभी भी गलत वेदार्थ नहीं कर सकता। सांख्यदर्शन में यही बात इस रूप में कही गयी है–

लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः (सां० द० 5/40)।

तैत्तिरीयसंहिता में (3/4/9/5) में स्पष्ट रूप में कहा गया है–

छन्दांसि खलु वा एतं नोपनमन्ति यं मेधा नोपनमति।

इस विषय में अरविन्द कहते हैं–

वेद के वचन उनके सत्य अर्थों में उसी के द्वारा जाने जा सकते हैं जो स्वयं ऋषि या रहस्यवेत्ता योगी हो।

दुर्गाचार्य ने निरुक्त 1/16 पर भाष्य करते हुए लिखा है–गम्भीरपदार्थों हि वेदः। स्वयं वेद में वेदमन्त्रों 'को निण्या वचांसि' कहा गया है। ऐसे रहस्यमय मन्त्रों की व्याख्या के लिए यास्क स्पष्टरूप में घोषणा कर रहे है, कि जो ऋषि तथा तपस्वी नहीं है, उसे वेदार्थ स्पष्ट नहीं हो सकता।[1]

---

1. न ह्येषु प्रत्यक्षमनृषेरतपसो वा। नि० 13/12

भारतीय वेदभाष्यकारों की धारणाएँ एवं प्रयोजन

न्यायदर्शन के भाष्य में वात्स्यायन लिखते हैं–'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' अर्थात् प्रयोजन के बिना मन्दमति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। इसी आधार पर वेदभाष्य करने के मूल में भी भाष्यकारों के कोई न कोई प्रयोजन अवश्य रहे हैं। इस पर विचार करने से पूर्व हम वेदभाष्यों से पहली स्थिति पर विचार करते हैं। यह स्थिति दो रूपों में विभक्त है।

अतिप्राचीन या आदिकाल–वेदों का प्रादुर्भाव कभी भी हुआ हो, इतना निश्चित है कि उस समय उनके भाष्यकर्त्ता नहीं थे। उस समय साक्षात्कृतधर्मा ऋषि विद्यमान थे जिनके तपःपूत हृदय में वेदार्थ सहज रूप में प्रकट हो जाता था। तब वेदभाष्यों की न तो आवश्यकता थी तथा न ही प्रचलन। (2) इसके उत्तरवर्ती काल में असाक्षात्कृतधर्मा व्यक्ति स्वयं वेदार्थ करने में असमर्थ थे। अतः पूर्ववर्ती ऋषियों ने इन्हें उपदेश द्वारा वेदों का ज्ञान प्रदान किया। इस समय तक भी वेदभाष्य करने की परम्परा नहीं थी। यह ज्ञान गुरुमुख से प्राप्त कर लिया जाता था। (3) तृतीय काल वह है जब सुनकर भी वेदार्थ को हृदयंगम करना कठिन हो गया। इस काल में वेदार्थ को हृदयंगम करने के लिए निरुक्त आदि छह वेदांगों की रचना की गयी।[1] महाभाष्य में पतंजलि ने लिखा है 'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्।।' इसी प्रकार यास्क कहते हैं कि निरुक्त का प्रयोजन व्याकरणशास्त्र की सम्पूर्णता तथा निर्वचना करना है।[2]

इस समय तक भी विधिवत् वेदभाष्य करने की परिपाटी का प्रारम्भ नहीं हुआ था। वेद आदिम पुस्तक थी तथा सभी के लिए श्रद्धास्पद थीं, किन्तु वेदमन्त्रों का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पा रहा था। इस समय समाज में विविध सम्प्रदायों का उदय भी हो चुका था। यथा–परिव्राजक, वैयाकरण, नैरुक्त, नैदाना, ऐतिहासिक इत्यादि। इन सभी के लिए वेदमन्त्रों का अर्थ अस्पष्ट था, ये सभी अपनी-अपनी दृष्टि से मन्त्रों के प्रकीर्ण अर्थ कर रहे थे।

नैरुक्तों का प्रयोजन–नैरुक्त आचार्यों का एक अलग ही सम्प्रदाय था, जो अपने तरीके के वैदिक शब्दों के निर्वचन तथा मन्त्रों की व्याख्या कर रहे थे। यास्क ने कई नैरुक्त आचार्यों के नाम निरुक्त में दिये हैं। नैरुक्तों का मार्ग

---

1. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेश मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽपरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदांगानि च (नि॰ 1/20)
2. तदिदं व्याकरणस्य कात्स्न्यं स्वार्थसाधकं च (नि॰ 1/15)

ब्राह्मणग्रन्थों से हट कर था। ये आचार्य मन्त्रों की आध्यात्मिक तथा आधिदैविक व्याख्या कर रहे थे। यास्क ने भी निरुक्त में ऐसा ही किया है। यद्यपि नैरुक्त आचार्यों के सामने ब्राह्मणग्रन्थ थे, यास्क ने भी कई स्थानों पर ब्राह्मणवचनों को उद्धृत किया है, तथापि नैरुक्तों का प्रयोजन याज्ञिक क्रियाकलाप का पोषण न होकर वास्तविक वेदार्थ को जानना था। नैरुक्तों के समय तक भी विधिवत् वेदभाष्य प्रारम्भ नहीं हुए थे। उनके सामने केवल ब्राह्मणग्रन्थों के द्वारा यज्ञानुष्ठान में विनियुक्त मन्त्र ही थे। वास्तविक मन्त्रार्थ अन्य होने पर भी उनका विनियोग यज्ञ में किया जाता था। कदाचित् नैरुक्त आचार्यों ने इस कमी को देखा तथा इसे ठीक न समझते हुए इससे हट कर वास्तविक वेदार्थ तक जाने का यत्न किया। क्योंकि इनका यही प्रयोजन था। नैरुक्त आचार्यों ने वेदार्थ को एक नयी दिशा दी जिसका अवलम्बन सायणादि आचार्यों ने भी किया, किन्तु वे भाष्यकार ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित कर्मकाण्ड से इतने प्रभावित थे कि निरुक्त का आश्रय लेकर भी मन्त्रों की याज्ञिक व्याख्या को नहीं छोड़ सके।

निरुक्त आदि षडङ्गों से पूर्व ब्राह्मणग्रन्थों का प्रणयन हो चुका था। उनका उद्देश्य भी यद्यपि मन्त्रों की व्याख्या करना था, किन्तु यह उनका मूल प्रयोजन नहीं था। ब्राह्मणग्रन्थ कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं तथा उनका मूल प्रयोजन याज्ञिक विधियों का अनुष्ठान था। इन्होंने निर्वचन तथा विविध कथाओं के माध्यम से मन्त्रों के अर्थ को स्पष्ट करने की चेष्टा की। ब्राह्मणग्रन्थों तथा सूत्रग्रन्थों में विविध याज्ञिक विनियोगों के साथ मन्त्रों की संगति बैठाकर मन्त्रार्थ भी विनियोगों के अनुसार किया जाने लगा। इस समय लिखित रूप में वेदार्थ करने की परम्परा जन्म ले चुकी थी।

ब्राह्मणग्रन्थों एवं सूत्रग्रन्थों में प्रतिपादित सभी याज्ञिक विनियोगों के अनुरूप वेदमन्त्र उपलब्ध नहीं थे। अतः उत्तरकाल में जब याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्राबल्य हुआ तो सभी याज्ञिक क्रियाओं के अनुरूप वेदमन्त्र उपलब्ध न होने पर वास्तविक मन्त्रार्थ की उपेक्षा करके याज्ञिक क्रियाओं के साथ मन्त्रों का सम्बन्ध जोड़ा जाने लगा। इस प्रकार ऐसे विनियोग में भी मन्त्रों को जोड़ा जाने लगा जिनके साथ मन्त्रार्थ की कोई भी संगति नहीं थी। ब्राह्मणग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रों में इस प्रकार के काल्पनिक विनियोग असंख्य है। यास्क ने प्राचीनतम माने जाने वाले ऐतेरेय ब्राह्मण का एक वचन उद्धृत किया है जिसके अनुसार यज्ञ में किए जाने वाले क्रिया कलाप में ऋग्मन्त्र का विनियोग किया जाता है तो यह यज्ञ की समृद्धि है।[1]

---

1. एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियामाणमृग्यजुर्वाभि वदतीति च ब्राह्मणम्।
नि॰ 1/16

यह वही काल था जब वेदों का एकमात्र प्रयोजन याज्ञिक क्रियाकलाप ही मान लिया गया। इसके अनुरूप ही "वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृताः" (वेदांग ज्योतिष) जैसी उक्तियाँ प्रकाश में आयी। मीमांसादर्शन ने तो यहाँ तक कह दिया कि जिन वेद मन्त्रों का यज्ञ में उपयोग नहीं होता, वे अनर्थक हैं।[1] इस प्रकार याज्ञिक कर्मकाण्ड प्रमुख बन गया तथा वेदार्थ गौण हो गया।

ऐसे समय में स्कन्दस्वामी, सायणाचार्य आदि भाष्यकारों ने विधिवत् वेद भाष्य करने प्रारम्भ किये। परिणामस्वरूप इन भाष्यकारों के भाष्यों में याज्ञिक विधि का प्राधान्य होना अति स्वाभाविक था। एक प्रकार से इन सभी भाष्यों का प्रयोजन याज्ञिक कर्मकाण्ड की पुष्टि ही था। इस विषय में स्कन्दस्वामी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि "बौद्धव्य अर्थ सब मन्त्रों के कर्माङ्गत्व की सिद्धि के लिए है, अतः ऋग्वेद के अर्थज्ञान के लिए हम यह भाष्य करते हैं।"[2] इस प्रकार उवट, महीधर सायण आदि सभी भाष्यकारों के भाष्यों में याज्ञिक विधि प्रधान बन गयी तथा मूल वेदार्थ गौण हो गया। इन सभी का प्रयोजन याज्ञिक कर्मकाण्ड में मन्त्रों का विनियोग करना था।

यज्ञों का प्रचार-प्रसार दक्षिण भारत में अधिक था, साथ ही वहाँ पर वाममार्ग भी फलफूल रहा था, जिस कारण यज्ञों का स्वरूप भी विकृत होता जा रहा था। उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण में मांसाहार का प्रचलन भी अधिक था। परिणाम स्वरूप यज्ञों में भी पशुबलि तथा मांस की आहुतियाँ दी जाने लगी। इन तामसिक यज्ञों में भी वे मन्त्रों का विनियोग किया जा रहा था। इसका प्रभाव वेदभाष्यकारों पर पड़ना ही था। इससे पूर्व ब्राह्मणग्रन्थों में भी यज्ञों में पशुबलि तथा गोमांसादि की आहुतियों का प्रतिपादन किया जा चुका था। इस विषय में शतपथ ब्राह्मण प्रमाण है। यह भी सम्भव है कि मांस तथा गोवधादि के प्रकरण शतपथ में बाद में किसी ने मिला दिये हों, क्योंकि शतपथ के प्रणेता याज्ञवल्क्य ऋषि ऐसा प्रतिपादन नहीं कर सकते थे। परिणामस्वरूप महीधर उवट, सायण आदि के भाष्यों में भी यज्ञों में गोवध तथा पशुहिंसा आदि का प्रतिपादन किया गया है। क्योंकि इन भाष्यों का प्रयोजन उस समय में प्रचलित याज्ञिकविधि का समर्थन करना था। सायण तो राजा बुक्क के मन्त्री थे तथा राजाओं का मांसाहारी होना स्वभाव सिद्ध था। अतः सायण के भाष्य में भी यज्ञों में पशुबलि का प्रतिपादन होना ही था।

---

1. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतर्थानाम्। मी०द०
2. सर्वमन्त्राणां कर्माङ्गसिद्ध्यर्थं यतो बोद्धव्योऽर्थः अत ऋग्वेदस्यार्थबोधार्थम् अस्माभिर्भाष्यं करिष्यते।

पाश्चात्यों की वेदविषयक धारणाएँ एवं प्रयोजन

पाश्चात्य विद्वानों ने वेदभाष्य तथा अन्य वेदसम्बन्धी कार्य पर्याप्त मात्रा में अति परिश्रम पूर्वक किया है। इनमें अंग्रेज, जर्मन तथा रूसी विद्वान् प्रमुख हैं। यद्यपि इनका वेदसम्बन्धी प्रयत्न श्लाघनीय है, तथापि उस कार्य के मूल में छिपी धारणाओं तथा प्रयोजन को आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता। उनके वशीभूत होकर ही उन्होंने अपना कार्य किया है। यदि चिकित्सक का उद्देश्य रोगी को स्वास्थ्यलाभ कराना ही है तो उसकी कार्यप्रणाली स्वल्प दोषयुक्त होने पर क्षम्य है, किन्तु यदि उसका उद्देश्य ही रोगी को मृत्युमुख में पहुँचाना हो तो उसकी अच्छी चिकित्सा की भी निन्दा ही की जायेगी। ऐसा ही कुछ यहाँ पर भी था। उन दिनों भारत अंग्रेजों के अधीन था। वे भारत में अपना स्थायी राज्य लम्बे समय तक के लिए चाहते थे। यह तभी सम्भव था जबकि भारत निवासी अपनी प्राचीन संस्कृति तथा धर्म पर गर्व करना छोड़ दें। यह एक अकाट्य सत्य है कि यदि किसी देश को लम्बे समय तक पराधीन रखना है तो उस देश के धर्म संस्कृति तथा भाषा को नष्ट कर दीजिए। इसलिए अंग्रेजों ने राजनीतिक कारणों से संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ किया। इसके साथ ही जर्मनी में भी संस्कृत के प्रति रुचि जग रही थी। इसका कारण यह था कि योरोप में छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटा हुआ जर्मनी देश एक राष्ट्र का रूप धारण कर रहा था तथा अपने आपको यहूदी परम्परा तथा सेमेटिक प्रभाव से मुक्त करने के लिए आर्यजाति से अपने आपको जोड़ना चाहता था। इसके लिए संस्कृत तथा वेदों का अध्ययन आवश्यक था। इस प्रकार जर्मन विद्वानों का उद्देश्य भावनात्मक था तो अंग्रेजों का उद्देश्य विशुद्ध रूप में राजनीतिक था।

भारत में अंग्रेजी राज्य को सुदृढ़ बनाने के साथ-साथ अंग्रेजों का उद्देश्य भारत में ईसाइयत का प्रचार करना भी था क्योंकि ईसाई बनने ही कोई भी व्यक्ति अंग्रेजी राज्य का ही भक्त होगा न कि भारत की स्वाधीनता का पुजारी। अंग्रेजों ने इस कार्य को तीन प्रकार से किया। (1) ईसाई प्रचारकों के माध्यम से (2) मिशनरी स्कूलों के माध्यम से। (3) पाश्चात्य संस्कृतज्ञ विद्वानों से भारतीय संस्कृति, विशेषकर वेदों की निन्दा, उपहास तथा आलोचना कराकर जिससे कि भारतीयों की श्रद्धा ही वेदों से हट जाए। इस कार्य को सम्पन्न करने में वहाँ के विद्वान्, धनपति, धर्माधिकारी तथा राज्याधिकारी सभी लगे हुए थे। इस कार्य में मैकाले ने प्रमुख भूमिका निभाई।

(1) अंग्रेज शासकों ने भारत में अंग्रेजी राज्य का दीर्घकाल तक स्थिर करने के लिए एक सोची–समझी नीति के अनुसार भारत के प्राचीन वैदिकधर्म-संस्कृति तथा भारतीय भाषाओं को नष्ट करना तथा उनकी निन्दा करना अत्यावश्यक समझा, क्योंकि इन तीनों से बंधा रह कर ही कोई भी व्यक्ति हिन्दू रह सकता है। इन्हें छोड़ते ही वह मुस्लिम या ईसाईयत आदि किसी भी मत को ग्रहण कर सकता है। अंग्रेजीकाल में ऐसा हो भी रहा था। अंग्रेज तो भारत में ईसाइयत के प्रति कृतसंकल्प थे। इसके लिए उन्होंने दो रूपों में कार्य किया–(1) पाश्चात्य संस्कृतज्ञ विद्वानों द्वारा वेदों का अनर्गल अर्थ करके उन्हें असभ्य-बर्बर जाति की निकृष्ट रचना सिद्ध करना तथा वेदों में अश्लीलता, ऐतिहासिक किस्से-कहानियों की विद्यमानता तथा पशुबलि, मांसभक्षण, सुरापान आदि मानकर वेदों पर आक्षेप करना।

(2) भारतीय शिक्षानीति को समूल नष्ट करके उसके स्थान पर पूर्णतः अंग्रेजीभाषा तथा शिक्षापद्धति को लागू करना। इस शिक्षा के द्वारा वे एक ऐसा वर्ग तैयार करना चाहते थे जो भारतीयों तथा अंग्रेजों के मध्य द्विभाषिए का कार्य कर सके तथा जो रंग-रूप में तो भारतीय हो, किन्तु रुचि-विचारों तथा आचार-व्यवहार में पूर्णतः अंग्रेज हो। इस पाश्चात्यशिक्षापद्धति को लागू किया तत्कालीन शिक्षाबोर्ड के अध्यक्ष टी०वी० मैकाले ने।

1800 ई० में उत्पन्न टी०वी० मैकाले के दादा रेव जान मैकाले 'प्रेस्विटेरियन' चर्च के पादरी थे। मैकाले की शिक्षा चर्च के कठोर अनुशासन में ईसाईयत के सिद्धान्तों पर ही हुई थी। 1833 में ईस्टइण्डिया कम्पनी ने मैकाले को भारत के लिए सुप्रिम कार्उसिल का सदस्य बना कर कानूनी सलाहकार नियुक्त किया तथा इसके लिए उसे दस हजार पौण्ड की राशि प्रतिवर्ष वेतन स्वरूप दी गयी। 10 जून, 1834 को मैकाले मद्रास पहुँचा तथा 1 फरवरी, 1935 को इसने सभी भारतीय स्कूलों में अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने की सिफारिश कर दी। फलतः 2 मार्च, 1835 अंग्रेजी को शिक्षा के माध्यम के रूप में थोप दिया गया। मैकाले स्वयं स्वीकार करता है कि भारत में अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों का उद्देश्य ऊँची जाति के हिन्दुओं को ईसाईयत में धर्मान्तरित करना था। 12 अक्टूबर, 1836 को अपने पिता को लिखे पत्र में मैकाले कहता है कि इस शिक्षा का हिन्दुओं पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ रहा है। कोई भी हिन्दू जिसने अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त करनी है, निष्ठापूर्वक अपने धर्म से जुड़ा नहीं रह सकता–

The effect of this education on the Hindioos is prodigious. No Hindoo, who has received an English Education, ever remains sincerely attached to his religion. Life and letters of Lord Maeaulay p.p. 329-30, Bharti p. 46-47

मैकाले के विचारों की पुष्टि पादरी क्रिफोर्ड लिखते हैं–

The function of mission schools in India is to lead boys and girls to Jeseus Christ. (Christianity in a changing India, p. 147)

अर्थात् भारत में मिशन स्कूलों का कार्य लड़के और लड़कियों को जीसस क्राइस्ट की ओर ले जाने का है। इस प्रकार शिक्षा के माध्यम से अंग्रेजों ने भारत को ईसाईयत में दीक्षित करने का उपक्रम किया।[1]

(3) वेदों की अशुद्ध व्याख्याएँ एवं वैदिकसंस्कृति पर प्रहार–

भारतीय संस्कृति तथा धर्म वेदों पर आधारित था तथा भारतीय जनमानस की वेदों पर अटूट श्रद्धा थी। भारतीयों की इस आस्था को सर्वथा समाप्त करने के लिए अंग्रेजों ने कूटनीतिक तरीके से वेदों तथा वैदिकसंस्कृति पर प्रहार करना प्रारम्भ किया। इसी उद्देश्य से उन्होंने वेदों पर अन्तर्गल आक्षेप लगाये तथा उन्हें असभ्य बर्बर जाति की रचना एवं गडरियों के गीत कहा।

जैसा कि ओल्डन बर्ग अपने Religion Des Veda में लिखता है कि वेदों के देवता एवं उनके उपासक असभ्य एवं बर्बर थे। इसी प्रकार प्रो॰ मैक्समूलर लिखता है "वैदिकसूक्तों की एक बड़ी संख्या नितान्त बचकानी, जटिल, घटिया और साधारण है।"

"A large number of vedic hymns are childish in the extreme, tedious, low and commonplace" chips from a German work shop, ed 1866. p. 27

यह सब कार्य इसी दृष्टिकोण से ठोस योजना के अन्तर्गत किया जा रहा था जिससे कि वेद तथा वैदिक संस्कृति से भारतीयों की श्रद्धा समाप्त हो जाए तथा

1. इस विषय में एक ऐतिहासिक घटना है कि मुंशीराम जी जो बाद में स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से विख्यात हुए, उनकी पुत्री वेदकुमारी ईसाई स्कूल में पढ़कर घर लौटी तो घर पर भी गा रही थी "ईसा–ईसा बोल, तेरा क्या लागेगा मोल। ईसा मेरा रास रसैया। ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया।" इस गीत को सुनकर मुंशीराम जी को लगा कि ईसाई स्कूलों में शिक्षा के साथ–साथ ईसाइयत की शिक्षा भी दी जा रही है तो उन्होंने जालंधर में सर्वप्रथमपुत्री पाठशाला खोली।

वैदिकधर्म के स्थान पर वे ईसाईयत को श्रेष्ठ मान कर ईसाई बन जाएँ। वे लोग अपने इस उद्देश्य में सफल भी हुए। दौर्भाग्य यह था कि उस समय भारत में वेदों का पठन-पाठन शून्य के बराबर था। वेदपाठियों को वेद कण्ठाग्र तो थे, किन्तु वे उनके अर्थों से अनभिज्ञ थे। केवल सायणभाष्य ही हमारे सामने था। वह भी संस्कृत में होने से जनसामान्य की पहुँच से बाहर था। ऐसे समय में पाश्चात्यों को वेदों पर नाना अनर्गत आक्षेप करने एवं वेदों के अशुद्ध भाष्य करने का अवसर मिला। कर्नल बोडेन ने इसी उद्देश्य से बोडनपीठ की स्थापना की थी। मोनियर विलियम्स ने अपनी Sanskrit English dictionary की भूमिका में इसका विवरण इस प्रकार दिया है–

Its Boden chain founder, Colonel Boden, stated most explicitly in this will (dated August 15, 1811 A.D.) that the special object of his munificent bequest was to promote the translation of the scripture into sanskrit, so as to enable this country men to proceed in the conversion of the natives of India to the christian religion.

बोडनचेयर के संस्थापक कोलोनल बोडेन ने 15 अगस्त, 1811 ईस्वी को लिखी गयी अपनी वसीयत में बिल्कुल स्पष्ट रूप से कहा है कि मेरी इस उदार वसीयत का उद्देश्य संस्कृत में लिखे धर्मग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद करने में सहायता करना है, ताकि मेरे देशवासी भारतवासियों को क्रिश्चियन धर्म में धर्मान्तरित करने में समर्थ हो सकें।

1811 ई० में ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृतशिक्षा की व्यवस्था की गयी। कर्नल जोसेफ बोडेन जो कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेवा में बम्बई में लेफ्टिनेंट कर्नल था। उसने अपनी समस्त सम्पत्ति जो उस समय लगभग पच्चीस हजार पौंड थी, इस विश्वविद्यालय में संस्कृत प्रोफेसर के एक पद की स्थापना के लिए दान कर दी। विश्वविद्यालय ने पीठ का नाम 'बोडेन चेयर ऑफ संस्कृत' रखा।

कर्नल बोडेन ने अपनी वसीयत 15 अगस्त, 1811 को यू०के० कैटंरवरी न्यायालय में रजिस्टर्ड करायी। इस वसीयत का मुख्य अंश इस प्रकार है–

That a more general and critical knowledge of that (sanskrit) language will be a means of enabling my countrymen to proceed in the conversion of Natives of India to the christian religion by disseminating a knowledge of sacred scriptures. Bharti. pp. 249-50.

अर्थात् मैं अपनी समस्त सम्पत्ति विश्वविद्यालय को इसलिए दान में देता हूँ कि जिससे उसके देशवासियों को संस्कृतभाषा का समुचित ज्ञान हो सके, जो भारत के मूलनिवासियों के धर्मग्रन्थ को समझने और उनके ईसाईयत में धर्मान्तरण में सहायक हो सकें। भारती, पृ. 249-50

1832 में बोडेन चेयर का प्रथम अध्यक्ष एच०एच० विल्सन को बनाया गया। यहाँ उसने सर्वप्रथम 'दि रिलीजन एण्ड फिलोसोफिकल सिस्टम्स ऑफ दी हिन्दूज' नामक पुस्तक लिखी।

इस पुस्तक के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए विल्सन स्वयं लिखता है "These lectures were written to help candidates for a prize of 200- given by John muir, a great sankrit scholar, for the best reputation of the Hindu Religious system." Eminent Orientatists, Madras, p. 72

अर्थात् यह लेखमाला उन व्यक्तियों की सहायता के लिए लिखी गयी है जो जॉन म्यूर द्वारा स्थापित 200 पौंड के पुरस्कार के लिए प्रत्याशी हों और हिन्दू धर्मग्रन्थों का सर्वोत्तम प्रकार से खण्डन कर सकें।

प्रो० मैक्समूलर वोडेनपीठ के तृतीय अध्यक्ष थे। शिक्षाबोर्ड के अध्यक्ष टी०वी० मैकाले ने मैक्समूलर को इसी उद्देश्य से चुना था। प्रारम्भ में मैक्समूलर धन के बदले अपनी लेखनी बेचने को तैयार न था, किन्तु मैकाले द्वारा किये गये भय तथा प्रलोभनों के आगे अन्ततः वह झुक गया तथा उसने अपने लेखन का उद्देश्य वेदादि शास्त्रों की निन्दा करके भारत में ईसाइयत का प्रचार करना बना लिया। मैक्समूलर ने अपने इस उद्देश्य को अपनी पत्नी को लिखे पत्र में इस प्रकार स्पष्ट किया है–

This edition of mine and the translation of the Vedas will hereafter, tell to a great extent on the fate of India. It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years. (Life and Letters of Frederick Max Muler, Vol. I, Chap. XV, P. 34)

मेरे द्वारा सम्पादित वेद का संस्करण और उसका अनुवाद इसके पश्चात् भारत के भाग्य को और इस देश के लाखों निवासियों के विकास को दूर तक प्रभावित करेगा। यह वेद उनके धर्म का मूल है, और उनको यह दिखा देगा कि यह मूल कैसा है, मुझे पूर्ण विश्वास है कि गत तीन हजार वर्षों में इससे उत्पन्न होने वाले सब कुछ को समूल उखाड़ने फेंकने का एकमात्र उपाय है।

मैक्समूलर द्वारा ईसाई दृष्टिकोण से किये गये वेद सम्बन्धी कार्य के विषय में मैक्समूलर के मित्र तथा ईसाई मिशनरी डॉ० ई०वी० पूसी ने मैक्समूलर को लिखा था–

"Your work will make a new era in the 'efforts for the conversion of India. Your lectures on the Vedas ...are the greatest facts which have been best oned by those who would win to christianity the subtle and thoughtful minds of the cultivated Indians"

अर्थात् आपका कार्य भारतीयों को ईसाई बनाने के प्रयत्नों में नवयुग लाने वाला होगा। आपके वेदों पर भाषण उन लोगों के लिए सबसे अधिक उपयोगी होंगे। जो विचारवान और तीव्रबुद्धि वाले भारतीयों को ईसाईयत के पक्ष में जीतने में सक्रिय हैं।

मैक्समूलर ने 1887 में सेंट जोंस कॉलेज में भाषण देते हुए अपने उद्देश्य को स्पष्ट किया था कि वेदों के अनुवाद के उद्देश्यों में से मेरा एक उद्देश्य ईसाई मिशनरियों को धमान्तरण के कार्य में सहायता करना था। मैक्समूलर इस कार्य के प्रति इतना उत्साही था कि उसने ऑक्सफोर्ड आने के 39 महीने बाद वुनसन को पत्र लिखा था–

"I, ofcourse shall be glad if the Rigveda is dealt with in the Edinburg Review, and if Wilson would write from the standpoint of a missionary, and would show how the knowledge and bringing in to light of the veda would upset the whole existing system of Indian mythology" (LLMM. Vol I, P. 117)

अर्थात् मैं वस्तुतः प्रसन्न होऊँगा यदि ऋग्वेद पर एक लेख को 'ईडिनबरा रिव्यू' में प्रकाशित किया जाए और प्रो० विल्सन ईसाई दृष्टिकोण से लिखें और दिखावें कि इस ज्ञान तथा तथा वेद को प्रकाश में लाने से भारतीय धर्मशास्त्र की सम्पूर्ण व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी। (L.L.M.M Vol. I पृ० 117)

मैक्समूलर अपने इस उद्देश्य में सफल भी हुआ। अपनी सफलता से सन्तुष्ट होकर मैक्समूलर ने भारत सचिव सेक्रेटरी ऑफ स्टेट, The Duke of Argyle को 16 दिसम्बर, 1868 में पत्र लिखा था कि भारत का प्राचीन धर्म विनाश के कगार पर है यदि ईसाइयत उसका स्थान नहीं लेती तो यह दोष किसका होगा।[1]

---

1. **The ancient religion of India is doomed and if christianity does not step in whose fault will be? (Life and letters of Frederick Maxmuller, Vol. 1 Chap. XV. p. 34)**

मैक्समूलर ने अपने वेदविषयक कार्य को तो प्राचीन वैदिकधर्म के बिनाश तथा ईसाइयत के प्रचार का माध्यम बनाया ही, इसके अतिरिक्त भी उसने भारतीयों को ईसाईयत अपनाने का परामर्श दिया। अपनी मृत्यु के कुछ समय पूर्व 1899 ई॰ में ब्राह्मणसमाज के एक सदस्य पी॰सी॰ मजूमदार को लिखे पत्र में मैक्समूलर ने स्पष्ट रूप में कहा है–

मुझे अपनी कठिनाइयाँ बतलाइए जो कि आपको तथा आपके देशवासियों को ईसाईयत स्वीकार करने में बाधक है। मेरे विचार से भारत ईसाईयत के प्रचार का एक अच्छा स्थान है।[1] मैक्समूलर भारतीयों को ईसाई बनाने के लिए कितना उत्कंठित था, इसका अनुमान 23 नवंबर, 1898 को रोगशय्या से सर हेनरी ऑकलेंड को लिखे गये मैक्समूलर के निम्न पत्र से होता है–

If we get an Archbishop at Calcuta who knows What christianity is, India will be christianised in all that is essential in the twinkling of an eye (LLMM. Vol. 2 p. 398)

अर्थात् यदि कलकत्ता के लिए एक ऐसा आर्कविशप मिल सके जो यह जानता हो कि ईसाईयत क्या है तो सारा भारत पलक मारते ही ईसाईयत में धर्मान्तरित हो जायेगा।

इस प्रकार मैक्समूलर ने अपना समस्त कार्य कट्टर ईसाई की भाँति किया। जर्मनी के लोग मैक्समूलर को इस ब्रिटिशभक्ति तथा स्वरूप से इतने क्रुद्ध थे कि 'पैन जर्मन लीग' की लिपिजिग शाखा ने इसका तीव्र विरोध किया तथा कहा कि तुमको जर्मन कहलाने का और अधिक अधिकार नहीं रह गया। एक अखबार ने तो यह इच्छा भी प्रकट की थी कि मैक्समूलर को चैम्बरलेन तथा रेडिस के समान फाँसी दे दी जाए–

Maxmullar beanged on the same gallows which Chamberlain and Rhodes (LLM.M. Vol. II p. 48)

वस्तुतः अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों एवं वैदिक संस्कृति के विषय में पुरातन भारतीय परम्परा से हटकर ही अपनी धारणाएँ बनायी थी। अतः उनका कार्य भी तद्नुरूप ही था। इतना ही नहीं, अपितु इनमें से कुछ विद्वानों

1. Tell me some of your chief difficulties that prevent you and your countrymen form openly following Christ. India, at least the best part of it is alteady convered to christianity, you won't no persuation to become a follower of Christ (LLMM Vol. 2 pp. 411-416)

का तो उद्देश्य भी भारतीय जनमानस के मन में वेदों के प्रति अश्रद्धा एवं अनास्था उत्पन्न करके उन्हें ईसाई मत में दीक्षित करना था। अपने इस उद्देश्य का प्रकाशन इन लोगों ने यत्र-तत्र किया भी है। पाश्चात्यों की वेदविषयक धारणाओं के सम्बन्ध में योगी अरविन्द लिखते हैं।

"वेद के विषय में आधुनिक पाश्चात्य सिद्धान्त इस विचार से प्रारम्भ होता है कि वेद एक ऐसे आदिम जंगली और अत्यधिक वर्बर समाज की स्रोतसंहिता थे जिसकी सामाजिक रचना असभ्य थी और अपने चारों ओर के जगत् के विषय में जिसका दृष्टिकोण बिल्कुल बच्चों जैसा था।" इस विषय में मयूरभञ्ज प्रो० डॉ० सूर्यकान्त लिखते हैं–

"पाश्चात्य मनीषियों का ऋग्वेद को पढ़ने-पढ़ाने का एक विशेष उद्देश्य रहा है। इन्होंने इसे खूब पढ़ा है। इसके रोम-रोम का एक्सरे कर डाला है। इनके अक्षरों तथा मात्राओं तक को गिनकर इनके अतीत पर मार्के का प्रकाश डाला है, किन्तु दौर्भाग्य से इनकी दृष्टि उन ही बिन्दुओं पर जा पायी है, जो वेद को एक आदिम सामान्य सी रचना बतलाते दीख पड़ते हैं। वेद का विश्ववपुष् इनकी आँखों से ओझल ही रह गया, परिणाम यह हुआ कि किसी भी पाश्चात्य मनीषी की रचनाओं में वैदिकधर्म के प्रोषण बिन्दू-वीरता, प्रगल्भता, उदारता, प्रकाशप्रियता आदि का उत्थान नहीं हो पाया और वैदिकधर्म निजी पितृपूजा, प्रेतपूजा, यज्ञयागादि का प्रकाशक बना कर जनता के सम्मुख पेश किया गया। यह किया गया कि वैदिकधर्म को कच्चे-पक्के अन्य आदिम धर्मों का जामा पहनाकर दिखलाया जाए। दूसरे शब्दों में वेद की जान छिपा दी गयी।"[1]

वेदों के विषय में सर्वथा निराधार, अनर्गल तथा तथ्यों के विपरीत धारणाएँ स्थापित करने तथा उन्हें फैलाने का कार्य केवल मैक्समूलर, राथ आदि पाश्चात्यों की मण्डली के द्वारा ही नहीं किया गया, अपितु किसी न किसी रूप में यह प्रयास आजकल भी जारी है। पूर्ववर्ती पाश्चात्य विद्वानों ने अपने वेदभाष्यों, वैदिकदेवशास्त्र तथा सर पीटर्सन वर्ग संस्कृतजर्मन डिक्शनरी, आदि पुस्तकों द्वारा जहाँ अनेक विपरीत धारणाओं को जन्म दिया उन्हें पल्लवित किया, वहाँ मुम्बई स्थित 'होरास इन्स्टीट्यूट' के निदेशक डॉ० एस्टलर ने भी ऐसा प्रयास किया। इन्होंने कट्टर ईसाई के रूप में ही अपने धर्म का पालन किया है। आश्चर्य तो यह है कि कुछ भारतीय विद्वान् भी अपनी प्रामाणिक एवं

---

1. वैदिक धर्म एवं दर्शन, भाग 2, भूमिका, पृ० 30

सुदृढ़ प्राचीन आचार्यपरम्परा एवं साहित्यपरम्परा को झुठला कर ऐसे आक्षेपकर्त्ताओं की बातों का बिना विचार किये समर्थन तथा अनुकरण करते हैं। इस विषय में यहाँ एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। भारतीय विद्याभवन के अध्यक्ष सुप्रसिद्ध विद्वान् के॰एम॰ मुंशी ने अपनी पुस्तक 'लोपामुद्रा' में प्राचीन आर्यों के विषय में लिखा था–

"इनकी (आर्यों की) भाषा में अब भी जंगली दशा के संस्मरण मौजूद थे। ये मांस भी खाते थे तथा गाय का भी। अतिथिग्व गोमांस खिलाने वाले की वह मानास्पद उपाधि थी। ऋषि सोमरस पीकर नशे में चूर रहते थे और लोभ तथा क्रोध का प्रदर्शन करते थे। वे जुआ खूब खेलते थे। ऋषि युद्ध में जाकर हजारों का संहार करते थे। वे रूपवती स्त्रियों को आकर्षित करने के लिए मन्त्रों की रचना करते थे। आर्य भेडिए की तरह लोभी थे। वीभत्सता या अश्लीलता का कोई विचार नहीं था। स्वदेश की कल्पना नहीं थी। दस्यु भारत के शिवलिंग उपासक मूलनिवासी थे।" वेदों तथा प्राचीन आर्यजीवन पर इससे निकृष्ट टिप्पणी और क्या हो सकती है? आर्यकॉलेज पानीपत के प्रिंसिपल तथा बाद में संन्यास लेकर स्वामी विद्यानन्द जी ने मुंशीजी से पत्र द्वारा पूछा कि आपने ऋग्वेद के जिन मन्त्रों के आधार पर ऐसा लिखा है, उन्हें उद्धृत करने की कृपा करें तो 2 फरवरी, 1950 को मुंशी जी ने स्वामीजी को पत्र द्वारा सूचित किया कि "मैंने आर्यों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसका आधार पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किया गया वेदों का अनुवाद तथा डॉ॰ कीथ का वैदिक इण्डैक्स है।"

भारतीय विद्वानों की इस अंधानुकरण पद्धति पर क्षुब्ध होकर महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने 1928 में लाहौर में सम्पन्न All India oriental conference में अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था–

"मैं देखता हूँ कि संस्कृत साहित्य पर कैसा और कितना कार्य हुआ है, और यह सब अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन आदि भाषाओं के अनुवाद के सहारे हुआ है। इसलिए उनके आधार पर बने ग्रन्थों पर विश्वास नहीं किया जा सकता।"

I often see big works on sanskrit literature and special branches of it, compiled mainly if not whole, from translation of sanskrit works in English, French, German and other European languages but translation is never reliable, Proceeding of A.I.O.C. 1928, p. 128.

भारतीय विद्वानों की इस प्रवृत्ति का कारण बतलाते हुए डॉ॰ ओमप्रकाश पाण्डेय लिखते हैं–

(1) भारत पर सुदीर्घकाल तक अंग्रेजी शासन रहने विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी माध्यम का वर्चस्व रहने तथा भारतीय प्राध्यापकों की अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अपनी उपस्थिति जताने के प्रलोभनवश बहुत दिनों तक भारत के विश्वविद्यालयों के वैदिक अध्ययन में इस प्रणाली के शताधिक दोषों के बावजूद इसका प्राधान्य बना रहा।[1]

डॉ॰ पाण्डेय के अनुसार 'तुलनात्मक या ऐतिहासिक पद्धति की ओर से भारतीय विद्वानों का व्यामोह निरन्तर छिन्न-भिन्न होता जा रहा है।'

वस्तुतः भारतीय विद्वानों द्वारा पाश्चात्यों की भ्रान्त मान्यताओं को स्वीकार करने का सशक्त कारण यह रहा है कि जिन दिनों व्यापक स्तर पर पाश्चात्य लेखन हो रहा था, उन दिनों भारत में वैदिकसाहित्य के सम्बन्ध में हिन्दी लेखन तो था ही नहीं, संस्कृत के आधुनिक विद्वान् संस्कृतग्रन्थ लिखने में भी समर्थ नहीं थे क्योंकि उन्होंने संस्कृत भी अंग्रेजी माध्यम से ही पढ़ी थी तथा लिखने-पढ़ने में अंग्रेजी का ही प्राधान्य होने से वे लोग विदेशियों के द्वारा किये गये कार्य को ही अपना आधार बताते थे, क्योंकि वह उनके लिए सुगम था। मूल संस्कृतग्रन्थों तक उनकी पहुँच ही नहीं थी इसीलिए वे विदेशियों के ग्रन्थ पढ़कर उनकी भ्रान्त आवधारणाओं का शिकार बने।

भारत के अधिकांश विश्वविद्यालयों में संस्कृत तथा वेदों के पठन-पाठन का माध्यम अंग्रेजी ही था। दक्षिणभारत में तो ऐसा था ही, उत्तर भारत भी इसे आदर्श मानता था। उदाहरणार्थ 1969 तक दिल्लीविश्वविद्यालय में संस्कृत विषय की परीक्षा का माध्यम संस्कृत तथा अंग्रेजी दो ही थे, हिन्दी नहीं। स्कूल तथा कॉलेज पद्धति से पढ़ने वाले छात्रों की योग्यता संस्कृत-माध्यम से पढ़ने तथा परीक्षा में संस्कृत में उत्तर देने की नहीं होती थी। परिणामस्वरूप छात्रों तथा अध्यापकों को जबरदस्ती अंग्रेजी का लबादा ओढ़ना पड़ता था। इसके लिए उन्हें अंग्रेजी पुस्तकों तथा अनुवादों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। अंग्रेजी में अच्छी गति होने के कारण यह कार्य उनके लिए कठिन भी नहीं था। अंग्रेजी में पाश्चात्य-लेखकों की पुस्तकों तथा अनुवाद प्रामाणिक माने जाते थे। परिणामस्वरूप छात्रों तथा अध्यापकों दोनों पर ही पाश्चात्य लेखकों के विचार हावी रहते थे।

---

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति का विकास, पृ॰ 81

परीक्षा में हिन्दी माध्यम न होने से तथा हिन्दी में अधिक पुस्तकें न होने से वे वेदादि के विषय में प्राचीन भारतीयपरम्परा से या तो अनभिज्ञ रहते थे या उसे इतना आदर नहीं देते थे जितना कि पाश्चात्यपरम्परा को। पाश्चात्यों के सामने नतमस्तक होने का एक उदाहरण मुझे अभी भी स्मरण है कि 1968 ई॰ में जब में दिल्ली विश्वविद्यालय मैं एम॰ए॰ का छात्र था, तब हमारे माननीय विभागाध्यक्ष जी के कमरे में प्रो॰ मैक्समूर का आकर्षक चित्र विराजमान रहता था, जबकि वहाँ कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य, सायण, दयानन्द, अरविन्द जैसे भारतीय मनीषियों के लिए कोई स्थान नहीं था। 1969 ई॰ में हम सभी छात्रों ने परीक्षा में हिन्दीमाध्यम के लिए आन्दोलन किया। उन दिनों विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ॰ सरूप सिंह भारतीय विचारधारा के समर्थक थे। उन्होंने तुरन्त इसकी स्वीकृति दे दी तथा अंग्रेजी में छपे प्रश्नपत्रों को रद्द करके पुन: हिन्दी तथा अंग्रेजी में प्रश्नपत्र छापे गये। अब स्थिति बदल गयी है। हिन्दी माध्यम तथा हिन्दी में पर्याप्त साहित्य होने से पाश्चात्य विचारधारा से संस्कृतज्ञों का व्यामोह समाप्त होता जा रहा है। अखिलभारतीय संस्कृतसम्मेलन तथा कुछ उच्चस्तरीय संस्थाओं पर अभी भी अंग्रेजी का वर्चस्व कायम है, वहाँ अधिकांश कार्यवाही अंग्रेजी में ही होती है। यह साहित्यिक स्वास्थ्य का लक्षण नहीं है। सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ॰ सूर्यकान्त भी ऐसा ही विचार प्रकट करते हुए वैदिक अध्येताओं को सावधान करते हुए कहते हैं–'एक दौर चल रहा है जो अधिक उपलब्धियों की चमक में बौरा, शाश्वतनिधि की अवहेलना में आधुनिकता की चांदनी देखता है। इन सबसे टक्कर लेनी होगी, इन सब पर विजय पानी होगी।"[1]

वेदों के सम्बन्ध में जिस विषवृक्ष का वपन तथा सवर्धन पाश्चात्य विद्वानों ने किया था, उसे ही वर्तमान में डॉ॰ एस्टलर अपने वैचारिक खाद-पानी से पुष्पित एवं पल्लवित किया। इनके अनुसार ऋग्वेद संहिता ऋषि–कवियों की मूलवाणी नहीं, अपितु संहिता का निर्जीव तथा विकृत शव है। इसे तैयार करने वाला एक पथभ्रष्ट मोची एक अम्मन्य विदूषक है।[2] डॉ॰ एस्टलर में प्रो॰ मैक्समूलर को अपना आदि गुरु माना है तथा अपने को उसी विद्वान् द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य को पूरा करने वाला स्वीकार किया है।

1. वेदों का समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन, सम्पा॰ डॉ॰ रघुवीर वेदालंकार, 1981, आमुख डॉ॰ सूर्यकान्त, पृ॰ xi
2. वही, पृ॰ 174, डॉ॰ फतेहसिंह ने उक्त पुस्तक के 173-186 पृष्ठों में डॉ॰ एस्टलर की भूलों को विद्वत्तापूर्ण ढंग से दिखलाया है।

यह भारतीय जनमानस की सहिष्णुता तथा पण्डितों की वैदेशिक भक्ति ही है कि वे पाश्चात्यों का ऐसा सुस्पष्ट स्वरूप तथा उद्देश्य होने पर भी उनकी उपेक्षा तो दूर, उन्हें पुरस्कृत करते हैं तथा उनकी मान्यताओं के समर्थन एवं प्रचार में अपना गौरव मानते हैं। जैसा कि डॉ० एस्टलर को भी ओरियंटल कांफ्रेस के जादवपुर अधिवेशन में वैदिकशाखा का अध्यक्ष बनाया गया था, ऐसा तब किया गया जबकि इससे पूर्व डॉ० एस्टलर ने इसी संस्था के गोहाटी अधिवेशन में ऐसा जोरदार धमाका किया था कि जिससे विद्वान् लोग चकित हो गये थे।

यह सुनिश्चित है कि अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् ईसाई मिशनरियों के धर्मान्तरण के कार्य को ही अपने लेखन से सुगम बना रहे थे। वे इसके द्वारा भारतीय जनमानस में वेदों तथा वैदिक संस्कृति के सम्बन्ध में घृणा तथा हीन भावना भर रहे थे। ईसाई मिशनरी तथा उनके पोषक पाश्चात्य विद्वान् अपने इस कार्य में इतने सचेष्ट थे कि इसके विपरीत विचार व्यक्त करने वाले विद्वान् का वे प्रबल विरोध करते थे। इसके एक दो उदाहरण देने पर्याप्त होंगे कि

(1) फ्रेंच मनीषी रेने ग्वानाँ ने लगभग चालीस पुस्तकें फ्रेंच भाषा में लिखी। उन सभी पुस्तकों में यही झलक मिलती है कि मानवजाति की एक ही सार्वभौम तथा समान परम्परा है जो भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य में भली-भाँति सुरक्षित है। पाश्चात्य सभ्यताएँ इस परम्परा से बहुत दूर जा चुकी हैं। उनकी इस स्थापना पर ईसाई मिशनरियों ने कहना प्रारम्भ किया कि रेवे ग्वानाँ हिन्दुओं का एजेंट है तथा ईसाईयों का धर्मपरिवर्तन कराना चाहता है। यह विरोध इतना तीव्र हुआ कि इस मनीषी को जीवन के अन्तिम बीस वर्ष स्वदेश छोड़कर मिश्र में व्यतीत करने पड़े।

रेने ग्वानाँ वैदिक अध्ययन के लिए वैदिक तत्त्वज्ञान को अपरिहार्य मानते थे तथा योरोपीय विद्वानों की ऐतिहासिक पद्धति को सर्वथा अनुपयुक्त समझते थे।

(2) चन्द्रनगर के प्रधान न्यायाधीश फ्रेंच विद्वान् लुई जैकालियट ने सन् 1869 में 'La bible dans linds' (भारत में बाइबिल) नामक ग्रन्थ लिखा इसमें उसने सिद्ध किया कि संसार की समस्त विचार धााराएँ आर्यविचार से निकली हैं। इस स्थापना से मैक्समूलर इतना बौखलाया कि उक्त पुस्तक की समीक्षा में उसने लिखा कि जैकालियट अवश्य ही ब्राह्मणों के बहकावे में आ गया है।[1]

---

1. The author seems to have been taken in by Baehmans in India.

18वीं सदी के उत्तरार्ध में 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के शासकों के द्वारा भारत पर चिरस्थायी शासन करने की कामना से यहाँ की भाषा, साहित्य एवं संस्कृति के परिचय की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा था। तभी वेदों की ओर भी इनकी दृष्टि गई। 1784 ई॰ में सर विलिसम जोन्स के प्रयास से कलकत्ता में 'रायल एशियाटिक सोसायटी' की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी। उसके पश्चात् 1805 में कोलब्रुक ने 'एशियाटिक रिसर्चेज' नामक शोधपत्र में अपना वेदसम्बन्धी गवेषणात्मक निबन्ध प्रकाशित किया। यद्यपि कोलब्रुक प्रारम्भ में वेदविरोधी था, किन्तु बाद में उसकी धारणा बदल गयी। इस लेख में उसने फ्रेंच बाल्येटर द्वारा प्रसारित वैदिक साहित्य से सम्बन्धित समस्त धारणाओं का निराकरण किया था। कोलब्रुक ने वैदिक ग्रन्थों के हस्तलेखों को संग्रहीत करके लंदन भेजा। उन लेखों को समझने के लिए पाश्चात्यों ने भारत आकर संस्कृत सीखी तथा वेद एवं संस्कृत के क्षेत्र में जो विविध कार्य किये वे इस प्रकार हैं–

पाश्चात्य विद्वानों के वेद विषयककार्ष

(1) वैदिक ग्रन्थों का सम्पादन

(2) वैदिक ग्रन्थों का अनुवाद

(3) वैदिक वाङ्मय के सम्बन्ध में स्वतन्त्र ग्रन्थ

इन कार्यों पर क्रमशः विचार किया जाता है–

(क) सम्पादन कार्य

(I) ऋग्वेद का सम्पादन–(1) प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक फ्रांज बाप (Franz Bopp) के शिष्य फ्रीडिक रोजेन (Friendrich Rosen) ने सर्वप्रथम 1830 में ऋग्वेद का सम्पादन तथा उसका लैटिन अनुवाद प्रारम्भ किया। यह जर्मन था, किन्तु इसकी कार्यस्थली ब्रिटिश म्यूजियम लन्दन थी। 12-9-1837 ई॰ में उसकी मृत्यु होने से यह कार्य रुक गया। यह अनुवाद केवल प्रथम अष्टक तक है। 1838 में उसका यह कार्य 'ऋग्वेद संहिता प्रिमस संस्कृते एत लातीने' के नाम से प्रकाशित हुआ। प्रो॰ वर्नाफ इसी अनुवाद की सहायता से राथ तथा मैक्समूलर आदि शिष्यों को वेद पढ़ाते थे। (2) इसके बाद राथ के सहपाठी जर्मनी निवासी प्रो॰ मैक्समूलर ने सर्वप्रथम सायणभाष्य सहित ऋग्वेद का सम्पादन 1849 ई॰ में प्रारम्भ करके 1875 में पूर्ण किया। तीन

सहस्र पृष्ठों के इस ग्रन्थ में कई सौ पृष्ठों की भूमिका तथा टिप्पणी भी है। इसका दूसरा संशोधित संस्करण 1890-92 में प्रकाशित हुआ। (3) थियोडोर आउ फ्रेख्त (Theodor Aufrecht) ने रोमन लिपि में सम्पूर्ण ऋग्वेद 1861-63 ई० में प्रकाशित किया। इसका द्वितीय संस्करण 1877 में प्रकाशित हुआ।

(2) शुक्लयजुर्वेद–1849-1852 में बेबर (Albrech Weber) ने शुक्ल यजुर्वेद को महीधरभाष्य सहित प्रकाशित किया। 1852 में इसने इस वेद की काण्वशाखा का प्रकाशन भी किया।

(3) कृष्णयजुर्वेद–1871-72 में बेवर ने कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय सँहिता का रोमन अक्षरों में सम्पादन करके अपनी टिप्पणियों सहित 'इण्डिशे सटुडिएन' नामक रिसर्च जनरल में प्रकाशित किया। 1847 में बेवर ने मैत्रायणी सँहिता का प्रकाशन भी किया। (2) एल०वी० श्रोडर (L.V. Shroeder) ने भी मैत्रायणी सँहिता चार भागों में 1881-86 में तथा 1990 में काठक सँहिता भी चार भागों में प्रकाशित की।

(4) सामवेद–कैलेण्ड (W. Caland) ने जैमिनीय शाखा की सामवेद सँहिता का संस्करण रोमन अक्षरों में 1907 में प्रकाशित किया।

(5) अथर्ववेद–सर्वप्रथम 1856 में रॉथ तथा ह्विटनी (Rudolph Roth, W.D. Whitney) ने शौनकीय शाखा के अथर्ववेद का सम्पादन करके प्रकाशित कराया। (2) ब्लूमफील्ड तथा गार्वे (M. Bloom Field R. Garbe) ने पैप्पलाद शाखा के अथर्ववेद की शारदा लिपि में अति जीर्णशीर्ण एक प्रति कश्मीर से प्राप्त करके उसे 1901 में प्रकाशित कराया।

(ख) अनुवाद कार्य

ऋग्वेद के अनुवाद–(1) थ्यूडोर वेनफे (Theoder Benfey) ने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 130 सूक्तों का जर्मन भाषा में अनुवाद किया, जो 1862-64 में लाइप्त्सिग (Lipizig) से प्रकाशित हुआ है। यह राथ का अनुगामी था। अत: इसने भी भारतीय वेदव्याख्या पद्धति की आलोचना की है। प्रो० चौबे के अनुसार वेनफे का भारतीय परम्परा के प्रति विरोध का स्वर उनके अतिवादी दृष्टिकोण का परिचायक है। (2) ग्रासमान (H. Grassmann) ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का जर्मन भाषा में पद्यानुवाद किया, जो 1976-77 में प्रकाशित हुआ। ये राथ के शिष्य थे जो कि सायण विरोधी था। प्रो० रेनो (Reno) ने ग्रासमान के भाष्य की कठोर आलोचना करते हुए कहा है कि ग्रासमान ने ऋग्वेद के परम्परागत पाठ का अनुवाद न करके स्वयं शोधे हुए पाठों

का अनुवाद किया है। (3) जी० स्टीवेन्सन (G Stevenson) ने भारत आकर ऋग्वेद के प्रथम अष्टक के तृतीय अध्याय के तृतीय सूक्त तक अंग्रेजी में अनुवाद किया, जिसका प्रकाशन कलकत्ता से 1850 ई० में हुआ। (4) ई० एडुअर्ड रोएर (E. Roer) ने ऋग्वेद के प्रथम अष्टक के सूक्त 32 तक का अनुवार अंग्रेजी में किया। (5) मैक्समूलर ने ओल्डेनबर्ग की सहायता से मरुत्, रुद्र, वायु को सम्बोधित ऋग्वेद के सूक्तों का अनुवाद अंग्रेजी में किया जो 'सेक्रेड बुक्स ऑफ ईस्ट' के 31वें तथा 34वें भाग में वैदिक हीम्स के नाम से प्रकाशित हुआ। मैक्समूलर ने सायण को तो महत्त्व दिया, किन्तु निरुक्त तथा ब्राह्मणादि अन्य ग्रन्थों की उपेक्षा की। यह तुलनात्मक भाषाविज्ञान का पक्षधर भी था। (6) एस०ए० लॉग लाइस (S.A. Longlois) ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का फ्रेंच भाष्य में अनुवाद करके पेरिस में 1848-51 में प्रकाशित किया। यह फ्रांसीसी था तथा ऋग्वेद के मूल भाव को सुरक्षित नहीं रख सका। मैक्समूलर ने इसके अनुवाद को काल्पनिक तथा एक व्यक्ति की रुचि के अनुसार किया हुआ अनुमान बतलाया है। (7) हरमान ओल्डेन बर्ग (Hermann olden berg) यह जर्मनी निवासी था। इसने ऋग्वेद के 130 सूक्तों का विस्तृत व्याख्यात्मक नोट्स के साथ अंग्रेजी में अनुवाद किया 'सेक्रेड बुक्स ऑफ ईस्ट' के अन्तर्गत 1897 में प्रकाशित हुआ। इसने जर्मन भाषा में भी 'ऋग्वेद नोंटेन' के नाम से भाष्य लिखा। जो 1909 तथा 1912 में बर्लिन से प्रकाशित हुआ। (8) लुड्विग (A. Ludwig) ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का जर्मन में अनुवाद किया जो 'डेर ऋग्वेद' के नाम से 1876-88 ईसवी में प्रकाशित हुआ। लुड्विग भी सायण तथा भारतीय परम्परा का विरोधी था। प्रो० रेनो ने इसके भाष्य की कठोर आलोचना करते हुए कहा है कि इसके भाष्य में कोई ऐसी चीज नहीं जो स्वीकार्य हो। रेनो के अनुसार यह भाष्य अप्राकृतिक भाषासम्बन्धी अध्ययन का संग्रह है। (9) विल्सन (H.H. Wilson) ने सायणभाष्य को आधार बनाकर 1850 में सम्पूर्ण ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद किया। यह इंग्लैण्ड निवासी था तथा 'इन्स्टीट्यूट ऑफ फ्रांस' में संस्कृत का अध्यापक था। सन् 1833 में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने 'बोडेन प्रोफेसर ऑफ संस्कृत' के रूप में इसकी नियुक्ति हुई। विल्सन से पूर्व रोजेन, रोएर, स्टीवेन्सन तथा लांग लुइस के अनुवाद ऋग्वेद के कुछ अंशों पर प्रकाशित हो चुके थे, किन्तु वे किसी प्रामाणित संस्करण पर आधारित न होने के कारण विल्सन की दृष्टि में संतोषजनक न थे। विल्सन ने यह भी संकेत किया कि वेदव्याख्या के लिए तुलनात्मक पद्धति कितनी अशक्त है। उन्होंने उदाहरण देकर इसके खोखलेपन की ओर संकेत किया। 1860 में विल्सन की मृत्यु होने तक उसके ऋग्वेद अनुवाद के चतुर्थ भाग का कुछ अंश ही छपा था।

बाद में 1864 प्रो० गोल्डस्टुकर ने शेष भाग के प्रकाशन का दायित्व प्रो० कावेल को दिया। कावेल ने चतुर्थ भाग को प्रकाशित किया। इसके बाद एफ० वेस्टर ने पंचम भाग का सम्पादन किया। इस प्रकार विल्सन की मृत्यु के 30 वर्ष बाद उसका सम्पूर्ण वेदभाष्य छप सका। (10) ग्रिफिथ (R.T.H. Griffith) ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का अंग्रेजी में पद्यानुवाद किया तथा आवश्यक टिप्पणियाँ भी दी। यह 1889-92 में वाराणसी से प्रकाशित हुआ। ग्रिफिथ विल्सन का ही शिष्य था। उसके अनुवाद का मुख्य आधार सायणभाष्य तथा विल्सन का अनुवाद ही है। (11) एफ० गेल्डनर (K.F. Geldner) ने राथ द्वारा प्रतिपादित वेदव्याख्यासिद्धान्त का पूर्ण उपयोग करते हुए ऋग्वेद के सत्तर सूक्तों का जर्मन भाषा में पद्यात्मक अनुवाद किया। यह जर्मन था तथा राथ के प्रमुख शिष्यों में से था। विल्सन तथा ग्रिफिथ के भाष्यों को देखकर यह राथ के प्रभाव से मुक्त हुआ तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ऋग्वेद पूर्णरूप से एक भारतीय रचना है। इसलिए उसका अनुवाद भारतीय परम्परानुसार ही किया जाना चाहिए। (12) फ्रीडिक रोजेन–पाश्चात्य अनुवादकों में रोजेन का प्रथम स्थान है। यह फ्रान्क्त बाप का शिष्य तथा जर्मन था। 1930 ई० में इसने ऋग्वेद का सम्पादन कार्य प्रारम्भ किया किन्तु 12 सितम्बर 1837 में इसकी मृत्यु होने से आगे का कार्य रुक गया। रोजेन ने मन्त्रों का लैटिन अनुवाद भी साथ ही दिया था।

(2) यजुर्वेद के अनुवाद–सर्वप्रथम बेवर ने माध्यन्दिन शुक्लयजुर्वेद संहिता के नवम तथा दशम अध्यायों का लैटिन भाषा में अनुवाद किया जो ब्रसलौ से 1846 में प्रकाशित हुआ। इसने ही अपने 'इन्दिशे स्तूदियन' के द्वितीय भाग में इसी यजुर्वेद का जर्मन भाषा में अनुवाद प्रकाशित किया। (2) ग्रिफिथ ने महीधरभाष्य को आधार बनाकर शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता का अनुवाद किया जो वाराणसी से 1899 में प्रकाशित हुआ। (3) मैक्डानल के शिष्य कीथ ने कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता का अंग्रेजी में अनुवाद किया जो अमेरीका से 1914 में हार्वर्ड ओरिएण्टल सीरीज़ के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है। यह अनुवाद सायणभाष्य पर आधारित है। (4) श्रोडर ने मैत्रायणी संहिता के कुछ अंशों का अनुवाद जर्मन भाषा में किया, जो 1887 में लाइप्त्सिग से प्रकाशित होने वालो 'इण्डियन तितरातुर उण्ड कुल्चुर' ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है।

(3) सामवेद के अनुवादक–जे० स्टीवेन्स ने सामवेद की राणायनीयशाखा का अंग्रेजी में अनुवाद किया जो 1842 में लन्दन से प्रकाशित हुआ। यह सायणभाष्य पर आधारित है। (2) थियोडोर वेनफे ने सामवेद की कौथुम शाखा का जर्मन भाषा में पद्यात्मक अनुवाद करके 1948 में लाइप्त्सिग से प्रकशित

किया। (3) ग्रिफिथ ने सायणभाष्य के आधार पर सामवेद का पद्यात्मक अनुवाद किया जो 1896 में वाराणसी से प्रकाशित हुआ।

(4) अथर्ववेद के अनुवादक—बेवर ने सर्वप्रथम थियोडोर आउफ्रेख्त की सहायता से 1850 में जर्मन भाषा में अथर्ववेद का अनुवाद प्रारम्भ किया। इसके 1-4 तथा 14वें काण्ड का अनुवाद 'इण्डिशे स्तूदियन' में 1857 से 1898 तक प्रकाशित होता रहा। इसका अथर्ववेद के 18वें काण्ड का जर्मन अनुवाद 1895-96 में प्रकाशित हुआ। (2) लुड्विग ने अपने 'डट ऋग्वेद' के तृतीय खण्ड में अथर्ववेद के 230 सूक्तों का अनुवाद जर्मनभाषा में किया। (3) एल० शेरमन ने अथर्ववेद के कुछ काण्डों के चुने हुए 13 सूक्तों का जर्मनभाषा में अनुवाद किया, जो 'हुण्डर्ट लीडर डसे अथर्ववेद' के नाम का स्टुटगार्ड से 1879-88 में प्रकाशित हुआ। (5) सी०ए० फ्लोरेन्त्स ने अथर्ववेद के षष्ठ काण्ड के 1-50 सूक्तों का जर्मन भाषा में अनुवाद किया, जो 1887 में गार्टींगेन से प्रकाशित हुआ। (6) विक्टर हेनरी ने अथर्ववेद के 12-13 काण्डों का फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया जो 1891-96 में पेरिस से प्रकाशित हुआ। (7) अमेरीका निवासी ब्लूमफील्ड ने अथर्ववेद के लगभग 1/3 भाग का अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा विस्तृत व्याख्या लिखी जो 'सेक्रेड बुक्स ऑफ ईस्ट' के अन्तर्गत 'हिम्स ऑफ दि अथर्ववेद' के नाम से प्रकाशित हुआ। (8) ग्रिफिथ ने सम्पूर्ण अथर्ववेद का पद्यानुवाद किया जो लाजाइस एण्ड कम्पनी द्वारा बनारस से 1895-98 में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ। (9) विलियम ह्विटने ने अथर्ववेद का अंग्रेजी अनुवाद व्याख्या के साथ किया इसका प्रकाशन उसकी मृत्यु के पश्चात् 1905 में हार्वर्ड ओरिण्टल सीरीज के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। यह अमेरीका निवासी तथा राथ का शिष्य था।

पाश्चात्य विद्वानों ने अथर्ववेद की शौनक शाखा के ही अनुवाद किये हैं। 1875 में राथ को पैप्पलाद संहिता की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई थी। अभी तक किसी ने भी इसका अनुवाद नहीं किया है।

ब्राह्मणग्रन्थों के विदेशी सम्पादन एवं अनुवाद

(1) 1893 में प्रो० हाउग (M. Haug) ने ऐतरेय ब्राह्मण का सम्पादन तथा अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। (2) 1879 में आऊफ्रेख्त ने रोमनलिपि में ऐतेरयब्राह्मण को सायणभाष्य के कुछ अंश तथा अनेक सूचियों के साथ

प्रकाशित किया। (3) 1887 में प्रो० लिन्डनर ने कौषीतकि ब्राह्मण का सम्पादन एवं प्रकाशन किया। (4) 1930 में डॉ० कीथ ने ऐतरेय तथा कौषीतकि ब्राह्मणों का अंग्रेजी अनुवाद भूमिका सहित प्रकाशित किया। इसने शांखायन आरण्यक का अनुवाद भी किया। (4) 1855 में बेवर ने शतपथ ब्राह्मण का आलोचनात्मक संस्करण, सायण, हरिस्वामी तथा द्विवेदीगर्ग की टीकाओं सहित प्रकाशित किया। (5) 1986 में कैलेण्ड ने काण्वशाखीय शतपथब्राह्मण को अंग्रेजी भूमिका के साथ प्रकाशित किया। (6) जे० एगलिंग ने शतपथ का अंग्रेजी अनुवाद भूमिका सहित 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट' में प्रकाशित किया। (7) 1858 में बेवर ने सामवेद के अद्भुतब्राह्मण को जर्मन अनुवाद सहित प्रकाशित किया तथा वंशब्राह्मण का सम्पादन भी किया। (8) वर्नेल ने सामविधान, देवताध्याय, वंश संहितोपनिषद् तथा आर्षेयब्राह्मणों का सम्पादन किया, जिनका प्रकाशन 1873 से 1877 तक हुआ। (9) डॉ० एर्टल ने जैमिनीय ब्राह्मण का कुछ अंश अंग्रेजी अनुवाद एवं टिप्पणी संहित प्रकाशित किया। (10) कैलेण्ड ने भी जैमिनीय ब्राह्मण का जर्मन में अनुवाद किया तथा आर्षेय ब्राह्मण एवं जैमिनीय ग्रह्यसूत्र का सम्पादन किया। (11) 1892 में प्रो० कोनो ने सामविधान ब्राह्मण का अनुवाद प्रकाशित किया। (12) 1919 में गास्ट्रा ने गोपथब्राह्मण का प्रकाशन देवनागरी में किया।

सूत्रग्रन्थों के विदेशी अनुवाद तथा सम्पादन

(1) स्टेन्त्सलर ने पारस्कर गृह्यसूत्र तथा दो भागों में आश्वलायन गृह्यसूत्र को प्रकाशित किया (2) हिल्ले ब्राण्ट ने शांखायन श्रौतसूत्र का सम्पादन किया। (3) बेवर ने 1859 में कात्यायन श्रौतसूत्र का प्रकाशन किया। (4) 1904-1930 में कैलेण्ड ने बौधायन श्रौतसूत्र को प्रकाशित किया तथा बौधायन धर्मसूत्र, बाधूल सूत्र, बौधायन, काठक तथा वैखानस गृह्यसूत्रों का सम्पादन किया। (5) विन्तरनित्स ने आपस्तम्ब गृह्यसूत्र का सम्पादन किया। (6) 1881-1903 में गार्वे ने आपस्तम्बश्रौतसूत्र प्रकाशित किया। (7) क्नाउएर ने मानवश्रौतसूत्र को प्रकाशित किया। (8) 1906 में गास्ट्रा ने जैमिनीय गृह्यसूत्र का डच भाषा में अनुवाद किया तथा जैमिनीय श्रौतसूत्र का सम्पादन किया (9) 1890 में ब्लूमफील्ड ने अथर्ववेदीय कौशिकसूत्र को प्रकाशित किया।

पाश्चात्यों के वेद-वेदांग सम्बन्धी विविध ग्रन्थ

(i) कोश ग्रन्थ–राथ तथा वाहटलिंग्क ने 20 वर्ष परिश्रम करके (Sanskrit worter buch) संस्कृत-जर्मन महाकोश को सात भागों में 1855-75 तक सेंट पीटर्सवर्ग से प्रकाशित किया। इसे सेंट पीटसवर्ग डिक्सनरी भी कहते हैं। इसमें वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के सभी शब्दों का संग्रह है तथा संस्कृत शब्दों का अर्थ जर्मन भाषा में दिया गया है (2)ग्रासमान ने ऋग्वैदिक कोष 1873-75 में प्रकाशित किया। (3) हिल्ले ब्राण्ट ने वैदिककोश (Vedic didionary) 3 भागों में प्रकाशित किया। (4) मैकडानल तथा कीथ ने भी दो भागों में 'वैदिककोश' (Vedic Index) प्रकाशित किया।

(ii) वैदिकसूचियाँ–1906 में ब्लूमफील्ड ने वैदिक कॉन्कॉर्डेन्स (Vedic Concordance) नामक विशाल ग्रन्थ प्रकाशित किया। इसमें चारों वेदों के प्रत्येक मन्त्र के प्रत्येक पाद की सूची तथा उनके पाठभेद किये गये हैं। इनका दूसरा ग्रन्थ ऋग्वेद में पुनरावृत्तियाँ हैं। (2) कर्नल जैकाल ने 1892 में 'उपनिषद्वाक्यकोष' प्रकाशित किया। (3) लुई रेनू ने 1931 में Biblogra Phie vediaue को 9 भागों में प्रकाशित किया। इसमें वैदिकसाहित्य पर प्रकाशित सभी ग्रन्थों की विस्तृत सूची दी गयी है।

(iii) देवताविषयक–(1891-92) में हिल्ले ब्राण्ट ने वैदिक देवशास्त्र (Vedische mythologie) तीन भागों में प्रकाशित किया। (2) मैक्डालन ने भी यही ग्रन्थ 1897 में प्रकाशित किया। (3) कीथ ने Region and Philosophy of Ved a and upnishad ग्रन्थ में दो भागों में वैदिकधर्म एवं दर्शन की मीमांसा की है।

(iv) वैदिक व्याकरण–(1) ह्विटनी ने Sanskrit grammar लिखा, जिसमें वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार का व्याकरण है। (2) मैकडानल ने Vedic Garmmar तथा Vedic Grammer For Students नामक दो ग्रन्थ लिखे हैं (3) वाकरनागेल ने जर्मनभाषा में वैदिकव्याकरणविषयक प्रौढ ग्रन्थ लिखा है।

(v) वैदिकछन्द–सर्वप्रथम बेवर ने 'इण्डिशे स्टुडियन' में वैदिक छन्दों पर विचार किया। (2) आर्नाल्ड ने Vedic Metre नाम ग्रन्थ लिखा।

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानों ने वेदविषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ तथा निबन्ध भी लिखे हैं। इनमें कुछ तो विद्वदनुरूप हैं, किन्तु कुछ ईसाई धर्म की श्रेष्ठता

एवं वैदिकधर्म की निकृष्टता प्रतिपादन के पूर्वाग्रह से ग्रसित है। ये ग्रन्थ तथा लेखक इस प्रकार हैं–

(1) पिशेल गेल्डनर–वैदिक शब्दों का अर्थ एवं इतिहास (जर्मन भाषा में)। (2) लुई रेनू–वेदों में परोक्षभूत का स्थान (फ्रेंच में)। (3) एलिजारेन कोवा-ऋग्वेद में लुङ् लकार का प्रयोग (रूसी भाषा में)। (4) त्सिम्मेर–ऋग्वेदकालीन समाज (जर्मन भाषा में)। (5) स्टेन कोनो–आर्मन गॉड ऑफ मितानी प्यूपिल (अंग्रेजी में)। (6) ब्लूमफील्ड–वैदिकधर्म (अंग्रेजी में)। (7) ग्रिसवोल्ड–ऋग्वेद का धर्म (अंग्रेजी में)। (8) फार्कुहर–क्राउन ऑफ हिन्दुज्म (अंग्रेजी)। डॉ॰ कपिल देव द्विवेदी के अनुसार ये दोनों ग्रन्थ पक्षपात पूर्ण तथा ईसाई भावना से ओत-प्रोत हैं। (9) श्रीमती स्टेवेन्सन का Rites of the twice born तथा (10) क्लेटन का Rigveda and Vedic Religion भी इसी कोटि के पक्षपात पूर्ण ग्रन्थ हैं। इनमें पूर्वाग्रह के आधार पर भारतीय धर्म को निन्दनीय, निकृष्ट एवं ईसाई धर्म को श्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है। (11) गोंड ने वैदिक विषयों पर कई ग्रन्थ लिखे हैं। यथा–वेदों में शैली विज्ञानात्मक पुनरुक्तियाँ, वैदिककवियों का दर्शन, ऋग्वेद में लट् और लुङ् की प्रयोगमीमांसा, ऋग्वेदीयविशेषण।

वैदिकइतिहासविषयक ग्रन्थ–पाश्चात्य विद्वानों ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक में ही वैदिक साहित्य का इतिहास भी प्रारम्भ में ही लिख दिया है। इस विषय में ये ग्रन्थ हैं–

(1) मैक्मूलर–हिस्ट्री ऑफ दि एंशिएंट संस्कृत लिटरेचर। (1859)

(2) बेवर–हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर (1882)यह ग्रन्थ मूल रूप में जर्मन भाषा में था। इसका अंग्रेजी अनुवाद हो चुका है।

(3) मैक्डानल–हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर (1900)। इसका 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' के रूप में हिन्दी अनुवाद हो चुका है।

(4) विन्टरनित्स ने चार भागों में 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर' लिखा। मूलग्रन्थ जर्मन भाषा में है। इसका अंग्रेजी अनुवाद प्राप्त है।

(5) राथ ने वैदिकसाहित्य और उसका इतिहास जर्मनभाषा में लिखा (1849)।

चतुर्थ अध्याय

ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदें

क्या ब्राह्मणग्रन्थ वेद हैं?

प्राचीन आचार्य मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों को ही वेद मानते चले आये हैं। इस विषय में शबर स्वामी[1], कुमारिल[2] तथा सायणाचार्य[3] आदि के वचन प्रमाण है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (24/1/31) का निम्न वचन तो सुप्रसिद्ध ही है–मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। इसी प्रकार सत्याषाढ श्रौतसूत्र (1/17), बौधायन गृह्यसूत्र (2/6/3), बौधायन धर्मसूत्र (2/9/7) आदि में भी मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों को ही वेद कहा गया है। एक हेतु यह भी दिया जाता है कि महाभाष्य में पंतजलि ने वेद के नाम से ब्राह्मणवचन उद्धृत किये हैं। यथा–वेदे खल्वपि 'पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमीक्षाव्रतो वैश्यः' इत्युच्यते (म॰भा॰ 1/1/1)। यह वेदवचन न होकर सम्भवतः ब्राह्मणवचन ही है। इसी प्रकार महाभाष्य में 'वेदशब्दा अप्येमभिवदन्ति' कहकर तै॰ब्रा॰ 3/11/8/5 का एक श्लोक उद्धृत किया गया है। इन सब प्रमाणों के आधार पर अद्यतनीय विद्वानों का यही विचार रहा है कि मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों की ही वेदसंज्ञा है।

उक्त धारणा का प्रत्याख्यान आधुनिक युग में सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द ने किया है।[4] इसमें स्वामी जी ने तर्क दिया है कि–

(1) सभी ब्राह्मण वेदों के व्याख्याग्रन्थ हैं, व्याख्याग्रन्थों को वेद नहीं माना जा सकता। ब्राह्मणों में वेदमन्त्रों के प्रतीक घर के व्याख्या की गयी है।

---

1. मन्त्राश्च ब्राह्मणञ्च वेदः। मी॰द॰ 2/1/33, शाबरभाष्य
2. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद इति नामधेयं षडङ्गमेक इति। तं॰वा॰ 1/3/10 पर उद्धृत वचन
3. मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः। तै॰सं॰, सा॰भा॰
4. ऋ॰भा॰भू॰, वेदसंज्ञाविचारविषय, पृ॰ 114

(2) ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है।

(3) और वे देहधारी पुरुषों के बनाये हैं।

आधुनिक विद्वानों में से अनेक स्वामीजी के तर्कों से सहमत होते हुए केवल मन्त्रात्मक भाग को वेद मानने लगे हैं, ब्राह्मणों को नहीं। यथा–

(1) डॉ॰ मंगलदेव शास्त्री लिखते हैं–हम भी 'वेद' शब्द का प्रयोग मन्त्र भाग या संहिताभाग के लिए ही करना उचित समझते हैं। ब्राह्मण, एक प्रकार से मन्त्र आदि पर व्याख्यात्मक रचना या ग्रन्थ को कहते हैं। इस प्रकार मन्त्र और ब्राह्मण के स्वरूपों में मौलिक अन्तर है।[1]

(2) डॉ॰ राजकिशोर सिंह का कहना है "जहाँ तक हमारा अपना विचार है, हम यही लिखेंगे कि वस्तुतः वेद का वास्तविक अभिप्राय मात्र संहिताभाग से है, क्योंकि ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् उनकी व्याख्या व भाष्य ही हैं। इस परवर्त्ती साहित्य को हम 'वैदिकसाहित्य' इस शब्द के अन्तर्गत तो अवश्य ही समाहित कर सकते हैं, किन्तु वेद शब्द से सम्पूर्ण इस वाङ्मय का ग्रहण करना समीचीन नहीं है।"[2]

(3) प्रो॰ ब्रजबिहारी चौबे लिखते हैं "ऋक्, यजुष्, साम तथा ब्रह्मसंज्ञक मन्त्रों का ही संकलन क्रमशः ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता तथा अथर्ववेद संहिता है, तब मन्त्रव्यतिरिक्त ब्राह्मणभाग का अन्तर्भाव उसमें कैसे माना जा सकता है? वस्तुतः ब्राह्मण का संहितात्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है।"[3]

(4) डॉ॰ कपिलदेव द्विवेदी लिखते हैं। "वेद शब्द मूलतः वैदिक संहिताओं का ही वाचक है, ब्राह्मणग्रन्थों का नहीं।"[4]

(5) इस विषय पर विस्तार से विचार करते हुए इसी प्रकार के विचार पं॰ भगवद्दत्त ने प्रकट किये हैं।[5]

इस विषय में अन्य युक्तियाँ इस प्रकार हैं–

---

1. भारतीयसंस्कृति का विकास, पृ॰ 74, 81
2. वैदिकसाहित्य का इतिहास, पृ॰ 3-4
3. वै॰वा॰ का बृहद् इतिहास, भाग 1, पृ॰ 216
4. संस्कृतसाहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ॰ 74
5. वैदिकवाङ्मय का इतिहास, भाग 3, का॰ 7, पृ॰ 14-116

(1) पाणिनि ने 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' (4/2/66) सूत्र में छन्द (वेद) तथा ब्राह्मण का पार्थक्य स्पष्ट रूप में दिखलाया है।

(2) यास्क भी कहते हैं—अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्नता विधीयते (नि॰ 1/15) अर्थात् जो कार्य ऋगादि वेदों के द्वारा किया जाता है, ब्राह्मणग्रन्थ वेदोक्त कार्यों की रूप सम्पन्नता करते हैं।

(3) सभी ग्रन्थों में वेद तीन या चार ही गिनाये गये हैं, अधिक नहीं। इसका अर्थ है कि चार संहिताएँ ही वेद है।

(4) ब्राह्मणों के कर्त्ता विदित हैं, किन्तु वेदों के नहीं। इसीलिए वेदों को अपौरुषेय माना जाता है, जबकि सभी ब्राह्मण पौरुषेय हैं।

कुछ विद्वानों ने समाधान दिया है कि वेद शब्द का ज्ञान अर्थ लेकर उपनिषद् आदि को भी गौणरूप में वेद कह दिया गया। इस विषय में डॉ॰ मंगलदेव लिखते हैं। 'इस विषय में हमारा अपना मत यह है कि प्रारम्भ में वेद शब्द वास्तव में सामान्य ज्ञान या विद्या के अर्थ में ही प्रयुक्त होता था, परन्तु मन्त्र भाग और ब्राह्मण भाग में परस्पर विभिन्न प्रकारता है। ब्राह्मणभाग मन्त्रभाग के पीछे-पीछे चलता है। इसलिए सुविधा की दृष्टि से हम भी 'वेद' शब्द का प्रयोग मन्त्रभाग या संहिताभाग के लिए ही करना उचित समझते हैं।[1]

इसके अतिरिक्त इस विषय में शास्त्रीय प्रमाण भी हैं कि केवल मन्त्रभाग की वेद संज्ञा है, ब्राह्मण की नहीं। यथा—

(1) गोपथब्राह्मण पूर्व (2/10) में कहा गया है—

एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः ऐतिहासाः सान्वाख्यानाः सपुराणाः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्याः। यहाँ वेद के साथ अन्य सभी के नाम भी लिये गये हैं।

(2) मी॰सू॰ 2/1/32 में कहा गया है कि विधिवाक्यों का नाम वेद है तथा मन्त्र को छोड़ कर अवशिष्ट भाग को ब्राह्मण कहते हैं।[2]

इस प्रकार उक्त दोनों मतों में कोई तात्त्विक विरोध नहीं है। आजकल प्रायः सभी के द्वारा ऋगादि चार संहिताएँ ही वेद नाम से व्यवहृत होती हैं। उपनिषद्, आरण्यक आदि ब्राह्मणों के ही भाग हैं। इन्हें ज्ञानकाण्ड कहा जाता है। इस

---

1. भारतीयसंस्कृति का विकास, पृ॰ 73
2. शेषे ब्राह्मणशब्दः। मी॰सू॰ 2/1/33

ज्ञानात्मकता के कारण ही ब्राह्मणों को भी वेद कहा गया होगा। वस्तुतः ब्राह्मण वेदों के व्याख्यान ही हैं।

कुछ विद्वान् कहते हैं कि वेदों के व्याख्यान होने से भी ब्राह्मणों को वेद कहा जाना चाहिए। ऐसा उचित नहीं है क्योंकि पाणिनि की अष्टयायी के व्याख्या ग्रन्थ को व्याकरण तो कह सकते हैं, अष्टध्यायी नहीं। जिस प्रकार व्याकरण के उपाध्याय तथा छात्रों को भी वैयाकरण कहा जाता है।[1] तथापि छात्र तथा उपाध्याय ये दोनों संज्ञाएँ पृथक्-पृथक् हैं। उसी प्रकार मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणों को भी वेद कहकर भी दोनों संज्ञा पृथक्-पृथक भी हैं।

संहिता तथा ब्राह्मणों का अन्तर

(1) वेद संहिता तथा ब्राह्मणों में प्रथम अन्तर तो यही है कि ऋग्वेदादि चारों वेदों का कोई भी कर्त्ता विदित नहीं है। अग्नि आदि चार ऋषियों पर उनका प्रकटीकरण ही माना जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों के महर्षि ऐतरेय, याज्ञवल्क्यादि कर्त्ता सुविदित हैं। ये सभी ऐतिहासिक पुरुष हैं।

(2) अथर्ववेद के कुछ अंशों को छोड़ कर चारों संहिताएँ छन्दोबद्ध है, जबकि ब्राह्मणग्रन्थ गद्यमय हैं। कृष्णयजुर्वेद में गद्य-पद्य का मिश्रण है, इस कारण वह वास्तविक वेद माना ही नहीं जाता।

(3) मन्त्रों और ब्राह्मणों में भौतिक अन्तर है। जैसे—भाव-भेद, रचनाभेद, विषयभेद और प्रक्रिया भेद। अतः ब्राह्मणों को वेद कहना युक्तियुक्त नहीं है।

(4) विषय की दृष्ट से भी दोनों में अन्तर है। वेदों में प्रायः सभी विषयों का समावेश है। ऋग्वेद को ज्ञान का, यजुर्वेद को कर्म का, साम को उपासना का तथा अथर्ववेद को विज्ञान का वेद माना जाता है। दर्शन, राजनीति, गृहस्थ, विज्ञान, शिक्षा, व्यापार, कृषि, दान, यज्ञ आदि सभी विषय वेदों में यत्र-तत्र हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में याज्ञिकक्रिया का प्राधान्य है। इनमें विधि, अर्थवाद, निन्दा, प्रशंसा, निर्वचन, पुराकल्प आदि विषयों का समोवश है। इस विषय में पं॰ बलदेव उपाध्याय लिखते हैं—

"ब्राह्मणग्रन्थों में विधि ही वह केन्द्र बिन्दु है। जिसके चारों ओर निरुक्ति, स्तुति, व्याख्यान तथा हेतुवचन आदि विविध विषय अपना आवर्त्तन पूरा किया करते हैं।"[3]

1. सूत्राणिचाप्यधीयान इष्यते वैयाकरणः। म॰ भा॰, पस्थाह्निक
2. रमाशंकर त्रिपाठी, वै-सा॰ और संस्कृति, पृ॰ 192
3. वैदिकसाहित्य और संस्कृति, पृ॰ 243

(5) संहिताग्रन्थ मूलग्रन्थ हैं, जबकि शतपथादि ब्राह्मण उनकी ही व्याख्या हैं। इनमें वेद वचनों को उद्धृत करके उनकी व्याख्या की गयी है। वेदों में ऐसा नहीं है। इस प्रकार वेदों तथा ब्राह्मणों का सम्बन्ध व्याख्येय तथा व्याख्यान का है। सायणाचार्य ने भी ऐसा विचार प्रकट किया है।[1]

(6) ब्राह्मणों में लौकिक व्यक्तियों का इतिहास विद्यमान है, जबकि वेदों में ऐसा नहीं है। वेदों में विद्यमान वसिष्ठ आदि शब्दों का यौगिक अर्थ करने पर वहाँ कोई इतिहास सिद्ध नहीं होता।

ब्राह्मण शब्द का अर्थ–जैमिनि ने इसके लिए 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (पू॰मी॰ 1/1/33) कहा है। इसका यह अर्थ किया जाता है कि मन्त्रभाग से अतिरिक्त वेदभाग की ब्राह्मणसंज्ञा है। माधवाचार्य ने भी ब्राह्मण का लक्षण इसी प्रकार किया है–

मन्त्रश्च ब्राह्मणश्चेति द्वौ भागौ। तेन मन्त्रतः अन्यद् ब्राह्मणमित्येतद् भवेद् ब्राह्मणलक्षणम्। जै॰न्या॰वि॰ 2.1

सायणाचार्यप्रदत्त निम्नलक्षण भी इसी का समर्थक है–

अवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणम्।[2] अर्थात् जो परम्परा से मन्त्र नहीं, वह ब्राह्मण है तथा जो ब्राह्मण नहीं, वह मन्त्र है आपस्तम्बपरिभाषासूत्र की टीका में कपर्दि स्वामी ने लिखा है कि मनन करने से मन्त्र है तथा ब्रह्म का कथन करने से ब्राह्मण है।[3] पतंजलि मुनि का कहना है कि चतुर्वेदवेत्ता ब्राह्मणों, महर्षियों द्वारा बनाए गये वेदव्याख्यात्मक ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाते हैं।[4]

ब्रह्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। यथा–परमेश्वर, यज्ञ[5], मन्त्र[6] आदि। इस प्रकार–(क) वेदमन्त्रों का व्याख्यान करने वाला ग्रन्थ ब्राह्मण है।

---

1. तत्र शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वाद्व्याख्येयमन्त्रप्रतिपादकः संहिताग्रन्थः पूर्वभावित्वात् प्रथमो भवति।
2. ऋ॰भा॰भू॰, उपोद्घात, भाग 1, वै॰सं॰मं॰, पूना, 1933, पृ॰ 17
3. दर्शपूर्णमासप्रकरण, आनन्दाश्रम, पूना 1924, सू॰ 32 पृ॰ 74
4. चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मिणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि। म॰भा॰ 5/11/1
5. ब्रह्म हि यज्ञः। शत॰ 5/3/1/12
6. ब्रह्म वै मन्त्रः। शत॰ 7/3/1/5

(ख) ब्रह्म - यज्ञ के कर्मकाण्ड की व्याख्या तथा विवरण प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ ब्राह्मण हैं। इस प्रकार ब्राह्मणों में मन्त्रों, कर्मों तथा विनियोगों की व्याख्या की गयी है।[1] ब्राह्मणों की अन्तरंग परीक्षा करने पर यह बात स्पष्ट है कि ब्राह्मणग्रन्थ यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाला महनीय विश्वकोश है।[2] स्वामी दयानन्द ने भी वेदों की व्याख्या करने वाले ग्रन्थों को ब्राह्मण कहा है।[3] सत्यव्रत सामश्रमी भी ब्राह्मणग्रन्थों को वेदों का व्याख्यान मानकर लिखते हैं–

तत्रमन्त्राणां तत्तद्यागाद्युपयोगित्वं वर्णयितुं समासस्तात्पर्यमन्वाख्यातुं वा व्याख्यानानि च कृतानि। ततश्च विध्यर्थवादाख्यानपूर्वकमादिमं मन्त्रभाष्यं ब्राह्मणमित्येव पर्यवस्यते ब्राह्मणलक्षणम्। ऐतेरेयालोचन, पृ॰ 11

कुछ आचार्य ब्राह्मणग्रन्थों को वेद का व्याख्यान मानते हुए भी उन्हें वेद भी कहते हैं। ऐसा सम्भवतः इनमें निहित इसके महत्त्व के कारण कहा होगा। पं॰ गजानन शास्त्री ने 'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' मनु के इस वचन में श्रुति से ब्राह्मण का ही ग्रहण किया है जो सर्वथा ही अनुचित है क्योंकि मनु स्पष्ट रूप में वेद को ही श्रुति कह रहे हैं। ब्राह्मणग्रन्थ परमप्रमाण है भी नहीं। परमप्रमाण तो केवल वेद ही है।

ब्राह्मणग्रन्थों को श्रुतिरूप स्वीकार करने वाले मनीषियों ने संहितावत् इन्हें भी अपौरुषेय माना है। उनकी मान्यता है कि इनका भी साक्षात्कार किया गया।[4] ऐसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि इस तरह तो सभी ग्रन्थों की वेदसंज्ञा होने लगेगी। पाणिनि की अष्टाध्यायी, पतंजलि का महाभाष्य तथा सांख्य, योग आदि छह दर्शन भी वेद माने जाने लगेंगे, जबकि ऐसा नहीं है। इन सबसे कर्त्ता सुविदित हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणों के कर्त्ता भी विदित ही हैं। ऐसी अवस्था में इन्हें अपौरुषेय कैसे माना जा सकता है? वेद के तो किसी पुरुषकर्त्ता का पता ही नहीं। इसीलिए वह अपौरुषेय है।

---

1. ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः। तै॰सं॰ 15/1, भट्टभास्कर का भाष्य
2. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य, पृ॰ 174
3. (क) जिससे ये ऐतरेय आदि ग्रन्थ ब्रह्म अर्थात् वेदों के व्याख्यान हैं, अर्थात् ब्रह्मणां वेदानामिमानि व्याख्यानानि ब्राह्मणानि। अनुभ्रमोच्छेदन, पृ॰

   (ख) ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है।
4. वै॰वा॰ का बृ॰ इति, खण्ड 2, पृ॰ 377

ग्रन्थवाची ब्राह्मण शब्द नपुंसक लिंग में होता है। मेदिनी कोश में वेदभाग के सूचक ब्राह्मण शब्द को नपुंसक लिंग में माना है।[1] ग्रन्थअर्थ में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग अष्टाध्यायी (3/4/66), निरुक्त 4/27, शतपथ 4/6/9/20, ऐतरेय 6/25 आदि में उपलब्ध होता है। तैत्तिरीयसंहता में इसका सर्वप्राचीन प्रयोग प्राप्त होता है।[2]

इति विज्ञायते–निरुक्तादि ग्रन्थों में 'इति विज्ञायते' कहकर ब्राह्मणग्रन्थों का ही संकेत किया गया है। दुर्गाचार्य इनकी व्याख्या में लिखते हैं–एवं ब्राह्मणेऽपि विचार्यमाणे विज्ञायते।[3] ब्राह्मणों के लिए 'इति विज्ञायते' प्रयोग सर्वप्रथम गोपथब्राह्मण में उपलब्ध होता है।[4] श्रौत्र, गृह्यादि सूत्रग्रन्थों, निरुक्त तथा निदान आदि ग्रन्थों में भी तैत्तिरीयादि संहितास्थ ब्राह्मण वचनों तथा ब्राह्मणान्तर्गत वचनों को 'इति विज्ञायते' कहकर उद्धृत किया गया है। ब्राह्मण के लिए प्रवचन शब्द का प्रयोग भी प्राप्त होता है।[5] इन्हें इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा तथा नाराशंसी आदि नामों से भी पुकारा गया है, (तै॰आ॰ 2/9/3), आश्व॰ गृह्य॰ 3/3/2

दो प्रकार के ब्राह्मण–भट्टभास्कर ने तै॰सं॰ के भाष्य की भूमिका में दो प्रकार के ब्राह्मणों का उल्लेख किया है–(1) कर्मब्राह्मण (2) कल्पब्राह्मण। कर्मब्राह्मण में कर्मों का विधान एवं मन्त्रों का विनियोग बतलाया गया है, जबकि कल्पब्राह्मणों में मन्त्रों का पाठमात्र है, विनियोग नहीं।[6]

आठ प्रकार के ब्राह्मण–सायणाचार्य[7] ने तैत्तिरीय आरण्यक के भाष्य में ब्राह्मणों के आठ भेद इस प्रकार गिनाये हैं–इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान तथा व्याख्यान। शंकराचार्य ने भी बृहदा॰उप॰ 2/4/10 के भाष्य में ब्राह्मणों के उक्त आठ भाग दिखलाये हैं।

---

1. ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्। मेदिनीकोश।
2. एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि। तै॰सं॰ 3/7/1/1
3. नि॰ 2/11 तथा 2/19 दुर्ग टीका
4. आत्मा वै स यज्ञस्येति विज्ञायते। गो॰ब्रा॰ 2/2/6
5. प्रवचनशब्देन ब्राह्मणमुच्यते। पुष्पसूत्रम्, 8/8, चौ॰सं॰सी॰ 1923
6. तै॰सं॰ 1/8/1, भट्टभास्करभाष्य
7. ब्राह्मणं चाष्टधा भिन्नम्। तद् भेदास्तु वाजसनेयिभिराम्नायते इतिहासपुराणं विद्याउपनिषद:श्लोका: सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि इति। तै॰आ॰ 8/2 सा॰भा॰

अनुब्राह्मण

ब्राह्मणों से मिलते जुलते ग्रन्थों को अनुब्राह्मण कहा जाता था। पाणिनि के अनुब्राह्मणदीनि (4/2/62) सूत्र की व्याख्या में जयादित्य लिखता है–ब्राह्मणसदृशोऽयं ग्रन्थोऽनुब्राह्मणम् (काशिका 4/2/62)। निरुक्तालोचन में सत्यव्रत सामश्रमी कहते हैं कि सामवेद के ताण्ड्य ब्राह्मण के अतिरिक्त सातों ब्राह्मण अनुब्राह्मण कहे जाते हैं।[1]

भट्टभास्कर ने तै॰सं॰ (1/8/1) के भाष्य की भूमिका में तैत्तिरीयब्राह्मणान्तर्गत निम्न वाक्य उद्धृत किया है–

अनुब्राह्मणं च भवति–अष्टावेतानि हवींषि भवन्ति। प्रतीत होता है कि कल्पसूत्रकारों द्वारा ब्राह्मणग्रन्थों का जो भाग कल्पसूत्रों में संगृहीत किया गया है, वह कल्पसूत्रान्तर्गत भाग अनुब्राह्मण कहलाता है।[2]

प्राचीन तथा अर्वाचीन ब्राह्मण–पुराणप्रोक्तेषु च ब्राह्मणकल्पेषु (पा॰ 4/3/105) की व्याख्या में काशिकाकार ने लिखा है–पुराणेन चिरन्तनेन मुनिना प्रोक्ताः। ब्राह्मणेषु तावत् भाल्लविनः। शाट्यायिनः। ऐतरेयिणः। कल्पेषु–पैङ्गी कल्पः। पुराणप्रोक्तेषु इति किम्? याज्ञवल्क्यानि ब्राह्माणानि। यहाँ पर काशिकाकार ने स्पष्टरूप में पुराने तथा नये ब्राह्मणों के नाम गिना दिये हैं। बौधायनश्रौतसूत्र में एक पुराणप्रोक्त पैङ्गलायनि ब्राह्मण को उद्धृत किया है।[3] एक सूत्र की व्याख्या में जयादित्य ने याज्ञवल्क्यब्राह्मण को अर्वाचीन कहा है।[4] किन्तु कात्यायन ने 'याज्ञवल्क्यदिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्' वार्त्तिक द्वारा इसे प्राचीन ब्राह्मणों के तुल्यकाल वाला कहा है।

ब्राह्मणग्रन्थों का महत्त्व

ब्राह्मणग्रन्थों का महत्त्व उनके प्रतिपाद्य विषय के कारण हैं। संक्षेप में ये विषय इस प्रकार है।

---

1. ताण्ड्यांशभूति, ताण्ड्यपरिशिष्यानि वा, अनुब्राह्मणानि वा अपराण्यपि सप्ताधीयन्ते च।
2. सत्यश्रवा, वै॰वा॰ का इति॰, भाग 2, पृ॰ 8 पर उद्धृत
3. गां दक्षिणां दद्यदिति पैङ्गलायनि ब्राह्मणं भवति। बौ॰श्रौ॰सू॰ 2/7
4. याज्ञवल्क्यादयोऽचिरकाला इत्याख्यानेषु वार्ता। का॰ 4/3/105

(1) जीवनसम्बन्धी सूक्तियाँ–ब्राह्मणग्रन्थों में सत्य पर बहुत बल दिया गया है। असत्य बोलने वाले व्यक्ति को अपवित्र कहा गया है।[1] अनृत को वाणी का छिद्र कहा गया है।[2] आयुर्वैदिक दृष्टि से गोपथ में कहा गया है–ऋतु सन्धिषु वै व्याधिर्जायते (गो॰ब्रा॰ 1/19)। ब्राह्मणों में स्त्रियों के सम्बन्ध में उदात्त विचार प्राप्त होते हैं।

अपत्नीक को अयज्ञिय माना गया है।[3] पत्नी को पुरुष का आधा भाग गया है।[4]

(2) यज्ञानुष्ठान–यज्ञानुष्ठान का जैसा सूक्ष्म चिन्तन ब्राह्मणग्रन्थों में किया गया है, वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। इन ग्रन्थों में विस्तार से यज्ञिय कर्मकाण्ड को प्रदर्शित किया गया है। ब्राह्मणों में यज्ञविषयक मीमांसा करने वाले विद्वानों को ब्रह्मवादी कहा गया है। उस समय यज्ञिय कर्मकाण्ड अपने विस्तार पर था। इस कर्म में अनेक शंकाएं या प्रश्न होने स्वाभाविक थे। इनका समाधान ब्राह्मणग्रन्थों में दिया गया है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में (6/4/15) में 'एवं ब्रह्मवादिनो वदन्ति' कहकर ऐसे ही प्रश्नों के समाधान का यत्न किया गया है। शतपथ में इस प्रकार के ब्रह्मवादियों के नाम भी उपलब्ध हैं तथा उनके मतों की पर्याप्त समीक्षा वहाँ पर की गयी है। इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थ यज्ञों के नाना रूपों तथा विविध अनुष्ठानों का परिचय देते हैं।

यज्ञिय कर्म की प्रेरक अनेक उक्तियाँ हमें वेदों तथा अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होती हैं। यथा–देवो वः सविता प्रापयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे (यजु॰ 1/1), स्वर्गकामो यजेत, देवान् यज्ञेन बोधय (अथर्व॰ 19/63/1)। ब्राह्मणग्रन्थों ने यज्ञ के महत्त्व के कारण उसे प्रजापति ही कह दिया है।[5] इस प्रकार की उक्तियाँ यज्ञों की प्रेरक हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में इस बात का विस्तार से विश्लेषण किया गया है कि यज्ञ से स्वर्ग तथा देवत्व किस प्रकार प्राप्त होता है। इस याज्ञिक प्रक्रिया का रहस्य एवं स्वरूप जानने के लिए ब्राह्मणग्रन्थ अपरिहेय हैं। शतपथ में यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है।[6] पुनर्जन्म एवं पुनर्मुक्ति से छुटकारे का एक मात्र साधन मन्त्र हैं।[7]

---

1. अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति। शत॰ 3/1/3/18
2. एतद् वाचश्छिद्रं यदनृतम्। ता॰ब्रा॰ 8/6/13
3. अयज्ञो वा एष योऽपत्नीकः। तै॰ब्रा॰ 2/2/2/6
4. अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी। तै॰ब्रा॰ 3/3/3/5
5. एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः। शत॰ 1/7/3/5
6. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। शत॰ 1/7/1/5
7. शत॰ 2/3/1/6/ तथा 13/5/4/1

(3) आख्यान–ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक आख्यान भी उपलब्ध होते हैं, इनका ही विकास परवर्ती काल में पुराणों में उपलब्ध होता है। ब्राह्मणों के ये आख्यान कहीं-कहीं वेदमूलक हैं तथा कहीं-कहीं स्वतन्त्र भी हैं। इन आख्यानों में बहुधा पापमोचन की शिक्षा दी गयी है। यथा–ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि देवों ने अश्व बन कर अपनी दुलत्तियों से असुरों को हताहत कर दिया, साथ ही इसका फल बतलाया गया है कि जो इस प्रकार जानता है, वह अपने पापों को नष्ट करता है।[1] शुनःशेपआख्यान भी ऐसा ही है।

(4) निर्वचन–निर्वचनप्रणाली ब्राह्मणों की प्रमुख विशेषता है। इनके माध्यम से अनेक शब्दों के अर्थों को स्पष्ट किया गया है।[2] इसके अतिरिक्त भी वेदों में प्राप्त नाना शब्दों के अर्थों की व्याख्या अथवा स्पष्टीकरण ब्राह्मणग्रन्थ उत्तम रूप में करते हैं। इससे वैदिक शब्दों के अर्थ जानने का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

(5) इतिहास–ऐतिहासिक दृष्टि से भी ब्राह्मणों का महत्त्व अपरिहेय है। आख्यानों के माध्यम से भी ब्राह्मणग्रन्थ कहीं-कहीं इतिहास प्रस्तुत करते हैं, यद्यपि वह इतिहास कभी-कभी पूर्णतः सत्य नहीं भी होता, तथापि महत्त्वपूर्ण तो है ही। आख्यानों के अतिरिक्त भी ब्राह्मणों में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री विद्यमान है। यथा–काशी, मत्स्य तथा कुरुक्षेत्र आदि जनपदों का उल्लेख ब्राह्मणों में है। शतपथ में गान्धार, केकय, शाल्य, कोशल, सृंजन आदि जनपद विशेषरूप में उल्लिखित हैं। ताण्ड्यब्राह्मण में कुरु-पांचाल जनपदों से नैमिषारण्य तथा खाण्डव वनों के मध्यवर्ती भूभाग की विशेष चर्चा है। इसी ब्राह्मण में सरस्वती के उद्गम तथा लोप का वर्णन भी है। गोपथब्राह्मण में वसिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि, गौतम आदि ऋषियों की स्थिति विपाशा नदी के तट तथा वसिष्ठशिला प्रभृति स्थानों पर बतलाई गयी है। मध्य देश का उल्लेख ब्राह्मणों में विशेष आदर के साथ किया गया है–ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि (ऐत० 8/4)

(6) शब्दार्थ–शब्दार्थ की दृष्टि से भी ब्राह्मणग्रन्थ अति महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मणग्रन्थों की शैली प्रायः यह है कि एक ही शब्द को कई अर्थों के द्वारा

---

1. अपपाप्मानं हते य एवं वेद। ऐत० 5/21/1
2. स्वा वै मऽएषेति तस्मात् सोमो नाम। शत० 3/6/4/22
   चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत् पश्यति। शत० 8/1/2/3

स्पष्ट करते हैं। यथा–सूर्य[1], चन्द्रमा[2] तथा राष्ट्र[3] को अश्वमेध बतलाया गया है। इसी प्रकार अन्य अनेक वैदिक शब्दों की व्याख्या ब्राह्मणग्रन्थ करते हैं। इससे वैदिक शब्दों की अनेकार्थता सिद्ध होती है तथा ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले शब्द अन्यार्थ के वाचक बन जाते हैं। यदि ब्राह्मणों तथा निरुक्त की शैली से वेदार्थ किया जाए तो वेदों में लौकिक व्यक्तियों का इतिहास किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता।

(7) गृहस्थ एवं पत्नी–ब्राह्मणग्रन्थों में पत्नी को अत्यन्त आदर दिया गया है। उन्हें साक्षात् श्रीरूप माना गया है।[4] वह पति का अर्ध भाग है।[5] पत्नी को प्राप्त करके ही पुरुष पूर्ण बनता है। स्त्री का ताडन नहीं करना चाहिए[6] क्योंकि वह श्रीरूपा है। अपत्नी को यज्ञ करने का भी अधिकार नहीं है।[7] यह अतिवाद है क्योंकि ब्रह्मचारी ही रहना चाहे तो उसे यज्ञ के अधिकार से कैसे वंचित किया जा सकता है।

(8) सत्याचरण–ब्राह्मण ग्रन्थों में सत्य पर बहुत बल दिया गया है। ता०ब्रा० के अनुसार ऋत से स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है।[8] शतपथ में अनृत बोलने वाले को अशुद्ध माना गया है।[9] असत्य को वाणी का छिद्र कहा गया है–एत वाचश्छिद्रं यदनृतम्।

(9) वृष्टि-विज्ञान–इस विज्ञान को यहाँ इस प्रकार प्रकट किया गया है–अग्निर्वै धूमो जायते। धूमादभ्रम्। अभ्राद् वृष्टिः।

ब्राह्मणग्रन्थों का देश तथा काल

देश–ब्राह्मणों में भौगोलिक वर्णन भी उपलब्ध है। इसके आधार पर पं०

---

1. असावादित्योऽश्वमेधः। शत० 9/4/2/18
2. एष एवाश्वमेधो यच्चन्द्रमा। शत० 11/2/5/1
3. राष्ट्रं वा अश्वमेधः। शत० 13/1/6/3
4. श्रियो वा एतद्रूपं यत् पत्न्यः।
5. अर्धो वा एष आत्मन यत्पत्नी। तै०आ० 3/3/3/5
6. न वै स्त्रियं हन्ति।
7. अयज्ञो वा एष यो ऽपत्नीकः। तै०ब्रा० 3/9/4/7
8. ऋतेन वै स्वर्गं लोकं गमयति। ता०ब्रा० 18/2/9
9. अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति। शत० 3/1/3/8

बलदेव उपाध्याय[1] ने कुरु, पांचाल तथा सरस्वती नदी के प्रदेश को ब्राह्मणग्रन्थों के उदय का स्थान माना है। ताण्ड्यब्राह्मण के अनुसार सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान का नाम 'विनशन' तथा उसके पुनः उद्गम स्थान का नाम 'प्लक्ष प्रास्रवण' है।[2]

इसी ब्राह्मण में यमुना के बहने के प्रदेश को कारपंचव नाम से अभिहित किया गया है।[3] जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में कुरु पांचाल जनपदों में रहनेवाले विद्वानों का गौरव चर्चित है। इसमें सरस्वती तथा दृषद्वती के मध्यवर्त्ती प्रदेश तथा इनके संगम का वर्णन भी है। इसी प्रकार प्रजापति की वेदि के रूप में कुरुक्षेत्र का वर्णन भी ताण्ड्यब्राह्मण में मिलता है।[4] इन वर्णनों से विदित होता है कि कुरुपांचाल प्रान्त तथा सरस्वती नदी का प्रदेश ही ब्राह्मणों के उद्भव तथा विकास की भूमि है।

काल–ज्योतिष सम्बन्धी घटनाओं के आधार पर ब्राह्मणों के संकलनकाल का अनुमान किया गया है। शतपथ में कृतिका नक्षत्र के ठीक पूर्व दिशा में उदित होने तथा वहाँ से प्रच्युत न होने की घटना का स्पष्ट संकेत है। शंकर बालकृष्ण दीक्षित के अनुसार यह वर्णन विक्रम से तीन सहस्र वर्ष पूर्व होना चाहिए। मैत्रायणी उपनिषद् का काल ज्योतिष घटना के आधार पर 1900 ई॰पू॰ दो हजार के मध्य होना चाहिए। शतपथ प्राचीनतम होने से इस काल के आदि में आता है तथा गोपथ आदि इस काल के अन्त में आते हैं।[5] यज्ञ, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि मानवोपयोगी महनीय विशेषताओं के विश्वास की बातें भारतीय जीवन में ब्राह्मणयुग से ही प्रारम्भ हुई।[6]

ब्राह्मणों की भाषा एवं शैली

सभी ब्राह्मणग्रन्थ गद्य में निबद्ध हैं। उनकी भाषा सरल, सुबोध तथा प्रसाद गुण युक्त है, तथापि अनुवाद मात्र से उसका रहस्य स्पष्ट नहीं होता, अपितु

1. वैदिकसाहित्य, पृ॰ 188
2. तां॰ ब्रा॰ 25/10/21
3. ता॰ब्रा॰ 25/1/23
4. एतावती वाव प्रजापतेर्वेदिर्यावत् कुरुक्षेत्रमिति। ता॰ब्रा॰ 25/13/3
5. पं॰ बलदेव उपाध्याय, वैदिकसंस्कृति, पृ॰ 189
6. सुरेन्द्रनाथदास गुप्त, इण्डियन आइडियलिज्म, पृ॰ 3

अनेक स्थानों पर वह व्याख्या की अपेक्षा रखती है। ब्राह्मणों का गद्य परिमार्जित है तथा वाक्यविन्यास सीधा एवं सरस है। लम्बे समासों, क्लिष्ट पदों तथा अस्पष्टार्थक शब्दों का प्रयोग प्रायः यहाँ नहीं है। आख्यानों के सन्दर्भ में यह शैली अत्यन्त रोचक बन जाती है। ब्राह्मणग्रन्थों में वैदिक तथा लौकिक शब्दावली का समन्वय है। इस प्रकार यह भाषा वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के बीच की कड़ी है।

पाणिनि से पूर्ववर्ती व्याकरणों के प्रयोग ब्राह्मणों में उपलब्ध हैं। यथा–तुमुनर्थक प्रत्ययों के प्राचीन रूप इनमें अनेकत्र उल्लिखित हैं। लेट् लकार के प्रयोग स्वल्प ही हैं। सुबन्त तथा तिङन्त रूपों के प्रयोग की दृष्टि से जैमिनीयब्राह्मण की भाषा अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन मानी जाती है। इसके विपरीत ताण्ड्य तथा ऐतरेय ब्राह्मणों में प्रवाहपूर्ण, अधिक व्यवस्थित तथा नियमनिष्ठ भाषा उपलब्ध होती है। तैत्तिरीय तथा शतपथ में स्वराङ्कित भाषा है, किन्तु ताण्ड्य, ऐतरेय तथा शांखायन ब्राह्मणों में स्वर नहीं है, यद्यपि पारम्परिक वैदिक विद्वान् इनका उच्चारण भी स्वर सहित ही करते हैं। ब्राह्मणों में कठिन सन्धियाँ तथा दुरूह समासों का प्रायः अभाव ही है। उपसर्गों का उन्मुक्त प्रयोग किया गया है। यज्ञिय, दार्शनिक तथा गूढप्रसंगों को भी ब्राह्मणों में सरलभाषा में ही निबद्ध किया गया है।

जीवन के लिए प्रेरणाप्रद सूक्तियाँ भी ब्राह्मणग्रन्थों में प्राप्त होती हैं। यथा–अयज्ञो वा एषः योऽपत्नीकः (तै०ब्रा० 2/2/2/6)। श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमानः (ऐ०ब्रा० 7/10)।

ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रतिपाद्य

यज्ञिय प्रक्रिया का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन ब्राह्मणग्रन्थों का मुख्य विषय है। इस प्रक्रिया के मुख्य दो भाग हैं–विधि तथा अर्थवाद। इन दोनों का विवेचन ब्राह्मणग्रन्थों में किया गया है। गौतम[1] मुनि ने ब्राह्मण वाक्यों के तीन भाग किये हैं–(1) विधि, (2) अर्थवाद, (3) अनुवादवचन। इनमें विधि का अर्थ है विधायक वाक्य।[2] स्तुति, निन्दा, परकृति तथा पुराकल्प को अर्थवाद कहते हैं।[3] विधि का अनुवचन तथा विहित का अनुवचन अनुवाद कहलाता है।[4]

1. विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्। न्या०सू० 2/1/63
2. विधिर्विधायकः। न्या०सू० 2/1/64
3. स्तुतिनिन्दापरकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः। न्या०सू० 2/1/65
4. विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः। न्या०सू० 2/1/66

विधि–यज्ञानुष्ठान कहाँ, कब, किसलिए तथा किनके द्वारा किया जाना चाहिए, यह विचार करना विधि के अन्तर्गत है। ब्राह्मणग्रन्थों का प्रधान विषय विधि ही है। अन्य विषय विधि के ही पोषक तथा निर्वाहक मात्र हैं। कर्मकाण्ड सम्बन्धी विधानों के साथ वेदमन्त्रों की अर्थमीमांसा तथा वैदिक शब्दों की निष्पत्ति भी विधिभाग का विषय है। यागविधियाँ यज्ञादि कर्मादि में प्रवृत्त कराने वाली तथा अज्ञातार्थ का ज्ञापन कराने वाली होती हैं। यथा–'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' आदि।

अर्थवाद–अर्थवाद से निन्दा तथा प्रशंसा का ग्रहण है। इसमें याग में निषिद्ध वस्तुओं की निन्दा तथा यागोपयोगी द्रव्यों की प्रशंसा रहती है। अर्थवाद भाग में प्ररोचनात्मक विषय वर्णित हैं। अर्थवाद उन निर्देश वाक्यों को कहते हैं, जिनमें यज्ञ के विधानों का उल्लेख है। यथा–अमुक यज्ञ करने से अमुक फल की प्राप्ति तथा अमुक यज्ञ के लिए अमुक विधियों की आवश्यकता है, इत्यादि आज्ञाएँ अर्थवाद भाग में वर्णित हैं।[1] मीमांसाकार जैमिनि ने अर्थवाद के प्रधान तीन भेद किये हैं–(1) गुणवाद, (2) अनुवाद, (3) भूतार्थानुवाद।

कात्यायन ने ब्राह्मणों की निम्न प्रकार की ग्यारह प्रकार की शैली मानी है–'विधिनिन्दाप्रशंसाऽध्यात्ममधिदेवतमधिभूतमनुवचनं परकृतिः पुराकल्पः सृष्टिरिति ब्राह्मणम्।'

इनमें विधि, प्रशंसा, परकृति, पुराकल्प, निन्दा का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। शेष के उदाहरण इस प्रकार है–

अध्यात्म–प्राणो वा अर्कः। त स्यान्नमेवकम्। अन्नं हि प्राणायकम्। शत॰ 10/6/2/7

अधियज्ञ–यदेवाग्नावन्नमुपधीयते तदन्नम्या आपस्तत्पानम्। शत॰ 10/2/6/17

अधिदैवतम्–या वै साऽग्निरेव सः। यत्तच्च्क्षुः असौ स आदित्यः। शत॰ 10/3/3/7

अधिभूत–तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवी इति। शत॰ 1/2/5/7

सृष्टि–असद्वा इदमग्र आसीत्। शत॰ 6/1/1/1

शबर स्वामी के अनुसार वस्तुतः ब्राह्मणग्रन्थों में अर्थवादादि के रूप में विधियाँ ही व्यवहृत हुई हैं। वे इस प्रकार से हैं–

---

1. वाचस्पतिगैरोला, संस्कृतसाहित्य का इतिहास, पृ॰ 127

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना।।
उपमानं दशैवैते विधयो ब्राह्मणस्य तु।
एतद्वै सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्।। मी॰सू॰ 2/1/11 शाबरभाष्य

(1) हेतु–कर्मकाण्ड की विशेष विधि के लिए जिन कारणों का कथन हुआ है, उन्हें विधि कहा जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ की विधि के लिए उचित कारणों हेतु का निर्देश भी कर दिया गया है। उदाहरण–तेन ह्यन्नं क्रियते (शत॰ 2/5/2/23), अर्थात् सूर्य से होम करना चाहिए, क्योंकि उससे अन्न को तैयार किया जाता है।

(2) निर्वचन–व्युत्पत्ति के माध्यम से किसी पदार्थ की सार्थकता या किसी शब्दार्थ का कथन निर्वचन कहलाता है।[1]

(3) निन्दा–किसी अप्रशस्त वस्तु की निन्दा करके यज्ञ में उसकी अनुपयोगिता बतलाना। यथा–अमेध्या वै माषाः (तै॰सं॰ 5/1/81)।

(4) प्रशंसा–निन्दा का विपरीत प्रशंसा है। यथा–इन्द्रो बलं बलपतिः (शत॰ 11/4/3/12)

(5) संशय–कोई कार्य किया जाए या नहीं, इत्यादि संशय है।

(6) विधि–किसी पदार्थ अथवा कार्य का स्वरूप बतलाना। यथा–यजमानेन सम्मिता औदुम्बरी भवति (तै॰सं॰ 6/2/10/3)।

(7) परकृति–अन्यकर्तृक, विरोध का विधिवाक्य परकृति कहलाता है।[2]

(8) पुराकल्प–पुराना आख्यान। यथा–पुरा ब्राह्मणा अभैषुः (तै॰सं॰ 1/5/7/5)। प्राचीनकाल में ब्राह्मण डर गये।

(9) व्यवधारणकल्पना–विशेष प्रकार का निश्चय करना।

(10) उपमान–दो कार्यों या पदार्थों का सादृश्य दिखलाना।

विधिभाग तथा अर्थवाद भाग के अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थों के दो भाग और हैं–उपनिषद् भाग तथा आख्यानभाग। उपनिषदों में मुख्यतः ब्रह्म तथा आत्मा,

---

1. श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदेनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति। शत॰ 8/1/2/6

2. अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः। न्या॰सू॰ 2/1/65 वात्स्यायन भा॰

मोक्ष आदि की चर्चा है। कुछ उपनिषदें ब्राह्मणों के ही भाग हैं। यथा–बृहदारण्यकोपनिषद् शतपथब्राह्मण का ही भाग है।

आख्यानभाग–इस चतुर्थ भाग में ऋषिवंशों, राजवंशों तथा आचार्यवंशों की कथाएँ वर्णित हैं। केवल कथाएँ ही नहीं, अपितु इन आख्यानों में गम्भीर तात्त्विक बातें भी कही गयी हैं। यथा मन तथा वाणी के कलह को आख्यान रूप में उपस्थित करके वाणी की अपेक्षा मन की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार ब्राह्मणों में सृष्टिविषयक भी अनेक आख्यान उपलब्ध हैं। वेद के पुरुषसूक्त के अनुसार ताण्ड्य ब्राह्मण (6/1/11) में प्रजापति के अंग विशेष से वर्णों तथा तत्तत् देवताओं की उत्पत्ति बतलायी गयी है।

ब्राह्मणों में कुछ बृहत्काय आख्यान भी उपलब्ध होते हैं। यथा–पुरूरवा-उर्वशी आख्यान (शत० 11/5/1), जलप्लावन (शत० 1/8/1), शुनःशेपआख्यान (ऐत० 7/2)। इनमें से अनेक आख्यानों का बीज वेदों में उपलब्ध हो जाता है। ब्राह्मणों ने उसे वहाँ से ग्रहण करके विस्तृत रूप में चित्रित किया है। इन आख्यानों के द्वारा ब्राह्मणग्रन्थों की सरसता, रोचकता तथा आकर्षकता में वृद्धि हुई है।

दोष–ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञिय कर्मकाण्ड में पशुहत्या तथा मांसादि की आहुतियों का विधान भी पाया जाता है। यथा ऐतरेय ब्राह्मण (31/1) में कहा गया है–अथा पशोर्विभक्तिः तस्य विभागं वक्ष्यामः। यह कहकर विस्तार से वर्णन किया गया है कि मृतपशु के किन-किन अंगों को किसे-किसे दिया जाए। ऐसा क्यों किया जाता है, इसके उत्तर में कहा गया है–स एष स्वर्ग्यः पशुर्य एनमेवं विभजन्ति। अर्थात् इससे पशु स्वर्ग में जाता है। शतपथ में भी इसी प्रकार मांसप्रकरण उपलब्ध होता है। वेदों में यज्ञ को अध्वर=हिंसा रहित कहा गया है। वेदों में कहीं भी यज्ञों में पशु हिंसा का विधान नहीं है। श्रेष्ठ ऋषियों के ब्राह्मणग्रन्थों में यह दूषित प्रक्रिया कैसे आ गयी, यह चिन्तनीय है। इसे प्रक्षेप भी माना जा सकता है, अथवा वाममार्ग के प्रभाव से या वेदमन्त्रों के वास्तविक अर्थों को न समझने के कारण ऐसा हुआ है। इस प्रकार की मिथ्या धारणाओं के कारण ही तो चार्वाक ने कहा था कि यदि यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग में जाता है तो यजमान अपने पिता को मार कर यज्ञ में उसकी आहुति क्यों नहीं देता, वह भी स्वर्ग को चला जायेगा।[1]

---

1. यज्ञहतेन पशुना स्वर्गं यदि गम्यते।
   स्व पिता यजमानेन कुतस्तत्र न हन्यते। चार्वाक दर्शन

ब्राह्मणग्रन्थों का सांस्कृतिक एवं साहित्यिक महत्त्व

भारत की प्राचीन संस्कृति ब्राह्मणग्रन्थों में सुरक्षित है। इनमें विशेष कर गंगा, यमुना तथा सरस्वती के तटों एवं मध्यवर्ती प्रदेशों में निवास करने वलो जन समुदाय की धार्मिक आस्थाएँ एवं क्रियाकलाप संचित हैं। यागों का सुविस्तृत स्वरूप तो इनमें प्राप्त होता ही है। धर्म का लोकप्रचलित क्रियात्मक स्वरूप स्वाध्याय, जप, तीर्थाटन, व्रत-उपवासदि भी ब्राह्मणग्रन्थों में चित्रित हैं। आज भी जनमानस में धर्म का यह स्वरूप पाया जाता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन आचार-व्यवहार की दृष्टि से भी ब्राह्मणों का महत्त्व अक्षुण्ण है।

साहित्यिक दृष्टि से भी ब्राह्मणग्रन्थ अपना महत्त्व रखते हैं। यास्क ने ब्राह्मण ग्रन्थों की लाक्षणिक प्रवृत्ति को इस प्रकार कहा है–बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि (नि॰ 7/24) अभिप्राय यह है कि देवताओं के विषय में भक्ति अथवा गुण कल्पना के माध्यम से बहुत प्रकार का तात्त्विक अन्वेषण किया गया है। ब्राह्मणों में 'आदित्यो यूपः शृणोत ग्रावाणः' जैसी उक्तियाँ प्राप्त होती हैं, इनकी व्याख्या में मीमांसकों ने लक्षणा का आश्रय लिया है। साहित्यशास्त्र में लक्षणा के प्रसंग में इन वाक्यों को उद्धृत किया गया है।

ब्राह्मणों का प्रणयन काव्य की दृष्टि से नहीं हुआ, इसीलिए इस-निष्पत्ति तथा भावव्यंजना के स्थल अधिक नहीं हैं, तथापि उपमा तथा रूपकविधान पदावृत्ति था अक्षरावृत्तिजनित लालित्य इनमें स्पष्ट रूप में देखा जा सकता हैं यथा षड्विंश ब्राह्मण का उपमा का निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है–

'स य इदमविद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात् तादृक् तत् स्यात्। षड्॰ ब्रा॰ 5/24/1'

ब्राह्मणों में प्राप्त रूपकों के विषय में कुमारिल कहते हैं–रूपकद्वारेण यागस्तुतिः कर्मकाले उत्साहं करोति।[1] मानवीय भावों की ब्राह्मणग्रन्थों को गहरी पहचान है। अनुभूति तथा अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से ब्राह्मणग्रन्थों में उत्कृष्ट साहित्यिक सौन्दर्य समाहित है।

ब्राह्मणों का उद्देश्य यज्ञादि के माध्यम से व्यक्ति को निष्पाप बनाना है। इसी दृष्टि से शतपथ में कहा गया है कि अग्निहोत्र करने वाला व्यक्ति पाप से छूट

1. मी॰द॰ 1/2/46 कुमारिलभाष्य

जाता है।[1] ब्राह्मणों में ब्राह्मणादि चारों वर्ण एवं इनके कार्यों का सुन्दर विश्लेषण किया गया है। तैत्तिरीय संहिता में ब्राह्मण को प्रत्यक्षदेव कहा गया है।[2] शतपथ में भी ब्राह्मणों को मनुष्यदेव कहा गया है। क्षत्रिय को राष्ट्र का रक्षक तथा वैश्य को उसका वर्धक कहा गया है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मणग्रन्थों में नैतिकता का अभाव माना जाता है।[3] यह कथन मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में नैतिकता तथा आचार सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। मिथ्या बोलने वाला व्यक्ति अमेध्य = यज्ञ के लिए अनुपयुक्त होता है।[4] मिथ्याभाषी का तेज शनैः-शनैः कम हो जाता है।

ब्राह्मणग्रन्थों में पापमोचन पर अत्यधिक बल दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि जो मनुष्य एक बार पाप कर लेता है, वह इसके बाद दूसरा पाप भी करता है।[5] इस प्रकार पाप-कर्म-कर्ता की मानसिकता का मनोवैज्ञानिक चित्रण यहाँ पर किया गया है। ताण्ड्यब्राह्मण में असत्य को वाणी का छिद्र कहा गया है।[6] सत्य बोलना मानो अग्नि का घृत से अभिषेक है। समाज में प्रचलित दान तथा आतिथ्य आदि का चित्रण भी ब्राह्मणों में किया गया है। सायंकाल आये हुए अतिथि का किसी भी प्रकार निराकरण नहीं करना चाहिए।[7] ब्राह्मणों में पत्नी को व्यक्ति का आधा भाग कहकर अपत्नी को यज्ञ का अनधिकारी कहा गया है।[8]

ब्राह्मणग्रन्थों का परिचय

(1) ऋग्वेदीयब्राह्मण—ऐतरेयब्राह्मण

कर्त्ता—यह ब्राह्मण ऋग्वेद की शाकल शाखा से सम्बन्धित है। इस ब्राह्मण

1. सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति। शत० 2/3/1/6
2. एते देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः। तै० सं० 1/7/3/1
3. विन्टरनित्स, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग I, पृ० 207-8
4. अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति। शत० 3/13/18
5. यः सकृत् पापकं कुर्यात् कुर्यादेनस्ततोऽपरम्। ऐत० 7/7
6. एतद् वाचश्छिद्रं यदनृतम्। ता०ब्रा० 8/6/12
7. तस्मादाहुर्नसोऽयमतिथिरपरुध्यः। ऐत० 5/30
8. अर्धो वा एष आत्मनः यत् पत्नी (तै० ब्रा० 3/3/3/5)
   ख—अयज्ञो वा एषः योऽपत्नीकः (वै० ब्रा० 2/2/2/6)

के कर्त्ता महीदास ऐतरेय हैं। षड्गुरुशिष्य ने 1252 ई॰ में इस ब्राह्मण पर अपनी वृत्ति लिखी है, जिसमें उसने ऐतरेय को याज्ञवल्क्य की इतरा = कात्यायनी नामक पत्नी से उत्पन्न कहा है।[1] पं॰ भगवद्दत्त ने इस कथन को काल्पनिक माना है।[2] यहाँ पर यह भी अवधेय है कि षड्गुरुशिष्य ने याज्ञवल्क नाम लिखा है, जबकि ऋषि का नाम याज्ञवल्क्य है। एक अन्य स्थान[3] पर षड्गुरुशिष्य ने ही 'महीदासैतरेयर्षिसन्दृष्टं ब्राह्मणं तु यत्' भी कहा है। जैमिनीय उपनिषद्ब्राह्मण में भी कहा गया है कि महिदास ऐतरेय एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहा।[4] यहाँ महिदास के निधन का भी उल्लेख है। सायणाचार्य ने अपने भाष्य के उपोद्घात में एक आख्यायिका में महिदास ऐतरेय को ऐतरेयब्राह्मण तथा ऐतरेयारण्यक का कर्त्ता कहा है। भट्टभास्कर ऐतरेय को इतर ऋषि का पुत्र कहते हैं।[5] स्कन्दपुराण के आख्यान के अनुसार हारीत ऋषि के वंशज माण्डूकि की पत्नी इतरा थी। इन दोनों का पुत्र ऐतरेय था।[6]

ऐतरेयब्राह्मण का परिमाण—वर्तमान काल में इसमें चालीस अध्याय हैं। षड्गुरुशिष्य ने भी इसे चात्वारिंश कहा है। पाणिनि ने त्रिंशत् तथा चत्वारिंशत् अध्याय वाले ब्राह्मणों का उल्लेख किया है।[7] कौषीतकिगृह्यसूत्र (2/5), आश्वलायनगृह्यसूत्र (3/5/5) तथा शांखायन गृह्यसूत्र (4/10) में ऐतरेय तथा महाऐतरेय का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

ऐतरेय ब्राह्मण का रचनाकाल

इस ब्राह्मण की रचनाकाल के सम्बन्ध में डॉ॰ जायसवाल लिखते हैं—"इस वैदिकग्रन्थ का काल ईसा से लगभग 1000 वर्ष पूर्व के लगभग माना जाता है। इसके अन्त में राजा परीक्षित के पुत्र राजा जनमेजय तक का उल्लेख है। उसमें दिए हुए उत्तरकुरुओं के इतिहास से भी यही सूचित होता है कि उसका रचनाकाल

---

1. आसीद् विप्रो याज्ञवल्को द्विभार्यस्तस्य द्वितीयामितरेत्याहु:। ऐ॰ब्रा॰, त्रिवेन्द्रम् 1942, पृ॰ 4
2. वै॰वा॰ का इति॰ तृतीयभाग, पृ॰ 10
3. ऐ॰ब्रा॰, 1942, षड्गुरुशिष्यवृत्ति, पृ॰ 2
4. एतद्ध तद्विद्वान् ब्राह्मण उवाच महिदास ऐतरेय:...स ह षोड्शशतं वर्षाणि जिजीव। जै॰उप॰ब्रा॰ 4/2/11, सम्पा॰वी॰ रामचन्द्र शर्मा, तिरुपति, 1967
5. इतरस्यर्षेरयमैतरेय:। शुभ्रादिभ्यश्च ढक्। (पा॰ 4/1/123)
6. स्क॰ पुराण 1/2/42/26-30
7. त्रिंशच्चत्वारिंशतोर्ब्राह्मणे संज्ञायां डण्। पा॰ 5/1/62

बहुत प्राचीन है।"[1] ऐतरेय के प्रारम्भिक 30 अध्यायों को सभी विद्वान् प्राचीन ही मानते हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वान् अन्तिम दश अध्यायों को अर्वाचीन मानते हैं, किन्तु उनकी यह बात सर्वस्वीकार्य नहीं है।

कीथ ऐतरेयब्राह्मण को अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा पुराना मानता है। कीथ प्रदत्त हेतुओं में एक हेतु यह भी है कि ऐतरेय ब्राह्मण में श्वेतकेतु अथवा प्रसिद्ध आरुणि का उल्लेख न होने से यह इनसे पुराना है।[2] पं० भगवद्दत का कथन है कि ऐतरेय ब्राह्मण में उद्दालक आरुणि का उल्लेख है।[3] अतः कीथ का उक्त अनुमान प्रमाण कोटि में नहीं आता।[4] पं० भगवद्दत के अनुसार अभिप्रतारी के पुत्र वृद्धद्युम्न के पश्चात् महीदास ऐतरेय का काल है।[5]

ऐतरेयब्राह्मण का विभाग एवं प्रतिपाद्य

सम्पूर्ण ऐतरेयब्राह्मण के चालीस अध्याय हैं। ये अध्याय पुनः आठ पंचिकाओं में विभक्त हैं। समस्त चालीस अध्यायों में कुल 285 खण्ड हैं। इस ब्राह्मण में सोममागों के हौत्रपक्ष की विशद् मीमांसा की गयी है। प्रसंगवश कतिपय अन्य कृत्यों का निरूपण भी किया गया है।

सभी भागों का प्रकृतिभूत अग्निष्टोम भाग है। अतः सर्वप्रथम पहली पंचिका से लेकर तृतीय पंचिका के पंचम अध्याय के पंचम खण्ड तक अग्निष्टोम का वर्णन किया गया है। चतुर्थ पंचिका के द्वितीय अध्याय के पंचम खण्ड तक अग्निष्टोम की विकृतियों का वर्णन है। इसके पश्चात् सत्रयागों का वर्णन है। पंचम पंचिका में विभिन्न द्वादशाह संज्ञक सोमयागों का निरुपण है। इसी याचिका में अग्निहोत्र भी वर्णित है। षष्ठ पंचिका में सोमयागों से सम्बद्ध प्रकीर्ण विषयों का विवेचन है। सप्तम पंचिका के प्रारम्भ में पशुअंगों की विभक्ति प्रक्रिया है। तथा इसके द्वितीय अध्याय में अग्निहोत्री के लिए विभिन्न प्रायश्चित्तों का विवरण है। तृतीय अध्याय में शुनःशेप का आख्यान तथा चतुर्थ

1. जायसवाल, हिन्दू राजतन्त्र 1, पृ० 225-22-6
2. Keith, A.B. Rigeed a Brahmanas, p. 48
3. ह स्माहोद्दालक आरुणियम्। ऐ०ब्रा० 8/7 आनन्दाश्रम, पूना।
4. पं० भगवद्दत, वै०वा० का इतिहास, तृतीय भाग, पृ० 15
5. वै०वा० का इति०, तृतीय भाग, पृ० 12

में राजसूययाग के प्रारम्भिक कृत्यों का वर्णन है। अष्टम पंचिका के प्रथम दो अध्यायों में भी राजसूय यज्ञ की निष्पति है। इसके अन्तिम तीन अध्यायों में ऐन्द्र महाभिषिक, पुरोहित की महत्ता तथा ब्रह्मपरिसर का प्रस्तावक है। ये अध्याय सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

ऐतरेयब्राह्मण के भाष्य एवं संस्करण—इस ब्राह्मण के चार भाष्यकार कहे जाते हैं[1]—गोविदस्वामी, भट्टभास्कर, षड्गुरुशिष्य तथा सायणाचार्य। इनमें से अभी तक अन्तिम दो के भाष्य प्रकाशित हैं। (1) सर्वप्रथम 1863 में मार्टिन हाग ने इसे अंग्रेजी अनुवाद के साथ सम्पादित एवं प्रकाशित किया था। यह दो भागों में बम्बई से मुद्रित है।

(2) द्वितीय संस्करण का सम्पादन 1879 में थ्यूडोर आउफरेस्टन ने सायणभाष्यांशों के साथ बोन से प्रकाशित कराया।

(3) तीसरा संस्करण 1896 में काशीनाथ शास्त्री ने प्रकाशित किया।

(4) 1895–1906 ई॰ के मध्य सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ता से चार भागों में इसे प्रकाशित किया।

(5) ए॰वी॰ कीथ द्वारा अंग्रेजी में अनूदित संस्करण 1920 में कैम्ब्रिज से तथा 1969 में दिल्ली से प्रकाशित।

(6) 1925 में निर्णयसागर ने मूलमात्र प्रकाशित किया।

(7) 1950 में पं॰ गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत इसका केवल हिन्दीअनुवाद हिन्दीसाहित्यसम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित।

(8) 1980 में सुधाकर मालवीय द्वारा सायणभाष्य तथा हिन्दीअनुवाद सहित वाराणसी से प्रकाशित संस्करण।

(9) षड्गुरुशिष्य की सुखप्रदावृत्ति सहित अनन्तकृष्ण शास्त्री द्वारा तीन भागों में 1942–52 के मध्य त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित संस्करण।

ऐतरेय का सांस्कृतिक महत्त्व

एतरेयब्राह्मण में हमें आचार व्यवहार, नैतिक मूल्यों तथा देवतासम्बन्धी विवरण उपलब्ध होता है। इसमें तैंतीस देवता माने गये हैं। इनमें अग्नि प्रथम है

---

1. द्रष्ट॰वै॰वा॰बृ॰ इति॰, भाग 1, पृ॰ 394

तथा विष्णु परमदेवता है, शेष सभी देवों का समावेश इनमें ही हो जाता है।[1] इनमें इन्द्र सर्वाधिक बलशाली तथा ओजस्वी है।[2] सभी देवों के सामान्य गुण चार हैं जो इस प्रकार हैं–(1) वे सत्य से युक्त होते हैं।[3] (2) वे परोक्षप्रिय होते हैं।[4] वे एक दूसरे के घर नहीं रहते हैं।[5] (4) वे मनुष्यों को अमरता प्रदान करते हैं।

ऐतरेयब्राह्मण में नैतिक मूल्यों पर अधिक बल दिया गया है। इनमें सत्य सर्व प्रमुख है। विद्वान् को सत्य ही बोलना चाहिए।[6] इसी प्रकार दीक्षित यजमान के लिए भी सत्यभाषण को अनिवार्य कहा गया है।[7] शुनःशेप आख्यान के माध्यम से भी इसी प्रकार की निम्न शिक्षाएँ दी गयी हैं। यथा (1) यज्ञ या किसी भी धार्मिक कार्य में नरबलि जैसे गर्हित कार्य की भर्त्सना।

(2) अजीगर्त के माध्यम से मानव मन की लोभमयी प्रवृत्ति का प्रदर्शन जिसके वशीभूत होकर व्यक्ति पाप करने को भी प्रवृत्त हो जाता है।

(3) वरुण के रूप में परमेश्वरीय कृपा का प्रदर्शन, जिससे व्यक्ति दुःखों से छूट जाता है।

(4) चरैवेति के रूप में सतत कर्म की प्रेरणा। परिश्रम के बिना श्री प्राप्त नहीं होती।[8] इसलिए व्यक्ति को पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। इस ब्राह्मण में अन्तिम अध्याय में पुरोहित का विशेष महत्त्व बतलाया गया है। पुरोहित प्रजा का प्रतिनिधि होता है। जिसकी नियुक्ति राजा करता है। पुरोहित प्रतिज्ञा करता है कि वह प्रजा से कभी द्रोह नहीं करेगा। इस प्रकार सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों का दिग्दर्शन इसमें किया गया है।

ऐतिहासिक महत्त्व–ऐतरेयब्राह्मण में ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा स्थानों के नाम भी उपलब्ध होते हैं। यथा–ऐन्द्र महाभिषेक के प्रसंग में अन्तिम तीन

---

1. अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः ऐत॰ 1/1
2. स वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः। ऐत॰ 7/16
3. सत्यसंहिता वै देवाः। ऐत॰ 1/1/6
4. परोक्षप्रिया इव हि देवाः। ऐत॰ 3/3/6
5. न वै देवा अन्याऽन्यस्य गृहे वसन्ति। ऐत॰ 5/2/4
6. विदुषा सत्यमेव वदितव्यम्। ऐत॰ 5/2/9
7. तस्माद् दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्। ऐत॰
8. नानाश्रान्तस्य श्रीरस्ति। ऐत॰ 7/33/3

अध्यायों में इन व्यक्तियों के नाम प्राप्त होते हैं–परीक्षितपुत्र जन्मेजय, मनुपुत्र शर्यात, उग्रसेन पुत्र युधांश्रौष्टि, अविक्षितपुत्र मरूत्तम, सुदामपुत्र पैजवन, दुष्यन्त पुत्र भरत।

ऐतरेय का देश

ऐतरेयब्राह्मण 8/4 में एक वाक्य है–ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि। विद्वज्जन इसे मध्यप्रदेश का वाचक मानते हैं। सत्यव्रत सामश्रमी के अनुसार इस मध्यप्रदेश में कुरु, पंचाल, शिवि तथा सौवीरसंज्ञक प्रदेश सम्मिलित थे।[1] इसके अनुसार महीदास का निवास स्थान भी इरावती नदी के पास किसी जनपद में था।[2] ऐतरेय ब्राह्मण (8/3/2) में उल्लेख है कि उस समय भारत के पूर्व में भोजराज्य, पश्चिम में नीच्य तथा अपाच्य का राज्य, उत्तर में उत्तर कुरुओं तथा उत्तरमह का राज्य तथा मध्य में कुरु पांचाल थे। एतदतिरिक्त काशी, मत्स्य तथा कुरुक्षेत्र आदि स्थानों का उल्लेख भी इससे प्राप्त होता है। वर्तमान में यह ब्राह्मण महाराष्ट्र में अधिक प्रचलित है।

2. कोषीतकिब्राह्मण

इस ब्राह्मण का सम्बन्ध ऋग्वेद की वाष्कलशाखा से बतलाया जाता है। इसी का अपर नाम शांखायन कहा जाता है। आचार्य शंकर स्वामी ने वेदान्त सूत्र 1/1/28 तथा 3/3/10 में कौषीताकि नाम स्वीकार किया है। चरणव्यूह की महीदासकृत टीका में उद्धृत निम्न श्लोक से विदित होता है कि इस ब्राह्मण का नाम कौषीतकि है, किन्तु इसकी शाखा शांखायनी है–

उत्तरे गुर्जरे देशे वेदो बह्वृच ईरितः।
कौषीतकि ब्राह्मणं च शाखा शांखायनी स्थिता।।

पं० भगवद्दत्त का कथन है कि पहले कौषीताकि तथा शांखायनब्राह्मण एक ही समझे जाते थे, मैक्डानल, विटरनित्स तथा कीथ ने कौशीतकि तथा शांखायन ब्राह्मण को एक ही माना है। आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली में प्रकाशित इस ब्राह्मण के विषय में कहा गया है। 'कौषीतकि इत्यपरसंज्ञः शांखायनब्राह्मणम्।

---

1. ऐतरेयालोचन, कलकत्ता, 1906, पृ० 42
2. वही, पृ० 71

किन्तु अब शांखायन 'ब्राह्मण' भी पृथक् से छप चुका हैं। यह ब्राह्मण 1911 ई० में आन्दाश्रम पूना से गुलाबराय बजेशंकर ने प्रकाशित किया है। कौषीतकि का सम्पादन 1887 ई० में वी० लिण्डनर ने किया है। इसी का ए०वी० कीथ कृत अंग्रेजी अनुवाद 1920 ई० में कैम्ब्रिज से प्रकाशित हुआ था, जिसका पुनर्मुद्रण 1971 में मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ने किया है। आक्सफोर्ड के वोडलियन पुस्तकालय में इस ब्राह्मण के एक हस्तलेख के अन्त में यह पाठ मिलता है–**कौषीतकिमतानुसारि शांखायनब्राह्मणम्।** इससे तो सुस्पष्ट है कि कौषीतकि इसके रचयिता नहीं हैं।

ग्रन्थ परिमाण–इस ब्राह्मण में तीस अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय पुनः खण्डों में विभक्त हैं इस प्रकार कुल 227 खण्ड इसमें हैं।

कौषीतकि ब्राह्मण का रचयिता–शांखायन एवं कौषीतकि इन दोनों में से किसी एक को इसका रचयिता माना जाता है। पंजाबविश्वविद्यालय में उपलब्ध हस्तलेख सूची में लिखा है "इति शांखायनाचार्यशिष्टकृतकौषीतकि ब्राह्मणे।" यहाँ शांखायन को ही इसका रचयिता कहा है। इस ब्राह्मण में कई स्थलों पर कौषीतकि आचार्य के मत को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया गया है। कुछ स्थानों में पैङ्ग्य आचार्य की अपेक्षा कौषीतकि के मत को प्रामाणिक माना गया है। इससे यही प्रतीत होता है कि इसका रचयिता कौषीतकि से भिन्न कोई है। शांखायन आरण्यक (15/1) के अनुसार उद्दालकआरुणि से कहोल कौषीतकि ने विद्या पढ़ी, तथा कौषीतकि से गुणाढ्यशांखायन ने पढ़ी। इस प्रकार शांखायन को ही अन्तिम रूप में शांखायनशाखीय ग्रन्थ का प्रवक्ता माना जाना चाहिए। शांखायन ने अपने गुरु कौषीतकि के नाम पर इसका नामकरण कर दिया होगा, लेकिन परम्परा में शांखायन का नाम भी सुरक्षित रह गया।

काल–इस ब्राह्मण की भाषा, शैली तथा प्रतिपाद्यविषय ऐतरेयब्राह्मण की अपेक्षा सुव्यवस्थित है। मैक्डानल ने इसी आधार पर इसे ऐतरेय ब्राह्मण के बाद माना है। इस ब्राह्मण में शिव के अर्थ में ईशान तथा महादेव पद प्रयुक्त है। इस आधार पर बेवर का विचार है कि यह ब्राह्मण उस काल की रचना है जब शिव के अर्थ में ईशान तथा महादेव पद प्रयुक्त होते थे।

कौषीतकि के प्रथम छह अध्यायों में दर्श–पूर्णमासादि की विवेचना हैं। सप्तम अध्याय से इसकी विषयवस्तु की समानता ऐतरेयब्राह्मण से है। इसमें ऐतरेय की अपेक्षा इष्टियों तथा पशुयागों का प्रतिपादन भी हुआ है। यह ब्राह्मण

ऐतरेय की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। प्रो॰ चौबे के अनुसार इस ब्राह्मण का सम्पादन शांखायनप्रदत्त सामग्री से ही हुआ है। इसीलिए शांखायन की अपेक्षा ऐतरेय ब्राह्मण में अधिक स्पष्टता, सुबोधता तथा व्यवस्था है।[1]

अपनी इसी सुव्यवस्थित निरुपण शैली के कारण कौषीतकि की अपेक्षा ऐतरेयब्राह्मण ने अधिक लोकप्रियता प्राप्त की। शांखायन की महत्ता सोमयागों के साथ इष्टियों के प्रतिपादन में है। इसकी यागमीमांसा भी प्रशस्य है। ऐतरेय के समान ही शांखायन में भी मानवीय आचार-व्यवहार के नियामक तत्त्व अधिकता से उपलब्ध होते हैं। इसमें सत्यभाषण की महत्ता इस प्रकार प्रकट की गयी है–

सत्यं है वास्योदितं भवति। सत्यमयो ह वा अमृतमयः। (कौ॰ब्रा॰ 2/8)। इसमें पुरुष को शतायु, शतवीर्य तथा शताधिक ऐन्द्रिक सामर्थ्य वाला बतलाया गया है।[2]

ऐतरेय तथा कौषीतकि दोनों ही ब्राह्मणों में ऐतिहासिक, शैक्षिणिक तथा भौगोलिक दृष्टि से उपयोगी शोधपूर्ण सामग्री विद्यमान है। ये दोनों ब्राह्मण पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्धी होने पर भी स्थान-स्थान पर विरोधी विचारों के प्रतिपादक हैं।

सांस्कृतिक महत्त्व–सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस ब्राह्मण का पर्याप्त महत्त्व है। इसमें उदीच्य लोगों के संस्कृतज्ञान की प्रशंसा है। इस रूप में की गयी है–उदीच्य एवं यन्ति वाचं शिक्षितुम्। (ऐत॰ ब्रा॰ 8/6)। अर्थात् उस समय लोग भाषा सीखने के लिए उदीच्य प्रान्त में जाते थे। पाणिनि भी उदीच्य थे जिनका व्याकरण आज सर्वातिशायी रूप में प्रतिष्ठित है। इससे इस ब्राह्मण के उक्त कथन की प्रामाणिकता द्योतित होती है।

शांखायन का देवविषयक विश्लेषण भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें रुद्र को देवों में श्रेष्ठ तथा ज्येष्ठ माना गया है।[3] शिव के भव, शिव, पशुपति, उग्र, महादेव, रुद्र, ईशान तथा अशनि नाम दिये गये हैं। यजुर्वेद में भी शिव के ये नाम वर्णित हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि इस ब्राह्मण में ऋग्वेद के प्रमुख देवता अग्नि को विष्णु से निम्न कोटि का देव माना गया है।[4] इसका कारण कदाचित् यज्ञ के महत्त्व का प्रतिपादन करता है। यज्ञ को ही विष्णु कहा गया है–यज्ञो वै विष्णुः (कौ॰ब्रा॰ 4/2)।

1. सं॰सा॰ का बृ॰ इति॰, प्रथम खण्ड, पृ॰ 396
2. शतायुर्वै पुरुषः शतपर्वा शतवीर्यः शतेन्द्रियः। कौ॰ ब्रा॰ 18/10
3. रुद्रौ वै ज्येठश्च श्रेष्ठश्च देवानाम्। कौ॰ब्रा॰ 25/13
4. अग्निरवरार्ध्यः विष्णुः परार्ध्यः।

कौशीषकि ब्राह्मण से यह भी अनुमान होता है कि उस युग में कुछ लोग मांसभक्षण तथा यज्ञों में पशुहिंसा करते थे। यह ब्राह्मण इस घृणित प्रथा का इस रूप में विरोध करता है कि ये हिंसित पशु ही दूसरे लोक में वधिक तथा मांसभक्षी व्यक्तियों को खाते हैं।[1] इस ब्राह्मण से यह भी विदित होता है कि उस युग में गोत्रप्रथा इतनी दृढ़ हो गयी थी कि अपने गोत्र वाले के साथ ही रहने का विधान इसमें किया गया है।[2]

शुक्लयजुर्वेदीयब्राह्मण

शुक्लयजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ है। इस वेद की दो शाखाएँ हैं–काण्व तथा माध्यन्दिन। दोनों ही शाखाओं में यह उपलब्ध होता है।

माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण–इस ब्राह्मण में सौ अध्याय हैं। इस ब्राह्मण का दूसरा नाम वाजसनेय भी है। बेवर ने इसमें 14 काण्ड तथा 100 अध्याय अथवा 68 प्रपाठक, 438 ब्राह्मण तथा 7624 कण्डिाएँ मानी हैं।[3] पा॰ 4/2/60 पर काशिकाकार ने 'शतषष्टेः षिकन् पथो बहुलम्' वार्त्तिक द्वारा शतपथ तथा षष्टिपथ शब्दों से अण् करके शातपथ तथा षाष्टिपथ शब्दों की सिद्धि की है। महाभाष्य में यह वार्त्तिक कारिका का भाग है। सम्भवतः इसी आधार पर बेवर ने कल्पना की है कि सम्भवतः प्रथम नौ काण्ड ही कभी षष्टिपथ माने जाते थे।[4] यद्यपि शतपथ के प्रथम नौ काण्डों में साठ ही अध्याय हैं। तथापि बेवर की बात को इसलिए नहीं माना जा सकता कि काशिका में उल्लिखित षाष्टिपथ नामक अन्य ग्रन्थ भी हो सकता है। गणरत्न महोदधि[5] तथा श्रीधर शास्त्री[6] ने भी शतपथ के एक सौ अध्याय ही माने हैं।

माध्यन्दिन शतपथ के (6-9) काण्डों में बहुधा शाण्डिल्य का नाम आता है, किन्तु याज्ञवल्क्य का नाम प्राप्त नहीं होता। इनसे पहले तथा बाद वाले अध्यायों में याज्ञवल्क्य का मत मिलता है। इस आधार पर बेवर तथा एकलिंग

1. अमुस्मिन् लोके पशवो मनुष्यानश्नन्ति। कौ॰ब्रा॰ 11/13
2. ब्राह्मणो समाने गोत्रे वसेत्। कौ॰ब्रा॰ 25/15
3. Weber, A History of Indian literature, 3rd ed. London, 1963, p. 117
4. वही॰ पृ॰ 119
5. शतं पन्थानो यत्र शतपथः तत्तुल्यः शतपथः। गणरत्नमहोदधि, पृ॰ 117
6. शतं पन्थानो मार्गा नामाध्याया यस्य तच्छतपथम्। शत॰ ब्रा॰, वेकंटेश्वर प्रेस मुम्बई, उपोद्घात

का कहना है कि ये काण्ड भिन्न व्यक्ति द्वारा प्रोक्त हो सकते हैं। दशम काण्ड का भी यही वैशिष्ट्य है। इन प्रमाणों के आधार पर पं॰ भगवद्दत्त कहते हैं–"पूर्वोक्त सब बातों को दृष्टि में रखकर हमारा मत है कि अन्य ब्राह्मणों के समान शतपथ का अधिक अंश बहुत पुराना है। उसके कुछ भाग शाण्डिल्य प्रोक्त माने जाते हैं, पर समग्र ब्राह्मण का संकलन याज्ञवल्क्य ने किया, इसमें कोई सन्देह नहीं।"[1] शतपथ के अन्त में भी कहा गया कि आदित्य सम्बन्धी ये शुक्लयजुः वाजसनेय याज्ञवल्क्य के द्वारा प्रोक्त हैं।[2]

पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (पा॰ 4/3/105) सूत्र पर काशिकाकार ने लिखा है। "पुराणेन चिरन्तनेन मुनिना प्रोक्ता:–भाल्लविन:। शाट्यायिन:। पुराणप्रोक्तेष्विति किम्? याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि। याज्ञवल्कादयोऽचिरकाला इत्याख्यानेषु वार्ता।" भट्टोजि दीक्षित का भी ऐसा ही विचार है, किन्तु 'याज्ञवल्क्यादिभ्य: प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्।' इस भाष्यवार्तिक (4/3/105) के आधार पर याज्ञवल्क्य अन्य ऋषियों के समकालीन ही ठहरते हैं।

शतपथ का वैशिष्ट्य

(1) याज्ञिक महत्त्व–शतपथब्राह्मण विविध प्रकार के यज्ञों के विधि विधान का सांगोपांग विवरण प्रस्तुत करता है। इसके प्रथम काण्ड में ही दर्श तथा पौर्णमास इष्टियों के मुख्य तथा अवान्तर अनुष्ठानों का वर्णन यथाक्रम किया गया है। यज्ञ के आध्यात्कि स्वरूप को भीं इसमें दिखलाया गया है।

सम्भवत: मैक्डानल ने इसी कारण शतपथ को ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के अनन्तर इसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा है।[3]

शतपथ में यज्ञों का प्रारम्भ हविर्यागों से किया गया है। इनका आधार अग्निहोत्र है। शतपथ के अनुसार यज्ञ देवों की आत्मा है[4] तथा यजमान को

स्वर्ग ले जाने वाली नौका के सदृश है।[5] एक ओर तो शतपथ यज्ञ को हिंसा रहित मानता है,[6] किन्तु दूसरी ओर इसमें मांसप्रकरण भी प्राप्त होता है। यह

---

1. वै॰वा॰ का इतिहास, भाग 3, पृ॰ 16
2. आदित्यानीमनि शुक्लानि यर्जूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते।
3. A.A. Macdonell, India as Past, p. 46
4. यज्ञो वै देवानाम्आत्मा। शत॰ 9/3/2/7
5. नौर्ह वा एष यदग्निहोत्रम्। शत॰ 2/3/3/15
6. अध्वरो वै यज्ञ:। शत॰ 3/9/2/1

वदतो व्याधात है। प्रतीत होता है किसमें मांसप्रकरण को वाममार्गियों ने बाद में मिलाया है। शतपथ के ग्यारहवें काण्ड में पंचमहायज्ञों का विशेष विवेचन किया गया है। इस ब्राह्मण में यज्ञ की सर्वाङ्गीण समृद्धि पर बल दिया है।

(2) सांस्कृतिक महत्त्व–शतपथ में देवशास्त्रीय तथा सृष्टिप्रक्रिया सम्बन्धी सामग्री भी पर्याप्त है। इसमें 8 वसु, 11 रुद्र, 12 आदित्य तथा इन्द्र एवं प्रजापति सहित 33 देवों का उल्लेख है। इन्हीं देवों की महिमा के रूप में शतपथ में 3003 देव भी माने कहे हैं। सत्य, श्रम तथा तप का महत्त्व इसमें प्रतिपादत है। मिथ्या बोलने वाले को अमेध्य कहा गया है।[1] शतपथ में सृष्टि के प्रारम्भ में अकेले प्रजापति की ही सत्ता स्वीकार की गयी है–प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत् (शत० 6/1/3/1)। सृष्टिकर्त्ता प्रजापति यज्ञरूप ही है। शतपथ से संकेत मिलता है कि वैदिकसंस्कृति का प्रसार सारस्वत प्रदेश से पूर्व की ओर हुआ था। दशम काण्ड में सूर्य के आध्यात्मिक स्वरूप को समझाया गया है।

ऐतिहासिक महत्त्व–शतपथ में आख्यानों के प्रसंग में पुष्कल ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है। इसका मनुमत्स्यप्रकरण प्रलय तथा सृष्ट्युत्पत्ति पर अच्छा प्रकाश डालता है। पुराणों में वर्णित मत्स्यावतार का बीज इसी कथा में है। शतपथ में सदानीरा नदी के पार्श्वस्थ भूखण्ड मिथिला में राजा जनक का उल्लेख भी किया गया है। यहाँ अश्वमेध के प्रसंग में अन्य प्राचीन राजाओं का उल्लेख भी किया गया है। शत० 13/5/4 में दुष्यन्त तथा भरत का उल्लेख अश्वमेध कर्त्ताओं के रूप में है। यहीं पर जनमेजय का वर्णन भी है। शत० 13/4/3/1 में राक्षसराज वैश्रवण का उल्लेख किया गया है। शतपथ में सरस्वती के लुप्त होने की घटना उल्लिखित नहीं है। राजा के अभिषेकार्थ जल में सरस्वती के जल को भी मिलाया जाता था। इससे प्रतीत होता है कि तब तक सरस्वती लुप्त नहीं हुई थी। महाभारत के अनेक उपाख्यानों का मूल यही ब्राह्मण हैं। रामकथा, कद्रू-सुपर्णा कथा, पुरूरवा-उर्वशी तथा अश्विनी कुमारों की कथा के अतिरिक्त अन्य भी ऐतिहासिक सामग्री इसमें विद्यमान है।

शतपथ का रचनाकाल तथा प्रचार

शतपथ का काल–मैक्डानल 800 ई०पू० से 500 ई०पू० तक ब्राह्मणकाल मानते हैं, किन्तु प्रो०सी०बी० वैद्य ने शतपथ का रचनाकाल न्यूनतम ई०पू० 24वीं

1. अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति। शत० 1/1/1/1

शताब्दी स्वीकार किया है।[1] प्रो॰ चौबे के अनुसार आज के प्राय: 5000 वर्ष पूर्व शतपथ ब्राह्मण का रचना काल माना जा सकता है।[2]

लोकमान्य तिलक[3] तथा पावगी[4] शतपथ का रचनाकाल 2500 ई॰पू॰ मानते हैं। शंकर बालकृष्ण दीक्षित का कहना है कि शतपथ में कृतिकाओं के सम्बन्ध में जो वर्णन मिलता है, उसके अनुसार कृतिकाएँ पूर्व दिशा में उदित होती हैं तथा यहाँ से च्युत नहीं होती।[5] दीक्षित के अनुसार यह वर्तमानकालिक प्रयोग हैं, क्योंकि आजकल वे उत्तर में उगती हैं तथा शकपूर्व 3100 वर्ष के पहले वे दक्षिण में उगती थी। इस आधार पर शतपथ का रचना काल शकपूर्व 3100 वर्ष के आसपास है।[6]

प्रचारप्रदेश–शतपथ के प्रचार क्षेत्र के विषय में चरणव्यूह टीका में महार्णव का निम्न श्लोक प्राप्त होता है–

अङ्गवङ्गकलिङ्गश्च कानीनो गुर्जरस्तथा।

वाजसनेयी शाखा च माध्यन्दिनी प्रतिष्ठिता।।

अर्थात् अंगप्रदेश, बंगाल, उड़ीसा, कानीन तथा गुर्जर प्रदेश में माध्यदिन शाखा प्रचलित थी। इसके अतिरिक्त पंजाब तथा उत्तर प्रदेश में भी यह पढ़ी जाती है। उज्जैन के हरिस्वामी तथा उवट आदि विद्वानों की भी यही शाखा थी।

शतपथ के प्रकाशित तथा अनूदितसंस्करण

(1) 1240 में श्रीधर शर्मा के सम्पादकत्व में लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई से सायणभाष्य तथा हरिस्वामी की टीका सहित सम्पूर्ण शतपथ प्रकाशित हुआ।

(2) 1855 में बेवर द्वारा सम्पादित संस्करण। इसी का पुनर्मुद्रण 1964 में चौखम्भासंस्कृतसीरिज ऑफिस वाराणसी से प्रकाशित हुआ।

(3) 1912 में सत्यव्रत सामश्रमी ने अपनी टीका सहित कलकत्ता से प्रकाशित तथा सम्पादित किया।

---

1. सी॰वी॰ वैद्य, हिस्ट्री ऑफ संस्कृतलिटरेचर, खण्ड 1, पृ॰ 15
2. सं॰वा॰ का बृ॰ इति॰, प्र॰ खं॰, पृ॰ 402
3. तिलक, आर्क्टिक होम ऑफ दि वेदाज
4. पावगी, दि वैदिकफादर्स ऑफ जियोलॉजी, पृ॰ 72
5. एता ह वै कृतिका: प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते। शत॰ 2/2/1/2
6. दीक्षित, भारतीय ज्योतिष, पृ॰ 181, 205

(4) 1956 में पं॰ मोतीलाल शर्मा, राजस्थानवैदिकतत्त्वशोध संस्थान, जयपुर से पं॰ मोतीलाल के विज्ञानभाष्य सहित प्रकाशित।

(5) 1950 में वैदिक यन्त्रालय अजमेर से मुद्रित संस्करण।

(6) 1967 में पं॰ गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत हिन्दी अनुवाद, पं॰ गंगाप्रसाद उपाध्याय, प्राचीनवैज्ञानिक अनुसंधानसंस्थान, दिल्ली से प्रकाशित।

(7) 1973 में संस्कृतिसंस्थान बरेली से चमन लाल गौतम द्वारा सम्पादित संस्करण।

(8) जूलिस एगलिंग कृत माध्यन्दिनशतपथ का अंग्रेजी अनुवाद

(9) लाहौर से कालन्द द्वारा काण्वशतपथ का सम्पादन

(10) 1990 में नागप्रकाशक दिल्ली से सायणभाष्य सहित प्रकाशित सम्पूर्ण शतपथब्राह्मण

(11) 1994 में डॉ॰ स्वामीनाथन् द्वारा सम्पादित इन्दिरागाँधी कलाकेन्द्र दिल्ली, से प्रकाशित संस्करण

काण्वशतपथब्राह्मण

इसमें 104 अध्याय, 446 ब्राह्मण तथा 5865 कण्डिकाएँ हैं। समग्र ब्राह्मण में 17 काण्ड हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् के पंचम अध्याय के भाष्य में शंकराचार्य लिखते हैं–पूर्णमद इत्यादि खिलकाण्डमारभ्यते। इस प्रकार यहाँ अन्तिम दो अध्याय खिल माने गये हैं। इस प्रकार इसमें 102 अध्याय ही बचते हैं। काण्ड विभाग या वाक्यरचना के स्वल्य भेदको छोड़कर माध्यन्दिन तथा काण्वशतपथ में स्वल्प ही अन्तर है।

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयब्राह्मण–कृष्णयजुर्वेदीय शाखा का पूर्णरूप में प्राप्त एकमात्र यही ब्राह्मण है। 'काठक–ब्राह्मण' के कुछ अंश प्राप्त होते हैं। शतपथब्राह्मण के समान ही तैत्तिरीयब्राह्मण का पाठ भी सस्वर मिलता है। जिससे इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है।

तैत्तिरीय-ब्राह्मण का विभाग–इस ग्रन्थ का विभाजन तीन काण्डों अथवा अष्टकों में है। प्रथम अष्टक को पारक्षुद्र, द्वितीय को अग्निहोत्र तथा तृतीय के अलग–अलग भागों को भिन्न–भिन्न नाम दिए गए हैं। पहले और दूसरे काण्ड में आठ–आठ प्रपाठक हैं तीसरे काण्ड में 12 अध्याय हैं। भट्टभास्कर ने अपने

भाष्य में इन्हें 'प्रश्न' नाम से अभिहित किया है। मैसूरसंस्करण के अनुसार अनुवादकों की संख्या इस प्रकार मानी है–प्रथम अष्टक में 78 द्वितीय में 96, तृतीय में 1791 कुल मिलाकर तैत्तिरीय ब्राह्मण में अनुवाकों की संख्या 353 है।

प्रवक्ता–तैत्तिरीयब्राह्मण प्रवक्ता वैशम्पायन के शिष्य तित्तिरि प्रसिद्ध हैं। भट्टभास्कर के अनुसार काठकभाग के प्रवक्ता काठक ही है। तित्तिरि का उल्लेख महाभारत के सभापर्व में भी मिलता है।

प्रचारक्षेत्र–इसके प्रचार क्षेत्र के विषय में चरणव्यूहसूत्र के टीकाकार द्वारा उद्धृत महार्णव का निम्न श्लोक है।

आन्ध्रादि दक्षिणाग्नेयी गोदासागर आवधि।

यजुर्वेदस्तु तैत्तिर्य आपस्तम्बी प्रतिष्ठिता।।

अर्थात् आन्ध्र आदि देश, नर्मदा की दक्षिण तथा आग्नेयी दिशा, गोदावरी के तीरवर्ती देशों में समुद्र तक सब देशों में तैत्तिरीय शाखा का प्रचार है। इस बात को अब तक भी ठीक माना जाता है।

सायणाचार्य ने इसी शाखा को अपनी शाखा माना था। इसी कारण प्रथमतः इसी पर भाष्य लिखा।

तैत्तिरीय-ब्राह्मण का प्रतिपाद्य–यजुर्वेदीय ब्राह्मण होने के कारण इस ब्राह्मण में अध्वर्यु द्वारा किए गए याग-कार्यों का विस्तृत रूप में वर्णन है। इसके प्रथम काण्ड में अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय का उल्लेख है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, उपहोम, सौत्रामणि और बृहस्पतिसव, वैश्वसव आदि विविध सबों का विवरण दिया गया है। इस काण्ड में विविध ऋग्वैदिक प्रश्नों का भी उत्तर प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद में उस वन तथा वृक्ष के नाम को पूछा गया है जिससे द्यावापृथिवी निर्मित है।[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण उत्तर देता है कि वह वन तथा वृक्ष 'ब्रह्म' ही है।

तृतीय काण्ड में 'नक्षत्रेष्टियों' तथा पुरुषमेध का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। तृतीय काण्ड के ही प्रपाठक आठ और नौ में वर्णव्यवस्था की पूर्ण प्रतिष्ठा और सब जगह उसके आदर के दर्शन होते हैं। अश्वमेध केवल क्षत्रिय राजाओं के लिए ही था, इसका अत्यन्त विस्तृत रूप में यहाँ वर्णन किया गया है। अन्य

1. किं स्विद् वनं क उ वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। ऋ॰ 10/81/4

ब्राह्मणों में जहाँ सोमयागों का ही प्रमुख रूप से वर्णन है, वहीं तैत्तिरीय ब्राह्मण में इष्टियों और पशुयागों का भी विस्तृत रूप में वर्णन है। नक्षत्रेष्टियाँ, नक्षत्रों से सम्बन्धित होम ओर नाचिकेत और सावित्र चयन को तैत्तिरीयब्राह्मण की विशिष्टता माना गया है।

काण्ड 2, प्रपा० 1 में आख्यायिका के रूप में अग्निहोत्र का विस्तृत वर्णन है।[1]

श्रौतयागों में पुरुषमेधके तात्त्विक अनुशीलन की पुष्कल सामग्री इसी ब्राह्मण में उपलब्ध होती है। इस अहीनसोमयाग को तृतीय काण्ड के चतुर्थ प्रपाठक में वर्णित किया है। 'सव' संज्ञक एकाह-भागों का विस्तृत वर्णन भी इस ब्राह्मण की महती विशिष्टता है। ये सव बारह हैं जो निम्न हैं–बृहस्पतिसव, वैष्यसव, ब्राह्मणसव, सोमसव, पृथिवीसव, गोसव, ओदनसव, मरुत्स्तोम (पंचशारदीय) अग्निष्टुत्, इन्द्रस्तुत, आप्तोर्याम तथा विघन।

तृतीय काण्ड के दशम प्रपाठक में स्त्रियों का समाज में सम्मान तथा उनके लिए उचित आभूषणों का वर्णन उपलब्ध होता है। यहीं यह सावित्रीचयन का वर्णन भी है। 'चयन' ईंटों से निर्मित स्थानविशेष की संज्ञा है। याग की कठिन प्रक्रियाओं के बावजूद भी यहाँ साहित्यिक सौष्ठव का विशेष ध्यान रखा गया हैं नचिकेताग्नि-चयन की प्रक्रिया का वर्णन भी इसी काण्ड के 11वें प्रपाठक में है। नचिकेता का अत्यधिक प्रसिद्ध आख्यान भी यहीं आया है।

तै०ब्रा० में यागों को अत्यधिक प्रकीर्ण शैली में वर्णित किया है। यह इसकी प्राचीनता का द्योतक है। इस ब्राह्मण में कहा गया है कि यज्ञ ही मनुष्य का सर्वस्व है।[2] इसी कारण यज्ञ के निरन्तर बढ़ते रहने की प्रार्थना भी की गई है। याग की वेदि पुत्र-पौत्रों के माध्म से फलती-फुलती रहे है।[3] यज्ञ के समय ब्राह्मणों के द्वारा यज्ञ तथा दर्शन से सम्बद्ध विषयों पर शास्त्रार्थ का आयोजन करते थे और अपने प्रतिपक्षियों को उसमें हराने में गौरव का अनुभव करते थे।

आख्यान–इस ब्राह्मण का अत्यधिक ख्यातिप्राप्त आख्यान तृतीय काण्ड के 10वें प्रपाठक में महर्षि भारद्वाज से सम्बद्ध है। इसमें वेदों के आनन्त्य का प्रतिपादन है।[3]

---

1. 'स एतद् भागधेयमभ्यजायत यदग्निहोत्रम्' तै०ब्रा० 2/1/2/5-6
2. यज्ञो रायो यज्ञ ईशे वसूनाम्। यज्ञः सस्यानामुत सुक्षितीनाम्। तै०ब्रा० 2/5/5/1
3. अयं यज्ञो वर्धतां गोभिरश्वैः। इयं वेदिः स्वपत्या सुवीरा। तै०ब्रा० 2/5/5/1
4. अनन्ता वै वेदाः। तै०ब्रा० 3/10/11/3

इसमें नचिकेता का आख्यान है तथा प्रह्लाद और अगस्त्यविषयक आख्यायिकाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है। सीता-सावित्री की प्रणयाख्यायिका, उषस् के द्वारा प्रिय की प्राप्ति के आख्यान इसको रोचक बनाने में सहायक हैं।

सृष्टिप्रक्रिया–तै॰ब्रा॰ के द्वितीय काण्ड (प्रपा॰ 2) में सृष्टिप्रक्रियाविषयक अत्यधिक वर्णन प्राप्त होता है। यह वर्णन ऋग्वेदीय-नासदीयसूक्त से प्रभावित प्रतीत होता है। सृष्टि से पहले किसी भी वस्तु की सत्ता मान्य नहीं की गई है। अनभिव्यक्त नामरूप (असत्) ने ही यह इच्छा की कि मैं सत्रूप में हो जाऊँ–'तदसदेव सन्मनोऽकुरुत स्यामिति।'

सृष्टि की सुरक्षा जिन प्राकृतिक नियमों की संख्या पर निर्भर है उन्हें 'ऋत' नाम से जाना जाता है जिसका अतिक्रमण कोई भी वस्तु नहीं कर सकती। भूमि समुद्र सभी उस पर ही अवलम्बित हैं।[1]

आचार-दर्शन–तै॰ब्रा॰ में कहा गया है कि मनुष्य का आचरण देवों के समान होना चाहिए।[2] सत्य-भाषण, वाणी की मिठास, तपोमय जीवन, अतिथि सत्कार, संगठनशीलता, सम्पत्ति के परोपकार-हेतु विनियोग, मांसभक्षण न करने और ब्रह्मचर्य के पालन पर विशेष बल प्रदान किया गया है। इसके अनुष्ठान में प्रमाद या अपराध करने पर प्रायश्चित का विधान किया गया है।

आहिताग्नि व्यक्ति को कदापि असत्य नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि तेजोमयता सत्य में ही है–'आहिताग्निः न अनृतं वदेत्।' उग्रवाणी भूख और प्यास की हेतु होने के कारण महापातक के सदृश्य है।[3] ऋत और सत्य एक है।[4] नेत्रों से देखकर बोला जाने वाला ही सत्य है, क्योंकि वाणी तो झूठ बोल जाती है और मन झूठ को सोचने लग जाता है। इसी कारण नेत्र ही विश्वास करने योग्य है। मनुष्य को निरन्तर असत्य से सत्य की ओर बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि वह मनुष्यत्व से देवत्व की ओर अग्रसर होने का द्योतक है।[5]

---

1. ऋतमेव परमेष्ठि। ऋतं नात्येति किञ्चन। ऋते समुद्र आहितः। ऋते भमिरियं श्रिता। तै॰ब्रा॰ 1/5/5/1
2. इति देवो अकुर्वत। इत्यु वै मनुष्याः कुर्वते। तै॰ब्रा॰ 1/5/9/4?
3. अशनयापिपासे ह वा उग्रं वचः। तै॰ब्रा॰ 1/5/9/3
4. 'यदृतं तत्सत्यम्' 11/5/5/4, 'ऋतं सत्येऽधायि सत्यमृतेऽधायि।' 3/7/7/4
5. अनृतात् सत्यमुपैमि। मानुषाद् दैव्यमुपैमि। दैवीं वाचं यच्छामि। तै॰ब्रा॰ 1/2/1

तै॰ब्रा॰ में तपोमय जीवन को द्वितीय महत्त्वपूर्ण जीवन मूल्य के रूप में वर्णित किया है। तपस्या से देवों ने उच्च स्थिति प्राप्त की, ऋषियों ने स्वर्गिक सुख पाया और अपने शत्रु का विनाश किया है।[1] तप ही माता, पिता एवं पुत्र सभी कुछ है। सम्पूर्ण विश्व उसी पर केन्द्रित है। इसलिए यह सर्वाधिक आदरणीय है।[2]

लोक की प्रतिष्ठा श्रद्धा में बताते हुए उसे विशिष्ट जीवनमूल्य के रूप में वर्णित किया है।

तै॰ब्रा॰ में कहा गया है कि आहिताग्नि मनुष्य को न तो मांसभक्षण करना चाहिए न ही स्त्री-गमन करना चाहिए।[3] जिस सम्पत्ति से यज्ञादि परोपकार और सार्वजनीन कृत्यों का अनुष्ठान होता रहता है, दान-पुण्य होते रहते हैं, उसका विनाश कदापि नहीं होता। न तो उसे शत्रु ले जाते हैं और न शत्रु क्षति पहुँचाते हैं।[4] एक दूसरे के प्रति मित्रता की भावना को तै॰ब्रा॰ में इस प्रकार प्रतिपादित किया है कि सात पगों की भी यात्रा जिसके साथ हुई है, वे सभी मित्र हैं। उनके प्रति सख्यभाव को कभी क्षति नहीं पहुँचने देनी चाहिए।[5] मनुष्य मन को ही तै॰ब्रा॰ में सर्वोच्च प्रजापति माना है।[6] उसी के द्वारा सारी क्रियाएँ सम्पन्न होती है, इसलिए मन की शुद्धि परमावश्यक है।[7] मन की शुद्धि के लिए अनेक इच्छाओं का त्याग भी करना पड़ता है, क्योंकि वे समुद्र के समान अपार हैं।[8]

विशेषताएँ—तैत्तिरीयब्राह्मण तैत्तिरीयसंहिता का ही परिशिष्ट मात्र है। इसका उद्देश्य संहितास्थ ब्राह्मण में अपूर्ण की पूर्ति करना हैं इसमें मन्त्रों का बाहुल्य

---

1. 'तपसा देवा देवतामग्र आयन्। तपसर्षयः स्वरन्वविन्दन्।
   तपसा सपत्नान् प्रणुदामरातीः' तै॰ब्रा॰ 3/12/3/1
2. तै॰ब्रा॰ 3/12/3/1
3. तै॰ब्रा॰ 2/4/6/8
4. न ता नशन्ति न दभाति तस्करः। नैना अमित्रो व्यथिरादधर्षति।
   देवाश्च याभिर्यजते ददाति च। तै॰ब्रा॰ 3/7/7/1
5. 'सखायः सप्तपदा अभूम। सख्यं ते गमेयम्। सख्यात्ते मा योषम्। सख्यान्मे मा योष्ठाः'
   3/8/7/11
6. मन एव हि प्रजापतिः। तै॰ब्रा॰ 2/2/6/2
7. "येन पूतस्तरति दुष्कृतानि" तै॰ब्रा॰ 3/12/3/4
8. "समुद्र इव हि कामः। नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति।"

है और ये मन्त्र सम्पूर्ण ब्राह्मण में मिले हुए हैं। यम और नचिकेता का सूक्ष्मरूप ही सम्पूर्ण ब्राह्मण में विद्यमान है।

संस्करण–तै०ब्रा० के तीन संस्करणों का बार-बार प्रकाशन हुआ है जो निम्न हैं–(1) राजेन्द्रलाल मित्र के द्वारा सायण-भष्य सहित सम्पादित तथा कलकत्ता से 1862 में प्रकाशित, (2) सायण-भाष्य सहित, आनन्दाश्रम पुणे से 1934 में प्रकाशित (3) भट्टभास्कर-भाष्य सहित, महादेव शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा मैसूर से प्रकाशित। इनमें अन्त के दोनों संस्करणों का बार-बार प्रकाशन हुआ है।

सामवेदीय-ब्राह्मण

सामवेद के ब्राह्मणों की संख्या–सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों की संख्या अन्य वेदों की तुलना में सबसे अधिक है। इस वेद के ग्यारह ब्राह्मण उपलब्ध होते हैं।

कुमारिलभट्ट और सायणाचार्य ने ताण्ड्य-महाब्राह्मण के साथ-साथ षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, छान्दोग्य और संहितोपनिषद् ब्राह्मणों को भी कौथुमशाखा से सम्बन्धित कहा है। कौथुम और राणायनीय शाखाओं में केवल उच्चारणभेद होने के कारण उस शाखा से भी इनको सम्बन्धित मान लिया जाता है, परन्तु ये सभी ब्राह्मण इस समय प्राप्त नहीं होते हैं। तवलकार-सहित आठ ब्राह्मण-ग्रन्थ प्राप्त और मान्य हैं। इस समय तक तवलकार-सहित जैमिनीय-शाखा के मात्र तीन ब्राह्मणों का ही प्रकाशन हो सका है जो इस प्रकार है–जैमिनीय-ब्राह्मण, जैमिनीय-आर्षेय ब्राह्मण और जैमिनीयोपनिषद्-ब्राह्मण।

सामवेद के अनुपलब्ध ब्राह्मण–डॉ० वट्टकृष्ण घोष ने कुछ ऐसे अनुपलब्ध सामवेदीय ब्राह्मणों के उद्धरण जो विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, उपलब्ध कराये हैं।[1] शाट्यायन-ब्राह्मण तथा भाल्लविब्राह्मण इन अनुपलब्ध ब्राह्मणों में मुख्य ब्राह्मण हैं।

शाट्यायनब्राह्मण–इस ब्राह्मण के 70 उद्धरणों में से अधिकतर ऋग्वेद के सायण-भाष्य[2] तथा ता०ब्रा० के सायणभाष्य[3] में प्राप्त होते हैं। ब्रह्मसूत्र के शाङ्करभाष्य में भी चार पाँच उद्धरण प्राप्त होते हैं।[4]

---

1. वट्टकृष्णघोष, 'कलेक्शन ऑफ फैगमेन्टस फ्राम लॉस्ट ब्राह्मणम्' कलकत्ता, 1955
2. ऋ०सं० 1/105/10; 7/33/7; 8/91/1; 8/91/5 पर सायणभाष्य
3. तां०ब्रा० के क्रमशः 4/2/10; 4/3/2; 4/5/14; 4/5/14 और 4/6/23 अंशों पर सायणभाष्य।
4. ब्रह्मसूत्र 3/3/25; 3/3/26; 4/1/16 तथा 4/1/17 पर शाङ्कर-भाष्य।

भाल्लवि ब्राह्मण–तां॰बा॰ में सामवेद की भाल्लवि शाखा का उल्लेख प्राप्त होता है। कुछ श्रौतसूत्रों के अतिरिक्त इसका उल्लेख महाभाष्य (4/2/104) तथा काशिका (4/2/66; 4/3/105) में भी प्राप्त होता है।

यह निःसन्देह है कि ब्राह्मण साहित्य अत्यधिक विस्तृत है तथा इस विशाल राशि में से कुछ इस समय अनुपलब्ध है।

सामवेदीय-ब्राह्मणों का वर्गीकरण–इसके ब्राह्मणों का विभाजन दो प्रकार से किया जाता है–उन्हें ब्राह्मण और दूसरा अनुब्राह्मण। जो ब्राह्मण के लक्षण से युक्त होते हैं उन्हें ब्राह्मण और जो ब्राह्मण के समान हैं उन्हें अनुब्राह्मण कहते हैं। 'अनुब्राह्मण' शब्द पाणिनि की अष्टाध्ययी (4/2/62) में ग्रन्थ रूप में है। सामवेद के आठ ब्राह्मण हैं जिनमें षड्विंश तथा ताण्ड्य को ब्राह्मण और सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, उपनिषद्, संहितोपनिषद् तथा वंश ब्राह्मणों को विद्वानों के द्वारा अनुब्राह्मण कहा गया है।[1]

सायणाचार्य की भाष्यभूमिकाओं के उल्लेख के अनुसार ही यहाँ सामवेदीय ब्राह्मणों का परिचय प्रस्तुत किया जाता है–

(1) ताण्ड्य-ब्राह्मण के प्रवचनकर्त्ता–परम्परा के अनुसार ताण्डि नामक किसी सामवेद के आचार्य के द्वारा प्रोक्त होने के कारण इसकी प्रसिद्धि ताण्डि अथवा ताण्ड्य के नाम से हुई।[2] शंकराचार्य ने छान्दोग्योपनिषिद् का निर्देश ताण्डिशाखियों की उपनिषद् के रूप में किया, इसी कारण कौथुमशाखा की उपशाखाओं में ताण्ड्यब्राह्मण का महत्त्व अत्यधिक रहा है।[3]

इस ब्राह्मण में 25 अध्याय या प्रपाठक और 347 खण्ड हैं। प्रपाठक के स्थान पर सायण ने अपने भाष्य में अध्ययन शब्द का प्रयोग किया है। मूलग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियों में प्रपाठक शब्द ही पाया जाता है।

ताण्ड्यब्राह्मण का स्वरूप–यह सामवेद का प्रमुख ब्राह्मण है। ताण्डि शाखा से सम्बद्ध होने के कारण ताण्ड्य कहलाता है तथा पच्चीस अध्यायों में विभाजित होने के कारण पंचविश नाम से भी प्रसिद्ध है। आकार की दृष्टि से अत्यधिक विशाल तथा वर्ण्यविषयों के महत्त्व के कारण महाब्राह्मण और

---

1. 'ताडण्यांशभूतानि ताण्ड्यपरिशिष्टभूतानि वा अनुब्राह्मणानि वा अपराण्यपि सप्ताधीयन्ते–निरुक्तालोचन', पृ॰ 197
2. चिन्नस्वामी शास्त्री, ता॰ब्रा॰, पुरस्तात् निवेदनम्, पृ॰ 2
3. यथा ताण्डिनामुपनिषदि, ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, 3/3/36

प्रौढ़ब्राह्मण नामों से भी प्रसिद्ध है। यज्ञानुष्ठानों में उद्गाता के कार्यों की विपुल मीमांसा इसे महनीय बना रही है। यज्ञ के विभिन्न रूपों का प्रतिपादक यही महाब्राह्मण है। अत्यन्त सन्तुलनयुक्त निरुपणशैली के कारण इसका महत्त्व द्विगुणित हो जाता है।

इस ब्राह्मण में भी ऐतरेयादि ब्राह्मणों के सदृश 5 अध्यायों को पंचिका कहा है। इसी कारण ता०ब्रा० पंचपंचिकात्मक है।

विद्वानों के मत में अन्य वेदों के ऐतरेयादि ब्राह्मणों के सदृश सामवेद के ता०ब्रा० में भी प्रमुखतः 40 अध्याय होने चाहिएं। षड्विंश और उपनिषद् ब्राह्मणों को मिलाने से यह संख्या सम्पन्न भी हो जाती है। इसी के अनुसार काशिका (5/1/61) में कहा हुआ 'चत्वारिंशब्राह्मण' शब्द तां०ब्रा० के 40 अध्यायों की ओर संकेत करता है, किन्तु षड्गुरुशिष्य का मत इसके विपरीत है। सत्यव्रत सामश्रमी ने पूर्ण दृढ़ता से ता०ब्रा० 40 अध्यायों वाले स्वरूप का समर्थन किया है।[1] स्पष्टतः षड्विंश ता०ब्रा० का ही भाग है।

भाषिकसूत्र से ज्ञात होता है कि किसी समय ताण्ड्यादि सामब्राह्मण सस्वर थे। वहाँ लिखा है कि शतपथ के समान ही ताण्ड्य और भल्लवियों का ब्राह्मण सस्वर था।[2] परन्तु कुमारिल भट्ट के समय में ताण्ड्यादि ब्राह्मण स्वररहित हो गये थे।

ताण्ड्यब्राह्मण का प्रतिपाद्यविषय—सोमयाग ही इस ब्राह्मण का प्रमुख वर्ण्य विषय है। अग्निष्टोमसंस्थ—ज्योतिष्टोम से प्रारम्भ करके सहस्रसंवत्सरसाध्य सोमयागों का इसमें मुख्य रूप से वर्णन किया गया है। इनके अंग स्रोत और उनकी विष्टुतियों के प्रकार और स्तोमभाग का इसमें विशद् वर्णन है।

इस ब्राह्मण में कुल 781611 सुत्याक 178 सोमयागों का निरुपण है। इसके द्वितीय और तृतीय अध्याय में त्रिवृत्, पञ्चदश इत्यादि स्तोमों की विष्टुतियों का विस्तृत वर्णन है।

'गवामयन' एक वर्ष तक चलने वाला याग और समस्त सत्रों की प्रकृति है। इसका चतुर्थ तथा पंचम अध्यायों में उल्लेख हैं।

---

1. 'अध्यायानाम् संकलनया चत्वारिंशदध्यायात्मकम् कौथुमब्राह्मणं सम्पद्यते ताण्ड्यनाम्'—त्रयीपरिचय, पृ० 121
2. शतपथवत्ताण्डिभाल्लविनां ब्राह्मणस्वरः। भाषिकसूत्र 3/25

ज्योतिष्टोम, उक्थ्य तथा अतिरात्र का वर्णन छठे अध्याय से नौवें अध्याय के दूसरे खण्ड तक है। ये एकाह तथा अहीन यज्ञों की प्रकृति होते हैं। छठे अध्याय के छठे खण्ड तथा सातवें से आठवें अध्याय तक ज्योतिष्टोम की उत्पत्ति, उद्गाता के द्वारा औदुम्बरी शाखा की स्थापना, द्रोणकलश की स्थापना वर्णित है।

सातवें खण्ड 6/7 से लेकर 7वें अध्याय के द्वितीय खण्ड तक प्रातः सवन, सातवें अध्याय के दूसरे खण्ड से लेकर आठवें अध्याय के तीसरे खण्ड तक माध्यन्दिन सवन, जिसमें स्थन्तर, बृहत्, तथा कालेय सामों का विशद् वर्णन प्राप्त होता है।

सायं सवन तथा रात्रि के समय की पूजा का विधान आठवें अध्याय के शेष खण्ड से नोवें अध्याय तक है।

द्वादशाह यागों का वर्णन दसवें अध्याय से लेकर पन्द्रहवें अध्याय तक है जिनमें क्रमशः प्रथम दिन से प्रारम्भ करके दसवें दिन तक के विधान तथा सामों का विशेष रूप से वर्णन है।

सोलहवें अध्याय से उन्नीसवें अध्याय तक विभिन्न प्रकार के 'एकाह' यागों का वर्णन है। अहीन यागों का विवरण बीसवें अध्याय से बाईसवें अध्याय तक है। तेइसवें अध्याय से पच्चीसवें अध्याय तक सत्रों का वर्णन है।

इस महाब्राह्मण का सोमयाग एव तद्गत सामगान की विधि का प्रस्तवन ही मुख्य वर्णन का विषय हैं। अनेक प्रकार के साम, उनके नामकरणादि से सम्बन्धित आख्यायिकाएँ तथा निरुक्तियाँ भी पर्याप्त परिमाण के रूप में प्रसंगतः आई हैं। यज्ञ के विविध पक्षों के सन्दर्भ में आचार्यों के बीच प्रचलित विवादों और मतमतान्तरों का वर्णन भी है। तां०ब्रा० में वर्णित व्रात्ययज्ञ को निर्देशित करना भी यहाँ आवश्यक हैं यह सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व रखता है। इसमें ब्राह्मणयुगीन भौगोलिक सामग्री भी प्राप्त होती है।

क्रम की दृष्टि से सोमयागों के विधान में कात्यायन और आपस्तम्ब के समान मुख्य श्रौतसूत्रकार ताण्ड्योक्त क्रम का ही अवलम्बन करते हैं।

ताण्ड्य-ब्राह्मण का वैशिष्ट्य—इस ब्राह्मण का रचनाकाल विक्रम से तीन सहस्रपूर्व का प्रतीत होता है। कुरु-पांचाल जनपदों से नैमिषारण्य और खाण्डव वनों के बीच और सरस्वती-दृषद्वती नदियों तथा गंगा-यमुना की विशाल अन्तर्वेदी में, जिस संस्कृति का उस काल में विकास हुआ उसके सामाजिक,

राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन का अत्यन्त विस्तृत रूप से वर्णन ताण्ड्य ब्राह्मण में उपलब्ध होता है। उस समय के जनपदों और नदियों का विशद् भौगोलिक वर्णन ताण्ड्यब्राह्मण को गहरी ऐतिहासिक अर्थवत्ता प्रदान करता है। उत्तरवैदिक काल की प्रमुख सामाजिक-धार्मिक प्रहेलिका व्रात्यसमस्या रही है। वैसे तो अथर्ववेद और वाजसनेयिसंहिताओं की व्रात्यविषयक विवरण प्राप्त होता है, परन्तु तां०ब्रा० से इन पर प्रामाणिक और स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। इसी के अनुसार भारतीय जन-समाज के व्रात्य ऐसे आचारविहीन अंग थे जिनकी वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति अनास्था थी। भारतीय समाज में उन्हें पुनः संस्कृत करने के लिए व्रात्यस्तोमयागों का विधान किया गया। ताण्ड्यब्राह्मण में इन यागों का विशद् वर्णन उपलब्ध होता है। इसी प्रकार का ही पथभ्रष्ट वर्ग 'यतियों' का भी था। इस ब्राह्मण में साहित्यिक दृष्टि से 'कवि' और 'काव्य' दोनों शब्द उपलब्ध होते हैं। सोमयागों को ही इस ब्राह्मण में वर्णित किया है। इन यागों के साथ जिन साममन्त्रों का सम्बन्ध है, उन सबका इसमें उल्लेख है। इस ब्राह्मण में अनेक मन्त्रदृष्टा व यज्ञ-क्रिया-द्रष्टा ऋषियों के नाम आये हैं।

ताण्ड्यब्राह्मण के प्रचारप्रदेश–

इसके प्रचार क्षेत्र के विष में महार्णव में इस प्रकार लिखा है–

माध्यन्दिनी शांखायनी कौथुमी शौनकी तथा।

नर्मदोत्तरभागे च यज्ञकन्याः विभागिनः॥

अर्थात् वह ब्राह्मण जिसका सम्बन्ध विशेष कौथुम शाखा से है, गुजरात में प्रचलित था। उसमें लिखा है–गुर्जरदेशे कौथुमी प्रसिद्धा। अर्थात् ताण्ड्य ब्राह्मण वालों से सम्बन्ध रखने वाली कौथुमी शाखा गुजरात में प्रसिद्ध है। यह बात अभी तक सत्य ही उतरती है।

ताण्ड्यब्राह्मण के उपलब्ध संस्कार निम्न हैं–

(1) आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश द्वारा सम्पादित, कलकत्ता 1870-74

(2) पं० चिन्नस्वामिशास्त्री और पं० पट्टाभिरामशास्त्री द्वारा दो भागों में सम्पादित और चौखम्भा वाराणसी संस्कृत प्रतिष्ठान प्रकाशित (सन् 1924 तथा 1936)। कुछ वर्षों के पश्चात् इसी का फिर से मुद्रण भी हुआ है। (1989)

(3) डॉ० लोकेशचन्द्र द्वारा सरस्वती-विहार स्थित ताण्ड्य महाब्राह्मण की हस्तलिखित प्रति का छाया-मुद्रण।

(4) W. Caland का अंग्रेजी अनुवाद The Brahmana of Twenty five chapters, calcutta, 1931.

(2) षड्विंशब्राह्मण–यह ब्राह्मण कौथुमशाखीय सामवेद का दूसरा महत्त्वपूर्ण ब्राह्मणग्रन्थ है। यथा पहले कहा गया है कि षड्विंश कदाचित् ता०ब्रा० का अंश माना जाता रहा है। सायणाचार्य ने भाष्योपक्रमणिका में इसे 'ताण्डकेशब्राह्मण' कहा है। इसमें मूलरूप में ताण्ड्यानूक्त विषयों का ताण्ड्य की शृंखला में विवरण है। इसलिये भी यह तां०ब्रा० का परिशिष्ट प्रतीत होता है।

स्वरूप, विभाग तथा चयनक्रम–यह ब्राह्मण पाँच प्रपाठकों में विभाजित है। सायण ने अपने भाष्य में प्रपाठक संख्या न लिखकर अध्याय ही लिखा है। जैसा कि नाम से प्रतीत होता है कि पहले इन्हें एक ही अध्याय माना जाता होगा। छठें अध्याय को विषय-वस्तु बचे हुए पाँच अध्यायों की विषयवस्तु से भिन्न होने के कारण इस अंश को अद्भुतब्राह्मण भी कहते हैं। इसमें भूकम्प, अकाल में पुष्प तथा फूल उत्पन्न होने, हथिनी के डूबने आदि विविध प्रकार के उत्पातों के लिए शान्ति का विधान किया गया है। यह युग की विचित्र भावनाओं को समझने के लए यह प्रपाठक अत्यन्त उपयोगी है। प्रपाठकों का विभाग खण्डों में है। पहले प्रपाठक में 7, दूसरे में 10, तीसरे में 12, चौथे में 7 और पाँचवें में 12 खण्ड हैं। कुल मिलाकर सारे ब्राह्मण में 48 खण्ड हैं। सायण ने पाँचवें प्रपाठक के अन्तिम दो खण्डों पर भाष्य नहीं लिखा। उन्होंने दसवें खण्ड पर ही ब्राह्मण की समाप्ति को माना है। उनके मत में तो कुछ 46 खण्ड हैं। इस भिन्नता से यह ज्ञात होता है कि अन्तिम प्रपाठक में कुछ गड़बड़ अवश्य हो चुकी है। इस समय तक षड्०ब्रा० के जिन सात संस्करणों का प्रकाशन हुआ है, उनमें व्यवस्था और विन्यासगत अत्यधिक भिन्नता है।

प्रतिपाद्यविषय–षड्०ब्रा० की विषय-वस्तु अध्यायों के अनुसार इस प्रकार है–

प्रथम अध्याय–इस अध्याय में 7 खण्ड हैं इसके पहले दो खण्डों में सुब्रह्मण्या निगद का वर्णन किया गया है। तीसरे खण्ड में तीनों सवनों के साम और उनके छन्दों का वर्णन है। चौथे खण्ड में ज्योतिष्टोम के सुत्याह के वाक् से पूर्व के कृत्यों तथा विश्वरुपागान का विधान है। पाँचवे खण्ड में वसिष्ठगोत्र में उत्पन्न ब्राह्मण को ही ब्रह्म के पद पर आसीन करने के लए कहा गया है। प्रजापति ने इन तीनों महाव्याहृतियों भूः, भुवः तथा स्वः को क्रमेण ऋग्वेद,

यजुर्वेद और सामवेद से निःसृत किया। तीन महाव्याहृतियों और प्रायश्चित कृत्यों का वर्णन भी इस खण्ड में है। छठे खण्ड में भी ज्ञात-अज्ञात गलतियों के प्रायश्चित का वर्णन है। सातवें खण्ड में अर्थवादपूर्वक सोमदेवविषयक अर्थात् सौम्यचरु के निवाप का वर्णन है।

द्वितीय अध्याय—यह अध्याय की सात खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड से लेकर तीसरे खण्ड में अग्निष्टोमान्तर्गत बहिष्पवमान के रेतस्या और धूरगानों का वर्णन है। चौथे खण्ड में होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता और प्रभृति ऋत्विजों तथा होत्राच्छंसी ओर चमसाध्वर्यु आदि उपऋत्विजों के यागगत प्रकीर्ण धर्मों को सामान्य रूप से निरुपित किया है। पाँचवे खण्ड से सातवें खण्ड पर्यन्त तीन सवनों में चमसभक्षण के लिए उपहवादि को कहा गया है।

तृतीय अध्याय—इस अध्याय के पहले दो खण्डों में यह बताया गया है कि होता आदि के द्वारा की गई भूलें यजमान के लिए हानिकारक हैं, इसी कारण उन्हें अपने कर्त्तव्य कर्म का पूरा ज्ञान प्राप्त करके यज्ञ को अंगवैकल्य से बचाये रखना चाहिए। तीसरे खण्ड में ऋत्विक्-वरण, राजा से यागभूमि की याचना, तथा यज्ञ के लिए उपयुक्त भूनिरुपण है। चौथे खण्ड में अवभृथ (स्नान) धर्म, यज्ञावशिष्ट द्रव्य का जल के निकट आनयन और रक्षोघ्न साम (अवभृथहेतुक) के गान हेतुओं आदि का वर्णन है। पाँचवें से नौवें खण्डों में अभिचारयागों का वर्णन है, इसीलिए इस ब्राह्मण का अत्यधिक महत्त्व है। पाँचवें खण्ड में त्रिवृत्स्तोम की दो विष्टुतियों, छठे में पंचदशस्तोम की विष्टुति, सातवें में सप्तदश स्तोम की विष्टुति, आठवें खण्ड में एकविंशस्तोम की विष्टुति और नौवे खण्ड में त्रिणवस्तोम की विष्टुति वर्णित है।

चतुर्थ अध्याय—यह अध्याय छः खण्डों में विभाजित है। पहले खण्ड में व्यूढद्वादशाह याग के धर्मों को निरूपित किया है। नौ दिनों के कृत्यों का ही यहाँ वर्णन है, क्योंकि प्रायणीयाख्य पहले दिन, 12वें और 10वें दिन के कृत्य सभी यागों के समान होते हैं। दूसरे खण्ड में श्येनयाग नामक अभिचार-याग को वर्णित किया है और स्तोत्रगत स्तोमों और सामों को कहा गया है। तीसरे और चौथे खण्डों में त्रिवृदग्निष्टोम और संदंश-यागों का वर्णन है। पाँचवें खण्ड में वज्रयाग का वर्णन तथा वज्र और संदंश यागों में गाए जाने वाली सामों की विशिष्टता वर्णित है। छठे खण्ड में वैश्वदेवाख्य त्रयोदशाह का वर्णन है।

पंचम अध्याय—इस अध्याय में सात खण्ड हैं। पहले खण्ड में अग्निहोत्र को वर्णित करते हुए उसकी ज्योतिष्टोम से तुलना की है। अग्निहोत्र के अनुष्ठान से

ही अन्य यागसाध्य इष्ट भी साधित होते हैं, ऐसा दूसरे खण्ड में कथन है। एक आख्यायिका को इसके समर्थन के लिए प्रस्तुत किया है। औदुम्बरी और यज्ञयूप को विशिष्टता के साथ तीसरे और चौथे खण्डों में वर्णित किया है। पाँचवे खण्ड में सन्ध्या-उपासना से सम्बन्धित वर्णन उपलब्ध होता है। छठे खण्ड में चन्द्रमा के घटने-बढ़ने का वर्णन है। सोमपान की दीक्षा देवगण शुक्लपक्ष में लेते हैं तथा सोम का भक्षण कृष्णपक्ष में कहते हैं। सोमपान के तीन पात्र पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक बतलाए गये हैं। इन पात्रों के द्वारा चन्द्रमा की 15 कलाएँ देवताओं के भक्षण में काम आती है और 16वीं कला का प्रवेश ओषधियों में हो जाता है। सातवें खण्ड में स्वाहादेवता की उत्पत्ति, पारिवारिक सम्बन्ध और उसके अक्षरादि को कहा गया है।

यह ब्राह्मणग्रन्थ श्रौतयागों के साथ ही लोक-विश्वासों के आधार पर चलने वाले समानान्तर धार्मिक विश्वासों से सम्बन्धित आनुष्ठानिक कृत्यों का भी श्रौतस्वरूप में प्रस्तावक है।

इस ब्राह्मण में 24 आख्यायिकाओं को यज्ञीय विधि-विधानों के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। यहाँ इन्द्र और अहिल्याविषयक आख्यान का विशेष रूप से उल्लेख मिलता है जिसका पुराणों में परवर्तीकाल में प्रचुर पल्लवन हुआ।

इस ब्राह्मण के अनेक संस्करण हैं, परन्तु सर्वश्रेष्ठ संस्करण प्रो॰ बी॰आर॰ शर्मा का 1867 में तिरुपति से प्रकाशित है।

विशेषताएँ—प्रातःसायं सन्ध्या का वर्णन सबसे पहले इसी ब्राह्मण में उपलब्ध होता है।[1]

प्राचीन युगों के नाम पहली बार इसी ब्राह्मण में उपलब्ध होते हैं।[2]

(3) सामविधान-ब्राह्मण

इस ब्राह्मण का विशिष्टता की दृष्टि से सामवेदीय ब्राह्मणों में तीसरा स्थान है। इस ब्राह्मण का विषय अन्य ब्राह्मणों में प्राप्त विषयों से बिल्कुल भिन्न है।[3]

1. तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते। षड्विंश ब्रा॰ 5/5/4
2. पुष्ये चानुमतिर्ज्ञेया सिनीवाली तु द्वापरे।
   खार्वायां तु भवेद्राका कृतपूर्वे कुहूर्भवेत्।। वही 5/6/5
3. बर्नेल ने सायण-भाष्य के साथ इसे मंगलोर (1875 ई॰) से लम्बी अंग्रेजी भूमिका के साथ प्रकाशित किया है।

ताण्ड्य और षड्विंश ब्राह्मण शाखान्तरीय ब्राह्मणों के समान अपने को श्रौतयागों के वर्णन तक ही सीमित रखते हैं, जबकि इस ब्राह्मण में जादू-टोने से सम्बद्ध सामग्री भी है। इस ब्राह्मण में वर्णित विषय अधिकांशतया धर्मशास्त्र के क्षेत्र में आते हैं। सामविधन ब्राह्मण में श्रौतयागों के साथ ही प्रायश्चित्तप्रयोग कृच्छ्रादि व्रत, कामयाग और अनेक लौकिक प्रयोजनानुवर्तित अभिचारकर्म आदि का भी वर्णन है। विषयवस्तु की दृष्टि से इस ब्राह्मण का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। ब्राह्मणग्रन्थों में इसकी विशिष्टता के अनेक कारण हैं, जो निम्न प्रकार से हैं–

(1) जपयज्ञ और स्वाध्याययज्ञ के रूप में यज्ञ को जो उत्तरोत्तर विस्तृत और विकसित रूप आरण्यकों और उपनिषदों में दृष्टिगोचर होता है, उसका मूल बिन्दु सा०वि०ब्रा० में ही है। इसमें स्वाध्याय एवं जप-तप को श्रौतयागों के तुल्य ही महत्त्व दिया गया है।

(2) इस ब्राह्मण में सामगान को सृष्टि के लिए जीवन-साधन के रूप में बतलाया गया है।[1]

इस ब्राह्मण की न तो पुनरुक्ति प्रधान शैली है और न ही अत्यधिक संक्षिप्त है। यह तो दोनों शैलियों के मध्य की रचना है। कुमारिल भट्ट ने सामवेद के आठों ब्राह्मणों के नामों को लिखा है, उनमें यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। सामविधान ब्राह्मण का भाषाशास्त्रीय और सांस्कृतिक दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व है। इस ब्राह्मण का साम-गानों की प्रस्तुति के सन्दर्भ के अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि इसमें कुछ ऐसे मन्त्र-प्रतीक उपलब्ध होते हैं जिनकी वर्तमान सामवेद-संहिता से पहचान नहीं हो पाती है।

विभाग, चयन-क्रम एवं प्रतिपाद्य विषय–सामवि०ब्रा० तीन प्रपाठकों और 25 अनुवाकों में विभाजित है। इसकी विषय वस्तु प्रपाठक क्रमेण निम्न प्रकार से वर्णित है–

पहले प्रपाठक के पहले अनुवाक में प्रजापति की उत्पत्ति और उनके द्वारा भौतिक सृष्टि, सामप्रशंसा और निर्वचन, सामस्वरों के देवता, देवों के निमित्त यज्ञ और यज्ञ के अनधिकारियों के लिए स्वाध्याय तथा तप का वर्णन है। दूसरे अनुवाक में कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र व्रतों के स्वरूप का उल्लेख प्राप्त होता है। तीसरे अनुवाक में स्वाध्याय और अग्न्याधेय के समान नियम, पावमान दर्शपूर्णमास,

1. 'स वा इदं विश्वं भूतमसृजत तस्य सामोपजीवनं प्रायच्छत।' सामवि०ब्रा० 1/1/6

अग्निहोत्र, पाँचरात्रिक प्रयोग, पशुबन्ध और सौत्रामणी-प्रयोगों का वर्णन है। चौथे अनुवाक में कुछ श्रौतयागों के साथ रुद्रादि की प्रतीति के साधन स्वरूप साम-गान वर्णित है। पाँचवें अनुवाक से आठवें अनुवाकों तक अश्लील-भाषण, चोरी, अगम्यागमन, अग्राह्य-ग्रहणादि विषयों पर प्रायश्चित्त वर्णित है।

दूसरे और तीसरे प्रपाठक के पहले तीन अनुवाकों में काम्य, रोगादिजन्यभयशमनार्थ, क्षेमार्थ और वशीकरणहेतुक अनेक प्रयोगों का उल्लेख प्राप्त होता है। चौथे से आठवें अनुवाकों में सामग्रीवैविध्य है। इनमें अभीष्ट की सिद्धि तथा असिद्धि विषयिणी परीक्षा, राज्याभिषेक प्रयोग, अद्भुत-अभिचार-शान्ति, युद्धविजय के निमित्त प्रयोग तथा अनेक बहुत से काम्यप्रयोगों का वर्णन है। ग्रन्थ की समाप्ति नौवें प्रपाठक के अन्त में तीन विषयों-सामसम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों का अनुक्रम, अध्ययन के अधिकारियों तथा उपाध्याय की दक्षिणा के वर्णन के साथ की है।

इस समय तक इस ब्राह्मण पर सायणाचार्य और भरतस्वामी के भाष्यों का मुद्रण हुआ है। सायण द्वारा व्याख्या किए बिना छोड़े हुए स्थलों पर भी 13वीं शती ई० की भरतस्वामी की व्याख्या में प्रकाश डाला गया है।

यह ब्राह्मणग्रन्थ धर्मसूत्रों की पूर्वपीठिका है, क्योंकि धर्मसूत्रों में विस्तृत वर्णित दोष, अपराध तथा प्रायश्चित इस ब्राह्मण में मुख्य रूप से प्रतिपादित किए हैं। समाज का विभाजन उस समय चार भागों में था तथा शूद्रा के साथ विवाह करने का निषेध था। जिन पापाचरणों के लिए प्रायश्चित का विधान है, उनके तत्कालीक समाज की स्थिति का ज्ञान होता है, परन्तु ये स्मृतियों में बताये गये अपराधों से अलग नहीं हैं सामवि०ब्रा० में अभिचार आदि कर्मों का अत्यधिक वर्णन है। वस्तुतः यदि यह ब्राह्मण प्राचीन है तो इसमें प्रक्षेप की बहुलता माननी पड़ेगी।

(4) आर्षेय-ब्राह्मण

यह सामवेद की कौथुम शाखा को मानने वालों का ब्राह्मण है। आर्षेय ब्राह्मण सामवेद के ब्राह्मणों में चतुर्थ स्थान पर आता है। इसमें केवल गानों के नाम उनके प्रसिद्ध नामान्तरों के साथ दिए हैं। जिन्होंने उन गानों की योजना की है, उन्हीं ऋषियों के नाम पर उन गानों के नाम हैं। इसी कारण आर्षेय-ब्राह्मण का नाम इस दृष्टि से सार्थक हैं कि इसका वर्ण्यविषय

ऋषियों से जुड़ा हुआ है। चार प्रकार के सामगानों में से आर्षेयब्राह्मण का सम्बन्ध पहले दो गानों ग्रामगेय और अरण्यगेय से है, जो महानाम्न्यार्चिका के साथ मिलकर सामसंहिता के पूर्वाधिक भाग के अन्तर्गत हैं। इस ब्राह्मण में ऊह और ऊह्यगानों पर प्रकाश नहीं डाला गया है। सामगायन के वैज्ञानिक अनुशीलन के लिए यह ब्राह्मण अत्यन्त उपयोगी है। सामवेद के वर्णन के समय सामयोनि ऋचाओं और सामों में अन्तर बताया गया है। सामगायन के प्रथम प्रचारक ऋषियों के वर्णन के कारण इस ब्राह्मण का ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। सामगान का विषय अत्यन्त कठिन एवं पेचीदा है। इसका सच्चा अध्ययन विशेष अध्यवसाय, मनोयोग तथा अनुशीलन का परिणाम हो सकता है। किसी समय देवताध्याय और आर्षेयब्राह्मण एक ही थे या एक ही ब्राह्मण के दो अध्याय थे। सायण भी इसी बात को स्वीकार करते हैं कि कभी ये दोनों ब्राह्मण एक ही थे।

ग्रन्थपरिमाण—यह ब्राह्मण का तिरुपति संस्करण 1867 में बी॰आर॰ शर्मा के द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है।

(5) देवताध्याय-ब्राह्मण

यह ब्राह्मण आकार की दृष्टि से सामवेदीय ब्राह्मणों में सबसे छोटा है। कुछ हस्तलेखों और प्रकाशित संस्करणों में केवल तीन खण्ड हैं। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें मुख्यरूप से निधन-भेद के सामों के देवताओं का वर्णन है।

इस ब्राह्मण में सामगानों के सूक्तों और ऋचाओं की नहीं, देवताओं के निर्णय की प्रक्रिया को कहा गया है। साम-गान के देवताओं के रूप में सबसे पहले अग्नि, इन्द्र, प्रजापति सोम, वरुण, त्वष्टाङ्गिरस पूषा, सरस्वती और इन्द्राग्नी का उल्लेख प्राप्त होता है।

अनेक छन्दों के नाम-निर्वचनों की निरुक्त से समानता है। इससे इस बात की प्रतीति होती है कि इन्हें दोनों ने ही किसी दूसरे ब्राह्मणग्रन्थ से लिया है, क्योंकि दोनों ही किसी ब्राह्मणग्रन्थ का उल्लेख करते हैं।

इस ब्राह्मण के दो संस्करणों का इस समय तक मुद्रण हुआ है—

(1) ए॰सी॰ बर्नेल द्वारा सम्पादित मंगलोर, 1873।

(2) बी॰आर॰ शर्मा द्वारा सम्पादित तिरुपति संस्करण, 1965।

इस ब्राह्मण के तृतीय खण्ड में शब्दों का प्रामाणिक विवेचन किया गया है। अत: भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है। इस खण्ड के विषय में पी॰डी॰ गुणे लिखते हैं–

We have there for, no hesitation in saying that the whole of the third khanda of Daiuat Brahmana is imitation of the Nirutka and quite out of place in the Brahman.

(6) उपनिषद्-ब्राह्मण

इस ब्राह्मण का नाम छन्दोग्य-ब्राह्मण भी है। यह 10 प्रपाठकों में विभक्त है। दुर्गामोहन भट्टाचार्य ने इसे छान्दोग्य-ब्राह्मण नाम से सम्पादित करके कलकत्ता से प्रकाशित कराया है। पहले दो प्रपाठकों में गृह्यकृत्यों में विनियुक्त मन्त्रों का संकलन है। इसी कारण सुविधानुसार इस अंश को मन्त्रब्राह्मण या मन्त्र-पर्व भी कहा जाता है। शेष आठ प्रपाठकों को छान्दोग्योपनिषद् कहते हैं। दोनों ही अंशों मन्त्र और उपनिषद् को मिलाकर यह पूरा ग्रन्थ 'उपनिषद-ब्राह्मण के रूप में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है जो कि कुछ हस्तलेखों की पुष्पिकाओं में कहा गया है।[1]' इसका अभिप्राय यह है कि इस ब्राह्मण के दोनों भागों-कर्मकाण्डपरक मन्त्रभाग और उपनिषद् के अंश को मिलाकर एक सम्पूर्ण ग्रन्थ बन जाता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि मन्त्र ब्राह्मण का ही दूसरा नाम छान्दोग्य-ब्राह्मण है।

इस ब्राह्मण पर दो व्याख्याएँ प्राप्त होती है जो इस प्रकार है–गुणविष्णुकृत 'छान्दोग्य-मन्त्रभाष्य' और सायणकृत 'वेदार्थप्रकाश'। गुणविष्णु सायण से पूर्ववर्ती हैं।

मन्त्र-भाग के अतिरिक्त आठ प्रपाठकों अथवा अध्यायों में सुप्रसिद्ध छान्दोग्योपनिषद् भी छान्दोग्यब्राह्मण का भाग है। उपनिषद् के अंश पर शांकरभाष्य के अतिरिक्त आनन्दतीर्थ आदि के भाष्य भी प्राप्त होते हैं।

(7) संहितोपनिषद्-ब्राह्मण

इस ब्राह्मण का सम्बन्ध सामवेद की कौथुम शाखा से है। सामगायन का विवरण प्रस्तुत करने में इसका विशेष महत्त्व है।

1. इत्युपनिषद्ब्राह्मणे मन्त्राध्यायस्य कर्मकाण्डे द्वितीयः प्रपाठकः।

संहितोपनिषद् ब्राह्मण में संहिता शब्द का प्रचलित अर्थ में प्रयोग न होकर इसका अभिप्राय यहाँ ऐसा सामगान है, जिसका गान विशेषस्वर-मण्डल से अनवरत रूप में किया जाता है। द्विजराज ने संहिताओं के दो रूप माने हैं—आर्चिकसंहिता और गानसंहिता। उनके अनुसार संहितोपनिषद् ब्राह्मण के प्रथम और द्वितीय खण्डों में क्रमेण इनका वर्णन किया है।

ग्रन्थपरिमाण—यह अत्यधिक लघु ब्राह्मण है। इसमें एक ही प्रपाठक है। यह पाँच खण्डों में विभाजित है। इस ब्राह्मण में सामगायन से उत्पन्न होने वाले प्रभाव को वर्णित किया है और साम और सामयोनि मन्त्रों तथा पदों के आपसी सम्बन्ध का वर्णन है। दूसरे और तीसरे खण्डों में सामगान की पद्धति का विधिपूर्वक वर्णन है यह सामगाताओं के लिए अत्यधिक महत्त्व रखती है। तीसरे खण्ड में विद्या-दान की दृष्टि से अधिकारियों का वर्णन किया है। चौथे और पाँचवें खण्डों में भी इसी विषय का उपबृंहण हुआ है। इस प्रसंग में इसके "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम" प्रभृति मन्त्र अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं इनको निरुक्त में उद्धृत और मनुस्मृति में भावानुवाद किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ब्राह्मण निरुक्त तथा मनुस्मृति से प्राचीन है।[1]

भाष्य—इस ब्राह्मण पर दो भाष्य उपलब्ध होते हैं। जो इस प्रकार है—सायणकृत वेदार्थप्रकाश और द्विजराजभट्टकृत भाष्य। इस समय वेदार्थप्रकाश पहले खण्ड तक ही प्राप्त होता है।

द्विराजभट्ट का भाष्य सभी खण्डों पर है। कुछ स्थलों पर वह सायणभाष्य की तुलना में अधिक उपयोगी है। 1965 ई० में डॉ० बी०आर० शर्मा द्वारा सम्पादित संहितोपनिषद् ब्राह्मण का प्रकाशन तिरुपति से हुआ है।

इस ब्राह्मण में सामवेद के आरण्यगान और ग्रामगेय गान का नाम आया है। यह ब्राह्मण पुराने ब्राह्मणवाक्यों और श्लोकादिकों का संग्रह है। इसमें सामवेद और प्रातिशाख्यरूप सूत्र, सामतन्त्र और फुल्लसूत्रादि है। इनका मूल इस ब्राह्मण के द्वितीय और तृतीय खण्ड में है।

(8) वंशब्राह्मण

यह सामवेद का आठवाँ ब्राह्मण है। इस ब्राह्मण में साम-सम्प्रदाय के प्रवर्तक ऋषियों और आचार्यों की वंशपरम्परा वर्णित हैं जिनके द्वारा सामवेद का

1. टीका के साथ इसका संस्करण बर्नेल ने मंगलोर से 1877 ई० में प्रकाशित किया है।

अध्ययनक्रम अग्रसर हुआ है। यह तीन खण्डों मे विभाजित है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ब्रह्मा, ब्राह्मणों, आचार्यों, ऋषियों और देवों-वायु, मृत्यु, विष्णु और वैश्रवण को प्रमाण किया है। सायण इन सभी को परापर गुरु मानते हैं। प्रमाण के बाद पहले दो खण्डों में परम्परा की अन्तिम कड़ी शर्वदत्त गार्ग्य से आरम्भ करके काश्यप अन्त तक ऋषिपरम्परा वर्णित है। प्राचीन ऋषियों के इतिहास को जानने के लिए यह अत्यन्त उपादेय होगा।

वंशब्राह्मण के प्राप्त चार संस्करण इस प्रकार हैं–

(1) सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा सम्पादित कलकत्तासंस्करण

(2) वेबर द्वारा 'इन्दिशे स्तूदियन में प्रकाशित।'

(3) ए०सी० बर्नेल द्वारा सम्पादित तथा मंगलोर से प्रकाशित

(4) बी०आर० शर्मा द्वारा सम्पादित तथा तिरुपति से 1965 में प्रकाशित।

जैमिनिशाखा के ब्राह्मण–इस समय तक जैमिनिशाखा के तीन ब्राह्मणग्रन्थ उपलब्ध हुए है ओर तीन का ही प्रकाशन हुआ है। जो इस प्रकार है–जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीयार्षेय-ब्राह्मण और जैमिनीयोपनिषद्-ब्राह्मण। विद्वानों की यह धारणा है कि देवताध्याय, वंश और सामविधान ब्राह्मणों का सम्बन्ध कौथुम-राणायनीय के साथ ही जैमिनीय शाखा से भी रहा है। सामविधान ब्राह्मण में बहुत से ऐसे सामों का वर्णन है, जो सम्प्रति मात्र जैमिनिशाखीय संहिता में ही प्राप्त होते हैं।[1] जैमिनिशाखीय ब्राह्मणों की प्राचीनता भाषा में प्राचीनरूपों की अवस्थिति, वर्णनशैली तथा आख्यानों की पुरातन रूपवत्ता से सिद्ध होती है। जैमिनीय-ब्राह्मण ऋगादि से सम्बद्ध अन्य ब्राह्मणों के समान ब्राह्मण जैसी शैली में रचित है, परन्तु कौथुमशाखा के ब्राह्मणों में सूत्रशैली भी दिखाई पड़ती है। ऋग्वेद के समान 'ळ' व्यंजन का सुरक्षित होना इस ब्राह्मण की भाषा की एक विशिष्टता है। जो जैमिनीयब्राह्मण प्राप्त होते हैं वे निम्न प्रकार से हैं–

(1) जैमिनीय-ब्राह्मण–इस ब्राह्मण का विभाजन तीन भागों में है। इसके पहले भाग में 360, दूसरे में 437 और तीसरे में 385 खण्ड हैं। इसमें कुल 1182 खण्ड है। बड़ौदा के सूची ग्रन्थ[2] में इसका एक दूसरा परिमाण का भी

1. 'अयमग्निः श्रेष्ठतमः'–साम०वि०ब्रा० 3/4/4 तथा 'यदिदस्तन्वो मम'–सामवि०ब्रा० 1/1/1
2. हस्तलिखित ग्रन्थों का सूचीपत्र, प्रथम भाग, पृ० 105

उल्लेख प्राप्त होता है, जिसके अनुसार उपनिषद् ब्राह्मण को मिलाकर इसमें 1427 खण्ड हैं। इसमें 1348 खण्ड प्रपंचहृदय के अनुसार होने चाहिए। जैमिनीय ब्राह्मण के आरम्भ और अन्त में प्राप्य श्लोकों में जैमिनि की स्तुति की है।

जैमि०ब्रा० और ता०ब्रा० की अधिकांश सामग्री समान है या दोनों में सोमयागगत औदगात्रतन्त्र को निरूपित किया गया है। प्रकृतियाग, गवामयन (सत्र), एकहा, दशाह, अन्य विभिन्न एकाहो और अहीनयागों को दोनों में ही प्रतिपादित किया गया है, किन्तु प्रतिपाद्य विषय की समानता होने पर भी दोनों के विवरण में बहुत भिन्नता दिखाई देती है। जैमि०ब्रा० में आख्यानों की दृष्टि से विस्तार है तथा कौथुमशाखीय ब्राह्मणों में संक्षेप है। डॉ० अर्टेल[1] और डॉ० कालेण्ड[2] ने इस ब्राह्मण के कुछ खण्ड प्रकाशित कराए थे।

विशेषताएँ–इस ब्राह्मण को तलवकार नाम से भी जाना जाता है। इस ब्राह्मण के वाक्य, ताण्ड्य, षड्विंश, शतपथ और तैत्तिरीय संहिता के वाक्यों से अधिकतर मिलते हैं। इस ब्राह्मण में ऐसे मन्त्र भी पर्याप्त हैं जो सर्वप्रथम इसी में उपलब्ध हुए हैं।

एक उक्ति जो सारे संसार की भाषाओं में किसी न किसी रूप में विद्यमान है, वह इसी ब्राह्मण में पाई जाती है। यथा–मोच्चैरिति होवाच कर्णिनी वै भूमिरिति। अर्थात् ऋषि अपनी पत्नी से कहता है कि ऊँचे मत बोलो, भूमि के भी कान होते हैं। दीवारों के भी कान होते हैं, लोक में यह उक्ति प्रचलित है।

अग्निहोत्र का विस्तृत वर्णन इस ब्राह्मण के आरम्भ के अनेक खण्डों में उपलब्ध होता है। इसी ब्राह्मण में अनेक अत्यन्त सुन्दर उपमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

संकलन–कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के शिष्य सुप्रसिद्ध सामवेदाचार्य, जैमिनि और उनके शिष्य तलवकार ने इस ब्राह्मण का संकलन किया है।

जैमिनीयब्राह्मण के प्रचार देश–चरणव्यूह टीका की तीसरी कण्डिका में यह लिखा है–'कर्णाटके जैमिनि प्रसिद्धा'। अर्थात् जैमिनीयशाखा कर्णाटक देश में प्रसिद्ध है। इस समय जितने की हस्तलेख इस शाखा के मिले हैं वे सब

---

1. Jaos. Vold. xviii, xix, xxvi, xxviii, etc.
2. (क) Das Jaiminiya Brahmana in Auswahl, 1919.
   (ख) p. 61, Vol. xxviii, WZKM.

मालावार, त्रिवेन्द्रम आदि के समीप ही प्राप्त हुए हैं। डॉ॰ रघुवीर तथा लोकेशचन्द्र द्वारा सम्पादित तथा 1954 में सरस्वती विहार, नई दिल्ली से प्रकाशित संस्करण भी प्राप्त होता है।

(2) जैमिनीयार्षेय-ब्राह्मण—यह ब्राह्मण डॉ॰ बी॰आर॰ शर्मा के द्वारा जैमिनीयोपनिषद् के साथ सम्पादित होकर तिरुपति से 1967 में प्रकाशित हुआ है। कौथुमशाखीय आर्षेय—के समान इसके प्रारम्भ में भी पहले दो वाक्यों को छोड़कर स्वाध्याय तथा यज्ञ की दृष्टि से ऋषि, छन्द और देवता के ज्ञान पर बल दिया गया है। 'अथ खल्वयमार्षप्रदेशः भवति' यह वाक्य कौथुमशाखीय आर्षेयब्राह्मण के प्रारम्भ में प्राप्त होता है। यह इस ब्राह्मण में उल्लिखित नहीं है। प्रतिपाद्यविषय दोनों के समान हैं, परन्तु कहीं-कहीं इन शाखाओं की संहिताओं में प्राप्त अन्तर के कारण गानों के क्रम में अन्तर है। कौथुमशाखीय आर्षेयब्राह्मण में वैकल्पिक नाम भी दिये गए हैं, परन्तु इसमें वे प्राप्त नहीं होते हैं। इस कारण यह कौथुम की तुलना में यह संक्षेप में हैं।

इस ब्राह्मण में 84 खण्ड हैं। यह छोटा सा ब्राह्मण तलवकारशाखा की ऋष्यनुक्रमणी समझनी चाहिए। कौथुमशाखा के आर्षेयब्राह्मण में जो एक ही मन्त्र के दो या अधिक ऋषि लिखे हैं, उनके स्थानों में यहाँ एक ही नाम उपलब्ध होता है। इससे यह विदित होता है कि सम्भवतः कौथुम-आर्षेय-ब्राह्मणों में बहुत प्रक्षेप अथवा पाठान्तर अथवा रूप परिवर्तन हो चुका है, परन्तु यह कोई दृढ़ परिणाम नहीं है।

(3) जैमिनीयोपनिषद्-ब्राह्मण—इस ब्राह्मण में चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में अनुवाक और खण्ड हैं। इसका महत्त्व अनेक कारणों से है। जैसे—पुरातन भाषा, शब्दावली, वैयाकरणिक रूपों ओर ऐसे ऐतिहासिक ओर देवशास्त्रीय आख्यान। इनमें अनेक विधियों में प्राचीन विश्वास और रीतियाँ सुरक्षित हैं। यह कौथुम-शाखा के सभी ब्राह्मणों में अत्यधिक प्राचीन है और इसे सुगमतापूर्वक प्राचीन ब्राह्मणों के बीच में रखा जा सकता है। इसमें कुछ ऐसी प्राचीन एवं धार्मिक मान्यताएँ विद्यमान हैं, जिनका दूसरा ब्राह्मणों में उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

ओङ्कार और हिङ्कार की महत्ता पर प्रारम्भ में विशेष बल दिया गया है। सृष्टि-प्रक्रिया तीनों वेदों पर आधारित है। ब्राह्मणकार बार-बार ओङ्कार के महत्त्व को बतलाया है कि यह वही अक्षर है जिससे ऊपर कोई भी नहीं उठ सका; यही ओम् परमज्ञान और बुद्धि का आदि कारण है।

जैमि॰उप॰ब्रा॰ की समाप्ति इस कथन से हुई है–सैषा शाट्यायनी गायत्रस्योपनिषद् एवमुपासितव्या। इसके पश्चात् केनोपनिषद् प्रारम्भ हो जाता है। जैमि॰उप॰ब्रा॰ में भागविधियों का उल्लेख अन्य ब्राह्मणों के समान नहीं है। इसका वर्ण्य-विषय किसी ब्राह्मणग्रन्थ की अपेक्षा आरण्यक अथवा उपनिषद् के अधिक समीप है। तुलनात्मक दृष्टि से ओङ्कार, हिङ्कार और गायत्रसामादि की उपासना पर अधिक बल देने और आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टियों से सामगानगत तत्त्वों की व्याख्या करने के कारण इसकी छान्दोग्योपनिषद् से घनिष्ठ समानता दृष्टिगोचर होती है।

आख्यान और आख्यायिकाओं की दृष्टि से तो यह आकर ग्रन्थ है। गंगा और यमुना की अन्तर्वेदि में स्थित कुरु-पांचाल जनपदों के विद्वान् ब्राह्मणों को ब्राह्मणकार ने विशेष महत्त्व प्रदान किया है उन राजाओं का उल्लेख इस ब्राह्मण में मिलता है जो कुरु पांचाल जनपदों के इन विद्वान् ब्राह्मणों के पास आकर अपनी शंकाओं का समाधान किया करते हैं।

विशेषताएँ–कौथुमशाखा का यह पुराणब्राह्मण है। अभिचार कर्म तथा तन्त्र प्रक्रिया को इसमें विशेष रूप से वर्णित किया गया है। यज्ञ तथा यज्ञप्रक्रिया के साथ-साथ इस ब्राह्मण में ओ३म् तथा गायत्री का विश्लेषणात्मक अध्ययन है। इसमें अनेक गाथाएँ हैं।

इस ब्राह्मण के दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं जो निम्न हैं–

(1) रामदेव के द्वारा सम्पादित तथा 1921 में लाहौर से प्रकाशित।

(2) डॉ॰ बी॰आर॰ शर्मा के द्वारा सम्पादित और तिरुपति से 1967 में प्रकाशित।

सामवेदीय ब्राह्मणों में निहित आचार-दर्शन

ब्राह्मणग्रन्थों में जगह-जगह पर नैतिक भावना और मानवीय उदात्तता के नियामक मनोभाव निहित हैं।

जीवन की यज्ञरूपता–मानव का जीवन यज्ञरूप है, जिसमें वाणी होतृस्थानीय है, चक्षु अध्वर्यु है, मन ब्रह्मा है, क्षोत्र उद्गाता है, अन्य अंग चमासध्वर्यु (सहायक ऋत्विक्) हैं और आँखों के बीच में विद्यमान आकाश ही सदस्य है। (षड् ब्रा॰ 2/6/2-3)।

सत्य, ज्ञान और तप का अनुष्ठान—सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों की पंक्ति-पंक्ति में सत्य, ज्ञान और तपस्या पर बल प्रदान किया गया है। सामविधान ब्राह्मण में इस प्रकार कहा गया है कि सत्य बोलना चाहिए तथा अनार्यों के साथ सम्भाषण से बचना चाहिए[1]—

देवताध्याय ब्राह्मण में इस प्रकार प्रार्थना की गई है कि—ज्ञान और सत्य मेरी रक्षा करें।[2] वाणी की शुद्धि के लिए किसी के पापपूर्ण कृत्य का कथन भी नहीं करना चाहिए—"यो वै पापं कीर्त्तयति तृतीयमेवांशे पाप्मनो हरति"। (5/6/10) वाणी की शुद्धि तभी सम्भव हो सकती है जब मानसिक ध्यान कर उसका प्रयोग किया जाये, अर्थात् सोच-विचार कर बोला जाए। जैसा ताण्ड्य ब्रा० में कहा है—"वाचं मनसा ध्यायेत।[3] जिस पर मिथ्याभाषण का आरोप लग जाता है, उसका मानव ही नहीं, देवगण भी परित्याग कर देते हैं और उसके द्वारा दी गई आहुति उनके द्वारा स्वीकृत नहीं की जाती।"[4]

सत्य और ज्ञान के साथ ही ब्राह्मणों में तपस्या का गौरव भी बार-बार प्रदर्शित होता है। मानवीयचरित्र तप के अनुष्ठान से अत्यन्त उज्ज्वल हो जाता है, क्योंकि इस पृथिवी पर जो भी है वह सब तपस्या से ही प्रादूर्भूत है। इसके सन्दर्भ में षड्विंश ब्राह्मण (5/1/2) में कहा है—देवा वै तपोऽतप्यन्त। तेषां तप्यमानानां रसो जायत पृथिव्यन्तरिक्षद्यौरिति। तेऽभ्यतपन। तेषां तप्यमानानां रसोऽजायत। अर्थात् देवों की तपोमयी साधना से ही समस्त सारभूत तत्त्व गार्हपत्याग्नि प्रभृति अग्नियाँ तथा अन्य सभी वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार इसीलिए समस्त समृद्धियाँ तपोरत व्यक्तियों को ही प्राप्त हुई।[5]

सामवेदीय ब्राह्मणों में इन आचारघटक तत्त्वों के वर्णन के साथ ही उन दुर्बलताओं और विकृतियों का विवेचन भी हुआ है जो मानवीय गरिमा के स्खलन की प्रतीक हैं। छान्दोग्योपनिषद् (5/10/9) में इस प्रकार कहा गया है कि स्वर्णतस्कर, मद्यप, गुरु-स्त्रीगामी और किसी की हत्या करने वाले तो पतित हैं ही, इनसे सम्बन्ध रखने वाला भी पतित हो जाता है।[6]

1. 'सत्यं वदेत्, अनार्यैर्न सम्भाषेत्'। सामवि०ब्रा० 1/2/7
2. ब्रह्म सत्यं च पुनातु माम्। देवता०ब्रा० 1/4/5
3. ताण्ड्य ब्रा० 6/7/8
4. देवता वा एतं परित्यजन्ति यमनृतमभिशंसन्ति। ताण्ड्य ब्रा० 18/1/11
5. तपश्चितो देवाः सर्वामृद्धिमाप्नुवन्। ताण्ड्य ब्रा० 25/5/3
6. स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति

ताण्ड्यब्राह्मण में चोर को समाज का शत्रु कहा गया है।[1] ताण्ड्य ब्राह्मण में ही उन लोगों को अति निकृष्ट बताया है जो कृषि अथवा वाणिज्य प्रभृति जीविका के प्रशस्त साधन को नहीं अपनाते।[2]

अथर्ववेदीयब्राह्मण

गोपथब्राह्मण–अथर्ववेद का यह एक ही ब्राह्मणग्रन्थ उपलब्ध है। इस ब्राह्मण में शौनकीय शाखा के मन्त्रों का भी निर्देश प्रतीकों के द्वारा किया गया है। इसी कारण इस शाखा से भी इसका सम्बद्ध मान लिया गया था, किन्तु इस समय गोपथब्राह्मण का सम्बन्ध पैप्पलाद शाखा से निश्चित हो गया है, क्योंकि अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र के रूप में पतंजति ने 'शन्नो देवीरभिष्टये' को उद्धृत किया है। यह मन्त्र पैप्पलाद शाखा के अथर्ववेद में ही उपलब्ध होता है। इसका वर्णन गोपथ-ब्राह्मण में भी प्राप्त होता है। वेंकटमाधव की ऋग्वेदानुक्रमणी से भी इसकी पुष्टि हो जाती है।[3]

गोपथब्राह्मण का नामकरण–नामकरण के सम्बन्ध में तीन मत प्राप्त होते हैं जो इस प्रकार हैं–

(1) इस ब्राह्मण के वक्ता ऋषि गोपथ थे, उन्हीं के नाम पर यह ग्रन्थ प्रसिद्ध हुआ। यह स्मरण रखने योग्य है कि शौनकीयय अथर्ववेद के चार सूक्तों (19/47–50) के द्रष्टा गोपथ माने जाते हैं। ऐतरेय, कौषीतकि ओर तैत्तिरीय आदि अन्य ब्राह्मणग्रन्थ भी अपने प्रवचनकर्त्ता आचार्यों के नाम पर प्रसिद्ध है।

(2) यहाँ 'गोपथ' शब्द को गोप्ता से निष्पन्न माना हे। अथर्वाङ्गिरसों की प्रसिद्धि यज्ञ के गोप्ता (रक्षक) के रूप में है।[4] 'गुप्' धातु से अथ के योग से 'गोपथ' शब्द व्युत्पन्न होता है। इन्हीं गोपथों से सम्बन्धित यह ब्राह्मणग्रन्थ है।

(3) गोपथब्राह्मण ने शतपथब्राह्मण से पुष्कल सामग्री ग्रहण की है। इसी कारण नामकरण में भी उसी परम्परा का अनुवर्तन हुआ। जिस प्रकार सौ अध्यायों के आधार पर शतपथ ब्राह्मण का नाम पड़ा, उसी प्रकार 11 इन्द्रियों की समानता से गोपथ में भी 11 प्रपाठक हैं, गो शब्द इन्द्रियवाचक भी है। अतः यह समानता ही गोपथ के नामकरण का हेतु है।

---

1. 'ये वै स्तेना रिपवस्ते'। ताण्ड्य ब्रा॰ 4/7/5
2. ता॰ब्रा॰ 17/1/2
3. ऐतरेयमस्माकं पैप्पलादमथर्वणाम्। तित्तिरिप्रोक्तं जानन् वृद्ध इहोच्यते। ऋग्वेदानु॰ 8/1/13
4. अथर्वाङ्गिरसो हि गोप्तारः। गो॰ब्रा॰ 1/1/13

गोपथब्राह्मण का विभाग—आथर्वण परिशिष्ट में लिखा है कि गोपथ कभी 100 प्रपाठक का ब्राह्मण था। लेकिन इस समय गोपथब्राह्मण के दो भाग हैं—पूर्व और उत्तर।[1] इसके पूर्वभाग में पाँच तथा उत्तरभाग में छः प्रपाठक हैं। इसके कुल प्रपाठकों की संख्या केवल 11 है। पूर्वभाग के पाँचों प्रपाठकों में कुल 135 कण्डिकाएँ हैं तथा उत्तरभाग में कुछ 123 कण्डिकाएँ हैं।

गोपथब्राह्मण में प्रतिपादित विषय-वस्तु—गोपथब्राह्मण में निरूपित विषय-वस्तु दूसरे ब्राह्मणों की तुलना में अत्यधिक व्यापक है। पूर्वभाग के प्रथम प्रपाठक में सबसे पहले अथर्ववेद के अनुसार सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। उसी के अनुसार सृष्टि की कामना से स्वम्भू ब्रह्म का तप, जल, सृष्टि, जल में रेतः स्खलन, शान्तजल के रेतस् से भृगु, अथर्वा, आथर्वण ऋषि, अथर्ववेद, ओंकार, लोक और त्रयी के आविर्भाव का वर्णन है। अशान्त जल के समुद्र से वरुण, मृत्यु, अँगिरा, अँगिरस ऋषि, आँगिरस वेद, जगत्, वेद, व्याहृतियों, शम्, चन्द्रादि तथा यज्ञ की उत्पत्ति बतलाई गई है। देवयज्ञों के संरक्षक के रूप में अथर्वांगिरसों तथा दक्षिणा को भी यहाँ निरूपित किया है। इसके बाद प्रणवोपनिषद् है—उसमें पुष्कर, के ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म की सृष्टि, ओङ्कार-दर्शन और ओङ्कार-जप का फल, प्रश्नोत्तर के रूप में वर्णित हैं इसके बाद गायत्र्युपनिषद् है, जिसमें गायत्री मन्त्र की विशद् व्याख्या उपलब्ध होती है। इसी प्रपाठक के अन्त में आचमनविधि का वर्णन है। द्वितीय प्रपाठक की पहली आठ कण्डिकाओं में ब्रह्मचारी के महत्त्व और कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है। इसी के बाद यज्ञ के चारों ऋत्विजों की भूमिका वर्णन किया गया है। तीसरे प्रपाठक का विषय भी यज्ञ विवेचन ही है। इसमें ब्रह्मा के महत्त्व को विशेष रूप से वर्णित किया है। दर्शपूर्णमास, ब्रह्मोध, अग्निहोत्र, अग्निष्टोम आदि पर बड़े व्यापक रूप में विचार किया गया है। चौथे प्रपाठक में गवामयनादि सत्रयागों की मीमांसा की गई है। पाँचवें प्रपाठक में भी यही क्रम चलता रहता है। इसमें यज्ञ-क्रम, विभिन्न ऋत्विजों की वाणी आदि की प्राप्ति, अँगिरा की उत्पत्ति, ऋत्विजों के कृत्यों का वर्णन प्राप्त होता है। अन्त में बहुसंख्यक कारिकाएँ भी हैं जो यज्ञ-क्रम के स्मरण को सुगम. बनाने के उद्देश्य से हैं।

गोपथब्राह्मण में निरूपित यागेतर आध्यात्मिक तत्त्व-सम्पत्ति—गोपथब्राह्मण में आथर्वणपरम्परा का पालन करते हुए आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रचुरता से वर्णन

1. 'तत्र गोपथाः शतप्रपाठकं ब्राह्मणमासीत्। तस्यावशिष्टे द्वे ब्राह्मणे पूर्वमुत्तरं चेत्ति।' चरणव्यूह 4/5

हुआ है। ओंकार, महाव्याहृतियों, गायत्री (सावित्री) मन्त्र और मानसिक संयम पर यह ब्राह्मण विशेषबल प्रदान करता है। ओंकार के सहस्रसंख्यक जप से सारी कामनाएँ पूर्ण हो जाती है।[1] सविता कौन है और सावित्री क्या है इस रूप में प्रश्न उठाकर सावित्री की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। यथा–मन सविता है और वाणी सावित्री। दूसरे उल्लेख में अग्नि सविता है और पृथिवी सावित्री। इसी प्रकार के अन्य अनेक युग्मों-वायु और अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यु, चन्द्रमा और नक्षत्र, दिन और रात्रि, ग्रीष्म और शीत, मेघ और वर्षा, विद्युत् और गर्जना, प्राण और अन्न, वेद और छन्द, यज्ञ तथा दक्षिणा आदि के माध्यम से सविता और सावित्री का वर्णन किया है।

यद्यपि गोपथब्राह्मण में प्रजापति का वर्णन है, परन्तु ब्रह्म का महत्त्व सर्वोपरि है। सृष्टि उसी ब्रह्म से उत्पन्न हुई है। कैवल्य की अवधारणा का वर्णन भी इसमें किया गया है।[2]

सृष्टि-प्रक्रिया और आचारदर्शन–गोपथब्राह्मण का स्तर आचार की दृष्टि से अत्यन्त उच्च तथा उदात्त है। ब्रह्म के श्रम और तप से सृष्टि का प्रारम्भ हुआ। भृगु और अथर्वा आदि ऋषियों ने भी श्रम और तप का अनुष्ठान किया। श्रम और तप से ही देवसृष्टि और लोक-सृष्टि सम्भव हुई। तीनों वेदों और महाव्याहृतियों का निर्माण भी इसी से हुआ।[3]

इस ब्राह्मण में मन को अत्यधिक महत्त्व दिया है। मनुष्य मन से जो सोचता है, वही होता है–स मनसा ध्यायेद्, यद् वा अहं किं च मनसा ध्यास्यामि तथैव तद् भविष्यति। तद्ध स्म तथैव भवति। आधे-अधूरेपन से कार्य करने का भी यहाँ निषेध किया गया है।[4]

दूसरे प्रपाठक में ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का विस्तार से वर्णन किया है। ऐन्द्रिक रागों और आकर्षणों से उसे बचने के लिए कहा गया है। उसे कई चीजों से और बचना चाहिए जैसे–स्त्री-सम्पर्क, दूसरों को कष्ट पहुँचाने, ऊँचे आसन पर बैठना। उसकी रक्षा संरक्षित धर्म ही करता है।[5]

---

1. तदेतदक्षरं ब्राह्मणो यं काममिच्छेत्, त्रिरात्रोपोषितः प्राङ्मुखो वाग्यते बर्हिष्युपविश्य सहस्रकृत्व आवर्तयेत्। सिद्ध्यन्त्यस्यार्थाः सर्वकर्माणि चेति ब्राह्मणम्। 121/12
2. गोपथ ब्रा॰ 1/1/30
3. गोपथ ब्रा॰ 1/1/6
4. गोपथ ब्रा॰ 1/1/9
5. धर्मो हैनं गुप्तो गोपायति।

अनेक नैतिक नियमों का उल्लेख यज्ञ-दीक्षा के प्रकार में हैं। श्रेष्ठ बुद्धि से युक्त व्यक्ति को ही 'दीक्षित' माना गया है।[1]

निर्वचनप्रक्रिया–अनेक रोचक निर्वचन अन्य ब्राह्मणों की तरह गोपथब्राह्मण में भी उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ–धारण करने से धारा, जन्म देने के कारण 'जाया', 'वरण', से वरुण, 'मुच्चु' से मृत्यु, प्रजापालन के कारण प्रजापति, भरण करने से कारण भृगु, अथ और अर्वाक् के योग से अथर्वा अंग और रस के योग से अंगरस या अँगिरस की निरुक्ति का निरूपण किया है।

विशेषताएँ–पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि साम के छोटे-छोटे ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य सब ब्राह्मणों की अपेक्षा यह ब्राह्मण अधिक नवीन है। इसको प्रमाणित करने के लिए वे विद्वान् भाषा के भेद का प्रमाण देते हैं। उनके अनुसार गोपथब्राह्मण की भाषा दूसरे ब्राह्मणों की अपेक्षा नवीन है, परन्तु भाषा भेद को प्रमाण नहीं मानना चाहिए, कुछ और परिणाम निकले तो उन पर दृष्टि डालनी चाहिए। यथा–

एक ही स्थान पर गोपथब्राह्मण में अनेक यज्ञों के नाम लिखे गए हैं। एक ही स्थान पर मन्त्र, कल्प और ब्राह्मण का उल्लेख प्राप्त होता है। पूर्वभाग 1/32-33 में गायत्री मन्त्र का अनेक प्रकार से व्याख्यान प्राप्त होता है। इसी ब्राह्मण के पूर्वभाग (1/29) में अथर्वों का चन्द्रमा देवता, और जल स्थान कहा है जबकि अन्य ब्राह्मणों में अथर्ववेद का छन्द, देवता और लोक का स्थान कहीं नहीं लिखा गया है।

पूर्वभाग 1/29 में सामवेद की खिलश्रुति भी कही है। वसिष्ठ के आश्रमों का वर्णन पूर्वभाग 2/8 में विपाट् नदी के मध्य बड़ी-बड़ी शिलाओं पर कहा गया है। अनेक प्राचीन साम्राज्यों को पूर्व भाग 2/10 में वर्णित किया गया है।

इसके अतिरिक्त गोपथब्राह्मण की और विशेषताएँ भी हैं, जो निम्नांकित हैं–

(1) गोपथब्राह्मण में अथर्ववेद और उसके ऋषियों, भृगु, अँगिरा, अथर्वा आदि पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

(2) पूर्णनिष्ठाप्राप्त वेदों के साथ ही सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद और पुराणवेदों का उल्लेख भिन्न वेदों के रूप में प्राप्त होता है।[2]

---

1. श्रेष्ठां धियं क्षियतीति। तं वा एतं धीक्षितं सन्तं दीक्षित इत्याचक्षते परोक्षेण।
   गोपथ ब्रा० 1/3/19
2. गोपथब्राह्मण 1/1/10

(3) व्याकरण की शब्दावली धातु, प्रातिपदिक, विभक्ति, प्रत्यय, विकार, विकारी, स्थानानुप्रदान आदि का यहाँ उल्लेख प्राप्त होता है, जिसका विकास सूत्रकाल में हुआ।[1] अव्यय की आज तक प्रचलित परिभाषा भी यहीं प्राप्त होती है–

सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु।

वचनेषु च सर्वेषु यन्नव्येति तदव्ययम्।।

(4) गो०ब्र० 1/2/10 में कुरु-पांचाल, अंग, मगध, काशी, शल्व, मत्स्य, सवश, उशीनर और वत्स जनपदों के नाम दिये गये हैं।

(5) गो०ब्रा० 1/2/10 में ही परीक्षितपुत्र जनमेजय तथा सार्वभौम राजा यौवनाश्व मन्धाता राजाओं के नामों का उल्लेख मिलता है।

(6) गो०ब्रा० 1/3/16 में स्वाहा की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए इस ब्राह्मण ने सामगायनों को सगोत्रीय बताया है। ये सामगायन अन्यत्र सामवेद की शाखाओं में उल्लिखित हैं।

गोपथब्राह्मण के प्रचार-प्रदेश–आथर्वण शौनकशाखा के अध्येता गुजरात प्रदेश में पाए जाते थे। इस समय भी जो दो चार शेष आथर्वण घर हैं, वे गुजरात में ही है।

संस्करण–गोपथब्राह्मण से जो आज तक मूल, अनूदित और सम्पादित संस्करण प्राप्त होते है। वे इस प्रकार हैं–

(क) राजेन्द्रलाल मित्र तथा हरचन्द्र विद्याभूषण द्वारा सम्पादित और 1872 में कलकत्ता से प्रकाशित संस्करण।

(ख) जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सन् 1891 ई० में कलकत्ता से ही प्रकाशिता संस्करण।

(ग) ड्यूक ग्रास्ट्रे (Dieuke Gaastre) द्वारा सुसम्पादित संस्करण, लाइडेन से 1919 ई० में प्रकाशित। 1972 ई० में, इण्डोलॉजिकल बुक हाउस के द्वारा फोटो प्रति के द्वारा इसी को पुनः मुद्रित किया गया।

(घ) क्षेमकरणदास त्रिवेदी के द्वारा 1924 ई० में हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित संस्करण। इसी संस्करण का प्रज्ञादेवी द्वारा पुनः सम्पादित रूप में 1977 में प्रकाशन हुआ है।

---

1. गोपथ ब्राह्मण 1/1/25-27

(ङ) डॉ॰ विजयपाल विद्यावारिधि के द्वारा सम्पादित तथा सन् 1980 में रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत (हरियाणा) से मुद्रित-वितरित संस्करण। उपर्युक्त सभी संस्करणों में यह सर्वश्रेष्ठ है। इस विवरण में जो सन्दर्भ प्रस्तुत किए गए हैं, वे इसी के हैं।

आरण्यक-साहित्य

आरण्यकग्रन्थ ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों के बीच की कड़ी हैं। जिन सर्वोच्च आध्यात्मिक तत्त्वों को हम उपनिषदों में देखते हैं, उनकी पृष्ठभूमि आरण्यकों में समाहित है।

नामकरण और महत्त्व—आरण्यक का गहरा सम्बन्ध अरण्य अथवा वन से है। गम्भीर आध्यात्मिक रहस्यों के खोज की चेष्टा वनों के एकान्त वातावरण में स्वाभाविक तो थी ही, इसके साथ-साथ यह सुकर भी थी। इन ग्रन्थों में सकामकर्म के अनुष्ठान एवं उसकी फलप्राप्ति की इच्छा दिखाई नहीं देती है। इसीलिए ब्राह्मणग्रन्थों की तुलना में इसका आध्यात्मिक महत्त्व अधिक है। उपनिषदों में आए अनेक प्रसंगों के यथार्थज्ञान के लिए उनके मूलाधार आरण्यकों को जानना आवश्यक है। आरण्यक साहित्य का प्रणयन वैदिक और लौकिक संस्कृत की मध्यवर्तिनी भाषा में हुआ है जिसके कारण आरण्यक-साहित्य भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थ कर्मकाण्ड की दृष्टि से बहुत अधिक सम्बद्ध हैं, इसी कारण बौधायन-धर्मसूत्र 3/7/7/7/16 में, आरण्यकों को भी 'ब्राह्मण' नाम से कहा गया है।[1]

सायणाचार्य ने तैत्तिरीयारण्यक-भाष्यभूमिकाश्लोक में कहा है कि अरण्यों अर्थात् वनों में पढ़े-पढ़ाये जाने के कारण 'आरण्यक' नाम पड़ा।[2] इन ग्रन्थों का अधिकारी ब्रह्मचर्य के नियम पालन करने वाले को कहा है—'एतदारण्यकं सर्वं नाव्रती श्रोतुमर्हति'।[3]

---

1. ऐतरेय ब्राह्मणोऽस्ति काण्डमारण्यकाभिधम्।
   अरण्य एव पाठत्वादारण्यकमितीर्थते।।
2. अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमितीर्यते।
   अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रचक्ष्यते।
3. तैत्तिरीयारण्यकभाष्यभूमिका, श्लोक, 6

आरण्यक शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर 'अरण्य' में 'वुञ' (भावार्थक) प्रत्यय के योग से बना है इस आधार पर इसका अर्थ है अरण्य में होने वाला 'अरण्ये भवमिति आरण्यकम्'। बृहदारण्यक में भी इसी बात को मानते हुए कहा है–'अरण्येऽनूच्यमानत्वात् आरण्यकम्'।

महाभारत (331/3) में आरण्यक के सन्दर्भ में इस प्रकार कहा गया है–जैसे दधि से नवनीत, मलयगिरि से चन्दन और ओषधियों से अमृत प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार वेदों से आरण्यक ले लिया जाता है।

बृहदारण्यक के सम्बन्धवार्तिकश्लोक 9 में सुरेश्वराचार्य ने लिखा है–अरण्याध्ययनाच्चैतदारण्यकमिति।

आरण्यक वस्तुतः ब्राह्मणों के ही भाग है। इसीलिए बौधायनधर्मसूत्र (3/7/7/16) में आरण्यक को ब्राह्मण भी कहा गया है। सायण भी ऐसा ही कहते हैं–

ऐतरेयब्राह्मणेऽस्ति काण्डमारण्यकाभिधम्।
अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते।।

अर्थात् ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत ही आरण्यक नाम वाला काण्ड है। वन में ही पढ़ाये जाने के योग्य होने से इसका आरण्यक नाम है। दुर्गाचार्य ने निरुक्त-भाष्य (1/4) में 'ऐतरेयके रहस्य-ब्राह्मणे' कहकर आरण्यकों के लिए 'रहस्य-ब्राह्मण' नाम का प्रयोग किया है।

आरण्यकों का प्राचीन नाम रहस्य भी रहा है। गोपथब्राह्मण पूर्वभाग (2/10) तथा मनुस्मृति (21/140) में यही नाम उपलब्ध होता है।

आरण्यकों का ब्राह्मणों से सम्बन्ध–आरण्यकों का संकलन ब्राह्मणों के उत्तरार्द्ध भाग में हुआ है। दोनों ग्रन्थों का सम्बन्ध कर्मकाण्ड से है इसी कारण ये एक ही परम्परा से अनुस्यूत है। राजा जनक के द्वारा सर्वश्रेष्ठ तत्त्ववेत्ता को 100 गायें देने की आख्यायिका शतपथब्राह्मण और बृहदारण्यक दोनों में ही प्राप्त होती है। इन दोनों में इतना वैशिष्ट्य है कि शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ओर उसके समय के दूसरे तत्त्वचिन्तकों के बीच हुए दार्शनिक तत्त्वों पर विशद् विचार-विमर्श भी उपलब्ध होता है। इससे यह पूर्णतः स्पष्ट है कि आरण्यक भाग ब्राह्मण-ग्रन्थों पर आधारित हैं। ये ग्रन्थ ब्राह्मणग्रन्थों के विशद् तथा दार्शनिक स्वरूप का परिचय प्रदान करते हैं। डॉ॰ राधाकृष्णन् ने कहा है कि

ब्राह्मणग्रन्थों में गृहस्थ के लिए विहित कर्मकाण्ड का विवेचन है, किन्तु वृद्धावस्था में जब वह वनों का आश्रय लेता है, तो कर्मकाण्ड के स्थान पर किसी अन्य वस्तु (अध्यात्म) की उसे आवश्यकता होती थी ओर आरण्यक उसी विषय की पूर्ति करते हैं[1]

आरण्यकों का मुख्य वर्ण्य-विषय भी याज्ञिक कर्मकाण्ड के दार्शनिक पक्ष का प्रतिपादक है।

आरण्यकों का मुख्य प्रतिपाद्यविषय–यज्ञ के गूढ़ रहस्यों के प्रकाशक हैं ऐसा आचार्य बलदेव उपाध्याय मानते हैं। 'रहस्य' शब्द से जानी जाने वाली ब्रह्मविद्या भी इसमें प्राप्त होती है। प्राणविद्या ओर प्रतीकोपासना आरण्यकों का मुख्य वर्ण्य-विषय है। वे प्राणविद्या के विषय में ऋग्वेद के उन मन्त्रों (6/164/31, 1/164/38) को अपनी पुष्टि के लिए उद्धृत करते हैं, जिनमें प्राणविद्या की दीर्घकालीन परम्परा का इतिहास प्राप्त होता है।

उपनिषदों के समान आरण्यक-ग्रन्थ एक ही मूलसत्ता को मानने वाले हैं। अनेक वस्तुओं में एक ही तत्त्व कैसे विद्यमान है, इसको ऐतरेयब्राह्मण में बतलाया गया है।

आरण्यकों में प्राणविद्या के महत्त्व को विशेष रूप से वर्णित किया है। ऐतरेय-आरण्यक में तो इसे विशेष रूप से प्रतिपादित किया है। इस आरण्यक के अनुसार प्राण इस विश्व का धारक है। बड़े से बड़े प्राणी से लेकर चींटी तक समस्त प्राणी इसी प्राण के द्वारा प्रतिष्ठित हैं। कौषीषकी उपनिषद् के अनुसार प्राण ही आयु का कारण है।[2]

आरण्यकों से ही ऐतिहासिक सन्दर्भों में उपयोगी अनेक नवीन तथ्यों का ज्ञान होता है। यज्ञोपवीत का सबसे पहले तैत्तिरीय-आरण्यक में उल्लेख है। तैत्तिरीय-आरण्यक में कथन है कि जो व्यक्ति यज्ञोपवीत सहित यज्ञकर्म करता है, उसका यज्ञ भली-भाँति स्वीकृत होता है। यज्ञोपवीत धारण करने वाला व्यक्ति जो कुछ भी पढ़ता है वह यज्ञ ही है।[3]

---

1. भारतीयदर्शन, प्रथम भाग पृ॰ 59
2. यावत् ह्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः।
3. प्रसृतो ह वै यज्ञोपवीतिनो यज्ञोऽपसृतोऽनुपवीतिनो यत्किञ्च ब्राह्मणो यज्ञोपवीत्यधीते यजत एव तत्। तै॰आ॰ 2/1/1

काण्वशाखा के बृहदारण्यक में संन्यास का वर्णन स्पष्टत: है। आत्म-ज्ञान को प्राप्त करके ही कोई मुनि होता है। इसी ब्रह्मलोक की इच्छा से संन्यासी संन्यास धारण करते हैं।[1] इस आरण्यक में ब्रह्म, आत्मा और पुनर्जन्म का विस्तृत रूप में वर्णन किया है।

आरण्यकों के प्रवचनकर्त्ता–आरण्यकों के प्रवचनकर्त्ता कुछ अपवादों को छोड़कर, ब्राह्मणों के प्रवचनकर्त्ता ही है, क्योंकि ज्यादातर आरण्यक ब्राह्मण-ग्रन्थों के उत्तरार्द्ध है। उदाहरणार्थ–ऐतरेय आरण्यक को ऐतरेय-ब्राह्मण का उत्तरार्द्ध माना है। इसी कारण जो ऐतरेय-ब्राह्मण के वक्ता महीदास ऐतरेय हैं, उन्हीं को ऐतरेय-आरण्यक के तृतीय आरण्यक तक वक्ता माना है। इसी आरण्यक में आश्वलायन को चौथे आरण्यक के वक्ता तथा शौनक को पाँचवें आरण्यक के वक्ता के रूप में माना है। सायणाचार्य ने भी ऐतरेयारण्यक के भाष्य में ऐसा ही माना है–'अतएव पंचमे शौनकेनोदाहृता:। ताश्च पंचमे शौनकेन शाखान्तरमाश्रित्य पठिता:।'

शांखायन-आरण्यक के वक्ता गुणाख्य शांखायन है। इस आरण्यक के 15वें अध्याय में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि इनके गुरु कहोल कौषीतकि थे।[2]

बृहदारण्यक और शतपथ-ब्राह्मण के वक्ता महर्षि याज्ञवल्क्य को माना गया है, क्योंकि बृहदारण्यक शतपथब्राह्मण के अन्तर्गत ही है।

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयआरण्यक के द्रष्टा ऋषि कठ हैं। इसी कारण इसे काठकआरण्यक नाम से भी जाना जाता है।

मैत्रायणीय-आरण्यक ही मैत्रायणीय-उपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध है। सामवेदीय ब्राह्मण जैमिनीयोपनिषद् 'तवलकार आरण्यक' नाम से प्रसिद्ध है। इसके अन्त में कश्यप से गुप्तलौहित्य तक ऋषियों के नाम दिए गए हैं।

आरण्यकों का देश-काल–आरण्यकग्रन्थों और ब्राह्मणग्रन्थों का देश-काल एक ही है–तैत्तिरीयारण्यक में गंगा-यमुना का तटवर्ती मध्यदेश अत्यन्त पवित्र तथा मुनियों का निवास स्थान बतलाया गया है।[3] खाण्डव वन तथा कुरुक्षेत्र को

1. एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्त: प्रवव्रजन्ति। बृहदाण्यक–4/4/22
2. 'नमो ब्रह्मणे नम आचार्येभ्यो गुणाख्याच्छाङ्खायनादस्माभिरधीतं गुणाख्य: शाङ्खायन: कहोलात्कौषीतके:।'
3. नमो गंगायमुनामध्ये ये वसन्ति ते मे प्रसन्नात्मानश्चिरं जीवितं वर्धयन्ति नमो गंगायमुनयोर्मुनिभ्यश्च। तै०आ० 2/20

भी इसी आरण्यक में आगे वर्णित किया गया है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि इस आरण्यक का कुरुपांचाल जनपदों से सम्बन्ध रहा है। शांखायन आरण्यक में उशीनर, मत्स्य, कुरुपांचाल और काशी तथा विदेह जनपदों का वर्णन प्राप्त होता है।[1]

इन तथ्यों के आधार पर आरण्यकग्रन्थों का स्थान प्राचीनभारत का मध्य भाग है।

आरण्यकों की भाषा एवं शैली–आरण्यकों और ब्राह्मणों की भाषा सामान्यत: एक जैसी ही है। कई स्थानों पर तो ऐतरेय-आरण्यक में ऐतरेय-ब्राह्मण के वाक्यों को जैसा का तैसा प्रस्तुत किया गया है। इनकी भाषा न तो वैदिक है और न लौकिक, परन्तु दोनों के बीच की भाषा है। अन्य आरण्यकों की तुलना में जैमिनीय शाखा के तवलकार-आरण्यक की भाषा अधिक प्राचीन है। इसकी शैली अधिक वर्णनात्मकता लिये हुए है। मन्त्रों के उद्धरण से पूर्व अपने प्रतिपाद्य का वर्णन करने की शैली आरण्यक ग्रन्थों में प्राय: उपलब्ध होती है। आरण्यकों के वे भाग जो इस समय उपनिषदों के रूप में प्रतिष्ठित हैं, उनमें संवादमूलक प्रश्नशैली भी दृष्टिगोचर होती है।

आरण्यकों का परिचय

(1) ऐतरेय आरण्यक–यह ऋग्वेदीय आरण्यक है। इसमें पाँच प्रपाठक हैं जो पृथक् आरण्यक के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। प्रथम में महाव्रत वर्णित हैं, द्वितीय में प्राणविद्या, पुरुष का वर्णन तथा ऐतरेय उपनिषद् है। तृतीय आरण्यक संहितोपतिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। इनमें संहिता, पद-क्रमपाठों तथा स्वर-व्यंजनादि का स्वरूप वर्णित है। चतुर्थ आरण्यक में महाम्नी ऋचाओं का संग्रह तथा पंचम आरण्यक में महाव्रतविषयक कथन है। इस आरण्यक में स्त्री को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। पुरुष पत्नी को प्राप्त करके ही पूर्णपुरुष होता है।[2] सायण तथा शंकराचार्य के भाष्य इस पर प्राप्त होते हैं। पाँचों प्रपाठकों में 18 अध्याय हैं।

(2) शांखायनआरण्यक–इसका सम्बन्ध भी ऋग्वेद से ही है। इसमें पन्द्रह अध्याय हैं। इसके तीन से छठे अध्याय तक कौशीतकी उपनिषद् तथा

---

1. अथ ह वै गार्ग्यो सोऽवसदुशीनरेषु स वसन्मत्स्येषु कुरुपांचालेषु काशिविदेहेष्विति। शांखा॰आ॰ 6/1
2. पुरुषो ह जायां वित्त्वा कृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते। ऐ आ॰ 1/3/5

सप्तम-अष्टम अध्याय संहितोपनिषद् कहलाते हैं। 15वें अध्याय में आचार्यों की परम्परा दी हुई हें इसमें भी गुणाख्य शांखायन का नाम भी है। कौशीतकी पर भी सायण तथा शंकर के भाष्य है।

(3) बृहदारण्यक–यह बृहदारण्यक उपनिषद् के नाम से सुप्रसिद्ध है। इसका सम्बन्ध शुक्लयजुर्वेद की काण्व तथा माध्यन्दिन दोनों शाखाओं से है। इसमें जनक–याज्ञवल्क्य का संवाद तथा गार्गी–याज्ञवल्क्य का शास्त्रार्थ सुप्रसिद्ध है। इसमें आत्मतत्त्व विशेष रूप से चर्चित है। इसके कर्त्ता याज्ञवल्क्य माने जाते हैं। इस पर सायण, शंकराचार्य तथा रंगरामानुज ने भाष्य लिखे हैं। इस आरण्यक पर गंगाधर की 'दीपिका', नित्यानन्दाश्रम की 'मिताक्षरा', मथुरादास की 'लघु' तथा राधवेन्द्र 'खण्डाग्र' वृत्तियाँ प्रसिद्ध है।

(4) तैत्तिरीयारण्यक–यह कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय तथा काठकशाखाओं का एकमात्र आरण्यक है। इसमें दश प्रपाठक है। 7–9 प्रपाठकों को तैत्तिरीय उपनिषद् तथा दशम को महानारायणीय उपनिषद् कहा जाता है। प्रपाठक पुनः अनुवाकों में विभक्त हैं। ब्राह्मणग्रन्थों की भाँति इसमें कहीं–कहीं निर्वचन भी प्राप्त होते हैं यथा–कश्यपः पश्यको भवति, यत्सर्वं पश्यतीति सौक्ष्म्यात्।[1] कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणीशाखा का मैत्रायणी आरयण्क नाम से भी आरण्यक है।

(5) तलवकार आरण्यक–जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण ही तलवकार आरण्यक कहलाता है। इसमें चार अध्याय है। अध्याय पुनः अनुवाकों में विभक्त हैं। इसका विशेष महत्त्व पुरातन भाषा, वैयाकरणिक रूपों, ऐतिहासिक तथा देवशास्त्रीय आख्यानों के कारण है। इस पर सायण, भास्करमिश्र तथा वरदराज के भाष्य हैं।

(6) छान्दोग्यआरण्यक–छान्दोग्योपनिषद् में आरण्यकभाग भी मिश्रित है। ये दोनों आरण्यक सामवेद से सम्बन्धित हैं। अथर्ववेद का पृथक् से कोई आरण्यक नहीं मिलता, गोपथब्राह्मण के पूर्वभाग में बहुत सा प्रतिपाद्य आरण्यकों के अनुरूप अवश्य है।

आरण्यकों के संस्करण तथा उन पर हुए शोधकार्य

आरण्यकों का अध्ययन पूरे वैदिक वाङ्मय में बहुत कम हुआ है। इन पर जो कार्य अब तक हुआ है वह निम्न है–

---

1. तै०आ० 1/8/8

(1) ऐतरेय-आरयण्क, 1889 में सायण-भाष्यसहित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली में पूना से प्रकाशित हुआ।

(2) ऐतरेय-आरण्यक (अंग्रेजी अनुवाद) 1909 में, अनुवादक प्रो॰ ए॰बी॰ कीथ, लन्दन द्वारा प्रकाशित हुआ है।

(3) ऐतरेय-आरण्यक: एक अध्ययन–1981 में, डॉ॰ सुमनशर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली से प्रकाशन हुआ।

(4) शांखायन-आरण्यक, 1922 में सं॰ श्रीधरशास्त्री पाठक, आनन्दाश्रम, पूना से प्रकाशन हुआ।

(5) तैत्तिरीयारण्यक, 1926 ई॰ में, सायण-भाष्यसहित, आनन्दाश्रम पूना से प्रकाशन हुआ।

(6) बृहदारण्यक-गीताप्रेस, आनन्दाश्रम आदि से अनेक बार प्रकाशन हुआ।

(7) जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण-तलवकार आरण्यक।

(1) 1954 में सं॰ डॉ॰ रघुवीर तथा लोकेश चन्द्र द्वारा नागपुर से प्रकाशित।

(2) 1921 में सं॰ रामवेद, लाहौर से प्रकाशित।

(3) 1967 ई॰ में बी॰आर॰ शर्मा, तिरुपति से प्रकाशित।

उपनिषत्साहित्य

उपनिषद् भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक स्वरूप का परिचय प्रदान करते हैं। अध्यात्मिक जिज्ञासु को उपनिषदों के विचार गन्तव्य की ओर जाने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इनके गौरव को विषय में डॉ॰ राधाकृष्णन् लिखते हैं कि 'उपनिषदों' का इतना आदर इस कारण नहीं है कि वे श्रुति या प्रकट हुए साहित्य का एक भाग होने से एक विशिष्ट स्थान रखती हैं, अपितु इसका कारण यह है कि ये अपनी अक्षय अर्थवत्ता और आत्मिक शक्ति से भारतवासियों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी को अन्तर्दृष्टि और बल प्रदान कर प्रेरणा देती रही हैं।[1] फ्रेडरिक श्लेगल तो यहाँ तक कहते हैं कि "उपनिषदों के सामने यूरोपीय तत्त्वज्ञान प्रचण्ड मार्तण्ड के सामने टिमटिमाता दीपक है।" इसी प्रकार पाल डायसन कहते हैं कि "उपनिषदों में जो दार्शनिक कल्पना है, वह भारत में तो अद्वितीय है ही, सम्भवत: सारे विश्व में अतुलनीय है।"

1. The Principal Upnishade p. 18-19.

ज्ञानकाण्ड तथा कर्मकाण्ड

ब्रह्मविद्या की प्रतिपादक होने के कारण ही कदाचित् उपनिषदों को ज्ञान काण्ड तथा ब्राह्मणग्रन्थों को कर्मकाण्ड समझकर यह धारणा बना ली गयी कि उपनिषदें कर्मकाण्ड की विरोधी हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में विस्तार से मुख्य रूप में प्रतिपादित कर्म-काण्ड भी यज्ञ आदि साधनों द्वारा मनुष्य को प्रेयः पथ का पथिक बनाता है। इसी आशय से **'स्वर्गकामो यजेत'** जैसी उक्तियाँ प्रकाश में आयीं। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्राह्मणादि ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य कर्म है, जबकि उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म है, तथापि इन दोनों कार्यों में कोई विरोध नहीं है। इतना ही नहीं, अपितु दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। उपनिषदें तो **"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेत्"** कहकर मनुष्य को आजीवन कर्म करने का उपदेश देती हैं। ऐसी अवस्था में उपनिषदों को कर्मकाण्ड का विरोधी कैसे माना जा सकता है। उपनिषदों के अनुसार कर्मकाण्ड ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में बाधक न बनकर साधक ही है। कर्मकाण्ड का स्पर्श किए बिना ज्ञानमार्ग पर कथमपि नहीं चला जा सकता। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी कर्म करना अनावश्यक नहीं बन जाता।

उपनिषद् शब्द का अर्थ

उप तथा नि उपसर्ग पूर्वक षदलृ धातु से क्विप् प्रत्यय[1] करने पर उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है। शंकराचार्य ने उपनिषद् का अर्थ ब्रह्मविद्या किया है।[2] षदलृ विशरणगत्यवसादनेषु (धातुपाठ) के अनुसार षदलृ धातु के तीन अर्थ हैं-(1) विशरण अर्थात् समाप्ति = नाश होना (2) गति-ज्ञान, गमन, प्राप्ति तथा-

(3) अवसादन = शिथिल करना। यद्यपि उपनिषद् शब्द पुस्तक विशेष के अर्थ में भी प्रसिद्ध है, तथापि षदलृ धातु के उक्त अर्थों के आधार पर शंकराचार्य ने उपनिषद् शब्द का मुख्य अर्थ विद्या माना है जो कि गौणरूप में पुस्तकविशेष के लिए भी प्रसिद्ध है।[3] उपनिषद् का अर्थ विद्या करने में शंकराचार्य हेतु देते हैं कि-

---

1. सत्सूद्विषद्रुहदुहयुज...क्विप् (पा॰ 3.2.61)
2. सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषच्छब्दवाच्या (बृहदा॰शां॰भा॰)
3. विद्यायां मुख्यया वृत्या उपनिषच्छब्दो वर्तते, ग्रन्थे तु भक्त्या (कठो॰शां॰भा॰ उपोद्घात)

1. योगदर्शन के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये पाँचों क्लेश संसार अर्थात् जन्म तथा मृत्यु के कारण हैं—**सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा:** (यो०सू० 1.1.13)। इस सूत्र की व्याख्या में व्यास जी लिखते हैं कि उक्त क्लेशों के रहने पर ही कर्माशय अपना फल प्रदान करता है[1] जिससे प्राणियों के जन्म-मरण अर्थात् यह संसार उत्पन्न होता है। उपनिषद् के द्वारा संसार के बीजभूत इन अविद्या आदि क्लेशों की निवृत्ति = विशरण हो जाती है जैसा कि यमाचार्य स्वयं कहते हैं कि आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेने पर मृत्यु के मुख से छूट जाता है।[2] अत: उपनिषद् का अर्थ विद्या है।

2. संसार के हेतु अविद्या आदि का नाश चाहने वाले परवैराग्ययुक्त मुमुक्षु जनों को उपनिषद् परब्रह्म का ज्ञान कराती है तथा मोक्ष प्राप्त कराती है जैसा कि यमाचार्य स्वयं कहेंगे—ब्रह्म को प्राप्त करके मृत्यु से छुटकारा हो जाता है।[3] अत: **उप समीप्येन नितरां सीदन्ति प्राप्नुवन्ति ब्रह्म यया विद्यया सा उपनिषद्**—जिस विद्या के द्वारा ब्रह्म की समीपता प्राप्त हो, वह उपनिषद् है।

3. उपनिषद् के द्वारा संसार रूपी बन्धन शिथिल = अवसादन होता है। इसलिए भी उपनिषद् को विद्या कहते हैं। इस प्रकार इन तीन हेतुओं के आधार पर शंकराचार्य ने कठोपनिषद् तथा तैत्तिरीयोनिषद् की व्याख्या करते हुए उपनिषद् का अर्थ ब्रह्मविद्या किया है।

इसके अतिरिक्त उपनिषदों में कहा गया है कि परब्रह्म को देख लेने पर हृदय की अज्ञानग्रन्थी खुल जाती हैं, मन के सभी संशयों का उच्छेद हो जाता है तथा मुमुक्षु के कर्मबन्धन नष्ट हो जाते हैं।[4] इस प्रकार व्यक्ति के अज्ञान, संशय तथा कर्मबन्धन को नष्ट करने के कारण भी उपनिषद् को विद्या कहना सार्थक है।

उपनिषद् का दूसरा अर्थ—अपने संशय आदि अथवा संसार के बीजभूत अविद्या आदि को शिथिल किं वा नष्ट करने के लिए तथा ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राचीन समय में जिज्ञासु योग्य गुरु के पास श्रद्धापूर्वक जाते थे।[5]

---

1. सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति, नोच्छिन्नक्लेशमूल: (यो०सू० 2/13 व्या०भा०)
2. निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते (कठो० 1.3.5)
3. ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु: (कठो० 2.3.18)
4. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया:।
   क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। (मुण्ड० 2.2.8)
5. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। (मुण्ड० 1.2.12)

समीप जाकर बैठने पर ही श्रद्धालु जिज्ञासु को गुरु ज्ञान प्रदान करता था मुण्डकोपनिषद् 1.2.13 में इसीलिए जिज्ञासु के लिए उपसन्नाय पद का प्रयोग किया गया है।

यद्यपि ✓षदलृ के विशरण, गति तथा अवसादन ये तीन अर्थ पीछे बतलाये जा चुके हैं, किन्तु उप तथा नि उपसर्गों के योग में ✓सद् का अर्थ बैठना हो जाता है।[1] अनेक स्थानों में ऐसा पाया जाता है।[2] इसी प्रकार उपनिषद् में भी 'उप' समीपता का वाचक है तथा नि+षद् का अर्थ बैठना होकर सम्पूर्ण शब्द का अर्थ 'पास में आकर बैठना' यह हुआ। इसके अनुसार उपनिषद् वह विद्या है जिसको समित्पाणि श्रद्धालु, जिज्ञासु ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास बैठकर प्राप्त करता था।

गुरु द्वारा शिष्य को प्रदान किया जाने वाला यह उपदेश श्रद्धा आदि से शून्य जनसाधारण के लिए न था। इसीलिए स्वयं उपनिषदों में इसे गुह्य[3] एवं गुह्यतम ज्ञान बतलाते हुए कहा गया है कि शान्तचित अनन्य भक्ति रखने वाले, सर्वगुण सम्पन्न पुत्र तथा शिष्य को ही यह ज्ञान प्रदान करे।[4] तैत्तिरीय तथा नारायण आदि उपनिषदों में उपनिषद् जैसे ज्ञान को प्रदान करने के लिए अधिकारी जिज्ञासु की परीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। कदाचित् इसी कारण से कहा गया है कि चुगलखोर, कुटिल तथा प्रमादी व्यक्ति के प्रति विद्या का उपदेश नहीं करना चाहिए।[5] इसके विपरीत पवित्र, मेधावी, ब्रह्मचारी को विद्या प्रदान करनी चाहिए। उपनिषद् काल में गुरुओं ने शिष्यों की विविध प्रकार से परीक्षा लेकर ही यह ज्ञान उनको प्रदान किया है। इसलिए इसे रहस्य अथवा गुह्यतम कहना सर्वथा उपयुक्त है। उपनिषद् को रहस्य कहने में दो हेतु हैं। (1) रहसि भवं, रहस्यम्। एकान्त में दिया जाने वाला ज्ञान (2) उपनिषद् विद्या का अधिकारित्व-अनधिकारी को यह विद्या नहीं दी जाती। जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है 'नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः' (श्वेता० 6/22)

---

1. उपसर्गेण धातूनामर्थो बलादन्यत्र नीयते।
2. निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्या स्वा (ऋ० 1.25.10)
3. ते वा एते गुह्या आदेशाः (छां०उ० 3.5.2) परमं गुह्यं (कठो० 1.3.17)
4. एतद् गुह्यतमं नापुत्राय नाशिष्याय नाशान्ताय कीर्त्तयेदित्यनन्यभक्ताय सर्वगुणसम्पन्नाय दद्यात् (मु०उ० 2.29)
5. विद्या है वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽस्मि।
   असूयकायानृजवेऽयताय तन्मा ब्रूहि निधिपाय ब्रह्मन्।। (नि० 2/4)

नृसिंहोत्तरोपनिषद्, तैत्तिरीय तथा नारायण आदि उपनिषदों में उपनिषद् के स्थान पर 'इति रहस्यम्' का प्रयोग हुआ है। इनके लिए गुह्या आदेशाः (छा०उप० 5/5), गुह्यतमम् (मैत्रा० 6/29), परमं गुह्यम् (कठ उप० 1/3/17, श्वेता० 6/22) आदि का प्रयोग भी मिलता है।

वेदान्त—उपनिषद् का एक नाम वेदान्त भी है—**वेदस्यान्तः वेदान्तः**। यहाँ पर अन्त का अर्थ उत्कृष्ट सारतत्त्व है। ब्रह्मविद्या रूपी श्रेष्ठ तत्त्व के प्रतिपादक होने के कारण उपनिषद् को वेदान्त कहना सर्वथा युक्तियुक्त है। कुछ उपनिषद् तो वेदों के साक्षात् अन्तिम भाग ही हैं। यथा—ईशोपनिषद् यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय है तथा तैत्तिरीय संहिता के अन्तिम तीन प्रपाठक ही तैत्तिरीयोपनिषद् कहलाते हैं।

उपनिषद् शब्द का अर्थ रहस्यमय सिद्धान्त अर्थात् गुह्यविद्या भी किया गया है। उपनिषदों में 'इति रहस्यम्' 'इति उपनिषदम्' पद अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि 'रहस्य' भी उपनिषद् का पर्यायवाची है।

उपनिषदों की संख्या—मुक्तिकोपनिषद् में अनेक उपनिषदों के मध्य 108 उपनिषदों को सार रूप माना गया है।[1] इनमें 10 उपनिषदें ऋग्वेद से, 101 शुक्ल यजु० से, 32 कृष्ण यजु० से, 16 सामवेद से तथा 31 अथर्ववेद से सम्बन्धित हैं। सन् 1656–57 में दाराशिकोह ने 50 उपनिषदों का फारसी अनुवाद कराया था। कोलब्रुक के संग्रह में 52 उनषिदें थी जो नारायण (1400 ई०) की सूची पर आधारित थी। निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई ने 113 उपनिषदें प्रकाशित की हैं। अड्यार पुस्तकालय मद्रास से उपनिषद्ब्रह्मयोगी की व्याख्या सहित 60 उपनिषदों को संग्रह प्रकाशित हुआ है। मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली से प्रकाशित 'उपनिषत्संग्रह' में 188 उपनिषदें हैं। होशियारपुर से 200 उपनिषदों के आधार पर उपनिषत्पदानुक्रमकोष का प्रकाशन हुआ है। गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, मुम्बई से मुद्रित 'उपनिषद्वाक्य महाकोष' में 223 उपनिषदों के नाम दिये गये हैं। गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित 'कल्याण' के अंक में 22 उपनिषदों के नाम दिये हैं।

प्रमुख उपनिषदें—मुक्तिकोपनिषद्[2] में उद्धृत ईशादि दश उपनिषदें सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक मानी जाती हैं। शंकराचार्य ने इन पर ही भाष्य लिखा है।

---

1. सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम्। मुक्तिको-1/44
2. ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः।
   ऐतरेयं च छान्दोग्यं च बृहदारण्यकं तथा।। मुक्तिको० 1/30

उन्होंने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कौषीतकि तथा मैत्रायणी उपनिषदों को भी उद्धृत किया है। श्वेताश्वर उपनिषद् भी प्रमुख ही मानी जाती है। इस प्रकार ये तेरह उपनिषदें मुख्य मानी जाती हैं। ह्यूम ने इन्हें ही मुख्य उपनिषदें कहा है। मैक्समलर ने कौषीतकि को छोड़कर शेष बारह का अंग्रेजी अनुवाद किया है। पाल डायसन ने साठ उपनिषदों का अनुवाद करके भी पूर्वोक्त तेरह तथा महानारायणीयोपनिषद् को प्रामाणिक माना है। महर्षि दयानन्द के अनुसार भी पूर्वोक्त ग्यारह उपनिषदें ही मुख्य हैं। कुछ भाष्यकारों ने पूर्वोक्त दश उपनिषदों में कैवल्योपनिषद् को मिलाकर ग्यारह उपनिषदों को माना है।[1] डॉ. राधाकृष्णन् पूर्वोक्त दश उपनिषदों में जाबाल, कैवल्य आदि को जोड़कर अठारह उपनिषदों का अंग्रेजीभाष्य किया है।

वेदों एवं उनकी शाखाओं से उपनिषदों का सम्बन्ध

	वेद	शाखा	उपनिषद्
1.	ऋग्वेद	शाकल	ऐतरेय
		वाष्कल	कौपीतकि, वाष्कल मन्त्रोपनिषद्
2.	शुक्लयजुर्वेद	काण्व	ईश, बृहदारण्यक
		माध्यन्दिन	

3. कृष्ण यजुर्वेद की कठ, मैत्रायणी, तथा श्वेताश्वर शाखाओं की उपनिषदें भी क्रमशः इन्हीं नामों से विख्यात हैं।

	वेद	शाखा	उपनिषद्
4.	सामवेद	कौथुम	छान्दोग्योपनिषद्
		जैमिनीय	केनोपनिषद्
5.	अथर्ववेद	पैप्पलाद	प्रश्नोपनिषद्
		शौनक	मुण्डक तथा माण्डूक्योपनिषद्

उपनिषदों के भाष्य–इन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है–

(1) प्राचीनभाष्य (2) आधुनिकभाष्य

(1) प्राचीनभाष्य–इनमें भर्तृप्रपंच, ब्रह्मनन्दि, द्रविणाचार्य आदि भाष्यकार शंकराचार्य से पूर्ववत्ती हैं। इस समय ये अनुपलब्ध हैं। शंकराचार्य ने ईश आदि

1. एकादशोपनिषद्, मणिप्रभाव्याख्या सहित, मोतीलाल बनारसीदास

प्रमुख दश उपनिषदों का भाष्य किया है। इसी परम्परा में सुरेश्वराचार्य, आनन्दगिरि, विद्यारण्यमुनि, शंकरानन्द, ब्रह्मानन्द, भास्करानन्द, आनन्दभट्ट, उपनिद्ब्रह्मयोगी आदि ने कई उपनिषदों पर अद्वैतवादी भाष्य अथवा शांकर भाष्य पर टीकाएँ लिखी हैं। वेंकटनाथ, वेदान्तदेशिक, रंगरामानुजाचार्य, गोपालानन्द स्वामी आदि कुछ विद्वानों ने उपनिषदों पर विशिष्टाद्वैतवादी भाष्य लिखे हैं। आनन्दतीर्थ मध्व ने उपनिषदों पर द्वैतवादी भाष्य तथा पुरुषोत्तम ने शुद्धाद्वैतवादी भाष्य लिखे। आचार्य निम्बार्क के अनुयायी विद्वानों ने भी स्वमतानुकूल भाष्य तथा टीकाएँ लिखी हैं।

उपनिषदों का देश तथा काल–उपनिषदों में कई राज्यों या जनपदों का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा–कुरु, पांचाल, विदेह, कोशि, कोशल, गान्धार, केकय, मद्र, मत्स्य, विदर्भ आदि। इन प्रदेशों के कुछ राजाओं का वर्णन भी उपनिषदों में मिलता है। इसके आधार पर पं॰ बलदेव उपाध्याय का विचार है कि उपनिषदों की रचना का प्रदेश मध्यप्रदेश में कुरु पांचाल से प्रारम्भ होकर पूर्व में विदेह तक फैला हुआ था।[1]

काल–सामान्य रूप में ई॰पू॰ 12वीं शताब्दी से लेकर ई॰पू॰ छठी शताब्दी तक का समय उपनिषदों का रचनाकाल माना जाता है। प्रमुख उपनिषदों की रचना बुद्ध से पहले मानी जाती है क्योंकि बुद्ध की शिक्षाओं में उपनिषदों का दर्शन निहित है। अतः 600–500 ई॰पू॰ उपनिषदों की अपर सीमा मानी जाती है। उपनिषदें महाभारत युद्ध के बाद की रचना हैं। महाभारत को हुए लगभग 5000 वर्ष हो चुके। यह उपनिषत्काल की पूर्व सीमा है।[2]

मैत्रायणी उपनिषद् में निर्दिष्ट ज्योतिष सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर तिलक के मत में इसका काल 1900 वि॰पू॰ होना चाहिए। 'इस प्रकार उपनिषत्काल का आरम्भ 2500 वि॰पू॰ मानना उचित होगा।'[3]

कुछ उपनिषदें अति आधुनिक युग की हैं। यथा–राधोपनिषद्, अल्लोपनिषद् आदि। वस्तुतः इन्हें उपनिषद् कहना ही उचित नहीं। उपनिषदों की नकल पर इनका निर्माण हुआ है। ये उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्तों से सर्वथा शून्य हैं।

---

1. वैदिकसाहित्य और संस्कृति, पृ॰ 323
2. डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दूसभ्यता, पृ॰ 151
3. सं॰वा॰ का बृ॰ इति॰, वेदखण्ड, पृ॰ 471

उपनिषदों का आधार/स्रोत

उपनिषदों का आधार वैदिक संहिताएँ ही हैं। ईशोपनिषद् तो शुक्लयजुर्वेद का 40वां अध्याय ही है। ऋग्वेद (1/164/20) के सुप्रसिद्ध मन्त्र 'द्वा सुपर्णा सयुजा' को मुण्डको॰' (3/1/1) तथा श्वेता॰ (4/6) में उद्धृत किया गया है। मुण्डको॰ 2/2/7/9 जिस ब्रह्मनगरी का वर्णन है, उसी का वर्णन अथर्व॰ 10/2/28 में विस्तार से हुआ है। उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म है। यह ब्रह्म वेदों में बहुचर्चित है तथा मानव का लक्ष्य यही है। वेद स्पष्टतः कहता है–यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। जो ब्रह्म को नहीं जानता, वह वेद पढ़ कर क्या करेगा। कठोपनिषद् में ब्रह्म एवं जीवात्मा के स्वरूप की विशद् चर्चा की गयी है। इसमें ऋग्वेद 4/40/5 का 'हंसः शुचिषदन्तरिक्षसद्' मन्त्र कठोपनिषद् 5/2 में ज्यों का त्यों उद्धृत है। इसी प्रकार श्वेताश्वर उपनिषद् में वेदों के कई मन्त्र ज्यों के त्यों उद्धृत हैं। इस उपनिषद् में आध्यात्मिक मन्त्रों का अच्छा संग्रह किया गया है। मुण्डकोपनिषद् 2/1/6–10 में अक्षरपुरुष से ही वेदों, यज्ञों, मानवों, लोकों तथा प्राणियों की सृष्टि बतलायी गयी है। यह वेदों के पुरुषसूक्त के आधार पर ही है। अथर्ववेद के प्रसिद्ध केनसूक्त (10/2) के आधार पर ही केनोपनिषद् का नामकरण तथा उसकी शिक्षाएँ हैं।

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि वेदों में प्रतिपादित आध्यात्मिक विषय को ही उपनिषदों में अपने ढंग से प्रतिपादित किया गया है।

उपनिषदों का दर्शन

उपनिषदों का सर्वाधिक महत्त्व इनमें प्रतिपादित अध्यात्म विद्या के कारण है। सभी भारतीय दर्शनों के मूल उपनिषदें ही हैं। उपनिषदों में अध्यात्मविद्या जैसे गूढ विषय को भी उपमा रूपक, दृष्टान्त आदि अलंकारो के माध्यम से काव्यात्मक रूप में अति मनोरम शैली में प्रस्तुत किया गया है। काव्य के अंग रस, रीति, ध्वनि, अलंकार आदि का प्रयोग उपनिषदों में सहज रूप में हुआ है। कठ, प्रश्न, मुण्डक, श्वेताश्वर आदि उपनिषदों में जनजीवन से सामान्य प्रतीकों एवं उपमानों का ग्रहण करके विषय को अति सरल रूप में प्रस्तुत किया गया है। उपमा तथा रूपक तो प्रायः सभी उपनिषदों में प्रयुक्त हुए हैं।

उपनिषदों में अपराविद्या की अपेक्षा पराविद्या को श्रेष्ठ तो माना है, किन्तु जगत् को न तो मिथ्या माना तथा न ही इससे पलायन का प्रतिपादन किया। यहाँ पर आजीवन कर्म करते रहने की प्रेरणा दी गयी है। कर्म के साथ उसके फल

की भावना भी जुड़ी है। उत्तम कर्मों से उत्तम जन्म तथा अधम कर्मों से अधम जन्म का सिद्धान्त यहाँ पर दिखलाया गया है। जीव कर्मफल का भोक्ता तथा ब्रह्म उसका नियामक है।

उपनिषदों में परमसत्य ब्रह्म या मोक्ष को ही स्वीकार किया गया है। मूढ जन ही सांसारिक विषय भोगों में फंसते हैं, जबकि धीर जन मोक्ष की साधना करते हैं। इस प्रकार आत्मा-परमात्मा का स्वरूप प्रतिपादन तथा आत्मदर्शन के लिए उपनिषद् अमूल्य निधि हैं। उपनिषदों में कई राजाओं तथा ऋषियों की कथाएँ भी हैं। इससे इनके ऐतिहासिक मूल्य का भी ज्ञान होता है।

उपनिषदों में ब्रह्म को चक्षु, वाणी, मन आदि की गति से परे कहा गया है।[1] उसे अपने आत्मा में ही देखा जा सकता है।[2] वह ब्रह्म सर्वव्यापक, सभी के कर्मों का साक्षी तथा फल देने वाला, अद्वितीय तथा निर्गुण है।[3] केनोपनिषद् के अनुसार यदि उस ब्रह्म को इसी जीवन में जान लिया तो ठीक है, अन्यथा महान् विनाश है।[4] ब्रह्म को ज्ञानमार्ग से ही जाना जा सकता है। जो तत्त्वज्ञान से शून्य तथा अयाज्ञिक होते हैं, वे बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में पड़े रहते हैं।[5] श्वेताश्वर उपनिषद् में ऋग्वेद[6] के एक मन्त्र को ज्यों का त्यों उद्धृत करके ईश्वर, जीव तथा प्रकृति के रूप में त्रैतवाद का प्रतिपादन किया गया है तथा प्रकृति को सत्व, रजस् तथा तमस् के रूप में त्रिगुणात्मक माना है।

प्रमुख उपनिषदों का परिचय

(क) ऋग्वेदीय उपनिषदें

(1) ऐतरेय उपनिषद्—ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय आरण्यक के अन्तर्गत चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ अध्यायों का नाम 'ऐतरेय उपनिषद्' है। यह इतरा के

---

1. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो०। केनो० 1/3
2. तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः। कठो० 1/5/12
3. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
   कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।। श्वेता० 6/11
4. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। केनो० 2/5
5. ये तु तत्त्वज्ञानशून्या अयज्ञाश्च भवन्ति, ते पुनः पुनर्मृत्यो वशमापद्यन्ते।
6. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
   तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति।। ऋ० 1/164/20

पुत्र महिदास ऐतरेयप्रणीत है। ऐतरेयब्राह्मण तथा आरण्यक के प्रणेता भी ये ही हैं। इसमें आत्मा (ब्रह्म) के चराचर प्रपञ्च-सृष्टि की उत्पत्ति आदि विषयों का वर्णन है।

(2) कौशीतकि उपनिषद्–यह कौशीतकि आरण्यक के 3-6 अध्यायों से मिलकर बनी है। इसके प्रणेता कुषीतक ऋषि हैं। इसमें देवयान-पितृयान मार्गों, प्राणविद्या आदि का कथन किया गया है।

(3) वाष्कल उपनिषद्–यह ऋग्वेद की अंशतः उपलब्ध वाष्कल शखा से सम्बद्ध है। इसमें कुल 37 या 25 मन्त्र हैं। इसमें एक कथा के द्वारा इन्द्र द्वारा मेषरूप धारण करके काण्व मेधातिथि के हरण की कथा के माध्यम से इन्द्र द्वारा दिये गये आत्मतत्त्वोपदेश का वर्णन है।

(ख) शुक्लयजुर्वेदीय उपनिषदें

(1) ईशावास्योपनिषद्–यह सभी उपनिषदों में प्रमुख उपनिषद् है यजुर्वेद का 40वां अध्याय ही इस उपनिषद् रूप में है। इसमें कुल 18 मन्त्र हैं। वाजसनेयि संहिता का एक अंश होने से इसे वाजसनेयिसंहिता उपनिषद्, वाजसनेयोपनिषद् तथा संहितोपनिषद् भी कहा जाता है। इस उपनिषद् पर ही सर्वाधिक भाष्य एवं टीकाएँ लिखी गयी है। इसमें विद्या-अविद्या, सम्भूति, असम्भूति, कर्म तथा जीव के स्वरूप पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है।

(2) बृहदारण्यक उपनिषद्–यह उपनिषद् सर्वाधिक प्रामाणिक एवं प्राचीन उपनिषद् है। यह शतपथब्राह्मण का अन्तिम भाग है। इसका सम्बन्ध शतपथ की काण्व तथा माध्यन्दिन दोनों शाखाओं से है। याज्ञवल्क्य को इसका प्रणेता माना जाता है। इसमें ही याज्ञवल्क्य तथा गार्गी का सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ वर्णित है। इसके पंचम तथा षष्ठ अध्याय खिलकाण्ड कहलाते हैं। इसमें ब्रह्मवादी राजाओं तथा ऋषियों के मध्य आत्मज्ञानविषयक चर्चा की गयी है।

(ग) कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषदें

(1) तैत्तिरीयोपनिषद्–कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्य के 7-9 प्रपाठकों का नाम ही तैत्तिरीयोपनिषद् है। इनके प्रपाठकों के नाम क्रमशः शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली तथा भृगुवल्ली हैं। प्रपाठकों का विभाजन अनुवाकों में है। इनमें क्रमशः 11, 98 तथा 10 अनुवाक हैं। इसमें स्वाध्याय, प्रवचन, शिक्षा, ब्रह्म,

समावर्त्तनकाल के उपदेश आदि का वर्णन है। ब्रह्म को यहाँ पर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' का गया है।

(2) मैत्रायणी उपनिषद्–यह कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणीशाखा से सम्बद्ध है। इसमें सात प्रपाठक हैं पुनः 76 खण्डों में विभक्त हैं। उस उपनिषद् का मुख्य विषय आत्मविद्या है। मैक्समूलर आदि इसे प्राचीन उपनिषद् मानते हैं, किन्तु विन्तरनित्स,[1] डायसन[2] तथा राधाकृष्णन्[3] इसे परवर्ती स्वीकार करते हैं। बालगंगाधर तिलक[4] ज्योतिष के आधार पर इसे 1200 या 1400 ई॰पू॰ मानते हैं।

(3) कठोपनिषद्–इसका सम्बन्ध कठशाखा से है। इसके प्रणेता कठ ऋषि हैं। इसका अपर नाम काठकोपनिषद् भी है। इसमें दो अध्याय तथा प्रत्येक में 3-36 बल्लियाँ हैं। इस उपनिषद् में नचिकेता के पिता के सर्वमेधयज्ञ का वर्णन करने के उपरान्त यमाचार्य द्वारा नचिकेता को दिये गये तीन वरों का वर्णन है। इनके द्वारा यमाचार्य ने स्वर्ग, यज्ञिय अग्नि, आत्मा तथा ब्रह्म का स्वरूप नचिकेता को समझाया है। इससे पूर्व यम ने नचिकेता के जिज्ञासुत्व की कठोर परीक्षा भी ली है।

(4) श्वेताश्वरोपनिषद्–यह श्वेताश्वर शाखा से सम्बन्धित है। यह शाखा तथा इसका ब्राह्मणग्रन्थ दोनों ही अप्राप्त हैं। शंकरानन्द के अनुसार श्वेताश्वरतर ऋषि वह है जिनकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हैं तथा जो अष्टांगयोग से सम्पन्न है।

इस उपनिषद् का सम्बन्ध शिव=रुद्र से है। यह छह खण्डों में विभक्त है। प्रारम्भ में जगत् के कारणों की चर्चा करते हुए ब्रह्म को ही जगत् का कारण माना है। सांख्य, योग आदि सभी दर्शनों की विचारधारा इस उपनिषद् में दृष्टिगोचर होती है। एक ओर योग का उपदेश हैं तो दूसरी ओर सांख्य के अजा, पुरुष, क्षर, अक्षर, प्रधान आदि तत्त्व भी इसमें वर्णित हैं। कई वेदमन्त्र भी इसमें उद्धृत हैं। इस उपनिषद् पर शंकराचार्य, शंकरानन्द, नारायण, विज्ञान भागवत तथा उपनिषद् ब्रह्मयोगी की टीकाएँ सुप्रसिद्ध हैं।

---

1. प्राचीन भारतीयसाहित्य, हिन्दी अनु॰प्रा॰ख॰ पृ॰ 207
2. The six upnishads, vol 1, p. 228-29.
3. The principal upnishads, p. 49.
4. गीता रहस्य 1955, पृ॰ 577-79

(घ) सामवेदीय उपनिषदें

(1) छान्दोग्यउपनिषद्–सामवेदीय छान्दोग्यब्राह्मण के दश विभाग हैं, जिन्हें प्रपाठक कहा गया है। इनमें से अन्तिम आठ प्रपाठकों को छान्दोग्योपनिषद् कहा जाता है। इसके प्रथम पाँच अध्यायों में मुख्य रूप से उपासना का वर्णन है तथा अन्तिम तीन में वेदान्तदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त वर्णित हैं। इस उपनिषद् में ओंकारउपासना, आत्मयज्ञ, ब्रह्मोपासना तथा सृष्टिविद्या आदि विषय वर्णित हैं। रैक्व जानश्रुति की कथा तथा उशस्ति चाक्रायण आदि के आख्यानों द्वारा इसमें विभिन्न शिखाएँ दी गयी हैं। इस उपनिषद् में ब्राह्मण भी क्षत्रिय राजाओं के पास ब्रह्मविद्या की प्राप्त्यर्थ जाते हैं।

(2) केनोपनिषद्–इसका सम्बन्ध सामवेद की तलवकार शाखा से है। जैमिनीय तलवकार ब्राह्मण का नवम अध्याय ही यह उपनिषद् कहलाती है। **'केन'** पद से प्रारम्भ होने के कारण ही इसका नाम केनोपनिषद् है। इसमें प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पर ब्रह्म का वर्णन किया गया है। इस उपनिषद् में चार खण्ड हैं। पहले दो पद्यात्मक तथा अन्तिम दो गद्यात्मक हैं। यक्ष तथा हैमवती उमा की सुप्रसिद्ध कथा भी यहाँ पर वर्णित है। इसके माध्यम से ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है। इस उपनिषद् पर शंकराचार्य के दो भाष्य मिलते हैं–पदभाष्य तथा वाक्यभाष्य।

(ङ) अथर्ववेदीय उपनिषदें

(1) प्रश्नोपनिषद्–अथर्ववेदीय पैप्पलादशाखा के ब्राह्मणग्रन्थ का एक भाग प्रश्नोपनिषद् कहलाता है। पैप्पलादसंहिता के ब्राह्मण तथा आरण्यक अनुपलब्ध हैं। इस उपनिषद् में सुकेशा आदि 6 ऋषियों द्वारा पिप्पलाद महर्षि से पूछे गये 6 प्रश्नों के उत्तर है। इस प्रश्नों के माध्यम से विभिन्न प्रकार का ज्ञान महर्षि पिप्लाद ने दिया है।

(2) मुण्डकोपनिषद्–यह उपनिषद् शौनकशाखा से सम्बन्धित है। यह तीन भागों में विभक्त हैं–ये भाग ही मुण्डक कहलाते हैं। मुण्डक की कई व्याख्याएँ की गयी है। इस उपनिषद् में मुख्यरूप से ब्रह्म के स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के उपाय वर्णित हैं। परा तथा अपरा के रूप में दो प्रकार की विद्या भी इसमें वर्णित है। प्रणव का विशेष महत्त्व इसमें वर्णित है। मुक्ति के उपाय तथा मुक्तपुरुष का स्वरूप भी इसमें वर्णित है।

(3) माण्डूक्योपनिषद्–यह उपनिषद् अथर्ववेद की शौनकशाखा से सम्बन्धित है। इसमें 12 खण्ड हैं। इस पर आचार्य गौडपादने 'माण्डूक्य कारिका' नाम से कारिकाएँ लिखी हैं। इसमें भूत-भविष्य तथा वर्तमान सब कुछ ओम् को ही माना गया है। ओंकार की तीन मात्राओं अकार, उकार तथा मकार की उपासना यहाँ पर वर्णित है। महानारायण आदि उपनिषदें भी अथर्ववेद से सम्बन्धित हैं।

उपनिषदों पर हुए शोध कार्य एवं अनुवाद

उपनिषदों का सर्वप्रथम अनुवाद मुगलसम्राट् शाहजहाँ के ज्येष्ठपुत्र दाराशिकोह ने कराया। उसने 1640 में कश्मीर की यात्रा के समय उपनिषदों की ख्याति सुनकर काशी के पण्डितों की सहायता से 1657-1674 ई० तक 17 वर्षों में में लगभग पचास उपनिषदों का फारसी अनुवाद सिर्रए अकबर (महान् रहस्य) के नाम से किया। इस अनुवाद को फ्रेंच यात्री वर्नियर अपने साथ फ्रॉस ले गया, जो ऐन्क्वेटिल दुयेरोन नामक यात्री को 1975 में प्राप्त हुआ। उसने इसके दो अनुवाद एक फ्रेंच भाषा में तथा दूसरा 1801-1802 ई० में औपनिखत (Oupnickhat) नाम लैटिन भाषा में प्रकाशित किये। लैटिन अनुवाद को पढ़कर जर्मन दार्शनिक शोपनहार (1845-1917 ई०) अत्यन्त प्रभावित हुआ।

1832 ई० में राजाराममोहन राय ने लन्दन से दो भागों में उपनिषदों का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। 1853 ई० में रोअर ने 'बिव्लियोथेका इंडिका' में प्रमुख नौ उपनिषदों का अनुवाद प्रकाशित किया। 'दि उपनिषद्' नाम से मैक्समूलर द्वारा किये गये अनुवाद 1879 तथा 1884 में 'सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट' शृंखला के प्रथम तथा पंचदश खण्डों में प्रकाशित हुए। जी०आर०एस० भीड़ तथा जगदीशचन्द्र चटोपाध्याय द्वारा किये गये प्रमुख नौ उपनिषदों के अनुवाद 1896 में 'द्विउपनिषद्स' शीर्षक से लन्दन थियोसोफिकल पब्लिशिंग सोसायटी से प्रकाशित हुए। 1997 में पाल डायसन ने लीपजिंग से साठ उपनिषदों का जर्मनअनुवाद प्रकाशित कराया। अब इसका अंग्रेजीअनुवाद भी उपलब्ध है।

सीताराम शास्त्री तथा गंगानाथ झा द्वारा किये गये अनुवाद 1898-1901 में, सीताराम तत्त्वभूषण द्वारा किये गये अनुवाद 1900 में, राम०सी० वसु द्वारा किये गये अनुवाद 1911 में, श्रीशचन्द्र विद्यार्णव तथा स्वामी परमानन्द के अनुवाद 1919 में, प्रकाशित हुए।

1921 में प्रथम बार आई०ई० ह्यूम द्वारा 13 उपनिषदों का अनुवाद ऑक्सफोर्ड से प्रकाशित हुआ। इसके अब तक छः संस्करण निकल चुके हैं। इनके अतिरिक्त ई०वी० कावेल, मनीलाल एन० द्विवेदी, एम० हिरियन्ना, दुर्गाप्रसाद, महादेव शास्त्री, नारायणस्वामी आदि ने भी पृथक् रूप में कुछ उपनिषदों के अनुवाद किये हैं। देशी तथा विदेशी अनुवादों का विस्तृत विवरण आर०ई० ह्यूम ने अपने ग्रन्थ 'दि थर्टीन प्रिंसिपल उपनिषद्स' में दिया है। डॉ० राधाकृष्णन् ने 'दि प्रिंसिपल उपनिषद्' नाम से, स्वामी निखिलनन्द ने 'दि उपनिद्स' के रूप में तथा स्वामी गम्भीरानन्द ने 'एट उपनिषद्स' नाम से अंग्रेजी अनुवाद किये हैं। इसी प्रकार स्वामी रंगनाथानन्द ने 'दि मैसेज ऑफ दि उपनिद्स', पी०वी० गजेन्द्रकर ने 'दि टेन क्लासिक उपनिषद्स' तथा नारायण स्वामी अय्यर ने 'थर्टी माइनर उपनिषद्स' ग्रन्थ लिखे हैं। पाल डायसन का 'दि फिलोसफी ऑफ उपनिषद्स' बी०आर० शर्मा का 'ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ इण्डियन फिलाँ, सफी', एडवर्ड गफ का 'दि फिलॉसफी ऑफ उपनिषद्स', गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय का 'स्टडीज इन दि उपनिषद्स', पी०एन० श्री निवासाचारी का 'दि फिलॉसफी ऑफ दी उपनिषद्स' आदि आंग्लग्रन्थ तथा सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का 'एकादशोपनिषद्, जयदेव वेदालंकार का 'उपनिषदों का तत्वज्ञान', रघुवीर वेदालंकार का 'उपनिषदों में योगविद्या', देवदत्तशास्त्री का 'उपनिषद्चिन्तन' आदि हिन्दीग्रन्थ भी इस सम्बन्ध में लिखे गये। उपनिषदों के विभिन्न विषयों को आधार बनाकर भी 'उपनिषदों में काव्यतत्त्व' (कृष्ण कुमार धवन) तथा 'उपनित्कालीन समाज एवं संस्कृति' (राजेन्द्र कुमार त्रिवेदी) आदि ग्रन्थ लिखे गये हैं। जी०ए० जैकोब का 'उपनिषद्वाक्यकोष' तथा होशियारपुर से छपा 'उपनिषद्वाक्यमहाकोष' आदि कोष ग्रन्थ भी लिखे गये हैं।

उपनिषदों का महत्त्व

उपनिषदें ब्रह्मविद्या की प्रतिपादक हैं। ब्रह्मप्राप्ति अथवा मोक्ष ही मानव जीवन का अन्तिम उद्देश्य है। धर्म-अर्थ तथा काम में फँसे रहकर यदि जीवन में ब्रह्म को नहीं जाना तो ऐसे व्यक्ति के विषय में कहा गया है–यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। उपनिषदें इसी ब्रह्मविद्या की प्रतिपादक है। जैसा कि स्वयं मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म की प्राप्ति होने पर हृदय की अज्ञान ग्रन्थि नष्ट हो जाती है, सभी संशय समाप्त हो जाते हैं तथा

व्यक्ति का कर्म बन्धन पूर्णत नष्ट हो जाता है।[1] उपनिषदों में सत्य, त्याग तथा तप पर बहुत बल दिया गया है। इनसे व्यक्ति का मन पवित्र होता है जिससे वह जीवन में शान्ति प्राप्त करके ब्रह्मप्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। उपनिषदों के समान शान्तिदायक ग्रन्थ अन्य कोई नहीं है। मानव का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या ब्रह्मप्राप्ति है। उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप एवं उसकी प्राप्ति के उपायों का वर्णन उत्कृष्ट रूप में किया गया है। उपनिषद कहती है कि यदि इस जन्म में ब्रह्म को नहीं जाना तो यह महती विनष्टि है। उपनिषदें कर्म की विरोधी नहीं हैं। ईशोपनिषद में सतत कर्म करने की प्रेरणा दी गयी है। ज्ञान तथा कर्म का समन्वय ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य है। कर्म सांसारिक भोगों को तो प्राप्त करा देंगे, किन्तु मोक्ष तो ज्ञान से ही होगा। उपनिषदें इसी मार्ग की प्रतिपादक हैं।

उपनिषदों के आध्यात्मिक ज्ञान के कारण न केवल भारतीय ही, अपितु विदेशी मनीषियों ने भी उपनिषदों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। मैक्समूलर अपनी पुस्तक what India can teach us में लिखते हैं कि मृत्यु के भय से बचने, मृत्यु के लिए पूर्ण तैयारी करने तथा सत्य को जानने के जिज्ञासु के लिए उपनिषदों के अतिरिक्त और कोई श्रेष्ठ मार्ग मेरी दृष्टि में नहीं है। औरंगजेब का भाई दाराशिकोह उपनिषदों को ऐकेश्वरवाद का समुद्र मानते थे। उपनिषदों के फ्रेंच अनुवाद को देखकर जर्मन दार्शनिक शोपनहार लिखते हैं कि "सम्पूर्ण विश्व के साहित्य में उपनिषदों के समान जीवन को ऊँचा उठाने वाला कोई भी ग्रन्थ नहीं है। उपनिषदों का अध्ययन मुझे जीवन में शांति देता रहा है तथा मरने पर भी मुझे इससे शान्ति मिलेगी।" मैक्समूलर ने भी इस धारणा का समर्थन किया है।

स्वीडन के दार्शनिक पाल ड्यूसन लिखते हैं कि उपनिषदों के ज्ञान से शांति मिली है, वैसे अत्यन्त कहीं भी उपलब्ध नहीं, मि० ह्यूम अपनी पुस्तक Dogmas of Buddhism में लिखते हैं कि बड़े-बड़े दार्शनिकों से जो शांति नहीं मिली, वह उपनिषदों से मिली है।

भारतीयमूल की अन्तरिक्ष यात्री विलियम सुनीता सितम्बर 2012 में अन्तरिक्ष में जाने समय अपने साथ उपनिषदों का अंग्रेजी अनुवाद लेकर गयी थी।

---

1. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते यास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। मु०उप० 2/2/8

उपनिषदों का प्रतिपाद्य

उपनिषदों में मुख्य रूप से तीन विषयों का प्रतिपादन किया गया है–(1) धर्म, (2) सृष्टि, (3) आत्मतत्त्व। तैत्तिरीयोपनिषद् प्रारम्भ में ही कहती है–सत्यं वद। धर्मं चर। इत्यादि। यहीं पर स्वाध्याय-प्रवचन, देव-पितृकार्य आदि अन्य बातों की ओर भी संकेत कर दिया गया है। इसी प्रकार अन्य उपनिषदें भी व्यक्ति को पूर्ण धार्मिक तथा सत्य आदि गुणों से पूर्ण बना देना चाहती हैं।

आत्मतत्त्व उपनिषदों का प्रधान विषय है। इसका जितना सुस्पष्ट तथा गहन उपनिषदों में प्राप्त होता है, वैसा अन्यत्र नहीं। यहाँ पर आत्मतत्त्व से आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही अभिप्रेत हैं। आत्मतत्त्वज्ञान सर्वसुलभ भी नहीं है। उपनिषदें इसके लिए जिज्ञासु की योग्यता पर विशेष बल देती है इसीलिए कठोपनिषद में यमाचार्य ने नचिकेता के सामने संसार के समस्त प्रलोभन रखकर उसकी परीक्षा लेकर ही उसे इसका उपदेश दिया था तथा कहा था कि यह आत्मतत्त्व सभी को सुनने के लिए भी उपलब्ध नहीं है तथा अनेक व्यक्ति सुनकर भी इसे नहीं जान सकते। शृण्वन्नपि बहवो यं न विदुः। यह आत्मा नित्य, अजन्मा तथा शाश्वत है।[1]

ब्रह्मरूपी आत्मतत्त्व के स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के उपायों का उपनिषदें सुस्पष्ट वर्णन करती है। मुण्डकोपनिषद् कहती है कि वह ब्रह्म, अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण तथा चक्षु-श्रोत आदि इन्द्रियों से रहित है।[2] वेदों में भी ब्रह्म का यही स्वरूप वर्णित है।[3] कठोपनिषद् में भी यही स्वरूप वर्णित है। कि वह ब्रह्मशब्द-स्पर्श-रूप रस आदि विषयो से रहित, नित्य, विभु, अनादि तथा अनन्त है।[4] यहाँ पर उपनिषदें यह भी कहती है कि इस ब्रह्म को धीर पुरुष ही देख सकते हैं। यहाँ पर 'धीर' का अर्थ सांसारिक पदार्थों से विरक्त व्यक्ति से है। इस ब्रह्म का जानकार ही मृत्यु मुख से छूट कर मोक्ष को प्राप्त किया जा

1. अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो।
   न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। कठो॰ 1/2/18
2. यत्तद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
   नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरुः।। मुण्ड॰ 1/1/6
3. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। यजु॰ 40/8
4. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत्। कठो॰ 1/3/15

सकता है, अन्य कोई मार्ग इसका नहीं है—नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। अनाद्यनन्तंपरं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।। कठो॰ 1/3/15

इसी ब्रह्म को 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कह रही है। वह रस रूप है तथा इस रसरूप ब्रह्म को प्राप्त करके जीवन भी रसमय हो जाता है—रसो वै सः। रसं हि लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

उपनिषदें जीवात्मा को भी निर्लेप ब्रह्मस्वरूप बना देना चाहती हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि जीवात्मा साक्षात् ब्रह्म हो जायेगा, अपितु जिस प्रकार लोहे का गोला अग्नि में डालने से अग्निस्वरूप ही हो जाता है, तथापि उसका अलग अस्तित्व भी विद्यमान रहता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी ब्रह्मानन्द को प्राप्त करके आनन्दमय या ब्रह्ममय तो हो जाता है, किन्तु तब भी उसका अपना पृथक् अस्तित्व समाप्त नहीं होता। इसी बात को बृहदारण्यकोपनिषद 2/5/19 में इस प्रकार कहा गया है—ब्रह्मभावश्चाहमात्मा ब्रह्म। इस प्रकार उपनिषदों में आत्मतत्व का विशद् एवं सुस्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है।

आत्मतत्त्व के साथ उपनिषदों में सृष्टिविषयक विचार भी किया गया है। उपनिषदों के अनुसार 'एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'। अर्थात् पर ब्रह्म परमात्मा से महाभूतों का जन्म हुआ। ऐतरेयोपनिषद् में कहा गया है कि सृष्टि के आदि में वह अकेला ब्रह्म ही था। उसने इक्षण किया कि मैं लोकों का सर्जन करूँ।[1] मुण्डकोपनिषद में सृष्टिप्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने शरीर से जाला उत्पन्न करके उसे स्वयं ही निगल भी लेती है, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न हुआ।[2] मकड़ी अपने शरीर में ही जाले को उत्पन्न करती है। इसमें मकड़ी निमित कारण तथा उसका शरीर जाले का उपादान कारण है। इसी प्रकार ब्रह्म भी इस जगत् का निमित्त कारण तथा प्रकृति उपादान कारण है। इस प्रकार उपनिषदों में जीव, प्रकृति तथा ब्रह्म इस त्रैतवाद का ही समर्थन किया गया है।

शिक्षासम्बन्धी चिन्तन भी उपनिषदों में किया गया है। तैतिरीयोपनिषद् में 'शीक्षांव्याख्यास्यामः' कहकर शिक्षा के स्वरूप एवं उद्देश्य की चर्चा की गयी है। कुछ विद्वानों के अनुसार उपनिषदों में जीवन की निःसारता, क्षणभंगुरता तथा

1. आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्॰। स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति। ऐत॰ 1/1
2. यर्थोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च। यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि। तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।। मुण्डक॰ 1/1/7

दुःखबाहुल्यता का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु यह विचार ठीक नहीं है। उपनिषदों में जीवन या संसार के प्रति उपेक्षा भाव नहीं है, अपितु भौतिक सुख-समृद्धि की अपेक्षा आत्मिकशान्ति को श्रेष्ठ माना गया है। परा एवं अपरा विद्या का प्रतिपादन इसी दृष्टि से किया गया है। पराविद्या को श्रेष्ठ मानते हुए भी वहाँ पर अपरा की निन्दा नहीं की गयी है। इसी प्रकार उपनिषदों में कर्म एवं ज्ञान का समन्वय करते हुए कर्म की अपेक्षा ज्ञानमार्ग को उत्कृष्ट तो बताया है, किन्तु न केवल कर्म को ही महत्त्व प्रदान किया तथा न केवल ज्ञान को ही। कठोपनिषद् में कर्म के उपलक्षण के रूप में पंचमहायज्ञों का विधान भी प्राप्त होता है। अनेकत्र यहाँ पर यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या की गयी है।

पञ्चम अध्याय

वेदांगसाहित्य

वेदांगशब्द का अर्थ–अङ्ग्यते गम्यते ज्ञायतेऽङ्गी अमीभिरिति अंगानि। अर्थात् जिन साधनों से किसी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होता है उसे अंग कहते हैं। वेदस्य अंगानि वेदांगानि। अर्थात् वेदों, के स्वरूप को प्रकट करने वाले शास्त्र। 'अंगमिव अंगम्' अर्थात् जो हाथ आदि अंगों के समान वेद का उपकारक हो, यहाँ पर लक्षणा से अंग पद शिक्षा आदि ग्रन्थों का वाचक है।

वेदांगों का समय–महाभारत, शान्तिपर्व (284/193) के वेदात् 'षडङ्गान्युद्धृत्य' वचन से विदित होता है कि वेदांगों का आदिप्रवक्ता शिव था। जयचन्द्र विद्या लंकार ने इस उत्तर वैदिकयुग को 800-200 ई॰पू॰ के मध्य रखा है।[1] शंकर बालकृष्ण दीक्षित के अनुसार वेदांगों की पूर्व सीमा शकपूर्व 1500 वर्ष है।

वेदांगों की संख्या–शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् और ज्योतिष ये छह वेदांग हैं। यथा–

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चयः।
ज्योतिषामयनं चैव वेदांगानि षडेव तु।।

वेदांगों का महत्त्व–पाणिनीयशिक्षा में इन छः वेदांगों के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए वेदरुपी पुरुष के छः अंगों के समान इन शास्त्रों की कल्पना की है–

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।पा॰शि॰, श्लो॰ 41-42

---

1. जयचन्द्र विद्यालंकार, भार॰ इति॰ की रूपरेखा, भाग 1, पृ॰ 301

महर्षि पतंजलि ने इन शास्त्रों की महत्ता को ध्यान में रखकर ही महाभाष्य में कहा है—

"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।" म॰भा॰ 1/1/1

अर्थात् ब्राह्मण का यह कर्त्तव्य है कि वह प्रतिफल की आकांक्षा के बिना ही छः अंगों सहित वेद का अध्ययन करें।

वेदांगों की प्राचीनता—वेदांगों का उद्भव और विकास आवश्यकतानुसार विभिन्न कालों में हुआ। ये षडङ्गपद द्वारा भी व्यवहृत होते रहे हैं। अनेक अति प्राचीन ग्रन्थों में इनके नामों की व्याख्या प्राप्त होती है। जैसे—

(1) "तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति"। मुण्डक उप॰ 1/1/5

(2) "नाषडङ्गवित्तत्रासीन्नाव्रतो नाबहुश्रुतः।" बा॰रा॰, बाल॰ 14/21

(3) "वेदात् षडङ्गान्युद्घृत्य" (महा॰शान्ति॰ 284/82)

(4) "षडङ्गविदस्तत् तथाऽधीमहे" (गो॰ब्रा॰, पूर्वार्द्ध, 1/27)

(5) "शीक्षां व्याख्यास्यामः" (तै॰आ॰ 712)

प्रथम वेदांग-शिक्षा

'शिक्षा' शब्द का निर्माण 'शिक्ष विद्योपादाने' धातु से 'अ' प्रत्यय के बाद 'टाप्' प्रत्यय से होता है। सायणाचार्य ने ऋग्वेदभाष्य भूमिका में शिक्षा की यह परिभाषा दी है—

"स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा।"

जिस शास्त्र के द्वारा ध्वनि का आरोह, अवरोह स्वर, वर्णादि के उच्चारण की पद्धति को सिखाया जाता है, उसे 'शिक्षा कहते हैं। ऋग्वेदप्रातिशाख्य पर वर्गद्वयवृत्ति के कर्त्ता विष्णुमित्र के अनुसार भी स्वर तथा वर्णोच्चारण का उपदेश करनेवाला शास्त्र शिक्षा है—'शिक्षा स्वरवर्णोच्चारणोपदेशकं शास्त्रम्।' यह शब्द योगरूढ़ है। अतः किसी भी विषय के शिक्षण ग्रन्थ को 'शिक्षा' के रूप में वेदांग नहीं माना जा सकता है।

शिक्षा के विषय—तैत्तिरीयोपनिषद् (1/1/2) में शिक्षा के विषयों का निरूपण इस प्रकार किया गया है—शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः मात्रा

बलम् साम सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः (तै॰उप॰ 1/1)। इससे प्रतीत होता है कि शिक्षा के विषय वर्ण आदि ही हैं। वर्ण का अभिप्राय स्वरों तथा व्यंजनों के रूप में अकारादि 63 वर्णों से है। स्वर का अर्थ उदात्त, अनुदान, स्वरित तथा प्रचय आदि से है। मात्रा का अर्थ ह्रस्व = 1 मात्रा, दीर्घ = 2 मात्रा, प्लुत = 3 मात्रा। बल से अभिप्राय वर्षों के उच्चारणस्थान तथा प्रयत्न से हैं। साम का अर्थ अतिद्रुत आदि दोषों से रहित तथा माधुर्य आदि गुणयुक्त पूर्वापर वर्णों का सामंजस्य पूर्ण उच्चारण है। सन्तान का अर्थ पदान्तीय तथा पदादि वर्णों की संहिता है।

शिक्षाग्रन्थों से पूर्व आरण्यक तथा उपनिषदों में भी शिक्षा का विवेचन किया गया है। यद्यपि यह उतना व्यवस्थित नहीं है, जितना शिक्षावेदांग के अन्तर्गत लिखे गये ग्रन्थों में है। ऐतरेय में वेदपाठ के विविध रूपों के अतिरिक्त कई परिभाषिक संज्ञाएँ, यथा–प्राण, ऊष्मा, स्पर्श, स्वर, अन्तस्थ आदि का भी उल्लेख किया गया है। माण्डूकेय, शाकल्य, अगस्त्य आदि शिक्षा के प्राचीन आचार्यों के मतों को भी यहाँ उद्धृत किया गया है। शिक्षाविवेचन करने वाले प्राचीन ग्रन्थों में संहितोपनिषद् ब्राह्मण प्रमुख है। यह ब्राह्मण सामवेद का शिक्षा ग्रन्थ ही है। यह संहिता का विवेचन मुख्य रूप में करता है।

शिक्षाशास्त्र का इतिहास–इतिहासकारों के अनुसार जैगीषव्य का शिष्य बाभ्रव्य शिक्षाशास्त्र का निर्माता था। बाभ्रव्य ने ही सर्वप्रथम ऋक्संहिता के क्रमपाठ की व्यवस्था की थी।[1] महाभारत में आचार्य गालवप्रणीत शिक्षा का उल्लेख मिलता है।[2] पाणिनि ने अष्टाध्यायी (8/4/67) में भी गालव के मत को उद्धृत किया है। डॉ॰ कीलहार्न ने किसी चारायणीय शिक्षा का उल्लेख भी किया है।[3] इस समय सौ से भी अधिक शिक्षाग्रन्थ प्राप्त होते हैं। इनमें से चालीस का ही मुद्रण हुआ है। अन्य हस्तलिखित प्रतियाँ पुस्तकालयों में सुरक्षित है। सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ॰प्र॰) से 2040 वि॰स॰ में 'शिक्षा संग्रह' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जिसमें 31 शिक्षाग्रन्थों को संगृहीत किया गया है।[4] जो इस प्रकार है–

---

1. जयचन्द्र विद्यालंकार, भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 1, पृ॰ 211
2. महाभारत, शान्तिपर्व, 342/104
3. कीलहार्न, इण्डियन एंटीक्वेरी,
4. वेदार्थवाङ्मय का इतिहास, पृ॰ 121 पर उद्धृत

(1) याज्ञल्क्यशिक्षा, (2) वासिष्ठीशिक्षा, (3) कात्यायनीशिक्षा, (4) पाराशरीशिक्षा, (5) माण्डवीशिक्षा, (6) अमोधनन्दिनीशिक्षा, (7) लध्वमोघनन्दिनीशिक्षा, (8) माध्यन्दिनीशिक्षा, (9) लघुमाध्यन्दिनीशिक्षा, (10) वर्णरत्नप्रदीपिकाशिक्षा, (11) केशवीयशिक्षा, (12) पद्यात्मिका केशवीशिक्षा, (13) मल्लशर्मशिक्षा, (14) स्वराङ्कुशाशिक्षा, (15) षोडशश्लोकीशिक्षा, (16) अवसाननिर्णयशिक्षा, (17) स्वरभक्तिलक्षण-परिशिष्ट-शिक्षा, (18) क्रम-सन्धान-शिक्षा, (19) गलदृक्शिक्षा, (20) मनःस्वारशिक्षा, (21) प्रातिशाख्यप्रदीप-शिक्षा, (22) विसर्गाङ्गुलिप्रदर्शन-प्रकारशिक्षा, (23) यजुर्विधानशिक्षा, (24) स्वराष्टकशिक्षा, (25) क्रमकारिकाशिक्षा, (26) पाणिनीय-शिक्षा श्लोकात्मिका, (27) शिक्षा-प्रकाश, (28) नारदीशिक्षा, (29) सामवेदीया गौतमीशिक्षा, (30) सामवेदीया लोमशीशिक्षा, (31) अथर्ववेदीया माण्डूकीशिक्षा।

पण्डित धनराज की सूची में शिक्षाविषयक चार ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं–(1) याज्ञवल्क्यशिक्षा–इसमें 25000 श्लोक या सूत्र, (2) गणेशसूत्र इसमें एक लाख पच्चीस हजार श्लोक, (3) भारद्वाजशिक्षा में 3600 हजार तथा (4) काश्यपशिक्षा में 56000 श्लोक या सूत्र बतलाये गये है।

जो शिक्षा-सम्बन्धी ग्रन्थ इस समय प्राप्त होते हैं उनमें अधिकतर तो वेद की विभिन्न संहिताओं और शाखाओं से सम्बन्धित हैं।

रामलाल कपूर ट्रस्ट रेवली, से ये तीन शिक्षाग्रन्थ मुद्रित हुए हैं–

(1) आपिशलशिक्षा

(2) पाणिनीयशिक्षा (सूत्रात्मक) के वृद्ध और लघुपाठ।

(3) चान्द्रशिक्षासूत्र।

सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय से 2046 में नया संस्करण प्रकाशित हुआ, उसमें पहली सूची से अधिक एक शिक्षाग्रन्थ का नाम आा है–माण्डव्यमहर्षिप्रणीता शिक्षा।

पाणिनीयशिक्षा–'शिक्षासंग्रह' में मुद्रित शिक्षाओं में पाणिनीयशिक्षा (श्लोकात्मक) छपी है। श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा के आर्च (ऋग्वेदीय) और याजुष (यजुर्वेदीय) दो पाठ है। आर्चपाठ में लगभग पचास से साठ तक श्लोक हैं तथा याजुष पाठ लगभग 30-35 श्लोकों से युक्त है। श्लोकात्मिका शिक्षा का प्रथम श्लोक ही इसे पाणिनीयेतर व्यक्ति की रचना बतला रहा है–अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।

पाणिनीयशिक्षा की 'शिक्षाप्रकाश'[1] टीका के रचनाकार का मानना है कि पाणिनि के अनुज पिंगलाचार्य ने पाणिनीय-शिक्षा को श्लोकात्मक रूप प्रदान किया था, किन्तु इसकी 'शिक्षाप्रकाश' टीका में तथा 'शिक्षापंजिका'...टीका में लगभग 25 श्लोक व्याख्यासहित उपलब्ध होते हैं। श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा में कुछ अंश अष्टाध्यायी से विपरीत हैं।

श्लोकात्मिका 'पाणिनीयशिक्षा' का मूलाधार सूत्रात्मिका 'पाणिनीयशिक्षा' है। इसमें कुल 60 श्लोक हैं। इस शिक्षा में वर्णों की उत्पत्ति, स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न आदि का वर्णन संक्षेप में किया गया है। पाठक के गुणदोषों की चर्चा भी इसमें की गयी है। यह शिक्षाग्रन्थ पाँच संस्करणों में प्राप्त हुआ है। (1) अग्निपुराणसंस्करण, (2) पंजिकासंस्करण, (3) शिक्षाप्रकाशभाष्य में उपलब्ध प्रकाशसंस्करण, (4) यजुःसंस्करण जिसे बेवर ने 'इंडिशेश्टुडीन' में प्रकाशित किया (5) ऋक्संस्करण। इसे भी बेवर ने ही प्रकाशित किया।

सूत्रात्मिका पाणिनीय-शिक्षा—सूत्रात्मिका शिक्षा दो प्रकार की है। (1) लघुपाठ (2) बृहत्पाठ (3) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अथक प्रयास से सूत्रात्मक 'पाणिनीयशिक्षा' का उद्धार किया। श्लोकात्मक 'पाणिनीयशिक्षा' का अध्ययन-अध्यापन में प्रचुर प्रयोग होने के कारण सूत्रात्मक पाठ का लोप हो चुका था। सूत्रात्मक पाठ तो हस्तलिखित भी प्राप्त नहीं होते हैं। "श्लोकात्मिका शिक्षा मूलरूप से पाणिनीय नहीं है"—इस कथन पर सर्वप्रथम इस युग में स्वामी दयानन्द सरस्वती का ध्यान आकृष्ट हुआ। उन्होंने मूलरूप में पाणिनीय-शिक्षा की प्राप्ति हेतु अथक प्रयास किया। अन्त में वि०स० 1936 अथवा सन् 1879 में प्रयाग के एक ब्राह्मण के घर से हस्तलिखित सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा की एक प्रति मिली जो पूर्ण नहीं थी।

स्वामी जी ने हिन्दीभाषा में विक्रमी संवत 1936 वि०, सन् 1879 में इनका प्रकाशन 'वर्णोच्चारण शिक्षा' नाम से कराया। यह लघुपाठ वाली शिक्षा है।

वृद्धपाठ—पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने 1953 में प्रथम बार इसे प्रकाशित कराया था 2008 ई० में किसी वर्तमान उदयनाचार्य की व्याख्या सहित रामलाल कपूर ट्रस्ट ने इसे प्रकाशित कराया है। इस शिक्षा में आठ प्रकरण हैं।

---

1. ज्येष्ठभार्तृ विरहिते व्याकरणेऽनुजस्तत्र भवान्। पिङ्गलाचार्यः तन्मतमनुभाव्य शिक्षां प्रतिजानीते-अथ शिक्षामिति।

ये शिक्षाग्रन्थ श्लोकात्मक तथा सूत्रात्मक दोनों रूपों में प्राप्त होते हैं। एक अनुश्रुति के आधार पर जयचन्द्र विद्यालंकार ने जैगीषव्य के शिष्य बाभ्रव्य को शिक्षाशास्त्र का निर्माता कहा है। इसने ही सर्वप्रथम ऋक्संहिता की क्रमपाठ व्यवस्था भी की थी।[1] महाभारत के शान्तिपर्व (324/104) में गालवकृत शिक्षाग्रन्थ का उल्लेख है। अष्टाध्यायी (8/4/67) में भी गार्ग्य, काश्यप तथा गालव के मतों को स्वर के सम्बन्ध में पाणिनि ने उद्धृत किया है। शिक्षाग्रन्थों में वर्णों की उच्चारणशुद्धता पर पर्याप्त बल दिया गया है। प्रातिशाख्यों में भी यह विचार विशेष रूप में किया गया है। शौनकादिभ्यश्छन्दासि (पा० 4/3/106) सूत्र का प्रत्युदाहरण काशिका में शौनकीया शिक्षा दिया गया है। इस शिक्षा का एक हस्तलेख अडियार पुस्तकालय में है।[2] भर्तृहरि की स्वोपज्ञटीका तथा उसके उपटीकाकार वृषभदेव की बातों से ऐसा भी ज्ञात होता है कि पाणिनि के समय में ही शिक्षाग्रन्थों पर वृत्तियाँ भी लिखी जाने लगी थी। अशुद्ध उच्चारण को वाग्वज्र कह कर अनिष्ट फलदाता बतलाता गया है। शिक्षाग्रन्थों का उद्देश्य उच्चारणसम्बन्धी विधियों का निर्देश एवं नियम करना ही है। वर्तमान में सभी वेदों के निम्न शिक्षाग्रन्थ उपलब्ध हैं–

(क) ऋग्वेद से सम्बन्धित शिक्षाग्रन्थ

(1) स्वराङ्कुशा शिक्षा–स्वरांकुशा शिक्षा में स्वयं जयन्त स्वामी को इसका रचयिता माना गया है।[3] इस शिक्षा में 25 श्लोक हैं। प्रथम श्लोक में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा प्रथम का सामान्य परिचय देकर 2-9 श्लोकों में जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट संज्ञक स्वतन्त्र स्वरितों के लक्षण दिये गये हैं। 10-12 श्लोकों में तैरोव्यंजन, तैरोविराम तथा पादवृत्त संज्ञक सामान्य स्वरितों के लक्षण हैं। 13-16 श्लोकों में सभी स्वरितों के उदाहरण है। 18-19 में नाद स्वर का विवेचन है। 20-22 में कम्पस्वर के दो भेद-ह्रस्व तथा दीर्घ वर्णित है। इसका सम्पादन पं० युगलकिशोर पाठक ने किया है।

(2) षोडशश्लोकीशिक्षा–इसके प्रणेता रामकृष्ण आचार्य हैं। यह माहेश्वर सूत्रों पर आधारित है। इसमें कुल 63 वर्णों का उल्लेख करते हुए उनके उच्चारण की विधि बतलाई गयी है।

---

1. जयचन्द्र विद्यालंकार, भार०इति० की रूप०, भाग०, पृ० 211
2. अडियार प्रस्तकालय मद्रास का सूचीपत्र, भाग 2, परिशिष्ट 2, सन् 1918
3. जयन्तस्वामिना प्रोक्ताः श्लोकानामेकविंशतिः। स्वराङ्कुशा, श्लो० 23

(3) शैशिरीयशिक्षा–इस ग्रन्थ के अनुसार शिशिर इनके प्रणेता हैं।[1] इसका सम्बन्ध ऋग्वेद की शैशिरीय शाखा से है। शैशिर पद शाखासम्बन्ध का बोधक प्रतीत होता है। इसका आकार विस्तृत है। इसमें वर्ण, स्वर, मात्रा, स्थान, करण, सन्धि आदि का सोदाहरण विवेचन है। स्वरभक्ति तथा उसके उच्चारण में होने वाले त्रिविध दोषों का उल्लेख भी सोदाहरण किया गया है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा कम्प स्वर का भी विस्तार से विवेचन है। वर्ण तथा स्वरों के उच्चारण में होने वाले गुण-दोषों का विवेचन भी इसमें है।

इस शिखा का सम्पादन डॉ॰ नारायण चौधुरी ने अड्यार लायब्रेरी में उपलब्ध एक हस्तलेख के आधार पर किया था। वह लेख डॉ॰ रघुवीर द्वारा 'जर्नल ऑफ वैदिक स्टडीज', जनवरी 1934-35 में लाहौर से प्रकाशित किया गया था।

(4) आपिशलि शिक्षा–इसके हस्तलेख मद्रास तथा अड्यार लायब्रेरी से प्राप्त हुए थे। मद्रास वाले हस्तलेख में प्रारम्भ में 19 कारिकाएँ थी, इसके बाद यह शिक्षा प्रारम्भ होती है। डॉ॰ रघुवीर द्वारा सम्पादित यह शिक्षा 1931 में कलकत्ता से प्रकाशित हुई थी। डॉ॰ रघुवीर ने मद्रास वाले हस्तलेख को मूल आपिशालि शिक्षा न मानकर परवर्ती काल की रचना माना है। आपिशलिशिक्षा का प्राचीन स्वरूप सूत्रात्मक है। पतंजलि, भर्तृहरि, काशिकाकार, भट्टोजि, चन्द्रगोमी आदि ने इस शिक्षा के स्थान, करण, प्रयत्नादिविषयक सूत्रों को अपनी रचनाओं में उद्धृत किया है। राजेश्वर की काव्यसीमांसा तथा वृषमदेव की वाक्यप्रदीपटीका में भी इसका उल्लेख है। इस शिक्षा का सम्बन्ध वेद की किसी एक शाखा से न होकर सभी के साथ है। इसलिए यह शिक्षा स्थान, करण, अनुप्रदान तथा प्रयत्न इन विषयों तक ही सीमित है।

वर्तमान आपिशलि शिक्षा में आठ खण्ड हैं। इनके विषय इस प्रकार हैं–

(1) प्रथम खण्ड में वर्णों के स्थान तथा द्वितीय में करण का विचार है।

(2) तृतीय तथा चतुर्थ में वर्णों के अन्तः तथा बाह्य प्रयत्नों का उल्लेख है।

(3) पंचम में स्पर्श, यम, अन्तःस्थ तथा ऊष्म स्वर वर्णों का उल्लेख है।

(4) षष्ठ में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तथा सप्तम में स्थान, करण, प्रयत्न का लक्षण दिया गया है।

---

1. शैशिरोऽहं प्रवक्ष्यामि शाखाया लक्षणं विधिम्। शै॰शि॰, श्लो॰ 4

(5) अष्टम खण्ड में ध्वनि की उत्पत्ति तथा वर्णों की संवृतता, विवृतता का विवेचन है।

(ख) शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थ

अन्य वेदों की अपेक्षा यजुर्वेदीय शिक्षाएँ अधिक हैं। इनमें से शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्धित शिक्षा ग्रन्थ निम्न हैं–

(1) याज्ञवल्क्यशिक्षा–यह यजुर्वेदीय शिक्षाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें उच्चारण विषयक सभी विषयों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। उवट ने वाजसेनयि प्रातिशाख्य के भाष्य में इस शिक्षा को उद्धृत किया है। याज्ञवल्क्यशिक्षा के रचयिता यावल्क्य ही माने जाते हैं। इसमें दो बार (1/18, 4/33) याज्ञवल्क्य के नाम का उल्लेख है। इसमें सोमशर्मा के मत को भी प्रामाणिक रूप में उद्धृत किया है। अतः कुछ विद्वान् सोमशर्मा को ही इसका प्रणेता मानते हैं।

याज्ञवल्क्यशिक्षा में सर्वप्रथम उदात्त, अनुदात्त आदि के वर्ण, देवता, जाति, गोत्र तथा छन्द का विवेचन हैं। इसके बाद वर्णों के उच्चारण, काल, मात्रा, वेदाध्ययन की विधि, स्वर संहिताविधि तथा उच्चारण के गुण-दोषों का विवेचन है। द्वितीय कण्डिका में स्वर, स्पर्श, अन्तस्थ तथा ऊष्म के रूप में वर्णों को विभक्त करके यमों का उल्लेख किया गया है। वर्णों के लोप, आगम, प्रकृतिभाव, विवृति का लक्षण, स्वरभक्ति के भेद आदि का सोदाहरण विवेचन है। यहीं पर सन्धियों के प्रकार, लक्षण तथा उदाहरण भी दिये गये हैं। तृतीय कण्डिका में पाठ की विधि तथा उसके गुण-दोषों का विवेचन है। इस शिक्षा के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं।

(2) वासिष्ठी शिक्षा–इस शिक्षा में 13 कारिकाएँ हैं, इनमें स्वरित का लक्षण तथा इसके भेदों-स्वतन्त्र स्वरित एवं आश्रित स्वरित का स्वरूप बतलाया गया है। इसके रचयिता के रूप में कात्यायन का उल्लेख है। इसकी जयन्त स्वामिप्रणीत व्याख्या उपलब्ध है। यह 'शिक्षासंग्रह' में प्रकाशित है।

(3) नारदीयशिक्षा–सामवेदीय शिखाओं में इसका विशिष्ट स्थान है। इस पर आचार्य शोभाकर की संक्षिप्त टीका मिलती है। गोपालचन्द्र मिश्र द्वारा सम्पादित इसका प्रकाशन पीताम्बरपीठ दतिया (म॰प्र॰) से हुआ है। नारदीय शिक्षा में दो प्रपाठक हैं। दोनों प्रपाठकों में 8-8 खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड में कई

कारिकाएँ हैं। प्रथम प्रपाठक के तृतीय खण्ड में कारिकाएँ नहीं हैं। शेष में कुल 227 कारिकाएँ हैं। प्रथम प्रपाठक के प्रथम खण्ड में सामान्य स्वरविषयक विवेचन है। द्वितीय खण्ड में तान, राग, स्वर, गान, मूर्च्छना का लक्षण तथा उनके भेद वर्णित हैं। तृतीय गद्य खण्ड में गान के दश गुणों के लक्षण तथा 17 दोषों का वर्णन है। चतुर्थ खण्ड में षड्ज, ऋषभादि स्वरों के वर्ण, जाति, स्वरूप आदि का विवेचन है। पंचम खण्ड में सामगों तथा वेणुवादकों के स्वर का सम्बन्ध दिखलाया गया है। षष्ठ खण्ड में दारवी तथा गात्रवीणा का उल्लेख है। सप्तम में सामस्वरों के मूर्च्छा आदि स्थान आदि का वर्णन है। अष्टम में आर्चिक के उदात्त, अनुदात्त, स्वरित का विवेचन है। द्वितीयं प्रपाठक के प्रथम खण्ड में स्वरितों के स्वरूप का विवेचन, द्वितीय तथा तृतीय में कम्प तथा वर्णों के संयोग तथा मात्रा का विवेचन है। चतुर्थ खण्ड में विकृतियों रंग, अनुस्वार आदि के स्वरूप की विवेचना है। 5-8 खण्डों गायक के गुण-दोषों का भी विवेचन है।

(4) पाराशरी शिक्षा—इसमें कुल 160 कारिकाएँ हैं। इसमें याज्ञवल्क्यीय, वासिष्ठी, कात्यायनी, माण्डवी, गौतमी, अमोघानन्दिनी, पराशरी, पाणिनीय तथा माध्यन्दिनी शाखाओं का एकत्र उल्लेख किया गया है। इस शिक्षा में प्रणव, स्वरों का पौर्वापर्य, अनुस्वार-संयोग-विसर्ग आदि के ह्रस्व-दीर्घत्व का विवेचन है। वकार के तीन रूपों—गुरु, लघु तथा लघुतर का विवेचन तथा वर्णों के लोप, आगम, वर्णविकार, द्वित्व आदि का विचार है। यह मन्त्रपाठ के साथ अर्थज्ञान पर बल देती है। यह भी 'शिक्षासंग्रह' में प्रकाशित है।

(5) माण्डव्य शिक्षा—इसमें शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा में प्रयुक्त बकारयुक्त पद, अध्याय एवं कण्डिका क्रम से समाहत हैं। इन्हें चालीस वर्णों में संकलित किया गया है। ऐसा सम्भवतः बकार तथा वकार के भेददर्शनार्थ हैं।

(6) अमोधानन्दिनी शिक्षा—इसमें 130 कारिकाएँ हैं जिनमें ओष्ठ्य, दन्त्य, लघु, लघुतर, नाद, नासिक्य, अनुरंग, रंग, अतिरंग, महारंग आदि संज्ञा वाले वर्णों का विवेचन है। नाद तथा ओष्ठ्य आदि वर्णों का विचार करने वाली कई कारिकाएँ पाराशरी शिक्षा में भी उद्धृत हैं। इसमें वर्णोच्चारण विषयक महत्त्वपूर्ण बातें बतलायी गयी हैं। यह भी शिक्षासंग्रह में प्रकाशित है।

(7) लघु अमोधानन्दिनी—शिक्षासंग्रह में 17 कारिकाओं वाली लघु अमोधानन्दिनी शिखा भी संगृहीत है। इसमें यकार तथा वकार वर्णों के लक्षण

तथा उच्चारण विधि बतलायी गयी है। इसमें किसी सूत्रकार के नाम से कहा गया है कि सूत्रकार ने जो सम्प्रसारणविधान किया है, वह वाजसनेय शाखा को छोड़कर सभी शाखाओं में स्वीकृत है। इस शिक्षा में अनुस्वार के भी ह्रस्व-दीर्घ का विधान मिलता है।

(8) माध्यन्दिनी शिक्षा–याज्ञवल्क्य के शिष्य माध्यन्दिन इसके प्रणेता हैं। वर्णों का द्वित्य किन अवस्थाओं में होता है, इसका विचार इसमें किया गया है। इसमें कवर्गीय खकारों का परिगणन किया गया है। इसमें गलित ऋचाओं का संकेत भी दिया गया है। इसके अनुसार माध्यन्दिन संहिता में कुल 164 गलित ऋचाएँ हैं। प्रो॰ चौबे ने आशंका व्यक्त की है कि यह सात कारिकाओं की शिक्षा थी। गलितप्रकरण वाली शिक्षा पृथक् है।[1]

इस शिक्षा के अतिरिक्त 28 श्लोकों वाली एक लघु माध्यन्दिनी शिक्षा भी मिलती है। मूर्धन्य षकार का खकार उच्चारण तथा यकार का जकार उच्चारण कब होना चाहिए, यह इसमें विवेचित है। वकार, रेफ तथा विसर्ग के उच्चारण प्रकार का उल्लेख भी इसमें है। विभिन्न स्वरगत स्थिति में विसर्ग के उच्चारण में हस्तचालन विधि भी यहाँ चर्चित है।

(9) वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा–इसके रचाीता भारद्वाजगोत्रीय आचार्य अमरेश हैं। यह शिक्षा प्रतिज्ञापूर्वक वाजसनेय प्रातिशाख्य का अनुसरण करती हैं। उसके प्रथम सूत्र को इसमें उद्धृत भी किया गया हैं इस शिक्षा में कुल 227 श्लोक हैं। वाज॰प्राति॰ में निर्दिष्ट जिन्, द्वि, युत्, सिस् आदि संज्ञाओं का उल्लेख यहाँ है। वर्णों के उच्चारण स्थान, करण, पूर्व-परांगत्व, स्वरित के भेद तथा कम्पस्वर इसमें विवेचित हैं। स्वरों की हस्तचालन विधि, द्वित्व, लोप, आगम, वर्णविकार, प्रकृतिभाव, आदि विषयों का विवेचन इसमें किया गया है। अन्त में वर्णों, पदों, स्वरों के वर्ण, ऋषि, देवता आदि का विचार है। इसमें स्वर संस्कार का विवेचन अति व्यवस्थित रूप में है। प्रातिशाख्य पर आधारित होने के कारण यह अधिक प्रामाणिक है। इसमें माध्यन्दिनीयों, वैयाकरणों, याज्ञवल्क्य, वाजसनेय, शाकल्य, शौनक, शाकटायन आदि के मत उद्धृत हैं। यह भी शिक्षासंग्रह में प्रकाशित है।

(10) केशवीशिक्षा–शिक्षा में दो प्रकार की केशवीशिक्षा प्राप्त होती हैं–एक सूत्रात्मिकता तथा दूसरी कारिकात्मिकता। पहली से 9 सूत्र हैं। इसकी

1. संस्कृतवाङ्मय का बृहद् इति॰, वेदांग खंड, पृ॰ 46

एक अज्ञातकर्तृक व्याख्या मिलती है जिसमें अन्य शिक्षाओं से भी कारिकाएँ उद्धृत की गयी हैं।

श्लोकात्मिका केशवीशिक्षा में 21 कारिकाएँ हैं। विषयविवेचन की दृष्टि से ये दोनों शिक्षाएँ समान ही हैं। कारिकात्मिका शिक्षा की रचना कात्यायनप्रणीत शिक्षा के आधार पर की गयी है। इसकी कई कारिकाओं में कात्यायन का उल्लेख है। इसकी अन्तिम कारिका में प्रदत्त परिचयानुसार इसके प्रणेता आचार्य केशव आस्तिकमुनि के वंश में उत्पन्न दैवज्ञ गोकुल के पौत्र थे।

(11) हस्तस्वरप्रक्रिया–इसके प्रणेता मल्ल शर्मा हैं। अतः इसका एक नाम मल्लशर्मशिक्षा भी है। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की समाप्ति पर अपना पूरा परिचय भी दिया है। इस शिक्षा में 65 कारिकाएँ हैं। जिनमें वेदोच्चारण में हस्तचालन प्रक्रिया का विवेचन है। 1–6 कारिकाएँ ग्रन्थ की प्रस्तावना के रूप में हैं, जिनमें ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन बतलाया गया है। इस शिखा में हस्तस्वर का अत्यन्त व्यवस्थित रूप में विवेचन किया गया है। इस शिक्षा में ग्रन्थकार ने रावण प्रणीत स्वराङ्कुशा शिक्षा तथा याज्ञवल्क्यप्रणीत शिखा एवं प्रातिशाख्य का नामशः उल्लेख किया है। यह भी शिक्षासंग्रह में प्रकाशित है।

(12) अवसाननिर्णयशिक्षा–इसके प्रणेता अनन्तदेव हैं। इसमें यजुर्वेद के अवसानपदों का उल्लेख है। इसके अनुसार सम्पूर्ण यजुर्वेद में कुल 1975 अवसान = विराम हैं। इसकी रचना 1889 ई० के फाल्गुन मास, शुक्लपक्ष, पूर्णिमा, गुरुवार को पूर्ण हुई थी।

(13) स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्ट शिक्षा–इसके प्रणेता कात्यायन है। ये कात्यायन प्रातिशाख्यकार कात्यायन से भिन्न है। इसमें 42 कारिकाए; हैं इनमें तैरोविराम आदि आठ स्वरितों के लक्षण, वर्णोच्चारण के प्रकार, लोप–आगम वर्ण विकार, स्वरभक्ति के लक्षण एवं प्रकारों का उल्लेख है। यह भी शिक्षा संग्रह में संकलित हैं।

(14) क्रम-सन्धानशिक्षा–इसमें माध्यन्दिन संहिता के 40 अध्यायों में पाये जाने वाले क्रमसंधान संगृहीत हैं। जिन अध्यायों में क्रमसंन्धान नहीं मिलता, उनका भी इसमें उल्लेख किया हुआ है। शिक्षा-संग्रह में प्रकाशित इस ग्रन्थ का रचयिता अज्ञात है।

(15) मनः स्वारशिक्षा–इसके प्रणेता याज्ञवल्क्य माने जाते हैं। इसमें 64 खण्ड हैं जिनमें अवसानो के मध्य, आदि-मध्य-अन्त्य उदात्तादि स्वरों की

स्थिति का उल्लेख तथा संख्या बतलाई गयी है। इसमें प्रयुक्त मध्यपद पारिभाषिक है। यह ऋक्पूर्वार्ध के अन्तिम अक्षर का वाचक है।

(16) यजुर्विधानशिक्षा–इसमें अन्नकाम, पुत्रकाम आदि विभिन्न फलों की प्राप्ति के लिए विशिष्ट यजुष्मन्त्रों से होम का विधान किया गया है। इसमें 6 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्दर कई खण्ड है। यह गद्यात्मक है।

(17) स्वराष्टकशिक्षा–इसके प्रणेता अनन्त आचार्य है। इनमें चार खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में 20 सूत्र है जिनमें अच् सन्धि सोदाहरण व्याख्यात है। द्वितीय खण्ड में स्वरों के उच्चारण में हस्त की स्थिति का उल्लेख हे। तृतीय खण्ड में 17 सूत्र हैं। इनमें हलसन्धि का तथा चतुर्थ खण्ड में 11 सूत्रों में विसर्ग सन्धि का सोदाहरण विवेचन है। यह शिक्षा सूत्रात्मिका है। स्वराङ्कुशा के नाम से भी इसमें एक कारिका उद्धृत है।

(18) क्रमकारिका शिक्षा–इसक प्रणेता आचार्य शम्भु हैं। इसके प्रारम्भ में वाजसनेय शाखा के सभी यजुष् मन्त्रों के क्रमावसानविषयक कारिका के प्रारम्भ करने की प्रतिज्ञा की गयी है। इसमें पदों की आनुपूर्वी से ही क्रम की स्थिति के नियमों का उल्लेख किया गया है। इस शिक्षा में 93 कारिकाएँ हैं।

(ग) कृष्णयजुर्वेदीय शिक्षाएँ

(1) भारद्वाजशिक्षा–इसका सम्बन्ध तैत्तिरीय संहिता से है। इसमें तैत्तिरीय संहिता के समान दिखलायी देने वाले पदों की शुद्ध स्थिति पर अकारादि क्रम से विचार किया गया है। इसे सर्वप्रथम एमिल जीग ने 1922 में बर्लिन से सम्पादित कर प्रकाशित कराया था। 1938 में रामचन्द्र दीक्षित के सम्पादकत्व में भा०ओ०रि०इ० पूना से भी यह छपी है। भारद्वाज शिक्षा के अन्तिम श्लोक तथा इसके टीकाकार नागेश्वरभट्ट के अनुसार यह भारद्वाजप्रणीत है, किन्तु इतिहासकार इसे बाद की कृति कहते हैं।[1]

(2) व्यासशिक्षा–यह भी तैत्तिरीयसंहिता से सम्बन्धित है। इसमें 28 प्रकरण है जिनमें स्थान, प्रयत्न, अनुप्रदान, काल, स्वर, सन्धि आदि अनेक विषयों का विवेचन है। तैत्तिरीयों तथा काठकों में सन्धि में वर्णों के आगम विषयक भेद को भी इसमें दिखलाया है। सम्पूर्ण व्यासशिक्षा में 525 सूत्र हैं तै०सं० के उच्चारणविषयक सभी तथ्यों की विवेचना इसमें की गयी है।

1. यु०मी, सं०व्या०शा० का इति०, पृ० 69

इस शिक्षा पर सूर्यनारायण सूरावधानी ने 'वेदतैजस' नामक प्रौढ व्याख्या लिखी है। 1895 ई० में ल्यूडर्स ने इसे कीलनगर से प्रकाशित किया था। पं० पट्टाभिराम शास्त्री ने अपनी भूमिका तथा 'वेदतैजस' विवरण के साथ इसका प्रकाशन 1976 में वेदमीमांसानुसंधान केन्द्र वाराणसी से प्रकाशित कराया है।

(3) शम्भुशिक्षा–यह अभी तक अप्रकाशित है। इसकी एक पाण्डुलिपि गवर्नमेंट ओरियण्टर मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी मद्रास में है।

(4) कौहलीयशिक्षा–यह शिक्षा तैत्तिरीयसंहिता से सम्बन्धित है। इसके रचयिता कोहली का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। महाभारत के अनुसार अष्टावक्र ऋषि के पिता कहोल थे। शतपथ (2/4/3/1) में कहोड़ नाम आता है। जैमिनीय ब्राह्मण (3/177) में अर्मल काहोड़ी का उल्लेख है। पाणिनीय सूत्र 4/1/12 के शिवादिगण में भी कहोड पठित हैं। तै०प्रति० 17/1-2 में कोहली पुत्र का मत उद्धृत है।

गोपालकृष्ण यज्वा ने तै०प्रा० वैदिकाभरण नामक अपने भाष्य में 'तदुक्तम्' कहकर कोहली शिक्षा के 'प्रातिशाख्यादिशास्त्रज्ञः सर्वशिक्षाविशारदः' वचन को उद्धृत किया है। यह शिक्षा तै०सं० के वर्ण एवं स्वरविषयक जानकारी के लिए उपयोगी है। 1934 में प्रो० साधुराम ने इसे सम्पादित करके लाहौर से प्रकाशित कराया है।

(5) सर्वसम्मत शिक्षा–इसके प्रणेता केशव आचार्य हैं। ये केशवीशिक्षा के प्रणेता से पृथक् हैं। त्रिभाष्यरत्न तथा वैदिकाभरण में इसके वचन उद्धृत हैं। इसमें चार अध्याय तथा 170 श्लोक हैं। 1886 में आटो फ्रैंक ने इसके 49 पद्यों का सम्पादन करके गॉटिजन से प्रकाशित कराया था।

(6) आरण्यशिक्षा–यह तैत्तिरीयआरण्यक से सम्बन्धित है। इसका प्रणयन ब्राह्मणों के अध्ययनार्थ किया गया है। इसमें आरण्यक के स्वरों का विवेचन तथा उनके आध्यात्मिक महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इसमें 126 कारिकाएँ हैं। इनके बाद भी पाँच कारिकाओं में तैत्तिरीयशाखागत स्वरोच्चारण वैशिष्ट्य का उल्लेख है।

(7) सिद्धान्तशिक्षा–इसमें ककारादि क्रम से विभिन्न पदों का निर्देश किया गया है। इस पर श्रीनिवासयज्वा की व्याख्या मिलती है।

इनके अतिरिक्त बौधायनशिक्षा, वाल्मीकिशिक्षा तथा हरीतशिक्षा अभी तक अप्रकाशित हैं।

(घ) सामवेद से सम्बन्धित शिक्षा ग्रन्थ

(1) गौतमी शिक्षा–इसके प्रवचन कर्त्ता गौतम माने जाते हैं। इसका एक अन्य नाम 'संयोगाश्रृंखला' भी है, क्योंकि इसमें वर्णों के संयोग का विवेचन है। इस शिक्षा में दो प्रपाठक हैं। प्रथम में 9 खण्ड तथा द्वितीय में 6 खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड में कई-कई सूत्र हैं। इसमें केवल व्यंजन वर्णों के संयोग का ही उल्लेख किया गया है। इसमें वर्णों की अन्त्य संज्ञा की गयी है। इस शिक्षा के अनुसार सात व्यंजनों से अधिक का संयोग सामवेद में नहीं होता।।

(2) लोमशी शिक्षा–इसके प्रवचन कर्त्ता आचार्य लोमश माने जाते हैं, किन्तु इसके प्रथम श्लोक में गर्गाचार्य का नाम भी आया है।[1] इस ग्रन्थ में 74 कारिकाएँ हैं जो आठ खण्डों में विभक्त हैं। प्रथम खण्ड में सामगों के स्वर-गान के ढंग का कथन है। द्वितीय में स्वरभक्तियों का सोदाहरण उल्लेख तथा वर्णों के द्विर्भाव का विवेचन है। तृतीय में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरों के साम में उच्चारणवैशिष्ट्य का विचार है। चतुर्थ में ह्रस्व, दीर्घ, वृद्धभावों में उकार के करण का उल्लेख है। पंचम में नाद तथा प्रणतस्वर के प्रयोग का विचार है। षष्ठ में उच्चारण का ढंग तथा सप्तम में अनुस्वार के ह्रस्व-दीर्घभाव का उल्लेख है। अष्टम में वर्णों के अतिक्रमण का उल्लेख है। यह शिक्षा इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसमें सामगान का ढंग बतलाया गया है। सामवेद के आचार्यों में लोमश, गर्ग तथा तुम्बुरु के मतों को उद्धृत करके अनेक आचार्यों के मतों को 'इत्येके' कहकर दिखलाया गया है।

(ङ) अथर्ववेदीय माण्डलीशिक्षा

अथर्ववेद की केवल यही शिक्षा उपलब्ध है। इसमें अथर्ववेद से उदाहरण दिये गये हैं, किन्तु इसमें सामस्वरों का भी विशद् वर्णन हैं तथा स्वरों के सन्दर्भ में इसके नियम सभी वेदों से सम्बन्धित हैं। सर्वप्रथम इसका प्रकाशन 1893 में काशी से 'शिक्षासंग्रह' के अन्तर्गत हुआ। इसके बाद 1921 मं लाहौर से पं० भगवद्दत्त ने सम्पादित कर प्रकाशित कराया था।

---

1. लोमशयां प्रवक्ष्यामि गर्गाचार्येण चिन्तिताम्।

प्रातिशाख्यसाहित्य

प्रातिशाख्य भी शिक्षाविषयक ग्रन्थ हैं। शाखायां शाखायां प्रतिशाखम्। प्रतिशाखं भवं प्रातिशाख्यम्। अव्यीभावाच्च (पा० 4/3/59) से भवार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय। कुछ आचार्य प्रातिशाख्यों की गणना व्याकरण में करते हैं, क्योंकि प्रातिशाख्य व्याकरणप्रधान ग्रन्थ है।[1] वस्तुतः प्रातिशाख्यों में व्याकरण तथा शिक्षा दोनों का समन्वय है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य के 'वृद्धं वृद्धिः' सूत्र की व्याख्या में उवट ने भी ऐसा ही माना है। प्रातिशाख्यों में शिक्षा के सिद्धान्तों का सुव्यवस्थित विवेचन किया गया है। वर्तमान में उपलब्ध सभी शिक्षाग्रन्थ प्रातिशाख्यों से परवर्ती काल की रचनाएँ हैं।

प्रातिशाख्यों का प्रणयन—वेदमन्त्र प्रारम्भ से लेकर ब्राह्मण काल तक श्रुतिपरम्परा से ही सुरक्षित थे। इस परम्परा में वेदमन्त्रों के शुद्ध उच्चारण को सुरक्षित करने के लिए छन्द, स्वर तथा संस्कार आदि के विषय में सामान्य उच्चारणसम्बन्धी नियमों के लिए प्रातिशाख्यों का प्रणयन किया गया, क्योंकि विभिन्न चरणों में उच्चारण सम्बन्धी भेद प्रत्यक्ष होने लगे थे। अपनी-अपनी शाखा अथवा चरण के उच्चारण, स्वर तथा छन्द सम्बन्धी नियमों को महत्त्वपूर्ण मानकर उनकी रक्षार्थ प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना की गयी। इन प्रातिशाख्यों में अपनी शाखा में प्रचलित उच्चारणसम्बन्धी नियमों को तो सुरक्षित किया ही गया, इसके साथ अन्य शाखाओं में प्रचलित उच्चारणसम्बन्धी भेदों को भी उद्धृत किया गया।

प्रातिशाख्यों की संख्या—वेदों की कुल 1131 शाखाएँ हैं। अतः इतने ही प्रातिशाख्य होने चाहिएं, किन्तु ऐसा नहीं है। एक मत यह है कि कुछ शाखाओं की सामुदायिक ध्वनिशास्त्रीय रचनाओं का नाम प्रातिशाख्य है। इसके अनुसार एक वेद की जितनी शाखाएँ थी उनमें से दो-दो, तीन-तीन शाखाओं का सामुहिक एक प्रतिशाख्य अथवा किसी वेद की सम्पूर्ण शाखाओं का एक ही सामुहिक प्रातिशाख्य था।

(1) ऋग्वेद के प्रातिशाख्य—आचार्य शौनक द्वारा प्रणीत यह प्रातिशाख्य ऋग्वेद का एकमात्र प्रातिशाख्य है। शौनक आश्वलायन के गुरु थे। पाणिनि ने कई सूत्रों में इनका उल्लेख किया है। व्याडिकृत विकृतवल्ली में शौनक को नमस्कार किया गया है। अतः ये व्याडि से भी पूर्ववर्ती हैं। इन्होंने बृहद्देवता,

1. व्याकरणप्रधानत्वात् प्रातिशाख्यम्। गोपालयज्वा, वैदिकाभरण, 24/5

ऋग्वेदानुवाकानुक्रमणी ग्रन्थों की रचना भी की है। शौनक शैशिरीयशाखा के अनुयायी थे। इस प्रातिशाख्य के उपोद्घात में स्वयं शौनक ने कहा है कि उन्होंने शैशिरीयशाखा के उच्चारण सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान के लिए इसका प्रणयन किया है। यद्यपि ऋक्प्रातिशाख्य में कहीं भी किसी संदर्भ में शिशिर का उल्लेख नहीं है। शैशिरीयशाखा शाकलशाखा के अन्तर्गत एक उपशाखा थी। सम्प्रति इसकी संहिता अप्राप्त है। गार्ग्य गोपालयज्वा ने तै०सं० के वैदिकाभरण नामक भाष्य में इस प्रातिशाख्य को शाकल तथा बाष्कल दोनों शाखाओं का सामुहिक प्रातिशाख्य माना है। इसमें शौनक ने शाकलों के मत को अपने मत से भिन्न रूप में उद्धृत किया है।

ऋक्प्रातिशाख्य का स्वरूप—इसके दो संस्करण उपलब्ध हैं—पद्यात्मक तथा सूत्रात्मक। डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने इसके दोनों प्रकार के संस्करणों का सम्पादन किया है। इस प्रातिशाख्य में कुल तीन अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में 6-6 पटल हैं। इसके 16-18 पटलों में केवल छन्दों का ही विवेचन है, क्योंकि पहले छन्दों का अध्ययन भी शिक्षा के अन्तर्गत ही किया जाता था। इस प्रातिशाख्य में अगस्त्य, गार्ग्य, वाभ्रव्य, माण्डूकेय, माक्षव्य, यास्क, वेदमित्र व्याडि, शाकटायन, शाकल, शाकल्य, शूरवीर, शैशिरीय, शौनक आदि आचार्यों के मत उद्धृत हैं।

वर्ण्यविषय—इसके 'संज्ञापरिभाषापटल' नामक प्रथम पटल में स्वर, व्यंजन, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, स्वर भक्ति, संयोग, प्रगृह्य आदि संज्ञाएँ तथा उनकी परिभाषाएँ हैं। यही पर पदों के स्वरूप का विवेचन भी है। द्वितीय 'संहिता पटल' में पदान्तीय तथा पदादि स्वरवर्णों में होने वाली स्वरसन्धियों का विवेचन है। तृतीय 'स्वरपटल' में उदात्तदि स्वरों का स्वरूप तथा इनके सन्धिज विकारों का प्रतिपादन है। चतुर्थ 'व्यंजनसन्धिपटल' में व्यंजनसन्धियाँ हैं। पंचम पटल में णत्व तथा षत्व के नियम है। षष्ठ में वर्णों का द्वित्वम् तथा स्वरभक्ति का वर्णन है। सप्तम से नवम पटल तक संहिता में ह्रस्व वर्णों का दीर्घाभाव वर्णित है। दशम तथा एकादश पटलों में क्रमपाठ सम्बन्धी नियम है। द्वादश में नाम-आख्यात-उपसर्ग तथा निपात का विवेचन है। त्रयोदश में वर्णों की प्रकृति, उत्पत्ति तथा स्वरूप का विवेचन है। चतुर्दश में वर्णों के उच्चारण सम्बन्धी दोष तथा पंचदश में वेदपारायण सम्बन्धी नियम हैं। शेष तीन पटलों में छन्दों का विवेचन है।

ऋक्प्रातिशाख्य के व्याख्याता—डेक्कन कॉलेज पूना के हस्तलेख संग्रह में ऋ०प्रा० की 'ऋज्वर्था' नामक व्याख्या मिलती है, जो विष्णुमित्र द्वारा रचित मानी

जाती है। अभी तक यह अप्रकाशित है। इसका लिपिकाल शक संवत् 1562 है। इसके उपोद्घात पर विष्णुमित्र की ही 'वर्गद्वयवृत्ति' प्रकाशित है।

ऋ०प्रा० पर वज्रट के पुत्र उज्जयिनी निवासी उवट का भाष्य सुप्रसिद्ध है। उपोद्घात पर यह भाष्य नहीं है।

ऋक्प्रातिशाख्य के संस्करण–(1) मैक्समूलर द्वारा सम्पा०ऋ०प्रा०। (2) ऋ०प्रा०, वर्गद्वयवृत्ति, उवटभाष्य एवं आंग्ल अनुवाद सहित डॉ० मंगलदेव शास्त्री द्वारा सम्पा०, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, 1-3 भाग, 1931 में प्रकाशित। (3) ऋ०प्रा०, उवटभाष्य एवं हिन्दी अनुवाद सहित, डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा द्वारा सम्पा०, काशी हिन्दू वि०वि० वाराणसी से 1970 एवं 1972 ई० में प्रकाशित (4) ऋ०प्रा० (1-4 पटल) डॉ० ब्रजबिहारी चौबे द्वारा सम्पा०, भारतीय विद्याभवन वाराणसी से प्रकाशित। (5) ऋ०प्रा० की उवटानुसारिणी व्याख्या। व्याख्याकार-पशुपतिनाथ शास्त्री तथा चिन्ताहरण शर्मा, कलकत्ता।

तंजोर भंडार के हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र को देखने से पता चलता है कि ऋक्प्रातिशाख्य से पूर्व भी अगस्त्यप्रणीत एक वैदिक व्याकरण था। तमिल साहित्य में अगस्त्य का निष्णात वैयाकरण के रूप में स्मरण किया गया है।

(2) शुक्लयजुर्वेद का प्रातिशाख्य–शुक्ल यजुर्वेद का एक मात्र वाजसनेयि प्रातिशाख्य उपलब्ध है। इसमें शुक्ल यजुर्वेद की दोनों शाखाओं माध्यन्दिन तथा काण्व के स्वर तथा वर्णोच्चारण विषयक जानकारी दी गयी है। इसमें 8 अध्याय तथा 169 सूत्र हैं। पहले अध्याय में वेदाध्ययन विषयक सामान्य नियम, शिक्षा विषय, वर्ण, उपधा आदि अनेक संज्ञाओं की परिभाषा आदि विषय हैं। द्वितीय अध्यय में 65 सूत्र हैं, जिनमें स्वरविषयक नियमों तथा स्वरों की पदगत स्थिति विवेचित है। चतुर्थ अध्याय में 198 सूत्र हैं जिनमें सन्धि नियम, द्वित्वाभाव, संक्रम, क्रमपाठ आदि का विवेचन है। पंचम अध्याय में 16 सूत्रों में अवग्रह सम्बन्धी नियम हैं। षष्ठ अध्याय में 31 सूत्र हैं, जिनमें आख्यात एवं उपसर्गों के स्वरविषयक नियम हैं। सप्तम अध्याय में 12 सूत्र हैं, इनमें स्वर एवं व्यंजन वर्णों एवं उनका स्वरूप विवेचित है।

इस प्रातिशाख्य में औपगवि, काण्व, काश्यप, गार्ग्य, जातूकर्ण्य, माध्यन्दिन, शाकटायन, शाकल्य तथा शौनक आदि आचार्यों को उद्धृत् किया गया है। 'एके' तथा 'एकेषाम्' के द्वारा भी अन्य आचार्यों के मत उद्धृत हैं।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य के प्रणेता–शौनक की शिष्यपरम्परा में कात्यायन इसके प्रणेता है। ये पाणिनि से पूर्ववर्त्ती हैं तथा सर्वानुक्रमणी, भाषिकसूत्र आदि कई ग्रन्थों के प्रणेता हैं। पाणिनीय सूत्रों के वार्त्तिककार कात्यायन इनसे भिन्न हैं। पाणिनि ने इसी प्रतिशाख्य से अनेक पारिभाषिक शब्दों का ग्रहण किया है। प्रो० चौबे के अनुसार इसकी रचना सम्भवत: अष्टम शतक में की गयी है।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य के व्याख्याग्रन्थ

(1) मातृमोदभाष्य–उवट ने 1018-1060 ई० में राजा भोज के समय इस पर भाष्य लिखा। यही सबसे प्राचीन एवं प्रामाणिक हैं।

(2) पदार्थप्रकाशभाष्य–नागदेव तथा भागीरथी के पुत्र एवं चन्द्रभट्ट के पौत्र काशी वास्तव्य अनन्तभट्ट इसके प्रणेता हैं। इनका समय सम्भवत: 17वीं शताब्दी है।

(3) ज्योत्स्नावृत्ति–वैराज क्षेत्र निवासी सिद्धेश्वर योगी के पुत्र श्रीरामशर्मा इसके प्रणेता हैं। इसकी रचना शक संवत्, आश्विन शुक्ल दशमी को पूर्ण की गयी। यह व्याख्या सूत्रानुसारिणी नहीं है। सूत्रों को प्रकरणानुसार रखा गया है। इस वृत्ति का वैशिष्ट्य है कि इसमें प्रतिज्ञासूत्र तथा जटादि अष्टविकृतिलक्षण भी समाविष्ट हैं।

(4) रामाग्निहोत्रकृतप्रातिशाख्यविवरण

(5) अज्ञातकर्तृकप्रातिशाख्यविवरण

वाजसेनयिप्रातिशाख्य के संस्करण–(1) 1858 ई० में बेवर द्वारा सम्पादित, जर्मन अनुवाद सहित संस्करण। (2) 1888 में पं० युगलकिशार द्वारा सम्पादित उवटभाष्य सहित संस्करण। (3) 1893 में पं० जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पा० उवटभाष्य सहित संस्करण। (4) 1934 में वेंकटराम शर्मा द्वारा सम्पा० उवट एवं अनन्त भट्ट के भाष्यों सहित संस्करण। (5) 1967 में इन्दु रस्तोगी द्वारा सम्पा० आंग्लानुवाद सहित संस्करण। (6) उवट एवं अनन्त भट्ट के भाष्यों सहित डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा द्वारा हिन्दी व्याख्या सहित सम्पा० वाराणसी से 1975 में प्रकाशित संस्करण।

(3) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य–यह कृष्णयजुर्वेद का एकमात्र उपलब्ध प्रातिशाख्य है। इसका सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की औखेय शाखा से माना जाता है। यह दो प्रपाठकों में विभक्त हैं। दोनों में 12-12 अध्याय हैं। अध्याय सूत्रों में विभक्त

हैं। इसमें कुल 569 सूत्र हैं इसके कर्त्ता के विषय में सुनिश्चित जानकारी नहीं है। तै॰सं॰ के पाद पाठकार आत्रेय को अथवा कार्त्तिकेय को इसका प्रणेता माना जाता है।

वर्ण्यविषय–विषयदृष्टि से इसमें तीन विभाग हैं–(1) साधारणविधि, (2) संहिताधिकारविधि, (3) उच्चारणकल्प। प्रथम विभाग संहिता-पद-क्रमपाठ की साधारण विधि से सम्बद्ध है। द्वितीय भाग में आठ अध्याय हैं। तृतीय में 12 अध्याय हैं। आत्रेय आदि लगभग 22 आचार्यों के मत इसमें उद्धृत हैं। इस प्रातिशाख्य में संहिता, पद तथा क्रमपाठ के अतिरिक्त जटापाठ का विधान भी किया गया है, जो अन्य प्रातिशाख्यों में नहीं मिलना। इसमें आत्रेय, स्थविर, कौण्डिन्य, भारद्वाज, वाल्मीकि पोष्करसादि आचार्यों के मत भी उद्धृत हैं।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के व्याख्याकार–इस पर तीन भाष्य उपलब्ध हैं–(1) पदक्रमसदन, (2) त्रिभाष्यरत्न, (3) वैदिकाभरणम्।

(1) पदक्रमसदन–इसके रचयिता अत्रिय माहिषेय हैं। यह सबसे प्राचीन भाष्य है। लघुकाय होने पर भी अत्यन्त उपादेय है।

(2) त्रिभाष्यरत्न–इसके प्रणेता सोम आर्य हैं। तै॰प्रा॰ पर लिखे गये तीन भाष्यों में रत्नस्वरूप होने से इसका यह नाम है। इन तीन भाष्यों में वररुचि कृत का नाम तो स्वयं लेखक ने ही उपक्रम श्लोक में लिया है, अन्य दो भाष्य कौन से हैं, यह ज्ञात नहीं। सम्भवतः पदक्रमसदन भी इससे पूर्ववर्ती है। इसका समय 11वीं सदी है।

(3) वैदिकाभरणम्–इसके रचयिता गार्ग्य गोपाल यज्वा हैं। इन्होंने त्रिभाष्यरत्न के मतों का अनेक स्थलों पर खण्डन किया है। रससम्पत्, ज्ञानप्रदीप, वृत्तरत्नाकार व्याख्या आदि अन्य ग्रन्थ भी इन्होंने लिखे हैं। इनके पिता नरसिंह यज्वा थे। पुष्पिका में प्रदत्त परिचयानुसार गोपालयज्वा विद्यानिधि श्री रंगराज के शिष्य हैं। इनका समय 11वीं शदी के बाद का प्रतीत होता है।

(4) वैदिकभूषण–वैदिकभूषण या भूषणरत्न के नाम से यह भाष्य अभी तक अप्रकाशित है।

तै॰प्रा॰ के संस्करण–(1) त्रिभाष्यरत्नभाष्य तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित ह्विटनी द्वारा सम्पा॰ संस्करण। (2) त्रीभाष्यरत्न एवं वैदिकाभरणम् भाष्यों सहित, कस्तूरी रंगाचार्य द्वारा सम्पा॰, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लायब्रेरी, मैसूर से 1906 में प्रकाशित संस्करण। (3) पदक्रमभाष्य सहित, वेंकटराम शर्मा द्वारा

सम्पा॰, 1930 में मद्रास वि॰ विद्यालय से प्रकाशित संस्करण। (4) डॉ॰ वीरेन्द्र कुमारवर्माकृत हिन्दीव्याख्या सहित, 1992 में वाराणसी से प्रकाशित संस्करण।

4. सामवेद के प्रातिशाख्य

अन्य वेदों की अपेक्षा सामवेद के अनेक प्रातिशाख्य हैं। सामवेद के कई प्रातिशाख्यों को 'तन्त्र' नाम दिया गया है। यथा–ऋक्तन्त्र आदि। ये इस प्रकार हैं–

(1) ऋक्तन्त्र–इसका विशेष सम्बन्ध कौथुम शाखा से है। इसे सामवेद का व्याकरण ग्रन्थ माना जाता है। इसमें सामगान की आधारभूत ऋचाओं में वर्णों के उच्चारणप्रकार, स्थान, उनकी संज्ञा, सन्धि, षत्व, णत्व, दीर्घ, लोपागम आदि का प्रामाणिक विवेचन किया गया है। यह पाँच प्रपाठकों में विभक्त है! प्रथम प्रपाठक को छोड़ शेष चार प्रपाठक दशकों में विभक्त हैं। इसमें कुल 286 सूत्र हैं।

ऋक्तन्त्र के रचयिता–परम्परा शाकटायन को इसका प्रणेता मानती है। साम॰सर्वा॰ के रचयिता तथा नागेश[1] भी शाकटायन को ही इसका प्रणेता मानते हैं, किन्तु भट्टोजि दीक्षित ने औदव्रजि को इसका प्रणेता माना है। डॉ॰ सूर्यकान्त का मानना है कि यह मूल रूप में औदव्रजि द्वारा प्रणीत हुआ था, शाकटायन ने इसका परिष्कार किया था। अतः दोनों के नाम से यह विख्यात है।

ऋक्तन्त्र की व्याख्या–ऋक्तन्त्रवृत्ति नामक इसकी व्याख्या उपलब्ध है। यह अत्यन्त संक्षिप्त है। इसका सम्पादन डॉ॰ सूर्यकान्त ने ऋक्तन्त्र के साथ किया है। इसके रचयिता के विषय में कुछ ज्ञान नहीं है। डॉ॰ सूर्यकान्त इसे प्रथम शताब्दी की रचना मानते हैं। वर्नेल के पश्चात् ऋक्तन्त्र का डॉ॰ सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित संस्करण मेहरचन्द लक्ष्मण दास, दिल्ली से 1934 तथा 1970 में प्रकाशित है।

(2) सामतन्त्र–सामवेद के कौथुमशाखीय प्रातिशाख्यों में इसका स्थान दूसरा है। इसमें सामयोनि ऋचाओं के ऊपर सामगान करते समय उनमें होने वाले विकारों का विवेचन है। साम की लघुतम इकाई पर्व कहलाती है। एक साम में कई–कई पर्व होते हैं। सामतन्त्र में इन पर्वों की संरचना तथा संज्ञाओं पर विचार किया गया है। इसतें 15 प्रपाठक हैं। प्रत्येक प्रपाठक दशकों में विभक्त है। एक

---

1. ऋक्तन्त्रव्याकरणे शाकटायनोऽपि...। लघुशब्देन्दुशेखर, संज्ञाप्रकारण

दशक या खण्ड में प्रायः 10 सूत्र हैं। किन्हीं में इनसे कम तथा अधिक भी हैं। इसमें संक्षिप्त संज्ञाओं का बाहुल्य है।

सामतन्त्र के रचयिता–सामसर्वानुक्रमणी में औदव्रजि को इसका प्रणेता कहा गया है, परम्परा भी ऐसा ही मानती है। सत्यव्रत सामश्रमी ने इसका प्रणेता गार्ग्य को माना है।[1] डॉ० सूर्यकान्त तथा वर्नेल ऋक्तन्त्र तथा सामतन्त्र दोनों के प्रणेता, औद्व्रजि को ही मानते हैं।

सामतन्त्र की एक अज्ञातकर्तृक विस्तृत व्याख्या उपलब्ध है। पं० महागणपति रचित 'सामतन्त्रप्रकाशिका' नामक व्याख्या भी मिलती है, जो अपूर्ण तथा अप्रकाशित है। अज्ञातकर्त्तृक व्याख्या सहित सामतन्त्र का एकसंस्करण पं० रामनाथ दीक्षित द्वारा सम्पादित, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी से 1961 में प्रकाशित हुआ है।

(3) अक्षरतन्त्र–इसका सम्बन्ध सामवेद की कौथुम शाखा से है। इसमें स्तोम का वर्णन है। सामवेदसर्वानुक्रमणी के अनुसार सामतन्त्र के ही अन्तिम दो प्रपाठकों का नाम अक्षरतन्त्र है। इसके प्रथम प्रपाठक में 12 खण्ड तथा 16 सूत्र हैं, द्वितीय प्रपाठक के 13 खण्ड तथा 121 सूत्र हैं। इसके रचयिता भी औद्व्रजि हैं। सत्यव्रत सामश्रमी के अनुसार इसके प्रणेता शाकटायन के समकालीन आपिशलि हैं।[2]

अक्षरतन्त्र के संस्करण–किसी खण्डित एवं विकृतवृत्ति के आधार पर सत्यव्रत सामश्रमी ने अक्षरतन्त्र पर एक वृत्ति लिखी थी जो उनके नाम से ही प्रकाशित हुई थी। इस वृत्ति के साथ अक्षरतन्त्र का प्रथम प्रकाशन कलकत्ता से 'उषा' पत्रिका में हुआ था। द्वितीय संस्करण पं० रामनाथ दीक्षित द्वारा सम्पादित मद्रास से 1984 में प्रकाशित हुआ। उसका शीर्षक था–स्तोमभाष्यम् अक्षरतन्त्रम्। श्रीकृष्ण शर्मा ने भी वृत्तिसहित अक्षरतन्त्र का सम्पादन किया, जिसे 1994 में निर्मल पब्लिकेशन्स दिल्ली ने प्रकाशित किया।

(4) पुष्पसूत्र–इसका सम्बन्ध कौथुमशाखा की गानसंहिता से है। इसमें 10 प्रपाठक हैं। प्रपाठक कण्डिकाओं में विभक्त हैं। कुल कण्डिकाएँ 179 हैं। इसके प्रथम चार प्रपाठकों में दशरात्र, संवत्सर, एकाह, अहीन, सत्र, प्रायश्चित्त

---

1. सामतन्त्र तु गार्ग्येण उपदिष्टम्। सामश्रमी, अक्षरतन्त्रवृत्ति।
2. ग्रन्थोऽयम् ऋक्तन्त्रप्रणेतुः शाकटायनस्य समकालिकेन आपिशालिना प्रोक्तः, सामतन्त्रं तु गार्ग्येण। अक्षरतंत्रवृत्ति।

तथा क्षुद्र भागों में गाये जाने वाले स्तोत्रों का विधान है। द्वितीय प्रपाठक में दशरात्र, संवत्सर आदि का उल्लेख है। तृतीय तथा चतुर्थ प्रपाठकों में स्तोत्र विवेचन है। पंचम से अष्टम तक प्रपापठों में सम्पूर्ण भावों का सोदाहरण विवेचन है। नवम तथा दशम प्रपाठकों में भावों के विकल्प हैं।

पुष्पसूत्र के प्रणेता–ग्रन्थ नाम के आधार पर पुष्पाचार्य को इसका प्रणेता माना जाता है, किन्तु यह मत ठीक नहीं है।[1] मैक्समूलर आचार्य गोमिल को इसका प्रणेता मानते हैं।[2] वर्नेल के अनुसार उत्तरी परम्परा में गोभिल को तथा दक्षिणी में वररुचि को इसका प्रणेता माना जाता है।[3] डॉ॰ सूर्यकान्त इसका प्रणेता और औद्व्रजि को ही मानते हैं।[4]

पुष्पसूत्र की व्याख्याएँ–अजातशत्रु की एक व्याख्या इस सूत्र पर मिलती है। यह व्याख्या पुष्पसूत्र के प्रथम चार प्रपाठकों पर नहीं है। इस भाष्य का प्रकाशन लक्ष्मण शास्त्री द्रविड के सम्पादकत्व में चौखम्भा सं॰ सीरिज काशी से 1922 में हुआ था। रामकृष्ण दीक्षित ने भी 'फुल्लदीपिका' नाम व्याख्या लिखी थी, इसका उल्लेख सामवेदानुक्रमणी में है। यह व्याख्या अभी तक अप्रकाशित है। जर्मन विद्वान् रिचर्ड साइमन ने रोमन लिपि में जर्मन अनुवाद के साथ 1908 में इसे प्रकाशित किया था। डॉ॰ वी॰आर॰ शर्मा ने पुष्पसूत्र का दीपिकाटीका सहित सम्पादन किया है जो जर्मन इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी नेपाल से प्रकाशित है।

5. अथर्ववेदीय प्रातिशाख्य

इसके दो प्रातिशाख्य मिलते हैं–(1) चतुरध्यायिका, (2) अथर्ववेदप्रातिशाख्य। ह्विटनी ने 1862 में अथर्ववेद प्रातिशाख्य के नाम से जो ग्रन्थ प्रकाशित किया था, उसे कोष्ठक में 'शौनकीया चतुरध्यायिका' नाम भी दे दिया था। इससे दोनों ग्रन्थों को एक ही माना जाता था, किन्तु डॉ॰ सूर्यकान्त ने अथर्ववेद के प्रातिशाख्य का सम्पादन करते हुए निष्कर्ष निकाला कि यही प्रातिशाख्य अथर्ववेद का सामान्य प्रातिशाख्य है, जबकि चतुरध्यायिका केवल अथर्ववेद की शौनकीयशाखा से सम्बद्ध है।

---

1. सं॰वा॰ का बृ॰ इति॰, भाग 2, वेदांग खण्ड, पृ॰ 31
2. हिस्ट्री ऑफ ऐशियण्ट संस्कृत 8 लिट्टेचर, पृ॰ 187
3. ए॰सी॰ वर्नेल, आर्षेयब्राह्मण, भूमिका, पृ॰ 23
4. डॉ॰ सूर्यकान्त, ऋक्तन्त्र, भूमिका, पृ॰ 36

(1) चतुरध्यायिका–इसमें चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में 105 सूत्र, द्वितीय में 107, तृतीय में 96 तथा चतुर्थ में 126 सूत्र हैं। ह्विटनी ने 1862 में अज्ञातनामा लेखक के भाष्य के साथ आंग्लानुवाद सहित इसका सम्पादन किया था। शौनकीय चतुराध्यायी के विषय इस प्रकार हैं–(1) ग्रन्थ का उद्देश्य, परिचय, वृत्ति (2) स्वर-व्यंजन-संयोग, उदात्तादिलक्षण, प्रगृह्य, अक्षर, विन्यास, यम, अभिविधान, नासिक्य, स्वरभक्ति, स्फोटन आदि। (3) संहिताप्रकरण, (4) क्रमनिर्णय, (5) पदनिर्णय, (6) स्वाध्याय की आवश्कयता।

(2) अथर्ववेदप्रातिशाख्य–इसका सम्बन्ध किसी विशिष्ट शाखा से नहीं है। इसका सर्वप्रथम सम्पादन 1923 में गुरुदत्त विद्यार्थी ने लाहौर से किया, जिसे पंजाब वि॰विद्यालय लाहौर ने 1926 में प्रकाशित किया। डॉ॰ सूर्यकान्त ने 1937 में अनेक हस्तलेखों के आधार पर इसका सम्पादन किया। अथर्ववेद प्रातिशाख्य के दो पाठ मिलते हैं–संक्षिप्त तथा बृहत्। संक्षिप्त प्रातिशाख्य प्रपाठकों में विभक्त हैं। प्रपाठक पुनः पादों तथा सूत्रों में विभक्त हैं। इसकी कुल सूत्रसंख्या 221 है। यह पाठ बृहत्पाठ पर ही आधारित है। अथर्ववेद प्रातिशाख्य के बृहत् पाठ में भी तीन ही प्रपाठक हैं। प्रथम तथा द्वितीय प्रपाठकों में 22-22 उपविभाग तथा तृतीय में 25 हैं। सम्पूर्ण सूत्रसंख्या 420 तथा उपविभागों की संख्या 69 है। इसका रचयिता कौन है, यह स्पष्ट नहीं है। चतुरध्यायिका के कई सूत्र इसमें उद्धृत हैं। अतः यह उससे अर्वाचीन है ध्वनिविज्ञान प्रातिशाख्यों का मुख्य विषय है, किन्तु इसमें ध्वनिनियमों की चर्चा नहीं की गयी। इसका मुख्य प्रयोजन न्याय का विवेचन करता है। इसीलिए इसे 'न्यायाध्ययनस्य पार्षदम्' कहा गया है।

द्वितीय वेदांग–कल्पसूत्र

कल्प एक विशिष्ट अर्थ का बोधक है। इसका तात्पर्य विधि, नियम, न्याय कर्म तथा आदेश से है। सूत्र का अर्थ संक्षेप है। अनेक विधि-विधानों, कर्मानुष्ठानों, न्यायनियमों, रीतिव्यवस्थाओं और धर्मआज्ञाओं का संक्षिप्त, सारयुक्त, सन्देहरहित, अप्रतिहत और निर्दोष रूप में विवेचन करना ही कल्प सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय है। इनका प्रधानविषय विविध कर्मों का प्रतिपादन, संस्कारों की व्याख्या तथा यज्ञों का विधान करना है। इसमें जीवन की अभ्युन्नति के उपाय तथा समाज की सद्व्यवस्था की विधियाँ संकलित है। कुछ दोष भी इनमें है। यथा–किसी किसी सूत्रग्रन्थ में शूद्रों एवं स्त्रियों के लिए अच्छे भाव प्रकट नहीं

किये गये हैं। दोषी ब्राह्मण को भी अवध्य तथा स्वल्प दण्ड्य बतलाना कल्प सूत्रों का केन्द्रीय दोष है। ऋक्प्रातिशाख्य में कल्प की परिभाषा इस प्रकार है–1. "कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्" ऋक् प्राति॰, वर्ग 2

अर्थात् वेद में विहित-कर्मों को क्रमपूर्वक व्यवस्थित करने वाला शास्त्र कल्प है। सायणाचार्य ने कल्प की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है–कल्प्यते-समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्रेति कल्पः। अर्थात् जिसमें याग के प्रयोग की कल्पना हो, उसे कल्प कहते हैं। युधिष्ठिर मीमांसक कहते हैं–कल्पनात् कल्पः। यज्ञों का एकनाम कल्प भी है। यज्ञों का व्याख्यान करने वाले सूत्रग्रन्थ भी कल्प कहलाते हैं।[1] वासुदेव अध्वरी ने कल्पसूत्रों को 'प्रयोगशास्त्र' कहा है।[2] वैदिक कर्मों का पौर्वापर्य एवं मन्त्र विनियोगादि कल्पशास्त्र के ज्ञान के बिना असम्भव है। अतः कल्प भी वेद को जानने में सहायक होने से वेदांग है। यह सूत्रों में निबद्ध शास्त्र है। ब्राह्मणग्रन्थों का उद्देश्य मन्त्रों की यज्ञपरक व्याख्या करना था, जबकि सूत्रग्रन्थों का उद्देश्य अपनी शाखा में प्रचलित याज्ञिक कार्यों का एक सुव्यवस्थित एवं निश्चित क्रम में विवेचन करना था। इन सूत्रग्रन्थों में 14 श्रौतयज्ञ, 7 पाकयज्ञ, 5 महायज्ञ तथा 16 संस्कार मिलाकर 42 कर्मों का विधान मानव जीवन को उन्नत एवं समृद्ध बनाने के लिए किया गया है। कल्पसूत्रों के महत्त्व के विषय में कुमारिल भट्ट कहते हैं–वेदाहतेऽपि कुर्वन्ति कल्पैः कर्माणि याज्ञिकाः। प्राचीनकाल में पुराकल्प नाम शास्त्र भी प्रचलित थे। वात्स्यायन ने ऐतिह्ययुक्त विधि को पुराकल्प कहा है।[3] महाभारत में भी पुराकल्प पद पठित है।[4]

कल्पसूत्रों का निर्माणकाल

विद्वानों के अनुसार सूत्रकाल का जन्म बौद्धधर्म के साथ-साथ या उससे कुछ पूर्व हुआ।[5] इस दृष्टि से सम्पूर्ण सूत्रसाहित्य को निर्माण के लिए 700

1. वैदिकसिद्धान्तमीमांसा, प्रथम॰ भाग, पृ 74
2. "प्रयोगस्य क्रत्वनुष्ठानस्य बोधकं प्रयोगशास्त्रं बौधायनापस्तम्बादि कल्पसूत्रजालम्" अध्वरमीमांसाकौतुहलवृत्ति (1/3/10)
3. ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्पः। न्या॰सू॰ 2/1/64, वात्स्यायनभाष्य
4. श्रूयते पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः। म॰भा॰अनु॰शा॰ पर्व
5. इण्डियाज पास्ट, पृ॰ 30

ई॰पू॰ से 200 ई॰पू॰ के समय का अनुमान किया गया है। पाणिनि ने पुराणप्रोक्त कल्पों का उल्लेख एक सूत्र[1] में किया है। इसकी व्याख्या में काशिकाकार ने पैंगी तथा अरुणपराजी कल्पों को प्राचीन कल्प तथा आश्मरथ को नवीन कल्प के रूप में उद्धृत किया है। जैन शाकटायन की चिन्तामणि वृत्ति में पैंगीकल्प का निर्देश मिलता है। पाणिनि ने एक अन्य सूत्र में भी काश्यप तथा कौशिक ग्रन्थों का निर्देश किया है।[2] काशिकाकार ने इसकी व्याख्या में काश्यपप्रोक्त कल्प का उल्लेख किया है। इस सूत्र के भाष्यवार्त्तिक ने भी काश्यप तथा कौशिककल्पसूत्रों का समर्थन किया है। इससे इनकी पाणिनिपूर्वता सुतरां सिद्ध है।

तिलक प्रभृति कुछ विद्वान् सूत्रग्रन्थों की सीमा को शकारम्भ से कम से कम चार सौ वर्ष पहिले मानते हैं।[3] चिन्तामणि विनायक वैद्य सूत्रग्रन्थों की निर्माण परम्परा को 1300 ई॰पू॰ में ले जाते हैं।[4] जयचन्द्र विद्यालंकार के अनुसार इन सूत्रग्रन्थों का विद्यमान रूप भले ही पांचवीं शताब्दी ई॰पू॰ के पीछे का हो, किन्तु उनमें बहुत सी पुरानी बातें विद्यमान हैं।[5] वाचस्पति गैरोला के अनुसार 'कल्पसूत्रों के निर्माण की सीमा' 700 ई॰पू॰ और लगभग 200, 100 ई॰पू॰ तक उनका पुनःसंस्करण, संशोधन एवं सम्पादन होता गया।[6] पी॰वी॰ काणे आपस्तम्ब, बौधायन आदि श्रौतसूत्रों का काल 800 ई॰पू॰ से 400 ई॰पू॰ तक मानते हैं।[7]

कल्पसूत्रों के भेद

मुख्य रूप से कल्पसूत्र चार हैं–(क) श्रौतसूत्र, (ख) गृह्यसूत्र, (ग) धर्मसूत्र, (घ) शुल्बसूत्र।

(क) श्रौतसूत्र–श्रुति-प्रतिपादितम् (श्रुति + अण् = श्रौतम्)।

वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों आदि में जिन यज्ञ-यागादि का विस्तृत विवेचन किया गया, उनका साररूप में विवेचन जिन ग्रन्थों में है, उन्हीं की

1. पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु। अ॰ 4/3/105
2. काश्यपकौशिकाभ्यां णिनिः। अ॰ 4/3/103
3. तिलक, गीतारहस्य, पृ॰ 567 तथा दीक्षित, भारतीय ज्योतिषशास्त्र (मराठी) पृ॰ 102
4. हिस्ट्र ऑफ संस्कृत लिटरेचर (वैदिक पीरियड) पृ॰ 27
5. भारतीय इति॰ की रूपरेखा, पृ॰ 300-301
6. सं॰सा॰ का इतिहास, पृ॰ 184
7. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ॰ 2

श्रौतसूत्र संज्ञा है। श्रौतसूत्र कल्पसूत्रों के प्रधान अंश हैं, क्योंकि इनका अपनी /शाखा के मन्त्र तथा ब्राह्मण से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

(ख) गृह्यसूत्र—कर्मकाण्ड का ही दूसरा कर्म गृह्यकर्म कहलाता है। इन कर्मों में प्रतिदिन किए जाने वाले मुख्य कर्म पंचमहायज्ञ है, जो निम्न प्रकार हैं—

ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ। इनके अतिरिक्त गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक सोलह संस्कार हैं। गृह-प्रवेश, भूमिकर्षण तथा सस्यवर्धन आदि अन्य भी सभी प्रकार के जीवन व्यापारों के आरम्भ में विशेष गृह्य-इष्टियों अर्थात् लघुयज्ञों को किया जा सकता है। यही सब गृह्य-सूत्रों में निबद्ध हैं।

(ग) धर्मसूत्र—कल्प-शास्त्र का गौरवमय भाग धर्मसूत्र हैं। इनमें चारो वर्णों एवं चारों आश्रमों के कर्त्तव्य, आपसी व्यवहार के नियम, राजा के कर्त्तव्य, उसका प्रजा के साथ सम्बन्ध, अवस्थाविशेष में दोष होने पर प्रायश्चित्त, नियोग के नियम, दायभाग, नित्य-नैतित्तिक कर्म आदि वैयक्तिक पारिवारिक और सामाजिक स्तरों पर मानव के कर्त्तव्यों की विवेचना की गई है।

(घ) शुल्बसूत्र—शुल्ब का अर्थ रस्सी या डोरी है। यज्ञवेदी की माप और निर्माण-विधि आदि का वर्णन प्रमुखता से शुल्बसूत्रों में प्राप्त होता है।। वे आर्यों के ज्यामितीय कल्पनाओं और गणनाओं के प्रतिपादक होने के कारण इनका अपना वैज्ञानिक महत्त्व भी है।

कल्पसूत्रों के श्रौत, गृह्य और धर्म भेद से मुख्य तीन ही भेद है। शुल्बसूत्र तो उन श्रौतसूत्रों के परिशिष्ट है, जो वेदिनिर्माण आदि कार्यों में वैज्ञानिक महत्त्व रखते हैं। कुछ भिन्न भी हैं। भारद्वाज की रचनाशैली बौधायन की अपेक्षा आपस्तम्बश्रौतसूत्र से अधिक मिलती है। इन दोनों में विषयों का क्रम प्रायः समान है।

समय एवं स्थान—भारद्वाज श्रौतसूत्र की शैली आपस्तम्ब की अपेक्षा कुछ शिथिल है। इस आधार पर प्रो॰ चौबे का अनुमान है कि इस सूत्रग्रन्थ का समय बौधायन के पश्चात् तथा आपस्तम्ब के पूर्व सम्भवतः 550 ई॰ आसपास है।[1] इस सूत्रग्रन्थ में मैत्रायणी संहिता से मन्त्र उद्धृत किये गये हैं। मैत्रायणी का भौगोलिक क्षेत्र कुरुपांचाल प्रदेश था। भारद्वाजश्रौतसूत्र में यमुना नदी का निर्देश है। इसके आधार पर इसका स्थान पांचाल में यमुना नदी का प्रदेश माना गया है। इस शाखा के अनुयायी आन्ध्रप्रदेश तथा तमिलनाडु में थे।

1. सं॰वा॰ का बृ॰ इति॰, द्वितीय भाग, वेदांग खण्ड, पृ॰ 72

3. संस्करण–(1) इस श्रौतसूत्र के प्रथम 11 प्रश्न समग्र रूप में तथा 12वें प्रश्न का स्वपांश डॉ॰ रघुनाथ ने सर्वप्रथम लाहौर में 1934 में 'जर्नल ऑफ वैदिक स्टडीज' भाग 1-2 में प्रकाशित किये। (2) सन् 1964 में डॉ॰ चिं॰ग॰ काशीकर के द्वारा सम्पादित तथा अंग्रेजी में अनुदित संस्करण वैदिक स्वाध्याय मण्डल पुणे से प्रकाशित हुआ है।

वेदों के पृथक्-पृथक् सूत्रग्रन्थ

(1) श्रौत सूत्र

(क) ऋग्वेदीय श्रौतसूत्र–ये दो हैं–(1) शांखायन (2) आश्वलायन। इनका कालविषयक निश्चय कठिन है। इन दोनों में अग्निहोत्र का विवेचन है। मन्त्रों की दृष्टि से अश्वालायन की तुलना में शांखायन श्रौतसूत्र अधिक समृद्ध है।

(1) शांखायन श्रौतसूत्र–इसकी आनर्तीय टीका के अनुसार इसका रचयिता सुयज्ञाचार्य है। हिल्ले ब्राण्ट ने आनर्तीय टीका सहित शांखायन श्रौतसूत्र का सम्पादन किया है जो कलकत्ता से चार भागों में 1888-1899 में प्रकाशित है। इसमें 17-18 अध्यायों पर गोविन्द की टीका है। कालन्दकृत इसके अंग्रेजी अनुवाद का सम्पादन डॉ॰ लोकेशचन्द्र ने किया जो नागपुर से 1953 में प्रकाशित है। यह श्रौतसूत्र कौशीताकि ब्राह्मण का अनुसरण करता है। कुछ प्रमाणों के आधार पर यह कौषीतकि ब्राह्मण से पूर्ववर्ती सिद्ध होता है।

(2) आश्वलायनश्रौतसूत्र–यह ऋग्वेद की शाकल एवं वाष्कल दोनों शाखाओं का अनुसरण करता है। यह श्रौतसूत्र गार्ग्यनारायण की टीका सहित रामनारायण विद्यारत्न के द्वारा सम्पादित होकर कलकत्ता से 1874 ई॰ में प्रकाशित है। इसे ही पुणे से 1917 में जी॰एस॰ गोखले ने प्रकाशित किया। देवत्रातभाष्य के साथ यह रणवीर सिंह आदि के द्वारा सम्पादित होकर 1986 तथा 1990 में वि॰वै॰शो॰सं॰ होशियारपुर से आधे के लगभग प्रकाशित हुआ है। आश्वलायन श्रौतसूत्र के ग्यारह भाष्यकार इस प्रकार हैं–नारायण गर्ग, देवत्रात, विद्यारण्य मुनि, कल्याणधी, दयाशंकर, मण्डल भट्ट, महादेव, मथुरानाथ भट्ट फुल्लभट्ट सुक्ष, षड्गुरुशिष्य तथा सिद्धान्तीशांखायन। श्रौतसूत्र में ऋग्वेद संहिता के उदाहरण वर्तमान में उपलब्ध शाकलशाखा से भिन्न हैं। खिलसूक्तों के उदाहरण भी भिन्न हैं। इससे अनुमान है कि इसका सम्बन्ध शाकलशाखा से न होकर बाष्कलशाखा से है।

इस श्रौतसूत्र पर नारायणभट्ट पण्डित ने भाष्य लिखा है। श्रीपति के पुत्र विष्णु ने भी इस पर 'ऋतुरत्नमाला' नामक भाष्य लिखा है। इनके अतिरिक्त मलपदेशीय वरदपुत्र, आनर्तीय दासशर्मा तथा गोविन्दपण्डित के भाष्य भी उल्लेखनीय है।

(ख) कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्र

कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के छह श्रौतसूत्र हैं–(1) बौधायन, (2) भारद्वाज, (3) आपस्तम्ब, (4) सत्याषाठ, (5) वैखानस, (6) वाधूल।

(1) बौधायन श्रौतसूत्र–यह श्रौतसूत्र प्रवचन रूप में है, सूत्ररूप में नहीं। इसीलिए इसमें प्रकरण को 'प्रश्न' संज्ञा प्रदान की है। इसमें 32 प्रश्न हैं, किन्तु मुद्रित रूप में ये तीस ही हैं। इस श्रौतसूत्र की भाषा-शैली ब्राह्मणों के सदृश्य है। इस आधार पर इसकी रचना पाणिनि से पूर्ववर्ती है। डॉ० चिन्तामणि का कथन है कि बौधायन श्रौतसूत्र की रचना ई० पूर्व 650 से पहले हुई होगी।[1] इस श्रौतसूत्र में उत्तरभारत के अनेक भौगोलिक निर्देश मिलते हैं। अतः इसकी रचना उत्तरभारत में ही प्रतीत होती है। कृष्णयजुर्वेद की अन्य शाखाओं का उद्‌भाव भी उत्तरभारत में ही हुआ है।

बौधायन श्रौतसूत्र के भाष्य एवं संस्करण–इसके 1-26 प्रश्नों पर भवस्वामी का संक्षिप्त भाष्य है जो अभी तक अप्रकाशित है। प्रथम प्रश्न पर सायणाचार्य का भाष्य प्रकाशित है। दशम प्रश्न पर वासुदेवदीक्षितकृत महाग्नि सर्वस्वसंज्ञक भाष्य है। कर्मान्तकसूत्र पर वेंकटेश्वर का भाष्य उपलब्ध है। तंजाडर के महादेव वाजपेयी ने प्रथम आठ प्रश्नों पर सुबोधिनी नामक विस्तृत टीका लिखी हैं जो अप्रकाशित है। केशवस्वामी ने इस श्रौतसूत्र के अनेक भागों के प्रयोग लिखे हैं, जो हस्तलेखों के रूप में हैं।

1904-1923 के मध्य इसका प्रथम संस्करण विल्हेल्म कालन्द द्वारा सम्पादित है। द्वितीय संस्करण 1982 में दो भागों में मुंशीराम मनोहर लाल, दिल्ली से प्रकाशित है।

(2) भारद्वाज श्रौतसूत्र–यह तैत्तिरीय शाखा का दूसरा श्रौतसूत्र है। यह सूत्रग्रन्थ प्रश्नों में विभक्त है। कुछ 15 प्रश्न इसमें हैं जिनमें इन विषयों का उल्लेख किया गया है–दर्शपूर्णमास, अग्निहोत्र, आग्रयण, चातुर्मास्ययाग, ज्योतिष्टोम

1. सं०वा० का बृ०इति०, द्वितीय खण्ड, वेदांग खण्ड, पृ० 69

प्रवर्ग्य, अग्न्याधेय, निरूढपशु, पूर्वप्रायश्चित्त, ज्योतिष्टोम ब्रह्मत्व। इसमें संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक इन तीनों के मन्त्रों का विनियोग किया गया है। यह तैत्तिरीय शाखा के अन्य शाखीय मन्त्रों का विनियोग भी बतलाया है। यथा–काण्व, मैत्रायणी, वाजसनेय संहिताओं तथा शौनकीय अथर्ववेद के मन्त्र भी इसमें मिलते हैं। इसमें ब्राह्मणग्रन्थों की भाषाशैली के प्रयोग भी पर्याप्त है। बौधायन तथा भारद्वाज श्रौतसूत्रों में कुछ बातें समान हैं तथा कुछ प्रश्नों पर कपर्दि स्वामी का भाष्य है, वह भी अप्रकाशित है। इनके अतिरिक्त वाचस्पति गैरोला ने इस सूत्र के भाष्यकारों में रुद्रदत्त, गुरुदेव स्वामी, करविन्द स्वामी, अहोवलसूर्य, गोपाल, रामाध्निज, कौशिक, राम तथा ब्रह्मानन्द के नाम भी लिखे हैं।[1]

(3) आपस्तम्ब श्रौतसूत्र–यह तैत्तिरीयशाखा का तीसरा श्रौतसूत्र है। आपस्तम्ब का नाम महाभारत के अनुशासन पर्व तथा पणिनीय गणपाठ में उपलब्ध होता है। अतः ये प्राचीन आचार्य है। पं॰ भगवदत्त इन्हें विक्रम से 2800 वर्ष पूर्व मानते हैं। आपस्तम्ब का निवास स्थान शाल्व जनपद में युगन्ध नामक स्थान था। ये बौधायन के शिष्य थे। ये बौधायन कल्पसूत्रकार बौधायन से भिन्न हैं। इसमें 30 प्रश्न है। आपस्तम्ब ने भी अपनी विधि के समर्थन में तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा अन्य शाखीय ब्राह्मणों के उद्धरण भी दिये हैं। भिन्न मतों के उद्धरण भी हैं। भारद्वाज तथा आपस्तम्ब श्रौतसूत्र की भाषा-शैली में भी पर्याप्त साम्य है। सूत्ररचना में भी साम्य है। इसमें सूत्रग्रन्थ में तैत्तिरीय ब्राह्मण के मन्त्र सकल रूप में उद्धृत हैं। वैदिकभाषा के अनेक शब्द तथा प्राकृत शब्द भी इसमें प्रयुक्त हैं।

भाष्य एवं टीकाएँ–आपस्तम्ब श्रौतसूत्र पर धूर्तस्वामी का अधूरा भाष्य प्रकाशित हुआ है। 1-15 प्रश्नों पर रुद्रादत्त का भाष्य भी मुद्रित है। 14वीं शती के चौण्डपाचार्य ने आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के कुछ प्रश्नों पर टीका लिखी है, जो अभी तक अप्रकाशित है।

आपस्तम्बश्रौतसूत्र के संस्करण

(1) रिचर्ड गार्वे द्वारा सम्पादित, द्वितीय संस्करण, 1-3 भाग, 1985 में मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली से प्रकाशित।

(2) विल्हेल्म कालन्द कृत जर्मनअनुवाद, तीन खण्डों में गाटिन्जन तथा एम्सटर्डम से क्रमशः 1821, 1824 तथा 1828 ई॰ में प्रकाशित।

---

1. सं॰सा॰ का इति॰, पृ॰ 176

(3) धूर्तस्वामीभाष्य तथा रामाग्निचित् की वृत्ति सहित इसका 1-10 प्रश्नान्त भाग, ओरियण्टल लायब्रेरी मैसूर से प्रकाशित।

(4) चिन्नस्वामी शास्त्री द्वारा सम्पादित गायकवाड सीरिज में बडौदा से धूर्त स्वामी के भाष्यसहित दो भागों में प्रकाशित है।

4. वाधूलसूत्र–यह कृष्णयजुर्वेद की वाधूल शाखा से सम्बन्धित है। महादेव ने सत्या० श्रौ०सू० के अपने भाष्य की भूमिका में वाधूल को तैत्तिरीय की एक उपशाखा के रूप में उद्धृत किया है, किन्तु ब्रजबिहारी चौबे ने सप्रमाण कहा है कि वाधूल शाखा की स्वतन्त्र सत्ता थी तथा सम्भवतः इसकी अपनी संहिता भी थी।[1]

वाधूलश्रौतसूत्र के रचयिता

बौधायन प्रवरसूत्र में वाधूल का उल्लेख एक गोत्र के रूप में हुआ है। कालन्द भी इसे गोत्रवाचक नाम मानते हैं। आज भी दक्षिण में वाधूल गोत्री ब्राह्मण मिलते हैं। इस आधार पर इस मूलग्रन्थ के रचयिता सौवभ्रुव आचार्य थे। जिन्होंने वाधूल को इसका उपदेश दिया। प्रो० चौबे के अनुसार भारतीय सूत्रकारों एवं भाष्यकारों की परम्परा वाधूल को ही इस ग्रन्थ का रचयिता मानती है। इसलिए यही मानना समुचित है कि वाधूल आचार्य ही इस श्रौतसूत्र के रचयिता है।[2] वाधूल श्रौत्र०सू० प्रपाठक, अनुवाक तथा खण्ड या पटल में विभक्त है। इसमें 15 प्रपाठक है। प्रपाठक में अनेक अनुवाक तथा अनुवाकों के अन्तर्गत पटल हैं। प्रपाठकों का विभाग विवेच्यविषय के आधार पर है। प्रायः प्रत्येक प्रमुख इष्टि या याग का विवेचन एक-एक प्रपाठक में किया गया है। इन प्रपाठकों में अग्न्याधेय, दर्शपूर्णमासेष्टि, चातुर्मास्य वैश्वदेवपर्व, अग्निष्टोम, अग्निकल्प, राजसूय, अश्वमेध, प्रवर्ग्य आदि अनेक विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

बौधा०श्रौ०सू० की भाषा अन्य सूत्रग्रन्थों की अपेक्षा प्राचीन है। इसकी भाषा ब्राह्मणों तथा पाणिनिकालीन भाषा की मध्यवर्तिनी अवस्था की द्योतक है। इसमें बहुत से ऐसे शब्द है। जिनका अन्यत्र कहीं भी प्रयोग नहीं मिलता। यथा–नियेचत, पुंजील आदि। प्रवचनात्मक शैली के कारण बौधायन श्रौ०सू० को प्राचीन माना जाता है। काशीकर ने श्रौ०सू० को भी प्रवचनशैली के आधार पर ही बौधा०श्रौ०सू० का समकालिक माना है। इस श्रौत सूत्र के अनेक अन्तरंग तथा बहिरंग प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यह बौधा०श्रौ०सू० से भी प्राचीन है।

1. वै०वा० का बृ० इति०, द्वितीय खण्ड, वेदांग खण्ड, पृ० 76
2. वही, पृ० 78

कुछ विद्वान् केरल को इस सूत्रग्रन्थ का रचना स्थान मानते हैं। केरल में बाधूलों की जीवित परम्परा भी है, किन्तु इस ग्रन्थ में दक्षिण के किसी भी नगर, पर्वत, नदी या जनसमाज व उनके रीतिरिवाज का उल्लेख नहीं मिलता। इसके विपरीत इसके उत्तर भारत में रचे जाने के पर्याप्त प्रमाण हैं। अतः इसका रचना स्थान उत्तरभारत में कुरुपांचाल प्रदेश माना गया है। इस श्रौतसूत्र का ब्रजबिहारी चौबे द्वारा सम्पादित संस्करण 1993 में होशियारपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित है।

5. सत्याषाढ या हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र

कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्र के मध्य इसका स्थान आपस्तम्ब के अनन्तर है। तैत्तिरीय संहिता के अन्तर्गत ही हिरण्यकेशी उपशाखा है, जो सूत्रभेद पर निर्भर करती है। हिरण्यकेशी आचार्य का ही अपर नाम सत्याषाढ है, वही इस ग्रन्थ के प्रणेता हैं। इसमें 27 प्रश्न हैं। प्रश्नों का अवान्तर विभाजन पटलों में हैं। भारद्वाज तथा आपस्तम्ब श्रौत-सूत्रों का इस पर बहुत प्रभाव हैं इसकी रचना शैली सुव्यवस्थित है। भाषा तथा शैली सरल एवं स्पष्ट है। सूत्ररचना में प्रसंगानुसार लघुवाक्यता तथा दीर्घवाक्यता देखी जाती है।

सत्याषाढ़श्रौतसूत्र की व्याख्याएँ—इस पर पर्याप्त व्याख्याएँ हैं, किन्तु वे अपूर्ण ही हैं। प्रथम दश प्रश्नों तथा 21वें प्रश्न पर महादेवदीक्षितकृत वैजयन्ती नामक व्याख्या है। 7-10 प्रश्नों पर गोपीनाथ दीक्षित की ज्योत्सना व्याख्या है। 11-25 प्रश्नों पर महादेव शास्त्री की प्रयोगचन्द्रिका व्याख्या है। प्रथम 10 प्रश्नों तथा 24वें प्रश्न पर वाचेश्वर सुधी की व्याख्या है। इसका केवल एक संस्करण आनन्दश्रम पूना से 1907 में काशीनाथ शास्त्री आगाशे के सम्पादत्व में प्रकाशित हुआ है।

6. वैखानससूत्र

श्रौतसूत्रों में इसे सबसे अन्तिम माना जाता है। यह वैष्णवों के वैखानस सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इसके रचनाकार विखना मुनि कहे जाते हैं। वैखानस श्रौतसूत्रों का अधिकांश पाण्डुलिपियाँ दक्षिण भारत में ही मिली हैं। इस श्रौतसूत्र के व्याख्याकार श्री निवास दीक्षित ने इसे औखेयसूत्र कहा है। औखेय का अर्थ भी वैखानस व्याख्याकार महादेव दीक्षित औखेयशाखा को खाण्डिकेयशाखा की उपशाखा कहते हैं।

दूसरे श्रौतसूत्र में अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास अग्निष्टोम, प्रवर्ग्य आदि का विवेचन किया गया है। इस सूत्रग्रन्थ की शैली सरल है। कुछ अप्रचलित शब्द भी इसमें हैं। इसमें अग्निकुण्डों, अग्निमन्थन तथा यज्ञीय पात्रों का विशद वर्णन है। इसका केवल एक संस्करण डॉ॰ कालन्द तथा डॉ॰ रघुवीर के सम्पादकत्व में रायल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता से 1941 ई॰ में प्रकाशित हुआ है।

कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणीशाखा के श्रौतसूत्र

(1) मानवश्रौतसूत्र—इस शाखा के ब्राह्मण एवं आरण्यक पृथक् रूप में उपलब्ध नहीं है। इस श्रौत सूत्र का प्रसार-प्रदेश दक्षिण का गोदा नामक भूभाग है।

काल—मानव श्रौतसूत्र तथा मानव गृह्यसूत्र इन दोनों को एक ही लेखक की रचना माना जाता है। मानवश्रौतसूत्र आयस्तम्ब श्रौतसूत्र से पूर्ववर्ती माना जाता है। डॉ॰ रामगोपाल ने इसे सूत्रकाल के प्रथम चरण की रचना माना है। इसकी शैली ब्राह्मणों के समान है। अतः यह पाणिनि से पूर्ववर्ती भी हो सकता है।

मानवश्रौतसूत्र का स्वरूप—यह दश भागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग अध्यायों, खण्डों तथा सूत्रों में विभाजित हैं। इसके दशम भाग में शुल्बसूत्रों का उल्लेख है जिनमें श्रौतयागों में प्रयुक्त होने वाली वेदिनिर्माण की प्रक्रिया है। इस ग्रन्थ का मुख्य आधार मैत्रायणी संहिता है, तथापि इसने मैत्रायणी का अक्षरशः अनुकरण नहीं किया है। इस श्रौतसूत्र में सर्वमेध का वर्णन मिलता है, किन्तु कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओं में इसका निरूपण नहीं मिलता। अतः ग्रन्थकार ने इसका वर्णन शतपथ के आधार पर किया है।

शैली—यद्यपि इस श्रौतसूत्र की गणना प्राचीनतम श्रौतसूत्रों में मध्य है, तथापि इसकी शैली सूत्रात्मक, संक्षिप्त तथा स्पष्ट है। भाषा सरल तथा प्रांजल है। विषयप्रतिपादन भी सरल रूप में किया गया है। प्रत्येक यज्ञ के प्रथम सूत्र में यज्ञ के प्रयोजन, सम्पादनकाल, अधिकारी, कामना आदि का निर्देश है। यथा स्थान पारिभाषिक शब्दों एवं पात्रों के स्वरूप का उल्लेख भी है। ग्रन्थ की शैली आदि से अन्त तक एक जैसी ही है। पूरे दशम में वेदिरचना का वर्णन इस ग्रन्थ की मौलिक विशेषता है उत्तर वैदिककालीन सभ्यता, संस्कृति एवं समाज को जानने के लिए यह श्रौतसूत्र अति उपादेय है।

व्याख्याएँ एवं संस्करण–(1) इसके प्राक्सोम भाग पर कुमारिल भट्ट की टीका का सम्पादन गोल्डस्टूकर ने किया है जो 1861 में लन्दन में छपी है। (2) फ्रेडरिक क्नायेर द्वारा सम्पादित सैंट पीटर्सबर्ग से 1900-1903 के मध्य यह प्रकाशित हुआ। (3) षष्ठभाग का सम्पादन 1919 में गेल्डर ने किया। (4) गेल्डर ने ही 1961 में इसे सम्पादित कर दिल्ली से प्रकाशित कराया। 1985 में इसका पुनर्मुद्रण हुआ है। (5) हस्तलेख के रूप में इसकी मानवसूत्रवृत्ति भी उपलब्ध है।

2. वाराहश्रौतसूत्र

यह श्रौतसूत्र लघुकाय तथा कालक्रम से परवर्ती है। यह तीन अध्यायों में निभक्त है। अध्याय पुनः खण्डों तथा सूत्रों में विभक्त हैं। इसमें अग्चियन, दर्शपौर्णमास, अग्न्याधान, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, सौत्रामणी आदि का प्रतिपादन किया गया है। सोमयागों की प्रकृति अग्निष्टोम तथा अन्य पुरुषमेध, सर्वमेध जैसे यागों का इसमें अभाव है।

संस्करण–डॉ० कालन्द तथा डॉ० रघुवीर द्वारा सम्पादित इसका प्रथम संस्करण 1932 में लाहौर से मेहरचन्द लक्ष्मणदास ने प्रकाशित किया था। इसी का पुनर्मुद्रण 1971 में दिल्ली में हुआ। 1988 में पुणे से काशीकर के द्वारा सम्पादित संस्करण प्रकाशित हुआ है। इस श्रौतसूत्र पर कोई व्याख्या प्राप्त नहीं है।

(ग) शुक्लयजुर्वेदीयश्रौतसूत्र

(1) कात्यायनश्रौतसूत्र–इसके रचयिता शौनक के शिष्य कात्यायन हैं। इन्होंने श्रोत तथा गृह्यसूत्रों की रचना की थी। कात्यायनश्रौतसूत्रयजुर्वेद की वाजसनेयिसंहिता की काण्व तथा माध्यन्दिन दोनों शाखाओं से सम्बन्धित है। यह 26 अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय कण्डिकाओं में विभक्त है। जातुकर्ण्य, वात्स्य तथा बाहरि आदि आचार्यों का उल्लेख, नाम लेकर किया गया है, अन्यों के लिए 'इत्येके' 'इत्येकेषाम्' कहा गया है। इसमें दर्शपूर्णमास, दाक्षायण यज्ञ, आग्रयणेष्टि, अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेधादि का वर्णन है। इसके प्रणेता पाणिनीय सूत्रों पर वार्त्तिकों के प्रणेता कात्यायन ही हैं। कुछ अवैदिक तथा अव्यावहारिक कार्यों

का प्रतिपादन भी इसमें है। यथा–अश्वमेध की दक्षिणास्वरूप यजमान राजा द्वारा ऋत्विजों का रानियों अथवा अनुचारियों को दान में देना। इसकी रचना सुव्यवस्थित शैली में है।

कात्यायनश्रौतसूत्र की व्याख्याएँ

इसकी व्याख्याओं में भर्तृयज्ञ की व्याख्या सर्व प्राचीन है। कर्काचार्य की भी प्राचीन व्याख्या इस सम्पूर्ण सूत्र पर है। अनन्तदेव का भाष्य हस्तलेख रूप में ही है। आधुनिक युग में पं० विद्याधर गौड ने इस पर 'सरलावृत्ति' नामक व्याख्या लिखी है। इनके अतिरिक्त वाचस्पति गैरोला ने यशोगोपि, पितृभूति, श्री अनन्त, गंगाधर, गदाधर, गर्ग, पद्मनाम, भास्करमिश्र, अग्निहोत्री याज्ञिकदेव, श्रीधर, हरिहर तथा महादेव को भी इसका वृत्तिकार लिखा है। शुक्लयजुर्वेद के वैजवाप श्रौतसूत्र की चर्चा भी इन्होंने की है।

संस्करण–(1) कर्कभाष्य एवं देवयाज्ञिक पद्धति के अंशों सहित बेवर द्वारा सम्पादित होकर 1859 ई० में बर्लिन से प्रकाशित हुआ। इसका पुनर्मुद्रण 1972 में वाराणसी से हुआ।

(2) मदनमोहन पाठक द्वारा सम्पादित कर्कभाष्य सहित 1903–1908 के मध्य वाराणसी से प्रकाशित।

(3) वी० शर्मा द्वारा सम्पादित तथा 1931–33 के मध्य प्रकाशित।

(4) विद्याधर गौड की 'सरलावृत्ति' अच्युतग्रन्थमाला वाराणसी 1987 में प्रकाशित।

डॉ० के०पी० सिंह कृत इस श्रौतसूत्र का आलोचनात्मक अध्ययन वाराणसी से प्रकाशित है।

(घ) सामवेदीयश्रौतसूत्र

(1) आर्षेयकल्प या मशककल्पसूत्र–इसके रचयिता मशक या मशक गार्ग्य माने जाते हैं। इसमें ग्यारह अध्याय हैं। यह पूर्णत: ताण्ड्य ब्राह्मण के क्रम का अनुसर्त्ता है। इसमें गवामयन सत्र, चातुर्मास्य, अहीनयाग, सत्रयाग आदि का प्रतिपादन है।

व्याख्या तथा संस्करण—इस पर वरदराज की 'विवृत्ति' नामक व्याख्या उपलब्ध है। इसका प्रथम संस्करण कालन्द द्वारा सम्पादित 1908 में लीप्जिग से प्रकाशित है। इसमें अध्याय के स्थान पर प्रपाठक का प्रयोग हुआ है। बेल्लिकोत्तु रामचन्द्र शर्मा द्वारा सम्प्रति 'विवृत्ति' सहित संस्करण 1967 में वि०वै०शो० संस्थान होशियारपुर से प्रकाशित है।

(2) क्षुद्रकल्पसूत्र—यह भी मशकगार्ग्य द्वारा रचित तथा आर्षेयकल्प का ही द्वितीय भाग है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में तीन प्रपाठक तथा छह अध्याय हैं। इसमें क्षुद्र श्रौतयागों का निरूपण है। इसमें ऐसे यागों का विवरण है जो सामान्यत: अन्य श्रौतसूत्रों में अनुल्लिखित हैं। यथा—पुरस्तात्ज्योति, शुक्रजातय इत्यादि। इसकी भाषा-शैली ब्राह्मणग्रन्थों के समान है।

व्याख्याएँ तथा संस्करण—इस पर शतक्रतु कुमार ताताचार्य के पुत्र श्रीनिवास की विशद् व्याख्या है। इसका समपादन डॉ० कालन्द तथा प्रो० बेल्लिकोत्रु रामचन्द्र ने किया है। डॉ० शर्मा का संस्करण 1974 में होशियारपुर से प्रकाशित है।

(3) लाट्यायनश्रौतसूत्र—कौथुमीय सामवेदीय श्रौतसूत्रों में इसका तृतीय स्थान है। इसमें 10 प्रपाठक हैं। लाटप्रदेशीय व्यक्ति के द्वारा निर्मित होने से इसका नाम लाट्यायन हैं इसमें कुल 2641 सूत्र हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से यह ताण्ड्य ब्राह्मण का अनुसरण करता है। इसमें धञ्जय्य, गौतम, कौत्स, वार्षगण्य, लाभकायन आदि आचार्यों के मत उद्धृत हैं।

व्याख्याएँ—इस पर अग्निस्वामिकृत प्राचीन भाष्य प्राप्त होता है। ये मगध निवासी थे। अन्य व्याख्या रामकृष्ण दीक्षित (17वीं शती) तथा सायणाचार्य की हैं। अग्निष्टोम भाग पर मुकुन्दझाबख्शी की व्याख्या भी प्रकाशित हुई है।

संस्करण—आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश द्वारा सम्पादित अग्निस्वामी के भाष्य सहित यह ग्रन्थ 'विव्तियोथिका इण्डिका' ग्रन्थमाला में 1870-72 में प्रकाशित हुआ था। चौखम्भासंस्कृतग्रन्थमाला वाराणसी से 1932 में अग्निष्टोमान्त प्रकरण प्रकाशित हुआ था।

(4) द्राह्ययणश्रौतसूत्र—यह सामवेद की राणायनीय शाखा से सम्बन्धित है। इस शाखा के अनुयायी कर्नाटक, तमिलनाडु, उत्तरी आन्ध्र तथा उड़ीसा के सीमान्त भाग में अधिकतर पाये जाते हैं। छान्दोगसूत्र, प्रधानसूत्र तथा वसिष्ठ सूत्र भी इसी के नामान्तर हैं। यह 31 पटलों में विभक्त है। 5, 22, 27 तथा

28वें पटलों को छोड़कर शेष में प्रायः चार-चार खण्ड हैं। इसका उपजीव्य लाट्यायनश्रौतसूत्र रहा है।

व्याख्याएँ–रुद्रस्कन्द की रचना 'औदगात्रसारसंग्रह' के अतिरिक्त अग्निस्वामी तथा धन्विन् ने मखस्वामी की प्राचीन व्याख्या का उल्लेख किया है। यह अप्रकाशित है। धन्विन् कृत 'छान्दोग्यसूत्रदीप' व्याख्या प्रकाशित है।

संस्करण–(1) जे॰एन॰ रियूटर ने 1904 में धन्विभाष्य सहित चार पटलों का प्रकाशन कराया।

(2) डॉ॰ रघुवीर ने 1924 में 'जर्नल ऑफ वैदिक स्टडीज' में 11-15 पटलों को प्रकाशित कराया।

(3) धन्विभाष्य सहित इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का सम्पादन प्रो॰बी॰आर॰ शर्मा ने किया, जो गंगानाथ झा के॰सं॰ विद्यापीठ प्रयाग से 1982 में प्रकाशित हुआ।

(5) जैमिनीयश्रौतसूत्र–यह जैमिनिप्रणीत है। इसकी शैली ब्राह्मणों के सदृश है। इसके तीन खण्ड हैं–सूत्र, कल्प तथा पर्यध्याय। ये पुनः अध्यायों से विभक्त हैं। सूत्रखण्ड अति लघु है। इसकी 26 कण्डिकाओं में ज्योतिष्टोम, अग्न्याधान तथा अग्निचयन से सम्बन्धित सामों का विवरण है। बौधायनश्रौत सूत्र के साथ इसका धनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है।

व्याख्या–इस पर भवत्रात की प्राचीन वृत्ति है। भवत्रात स्वयं इस वृत्ति को पूर्ण नहीं कर सके। यह कार्य जयन्त भारद्वाज ने किया जो उनके भागिनेय, शिष्य एवं जामाता भी थे।

संस्करण–(1) ड्यूक गास्ट्रा ने 1906 में डचभाषा में 'अनुवाद सहित अग्निष्टोमात्र' प्रकरण को प्रकाशित कराया। (2) 1966 में सरस्वती विहार ग्रन्थमाला दिल्ली से प्रेमनिधि शास्त्री ने भवत्रातवृत्ति को प्रकाशित कराया। वाचस्पति गैरोला लिखते हैं एक अनुपद श्रौतसूत्र भी सामवेद का उपलब्ध है। इससे सामवेद के कतिपय विनष्ट ग्रन्थों का पता लगता है। एक दूसरा श्रौतसूत्र पुष्पसूत्र के नाम से उपलब्ध है, जिसका रचयिता गोमिल बताया जाता है, किन्तु इसका रचयिता गोमिल न होकर वररुचि थे। इसके प्रथम चार प्रपाठकों को छोड़कर शेष ग्रन्थ पर अजातशत्रु का भाष्य है। दामोदर के पुत्र रामकृष्ण ने भी इस पर एक वृत्ति लिखी। इसी प्रकार सामतन्त्र के नाम से एक सूत्रग्रन्थ है, जिसका विषय व्याकरण है। इस पर दयाशंकर और रामकृष्ण ने वृत्तियां लिखी। पंचविद्यसूत्र और प्रतिहारसूत्र का रचयिता कात्यायन को बताया जाता है जिस पर

वरदराज की वृत्ति है। इसके अतिरिक्त सामवेदीय सूत्रग्रन्थों में ताण्ड्य लक्षणसूत्र, उपग्रन्थसूत्र, कल्याणनुपदसूत्र, अनुस्तोमसूत्र और क्षुद्र आदि उल्लेखनीय है।[1]

(ङ) अथर्ववेदीयश्रौतसूत्र

(1) वैतानश्रौतसूत्र–अथर्ववेद से सम्बद्ध श्रौतयागों की जानकारी देने वाला यह एक मात्र अपलब्ध सूत्र है। यह आठ अध्यायों तथा 43 कण्डिकाओं में विभक्त है। इसमें दर्शपूर्णमास, अग्न्याधेय, वाजपेय, अग्निचयन, सौत्रामणी, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध आदि यज्ञों का प्रतिपादन है। इसमें नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य कर्मों के साथ विभिन्न क्रतुओं का विधाान है। इसमें भागलिमाठर आदि आचार्यों के मतों का नाम्ना उल्लेख है। कौशिकसूत्र के साथ इसका अनेक संदर्भों में सादृश्य हैं। इसका नामकरण इसके प्रथम सूत्र 'अथ वितानस्य' के आधार पर है।

संस्करण तथा अनुवाद–(1) रिचर्ड गार्वे द्वारा सम्पादित तथा जर्मन भाषा में अनूदित रूप में क्रमशः लन्दन तथा स्ट्रासवर्ग से 1878 में एक साथ प्रकाशित, (2) कालन्द द्वारा सम्पादित जर्मन अनुवाद सहित 1990 में एम्सटर्डम से प्रकाशित।

(2) गृह्यसूत्र

(क) ऋग्वेदीयगृह्यसूत्र–ऋग्वेद के तीन गृह्यसूत्र उपलब्ध हैं–(1) आश्वलायन, (2) शांखायन, (3) कौषीतकि

(1) आश्वलायन गृह्यसूत्र–शौनक के शिष्य आश्वालायन इसके रचयिता है। यह प्राचीनतम सूत्रकाल की रचना है तथा पाणिनिपूर्व माना जाता है। इसमें चार अध्याय हैं। इनमें पाकयज्ञ, विवाह आदि संस्कार, श्रवणाकर्म, गृहप्रवेश, पंच महायज्ञ, वेदाध्ययन, समावर्तन, दाहकर्म तथा श्राद्ध आदि का वर्णन है।

व्याख्याएँ–इस पर सर्वप्रथम देवस्वामी ने भाष्य रचा, जो अप्रकाशित है। इनके अनुकरण पर ही दिवाकर के पुत्र नारायण (1266 ई०) ने 'विवरण' नामक व्याख्या लिखी। वैयाकरण हरदत्त ने (1100 ई०) 'अनाविला' टीका लिखी। कुमारिल भट्ट की कारिकाएँ भी इस गृह्यसूत्र पर उपलब्ध है।

---

1. सं०सा० का इति०, पृ० 178

संस्करण–(1) गृह्यपरिशिष्ट सहित आर॰ विद्यारत्न तथा ए॰ वेदान्तवागीश द्वारा सम्पादित, 1866-69 में कलकत्ता से प्रकाशित। (2) ए॰एफ॰ स्टेन्त्स्लर ने 1964 में लीपजिंग से इसका अनुवाद किया, जो बम्बई से 1908 में छपा। (3) वासुदेव लक्ष्मण पणशीकर द्वारा सम्पादित 1909 में बम्बई से प्रकाशित। (4) अनाविला टीका सहित टी॰ गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम से 1923 में प्रकाशित। (5) जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित, कलकत्ता से 1993 में प्रकाशित (6) गृह्यपरिशिष्ट तथा कुमारिलभट्टकृत कारिकाओं सहित, बम्बई से 1995 में प्रकाशित (7) ओल्डेन बर्ग ने 'सीक्रेट बुक्स ऑफ ईस्ट' के 19वें भाग में इसका अंग्रेजी अनुवाद किया है।

(2) शांखायन गृह्यसूत्र–इसके रचयिता सुयज्ञ हैं। इसका सम्बन्ध ऋग्वेद की वाष्कल शाखा से है। इसमें 6 अध्याय हैं। इनमें दर्शपूर्णमास, ब्रह्मयज्ञ, विभिन्न संस्कार, व्रत, प्रायश्चित्त आदि का विधान किया गया है। कौशीतकि तथा पारस्करगृह्यसूत्र से भी इसका साम्य है। प्रतिपादनशैली आश्वलायन गृह्यसूत्र के समान है। इसके प्रमुख भाष्यग्रन्थों में सुमन्तसूत्रभाष्य, जैमिनीयसूत्रभाष्य, वैशम्पायनसूत्रभाष्य, पैलसूत्रभाष्य है। नैमिषारण्यवासी रामचन्द्र ने भी इस पर भाष्य लिखा है। इनमें अतिरिक्त दयाशंकर कृत 'गृह्यसूत्रप्रयोगदीप नैमिषारण्य' रघुनाथकृत 'अथर्वदर्पण', रामचन्द्रकृत 'गृह्यसूत्रपद्धति', वासुदेवकृत 'गृह्यसंग्रहभाष्य' भी प्रमुख हैं।

संस्करण–इसके अनेक संस्करण हो चुके हैं। (1) ओल्डेन बर्ग के द्वारा जर्मन अनुवाद तथा नारायणभाष्य सहित 1878 में बेवर के 'इण्डिशे स्टूडियन' के 15वें भाग में प्रकाशित। (2) ओल्डेन बर्ग कृत अंग्रेजी अनुवाद सहित सीक्रेट बुक ऑफ ईस्ट के 19वें खण्ड में प्रकाशित है। (3) सीताराम सहगल द्वारा सम्पादित, नारायणभाष्य के अंशों सहित 1960 में दिल्ली से प्रकाशित।

(3) कौशीतकि (शाम्ब्य) गृह्यसूत्र–पंचम अध्याय को छोड़कर यह शांखायन गृह्यसूत्र का पदशः अनुगामी है। शांखायन का सपिण्डीकरण प्रकरण भी इसमें नहीं है। ऋषितर्पणविधान की प्रक्रिया में भी अन्तर है।

संस्करण–भवत्रातभाष्य सहित इसका प्रकाशन टी॰आर॰ चिन्तामणि ने 1944 में मद्रास विश्वविद्यालय से कराया है। चिन्तामणि के अनुसार इसका रचयिता शाम्ब्य है।

ऋग्वेद के प्रकाशित गृह्यसूत्र–(1) हेमाद्रि द्वारा उद्धृत शौनक गृह्यसूत्र (2) भवत्रात के द्वारा कौ॰गृ॰सू॰ भाष्य में उद्धृत भारवीय गृह्यसूत्र। (3) षड्गुरु शिष्य के द्वारा सर्वानुक्रमणी की टीका में उल्लिखित शाकल्य गृह्यसूत्र। (4) गोपीनाथ के द्वारा संस्काररत्नमाला में उल्लिखित पैङ्गि गृह्यसूत्र। (5) आदित्यदर्शन के द्वारा काठकगृह्यसूत्र के भाष्य में उल्लिखित पाराशरगृह्यसूत्र, बह्वृच गृह्यसूत्र (6) आश्वालायन गृह्यसूत्र की टीका में हरदत्त के द्वारा उल्लिखित ऐतरेयगृह्यसूत्र।

(ख) शुक्लयजुर्वेदीयगृह्यसूत्र

(1) पारस्करगृह्यसूत्र–यह सभी गृह्यसूत्रों में शीर्षस्थानी हैं। यह शुक्ल यजुर्वेद की दोनों शाखाओं का प्रतिनिधि है। उत्तरभारत, बंगाल, कश्मीर, दक्षिण भारत के कुछ प्रदेशों में इसका ही अधिक प्रचार है। ग्रन्थ में तीन काण्ड है। इनका विभाग पुनः कण्डिकाओं में है। इस ग्रन्थ में होम, विवाह आदि संस्कार, ब्रह्मचारी के व्रतादि, पंचमहायज्ञ, उपकर्म, शालाकर्म इत्यादि 66 विषयों का विवेचन किया गया है। इसके प्रणेता महर्षि पारस्कर पाणिनि से भी पूर्ववर्ती हैं। पाणिनि ने पास्करप्रभृतीनि संज्ञायाम् (पा॰ 6/1/127) में पारस्कर का उल्लेख किया है। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक इसमें 13 संस्कारों का वर्णन है।

पारस्करगृह्यसूत्र की व्याख्याएँ–

(1) 1550 ई॰ से पूर्व पं॰ नन्द के द्वारा अमृत व्याख्या। (2) राधवेन्द्रारण्य के शिष्य भास्कर द्वारा अर्थभास्कर। (3) प्रयागभट्ट के पौत्र रामकृष्ण के द्वारा 'संस्कारगणपति' (5) जयराम (1200–1400 ई॰ के मध्य) के द्वारा सज्जनबल्लभभाष्य। (6) कर्काचार्य का प्रसिद्ध कर्कभाष्य। (7) परिशिष्ट कण्डिका पर सामदेवभाष्य। (8) वामन के पुत्र गदाधर द्वारा गदाधरभाष्य। (9) भर्तृयज्ञटीका। (10) हरिशर्मा की टीका। (11) पारस्कर गृह्यमन्त्रों पर मुरारि मिश्र की टीका। (12) वागीश्वरदत्तटीका। (13) वासुदेवदीक्षित की टीका। (14) विश्वनाथ का विश्वनाथभाष्य। (15) हरिशर्मा की टीका।

इनके अतिरिक्त इस गृह्यसूत्र के आधार पर कामदेव, भास्कर तथा वासुदेव ने 'पारस्करगृह्यसूत्रपद्धति', उदयशंकर ने पारस्करश्राद्धसूत्रवृत्यर्थसंग्रह तथा रेणुकाचार्य ने गृह्यकारिका ग्रन्थ भी लिखे हैं।

अनुवाद एवं संस्करण

(1) ए॰एफ स्टेन्तत्लर ने इसका जर्मन भाषा में अनुवाद किया है जो 1876-98 के मध्य लीपजिंग से दो भागों में प्रकाशित है।

(2) एच॰ ओल्डेनबर्गकृत अंग्रेजी अनुवाद 'सीक्रेड बुक ऑफ ईस्ट' ग्रन्थमाला के 39वें खण्ड में प्रकाशित है।

(3) 1889 में लाघाराम शर्मा द्वारा सम्पादित सभाष्य संस्करण मुम्बई से प्रकाशित।

(4) 1920 में महादेव वाक्रे द्वारा सम्पादित तथा 1625 में गोपालशास्त्री द्वारा सम्पादित, काशी से प्रकाशित।

(5) इसके चार हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुए हैं-(1) राजारामकृत अनुवाद, 1909 में लाहौर से प्रकाशित। (2) हरदत्तशास्त्रीकृत अनुवाद, भारतीयविद्या भवन से प्रकाशित। (3) सुधाकरमालवीय तथा ओमप्रकाश पण्डित का अनुवाद, चौखम्भा अमरभारतीप्रकाशन वाराणसी से प्रकाशित।

(ग) कृष्णयजुर्वेदीयगृह्यसूत्र-ये गृह्यसूत्र निम्न हैं-

(1) बौधायन, (2) भारद्वाज, (3) आपस्तम्ब, (4) हिरण्यकेशिन्, (5) आग्निवेश्य, (6) वैखानस, (7) मानव, (8) काठक, (9) वाराह, (10) कपिष्ठलकठ।

(1) बौधायनगृह्यसूत्र-यह अन्य गृह्यसूत्रों में सबसे बड़ा है। इसमें चार प्रश्न हैं, जो सात शीर्षकों में विभक्त हैं। इसका प्रारम्भ संस्कारों के वर्णन से होता है। इसमें विवाह आदि संस्कार, राजाभिषेक, गृहस्थ के कर्त्तव्य, श्राद्ध आदि का वर्णन है। इसका समय 900 ई॰पू॰ है। आजकल यह गृह्यसूत्र दक्षिण भारत में प्रचलित है तथापि इसकी रचना उत्तरभारत में मानी जाती हैं। इस की कोई व्याख्या प्रकाशित नहीं है।

संस्करण-इसका सर्वप्रथम सम्पादन एल॰ श्रीनिवासाचार्य में 1904 में मैसूर में किया। आर॰ शाम शास्त्री ने भी 1920 में इसे मैसूर से प्रकाशित किया। बौधायन परिभाषासूत्र का संग्रह 'सेलेक्शन फ्रोम बौधायन गृह्यसूत्र परिशिष्ट' के नाम से हार्टिंग ने अंग्रेजी अनुवाद सहित 1922 में प्रकाशित किया। वार्नेट ने 'जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी' (1923) में इसकी समालोचना की तथा उसे प्रकाशित भी किया। कीथ ने बौधायन परिवेशसूत्र के सप्तम खण्ड का सम्पादन किया।

(2) भारद्वाज गृह्यसूत्र–यह कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयों की भारद्वाजशाखा से सम्बन्धित है। भारद्वाज श्रौतसूत्र तथा भारद्वाज गृह्यसूत्र दोनों एक ही व्यक्ति की रचना हैं। कुन्दन लाल शर्मा के अनुसार आश्वलायन तथा भारद्वाज दोनों ही कुरु पांचाल निवासी थे और भारद्वाज आपस्तम्ब से पूर्ववर्त्ती होने के कारण 800 ई॰पू॰ से अर्वाचीन नहीं हो सकते।[1]

इस ग्रन्थ में तीन प्रश्न हैं जो क्रमशः 28, 323 तथा 21 कण्डिकाओं में विभक्त हैं। इसमें विवाह आदि संस्कार, विविध यज्ञ, प्रायश्चित्त, श्राद्ध आदि वर्णित हैं।

(3) आपस्तम्ब गृह्यसूत्र–आपस्तम्बकल्प का 27वां प्रश्न आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के नाम से जाना जाताहै। इसमें 8 पटल हैं। में पटल 23 खण्डों में विभक्त हैं। इनके पाक यज्ञ, विवाह, अभिचार, उपनयन संस्कार आदि वर्णित हैं।

संस्करण–सर्वप्रथम विन्टरनित्स ने हरदत्त तथा सुदर्शनाचार्य की व्याख्याओं के उद्धरणों सहित इसे 1887 में वियेना से प्रकाशित कराया। ओल्डेन बर्ग ने 'सीक्रेट बुक ऑफ दी ईस्ट' ग्रन्थमाला के 30वें खण्ड में इसका अनुवाद किया है। तंजोर से 1885 में एक अन्य संस्करण प्रकाशित हुआ है। 1892 में ए॰ महादेव शास्त्री ने सुदर्शनाचार्य की व्याख्या सहित मैसूर से प्रकाशित किया। एम॰ए॰ वैद्यनाथ शास्त्री ने भी सुदर्शनाचार्य की व्याख्या सहित 1903 में कुम्भ-कोणम् से प्रकाशित किया। चिन्नस्वामी शास्त्री ने हरदत्त की अनाकुला व्याख्या तथा सुदर्शनाचार्य की तात्पर्यटीका के साथ इसे 1928 में बनारस में प्रकाशित कराया। इन्हीं व्याख्याओं एवं इसे डॉ॰ उमेशचन्द्र पाण्डेय की हिन्दी व्याख्या सहित 1971 में चौखम्भा सं॰ सीरिज वाराणसी ने प्रकाशित किया।

(4) हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र–यह षत्याषाढ नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके रचयिता सत्याषाढ हिरण्यकेशि हैं। यह आपस्तम्ब से अर्वाचीन माना जाता है। डॉ॰ सूर्यकान्त के अनुसार आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के कई सूत्रों को मिलाकर हिरण्य गृ॰सू॰ प्रस्तुत किया गया है।[2] इसके प्रत्येक प्रश्न में 8-8 पटल हैं। इनमें संस्कारों, श्राद्ध, श्रवणाकर्म आदि का प्रतिपादन किया गया है।

---

1. वै॰वा॰ बृ॰ इति॰, कल्पसूत्र, पृ॰ 276
2. सूर्यकान्त, कौथुमगृह्यसूत्र, पृ॰ 90-91

व्याख्या एवं संस्करण–इस पर मातृदत्त की व्याख्या है। 1889 में जा० किर्स्टे ने इस व्याख्या के उदाहरणों सहित इस ग्रन्थ को वियना से प्रकाशित किया था। ओल्डेन बर्ग ने इसका अंग्रेजी अनुवाद किया है।

(5) मानवगृह्यसूत्र–यह कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा का है। मैत्रायणी संहिता के मन्त्र इसमें प्रतीक रूप में उद्धृत हैं। पं० भगवदत्त के अनुसार मैत्रायणी तथा मानवगृह्यसूत्र पृथक्-पृथक् थे, किन्तु अत्यधिक साम्य के कारण दोनों को एक ही मान लिया गया।[1] इसके भाष्यकार अष्टावक्र (1425 ई०) इसे 'पूरण' नाम देते हैं तथा मानवाचार्य को इसका प्रणेता कहते हैं।

इस गृहसूत्र में 40 खण्ड हैं। इनमें ब्रह्मचारी के नियम, विवाह आदि संस्कार, स्थापीपाक, शालाकर्म आदि का प्रतिपादन किया गया है।

संस्करण–(1) अष्टावक्रकृत व्याख्या के उद्धरणों सहित इसका प्रकाशन 1889 में सेंट पीटर्स बर्ग से फ्रेड्रिख क्नाउर ने प्रकाशित किया है। विनयतोष भट्टाचार्य ने मैत्रायणी मानवगृह्यसूत्र के नाम से सम्पूर्ण भाष्य सहित गायकवाड ओरिण्टल सीरिज में बड़ौदा से प्रकाशित किया है।

(3) प्रो०बी०सी० लेले द्वारा लिखित भूमिका तथा अष्टावक्रभाष्य सहित राम कृष्ण हर्षे शास्त्री ने इसका सम्पादन 1926 में किया। (4) पं० भीमसेन ने हिन्दी अनुवाद सहित इसे प्रकाशित किया है।

(6) काठकगृह्यसूत्र–यह कृष्णयजुर्वेद की कठ शाखा से सम्बन्धित है। पं० भगवद्दत्त के अनुसार इस शाखा का प्रचार उत्तरभारत में, विशेषकर अल्मोड़ा, कुमाऊँ, कश्मीर, पंजाब आदि में था। पतंजलि ने भी 4/3/101 सूत्र के भाष्य में इसकी प्रसिद्धि के विषय में कहा है–ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते। इसका अपरनाम लौगाक्षिगृह्यसूत्र भी है। पं० भगवद्दत के अनुसार ये दोनों पृथक्-पृथक् ही हैं[2] मधुसूदन कोल के अनुसार लौगाक्षिगृह्यसूत्र के कई नाम थे। यथा–काठक गृह्यसूत्र, चरक गृ०सू०, चारायणीय गृ०सू०। पाणिनि ने कठ तथा चरक का भिन्न-भिन्न उल्लेख किया है[3]

डॉ० कालन्द मुद्रित गृह्यसूत्र को चरक शाखा से सम्बन्धित मानते हैं। इसका विभाजन दो प्रकार से है। प्रथम प्रकार में 75 कण्डिकाएँ हैं तथा द्वितीय में 5 अध्याय। इसमें संस्कारों, अग्न्याधान, श्राद्ध आदि का वर्णन है।

---

1. वै०वा० का इति०, प्रथम भाग, पृ० 298
2. वै०वा०व्या० इति०, प्रथम भाग, पृ० 288
3. कठचरकाल्लुक्। 1/3/107

व्याख्याएँ एवं संस्करण–इस पर तीन व्याख्याएँ प्राप्त होती है। इनमें आदित्यदर्शन रचित 'विवरण' नामक व्याख्या प्रमुख है। दूसरी व्याख्या ब्राह्मणबल द्वारा रचित 'गृह्यपद्धति' है। तृतीय व्याख्या देवपाल की है। डॉ॰ कालन्दने तीनों व्याख्याओं के उद्धरणों सहित इसे 1925 में लाहौर से प्रकाशित किया है।

(7) वाराह गृह्यसूत्र–वाराह शाखा मैत्रायणीयों की उपशाखा है। यह गृह्य सूत्र उससे सम्बन्धित है। इसमें मैत्रायणी संहिता के मन्त्र प्रतीक रूप में उद्धृत हैं। इसमें 17 खण्ड हैं। इसका प्रारम्भ वाराहश्रौतपरिशिष्टों की गणना से होता है। इस गणना से अग्राहिक, होतृक तथा शौल्विक-इन तीन लुप्त परिशिष्टों का ज्ञान होता है जो किसी अन्य स्त्रोत से अप्राप्य है। इसमें जातकर्म आदि संस्कार, पाकयज्ञ, व्रत आदि का निरूपण किया गया है। डॉ॰ रघुवीर के अनुसार व्रत, उपाकरण, उत्सर्जन तथा अनध्याय प्रकरण में वाराह की परम्परा कठ शाखा के अनुकूल है।[1]

संस्करण–इसके दो संस्करण है। एक का सम्पादन आर॰ राम शास्त्रीने 1920 में गवर्नमेंड ओरियंटल सीरिज मैसूर से किया तथा दूसरे को डॉ॰ रघुवीर ने 1932 में सम्पादित कर प्रकाशित किया।

(8) आग्निवेश्य सूत्र–वाधूल शाखा के चार घटकों में से एक आग्निवेश्य के नाम पर यह सूत्रग्रन्थ है। डॉ॰ वीरेन्द्रकुमार वर्मा के अनुसार अग्निवेश्य शाखा शाण्डिल्य शाखा की उपशाखा रही होगी।[2] माध्वाचार्य ने भी इस शाखा को उद्धृत किया है। शिलालेखों की साक्षी से यह शाखा दक्षिणभारत में विद्यमान है। इसमें काठक, बौधायन तथा कौशीतकि के मतों को उद्धृत किया गया है। इस सूत्रग्रन्थ में तीन प्रश्न हैं। इनमें विविध प्रकार के होम, अन्न-प्राशन आदि संस्कार, भोजन-शयनादि की विधि, श्राद्ध, प्रायश्चित आदि का वर्णन है। इसमें कुछ ऐसे विषय भी वर्णित हैं जो दूसरे गृह्यसूत्रों में अप्राप्त हैं। इसका सम्पादन 1940 में रवि वर्मा ने त्रिवेन्द्रम् से किया है।

(9) वैखानसगृह्यसूत्र–डॉ॰ कालन्द के अनुसार यह गृह्यसूत्र तैत्तिरीय शाखा के सभी गृह्यसूत्रों में नवीन है।[3] इस सूत्र के व्याख्याकार वेङ्कटेश के के अनुसार वैखानस या विखनस ने किसी औखेय सूत्र का निर्माण किया था।

---

1. वाराहगृह्यसूत्र की भूमिका, पृ॰ 16
2. सं॰वा॰ का बृ॰ इति; द्वितीय खण्ड, वेदांग खण्ड, पृ॰ 14
3. वै॰गृ॰सू॰, प्रस्तावना, पृ॰ 13-15

यह ग्रन्थ 7 प्रश्नों में विभक्त है। ये प्रश्न पुनः 120 खण्डों में विभक्त हैं। इनमें संस्कार, स्नानादि के नियम, श्राद्ध, वेदाध्ययन, व्रत, उत्सव, प्रायश्चित्त 18 संस्कारों, पंच महायज्ञों, पाकयज्ञों, हविर्यज्ञों आदि का वर्णन है। संस्कारों के वर्णन में यह हिरण्यकेशी गृ॰सू॰ का अनुगामी है। भाषाविषयक अनियमितता भी इसमें है।

संस्करण एवं व्याख्याएँ—1927 में डॉ॰ कालन्द ने वैखानस स्मार्तसूत्र को कलकत्ता से प्रकाशित कराया। 1929 में उन्होंने कलकत्ता से ही इसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित कराया। इसकी सुन्दरराज कृत 'प्रयोग वृत्ति' नामक तेलगु व्याख्या मिलती है। माधवाचार्य के पुत्र नृसिंह वाजपेयकृत 'दर्पण' नामक व्याख्या भी उपलब्ध है। इसका प्रकाशन तेलगु भाषा में 1813 में कुम्भ कोणम् से हुआ है।

कृष्णयजुर्वेद के अप्रकाशित गृह्यसूत्र

(1) कपिष्ठलकठगृह्यसूत्र—यह कृष्णयजुर्वेद की कपिल्ष्तकठ शाखा से ही सम्बन्धित है। अभी तक अप्रकाशित है। 1976 में डॉ॰ वीरेन्द्र कुमार वर्मा ने इसकी अपूर्ण पाण्डुलिपि सम्पूर्णानन्द सं॰वि॰वि॰ वाराणसी में देखी थी। इसकी भाषा देवनागरी है। यह अध्याय तथा पटलों में विभक्त है।

(घ) सामवेदीयगृह्यसूत्र

(1) गोभिलगृह्यसूत्र—यह सामवेद की कौथुम शखा से सम्बन्धित है। इसमें चार प्रपाठक एवं 39 खण्ड है। प्रथम प्रपाठक में 9 तथा शेष में 10-10 खण्ड हैं। इसकी रचना सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध है। यह अत्यन्त प्राचीन गृह्य सूत्र माना जाता है। इसमें विनियुक्त मन्त्रों में से 48 मन्त्र 'मन्त्रब्राह्मण' में उपलब्ध हो जाते हैं। इसमें संस्कार, अनेक प्रकार के यज्ञ तथा अनुष्ठान, श्रवणा कर्म, समावर्त्तन विधि आदि का प्रतिपादन है। वाचस्पति गैरोला के अनुसार इस पर कात्यायन ने कर्मप्रदीप नाम से परिशिष्ट लिखा है। गोभिलगृह्यसूत्र के प्रमुख टीकाकार भद्रनारायण, सायण तथा विश्राम के पुत्र शिवि हैं। सामवेद का दूसरा खादिर गृह्यसूत्र भी उपलब्ध है, जिस पर शंकर स्वामी की वृत्ति है। वामन ने इस पर कारिकाएँ लिखी हैं। एक तृतीय गृह्यसूत्र पितृमेध नाम से प्रचलित है। जिसको गौतमकृत बतलाया जाता है।

संस्करण–(1) 1871–79 में तर्कालंकार की व्याख्या सहित कलकत्ता से प्रकाशित। (2) 1884–86 में एफ० क्नाउरग् के जर्मन अनुवाद सहित, दो भागों में प्रकाशित। (3) सीक्रेट बुक्स ऑफ ईस्ट के अन्तर्गत ओल्डेनबर्ग का अंग्रेजी अनुवाद 1890 में ऑक्सफोर्ड से प्रकाशित। (4) कलकत्ता से भट्टनारायण की व्याख्या सहित संस्कृतग्रन्थमाला में 1963 में प्रकाशित। (5) बनारस से 1936 में मुकुन्द झा बख्शीकृत मृदुला टीका सहित प्रकाशित। (6) 1906 में मुजफ्फरपुर (बिहार) से सत्यव्रत सामश्रमी की संस्कृतव्याख्या तथा उदय नारायण सिंह के हिन्दीअनुवाद सहित प्रकाशित।

(2) खादिरगृह्यसूत्र–यह आचार्य खादिरप्रणीत हैं तथा राणायनीय शाखा से सम्बद्ध है। यह चार पटलों में विभक्त है। इनमें गृह्यकर्म, समुद्देश, यज्ञोपवीत, आचमनादि, दर्शपूर्णमास, जातकर्म आदि संस्कार, उपाकर्म, अनध्याय आदि का वर्णन है। इस पर रुद्रस्कन्द की व्याख्या है। ए० महादेव शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर 1913 में मैसूर से 'सीक्रेड बुक्स ऑफ ईस्ट' में इसका प्रकाशन हुआ है।

(3) द्राह्यायण गृह्यसूत्र–यह खादिर गृह्यसूत्र से साम्य रखता है। आनन्दाश्रम पूना से द्राह्यायणगृह्यसूत्रवृत्ति के रूप में इसका प्रकाशन 1914 में आनन्दाश्रम पूना से हुआ है। उदयनारायण सिंह ने 1934 में मुजफ्फरपुर से इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कराया।

(4) कौथुमगृह्यसूत्र–इसमें सूत्र न होकर 29 कण्डिकाओं में वाक्यात्मक निर्देश है। डॉ० सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित इसका प्रकाशन 1955 में एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता से हुआ है। यह अतिसंक्षिप्त तथा भ्रष्टपाठ युक्त है।

(5) जैमिनीयगृह्यसूत्र–यह जैमिनीय शाखा से सम्बन्धित है। पूर्व तथा उत्तर के रूप में इसके दो भाग हैं। इसमें क्रमशः 24 तथा 9 खण्ड हैं। इसमें पाकयज्ञ, संस्कार, उपाकरण, श्राद्ध, अष्टका आदि का वर्णन हैं इस पर बौधायन तथा गोभिलगृह्यसूत्रों का प्रभाव है।

संस्करण–(1) श्रीनिवासाध्वरिकृत 'सुबोधिनी' टीका सहित के० रंगाचार्य द्वारा सम्पादित संस्करण मद्रास से 1898 में छपा है।

(2) 1905 में एम्सटर्डस से कालन्द का संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसमें मूलपाठ, 'सुबोधिनी' टीका के अंश तथा भूमिका है।

(3) कालन्द ने ही इसे पुनः 1932 में लाहौर से प्रकाशित कराय।

अप्रकाशित गृह्यसूत्र–सामवेद से सम्बन्धित गौतमगृह्यसूत्र तथा छान्दोग्य गृह्यसूत्र अप्रकाशित कहे जाते हैं।

(ङ) अथर्ववेदीय गृह्यसूत्र

कौशिकसूत्र–इसमें सामान्य गृहस्थ की सम्पूर्ण जीवनचार्य का उल्लेख है इसके साथ ही अभिचार, इन्द्रजाल आदि का उल्लेख भी किया है। गर्भाधान से लेकर पितृमेध तक के 18 संस्कारों का वर्णन इसमें किया गया है। अभिचार आदि क्रियाओं की पुष्टि में इसमें वेदमन्त्रों को उद्धृत किया गया है, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि अथर्ववेद में इन इन्द्रजालादि का वर्णन नहीं है।[1] हमने इसी पुस्तक में अन्यत्र ऐसा प्रतिपादन किया है। आथर्वण श्रौतसूत्रों पर भी इस सूत्र का प्रभाव है।

केशव (1100 ई०) ने कौशिकसूत्रों के तीन भाष्यकारों का उल्लेख किया है–भद्र, रुद्र तथा दारिल। केशवप्रणीत पद्धति में इस सूत्रों को 14 अध्यायों में विभाजित किया गया है। केशव ने सम्पूर्ण कौशिकसूत्र को दो भागों में विभाजित किया है–(1) आथर्वणभाग– इसमें अथर्ववेद के मन्त्रों का विनियोग किया गया है। (2) दूसरे भाग में शेष सभी धार्मिक विधियों का वर्णन है। कौशिकसूत्र ने वैतानसूत्रों पर भी प्रभाव डाला है। इस सूत्रग्रन्थ में पाकयज्ञ, राज्याभिषेक, अष्टका, भैषज्याणि, स्त्रीकर्माणि, विज्ञानकर्माणि, मारण आदि आभिचारिक कर्म, संस्कार आदि का वर्णन किया गया है। इस सूत्रग्रन्थ का विशेष सम्बन्ध अथर्ववेद की शौनक शाखा से है।

संस्करण–(1) 1889-90 में दारिल तथा केवल की व्याख्याओं सहित ब्लूमफील्ड द्वारा सम्पादित संस्करण।

(2) 1992 में तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पुणे द्वारा दारिलभाष्य सहित प्रकाशित संस्करण।

(3) 1982 में इसी स्थान से केशवरचित कौशिकपद्धति का प्रकाशन। अनके अतिरिक्त अथर्ववेद के नक्षत्रकल्पसूत्र, आंगिरसकल्पसूत्र तथा शान्तिकल्पसूत्र भी है। प्रपंचहृदय के अनुसार आथर्वण कल्पसूत्र अगस्त्यप्रोक्त है।

---

1. इसके लिए देखें 'वेदों का समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन' पृ० 199 पर डॉ० रामनाथ वेदालंकार का लेख 'अथर्ववेद के कौशिककृत विनियोगों पर दृष्टि'।

(3) धर्मसूत्र (कल्प)

धर्मसूत्रों में वर्णाश्रम धर्म, राजधर्म, दायाद, विवाह, पाप, प्रायश्चित्त, जाति प्रथा एवं प्रजा के कर्त्तव्यादि का विधान है। माना जाता है कि प्रत्येक शाखा के धर्मसूत्र भी पृथक्-पृथक् थे। वर्त्तमान समय में सभी शाखाओं के धर्मसूत्र उपलब्ध नहीं होते। कुमारिल भट्ट के अनुसार अन्य शाखा के धर्मसूत्रों को ही दूसरी शाखाओं ने अपना लिया था,[1] इसलिए सभी के धर्मसूत्र प्राप्त नहीं होते। अपने से पूर्ववर्त्तिनी बौद्धिक परम्परा को इन सूत्रग्रन्थों ने सूत्रों के माध्यम से सुरक्षित रखा, इसका प्रमाण इन सूत्रग्रन्थों में उद्धृत अनेक प्राचीन आचार्यों के मत-मतान्तरों से मिलता है।

धर्मसूत्रों का महत्त्व–इनमें मानवजीवन से सम्बन्धित प्रत्येक समस्या पर विचार किया गया है जिससे कि मानव जीवन व्यवस्थित रूप में चल सके। सामाजिक तथा नैतिक दायित्वों को पूर्ण न करने पर धर्मसूत्रों में दण्ड का विधान भी किया गया है। धर्मसूत्रों का महत्त्व इनके विषयप्रतिपादन के कारण हैं। इनमें वर्णों के कर्त्तव्यों एवं अधिकारों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। धर्मसूत्रकार आपत्काल में भी मन से आचार पालन पर बल देते हैं। वर्णाश्रम के विविध कर्त्तव्यों का निर्देश करके धर्मसूत्रों ने पातक, प्रायश्चित्त, श्राद्ध, साक्षी, अपराध, दण्ड, न्यायकर्त्ता, स्त्रीधर्म आदि ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार किया है, जिसका जीवन में उपयोग है। वसिष्ठधर्मसूत्र में आचार को परम धर्म कहा गया है।[2] इन ग्रन्थों में राजधर्म का भी गहन विवेचन किया गया है। राजा के कर्त्तव्य, अधिकार, दण्ड व्यवस्था, युद्धादि के नियमों पर पर्याप्त विचार किया है। गौतम तथा बौधायन धर्मसूत्र में भौगोलिक संकेत भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार अनेक रूपों में ये ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं।

धर्मसूत्रों का रचनाकाल–गौतम, बौधायन तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्रों को अन्य धर्मसूत्रों की अपेक्षा प्राचीन माना जाता है। इनका काल 300 से 600 ई॰ पू॰ के मध्य माना गया है। धर्मसूत्रों में धर्मशास्त्र[3] तथा इनके कर्त्ताओं[4] का उल्लेख प्राप्त होता है तथा 'एके' 'आचार्यः' इत्यादि शब्दों के द्वारा भी अन्यों के मत

---

1. कुमारिल भट्ट, पूर्वमीमांसासूत्र 1/3/11
2. आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः। व॰ध॰सू॰ 6/2
3. तस्य च व्यवहारो वेदे धर्मशास्त्राण्यङ्गानि उपवेदाः पुराणम्। गौ॰ध॰सू॰, 2/2/9
4. त्रीणि प्रथमान्यनिर्देश्यान्मनुः। गौ॰ध॰सू॰, 3/3/7

उद्धृत हैं। इस आधार पर कुन्दनलाल शर्मा आदि ने धर्मसूत्रों को धर्मशास्त्रों से उत्तरवर्ती माना है।[1] मैक्समूलर धर्मसूत्रों को धर्मशास्त्रों से पूर्ववर्ती मानते हैं।

उनके अनुसार सभी पद्यात्मक धर्मशास्त्रों की रचना बिना किसी अपवाद के प्राचीन सूत्र रचनाओं के आधार पर की गयी थी।[2] पी०वी० काणे इससे सहमत नहीं हैं। वे लिखते हैं 'इसी प्रकार कुछ बहुत पुराने धर्मसूत्रों यथा बौधायन धर्मसूत्र में भी श्लोक उद्धृत है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्लोकबद्ध धर्मग्रन्थ धर्मसूत्रों से भी पूर्व विद्यमान थे।[3] विद्वानों का यह भी विचार है कि 'कभी-कभी धर्मसूत्र अपने कल्प के गृह्यसूत्रों का अनुकरण भी करते हैं तथा गृह्यसूत्रों के ही विषय का प्रतिपादन भी करते हैं'।[4] इस आधार पर माना जाता है कि धर्मसूत्र तथा श्रौतसूत्र गृह्यसूत्रों के बाद की रचना है।[5] पाणिनि ने धर्मसूत्रकार एक चरण का उल्लेख किया है।[6] इस सूत्र की व्याख्या में पतंजलि ने काठक, कालापक, मौदक, पैप्लाद तथा आथर्वण प्राचीन धर्मसूत्रों का उल्लेख किया है। सम्प्रति ये सभी धर्मसूत्र अनुपलब्ध हैं, किन्तु इन विलुप्त धर्म सूत्रों का समय 700 ई०पू० अवश्य था।[7]

1. बौधायनधर्मसूत्र

इसके रचयिता बौधायन माने जाते हैं, किन्तु स्वयं इस धर्मसूत्र में बौधायन के मत को कई स्थलों पर उद्धृत किया गया है।[8] एक स्थान पर काण्व बौधायन का उल्लेख भी किया गया है।[9] इससे स्पष्ट है कि इस सूत्रग्रन्थ का कर्त्ता कोई अर्वाचीन व्यक्ति है। बौधायनसूत्र के टीकाकार गोविन्दस्वामी ने वर्त्तमान धर्मसूत्र के कर्त्ता को काण्वायन कहा है।

---

1. वै०वा० का बृ० इति०, 1929, पृ० 472
2. The Ancient Sanskrit Literature, p. 70.
3. धर्मशास्त्र का इतिहास, प्र०ख०, पृ० 8
4. Dr. Ramgopal, India of Vedic kalpsutras. p. 7
5. उमेशचन्द्र पाण्डेय, गौ०ध०सू०, भूमिका, पृ० 6
6. चरणेभ्यो धर्मवत्। अ० 4/2/46
7. वाचस्पति गैरोला, सं०सा० का इति०, पृ० 182
8. बौध० ध० सू० 1/3/13, 1/4/9; 3/5/8 3/6/12 आदि
9. वही, 2/5/27 काण्वं बौधायनं तर्पयामि

स्वरूप–यह धर्मसूत्र चार प्रश्नों में विभक्त है। प्रश्नों का विभाजन अध्याय तथा खण्डों में किया गया है। इसमें विषयवस्तु के विभाजन में अस्तव्यस्तता है। कई विषय अनेक बार तथा बिना किसी क्रमव्यवस्था के दोहराये गये हैं। इसकी भाषा पाणिनिपूर्ण प्रतीत होती है। अनेक अपणिनीय प्रयोग भी इसमें हैं। यह सूत्रग्रन्थ गद्य-पद्यमय है। अनेक वेदमन्त्र सम्पूर्ण या आँशिक रूप में उद्धृत किये गये हैं।

समय–बौधायन धर्मसूत्र में हिरण्यकेशि, आपस्तम्ब तथा काण्वबौधायन का उल्लेख नाम निर्देशपूर्वक किया गया है।[1] गौतम के नामोल्लेख के साथ[2] गौ०ध०सू० के सूत्रों को भी इसमें ज्यों का त्यों तथा स्वल्प परिवर्तन के साथ ग्रहण किया है।[3] आपस्तम्ब के कई सूत्रों को भी बौधायन 'इति' लगाकर उद्धृत करते हैं। इस आधार पर बौधायनधर्मसूत्र को आपस्तम्ब से परवर्ती माना जाता है।

इस धर्मसूत्र में आर्यावर्त्त के प्रदेशों के आधार, भक्ष्या-भक्ष्य, विवाहभेद, पातक, सन्ध्योपासन, श्राद्ध, दान, व्रत, प्रायश्चित्त, गृहस्थादि के कर्त्तव्य, स्त्री धर्म आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। स्त्री तथा शूद्रों की स्थिति इसमें अच्छी नहीं है। इन पर प्रतिबन्ध भी लगाये हैं। सभी विद्वान् मानते हैं कि इस धर्मसूत्र में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। अतः स्त्री तथा शूद्रों की हीनावस्था के प्रकरण इसमें प्रक्षिप्त कर दिये गये। जीवन से सम्बन्धित सभी विषयों का प्रतिपादन इसमें किया गया है। स्वाध्याय, प्राणायाम, गायत्रीजप आदि के विधान के साथ-साथ सुरापान आदि के लिए इसमें कठोर दण्ड का विधान भी किया गया है।

व्याख्या एवं संस्करण–इसकी एक मात्र गोविन्दस्वामीकृत 'विवरण' व्याख्या उपलब्ध है।

(1) इस व्याख्या के सहित सर्वप्रथम ई० हुल्त्स (E. Hultsch) ने लीपजिंग से इसे 1884 में प्रकाशित किया था।

(2) इसी संस्करण का व्यूहलर कृत अंग्रेजी अनुवाद ऑक्सफोर्ड से सीक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट के भाग 14 में प्रकाशित हुआ। इसी का द्वितीय संस्करण 1965 में दिल्ली से छपा।

---

1. वही, 2/5/14
2. वही, 2/1/7 तथा 2/2/17
3. वही, 3/10/1 तथा 10/1/5

(3) 1907 में मैसूरगवर्नमेंट ओरियण्टल लायब्रेरी से एक संस्करण प्रकाशित हुआ है। जिसका सम्पादन पं॰ चिन्नस्वामी ने किया है। 1972 में चौ॰सं॰ सीरिज बनारस ने इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया। इसका सम्पादन उमेशचन्द्र पाण्डेय ने किया है।

2. गौतमधर्मसूत्र

इसके कर्त्ता गौतम मुनि हैं। चरणव्यूह की टीका के अनुसार गौतम सामवेद की राणायनी शाखा के एक विभाग के आचार्य थे।[1]

स्वरूप–इसमें कुल तीन प्रश्न हैं। प्रथम तथा द्वितीय में 9–9 तथा तृतीय में 10 अध्याय हैं। इनमें कुल 1000 सूत्र हैं। यह ग्रन्थ केवल गद्य में है। यजुर्वेद के मन्त्र भी सूत्ररूप में इसमें उद्धृत हैं। अनेक सूत्र सामवेद के सामविधान ब्राह्मण से भी उद्धृत हैं। वसिष्ठ तथा बौधायन धर्मसूत्रों में गौतम के नाम से जो मत दिये गये हैं, वे वर्तमान गौतमधर्मसूत्र में प्राप्त नहीं होते। अनेक पाठभेद भी इसमें उपलब्ध होते हैं। पाण्डुलिपियों में कर्मविपाक का पूरा प्रकरण जोड़ दिया गया जिस पर हरदत्त की व्याख्या नहीं है। इस आधार पर विद्वानों की धारणा है कि इस ग्रन्थ में समय-समय पर अनेक परिवर्तन होते रहे हैं। कुन्दन लाल शर्मा का विचार है कि इस प्रकार के प्रक्षेप कुमारिल से पूर्व ही किये गये थे, क्योंकि तन्त्रवार्तिक में इस प्रकार के पाठभेदों की चर्चा है।[2]

काल–चिन्तामणि विनायक वैद्य इसे 500 ई॰पू॰ मानते हैं।[3] डॉ॰ जौली के अनुसार गौतम धर्मसूत्र सब सूत्रग्रन्थों में प्राचीन हैं। उनके अनुसार इसका काल 600 या 500 ई॰पू॰ है। डॉ॰ जायसवाल इससे असहमत होकर गौतमधर्मसूत्र का काल 350–300 ई॰पू॰ के मध्य तथा उसका पुनः संस्करण 200 ई॰पू॰ में मानते हैं।[4] इस धर्मशास्त्र में किसी भी धर्मसूत्रकार का नामशः उल्लेख न होकर 'एकेषाम्' 'इत्येके' कहकर ही अन्यों के मत दिखलाये हैं। इसमें मनु का नाम लेकर एक मत दिया गया है।[5] 2/2/3 में .त्रयी तथा आन्वीक्षिकी का उल्लेख

---

1. गौ॰ध॰सू॰, चौखम्भा, 1966 भूमिका, पृ॰ 131
2. गौ॰ध॰सू॰ 1/45 पर कुमारिल भट्ट का मत
3. A History of Sanskrit Literature, p. 26.
4. हिन्दूराजतन्त्र, पृ॰ 20
5. त्रीणि प्रथमान्यनिर्दिश्यान्मनुः। गौ॰ध॰सू॰ 3/3/7

भी है। 1/8/6 में 'वाकोवाक्येतिहासपुराणकुशः' कहकर इतिहासादि की चर्चा है। 3/1/12 में उपनिषद्–वेदान्त तथा 2/2/28 में निरुक्त की ओर भी संकेत है। इन प्रमाणों के आधार पर यह सूत्र इनसे उत्तरवर्ती है।

प्रतिपाद्य विषय–इसमें ब्रह्मचारी, गृहस्थ के नियम, गुरुसेवा, चारों वर्णों के कर्त्तव्य, राजा के कर्त्तव्य, अपराध तथा दण्ड, दान, प्रायश्चित्त, महापातक, व्रत आदि का वर्णन किया गया है। वर्णाश्रम व्यवस्था को बहुत महत्त्व प्रदान किया गया है। नारी को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है।

व्याख्याकार–(1) हरदत्त (1100–1300 ई॰) ने इस पर मिताक्षरा नामक टीका लिखी है, जो उपलबध है।

(2) भर्तृयज्ञ इसके प्राचीन व्याख्याकार हैं। इनकी व्याख्या इस समय उपलब्ध नहीं है। इसका समय 800 ई॰पू॰ माना जाता है।

(3) अद्भुतसागर के लेखक अनिरुद्ध तथा भाष्यकार विश्वरूप की सूचनानुसार असहाय ने भी इस सूत्र का भाष्य लिखा था। इसका समय 750 से उत्तरवर्ती नहीं है, क्योंकि मेधातिथि ने इसका उल्लेख किया है।

(4) कल्पतरु के मोक्षकाण्ड में मस्करी को गौतमधर्मसूत्र का व्याख्याता कहा है।

संस्करण–इसके निम्न संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं–

(1) सर्वप्रथम डॉ॰ए॰एफ॰ स्टेन्त्स्लर ने 1876 में लन्दन से 'इस्टीट्यूट्स ऑफ गौतम' नाम से प्रकाशित किया।

(2) 1976 में जीवानन्द विद्यासागर ने कलकत्ता से एक संस्करण प्रकाशित किया, जिसमें 19वें अध्याय के अन्त में 'कर्मविपाक' प्रकरण जोड़ दिया गया।

(3) कलकत्ता से ही 1908 में एम॰एन॰ दत्त ने भी कर्मविपाक सहित एक संस्करण प्रकाशित किया है।

(4) कलकत्ता से ही 1879–1918 में 'स्मृतिसन्दर्भ' नामक संग्रह के चतुर्थ भाग में इसे प्रकाशित किया गया है।

(5) 1931 में आनन्दाश्रम पूना से हरदत्त की मिताक्षरा सहित एक संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसमें कुल 991 सूत्र हैं।

(6) एल॰ श्री निवास ने मस्करी की व्याख्या सहित 1917 में 'गर्वमेंट ओरियण्टर लायब्रेरी' मैसूर से इसे प्रकाशित किया है। इसमें 1016 सूत्र हैं।

(7) 1966 में चौखम्भासंस्कृतसीरिज ऑफिस वाराणसी से मिताक्षरा एवं उमेशचन्द्र पाण्डेय की हिन्दी व्याख्या सहित प्रकाशित किया गया।

(8) 1969 में वेदमित्र ने नेशनल पब्लिशिंगहाउस से नवीन संस्करण निकाला।

3. आपस्तम्बधर्मसूत्र

आपस्तम्ब कल्प में 30 प्रश्नों में से 28-29वें प्रश्नों का नाम ही आपस्तम्ब धर्मसूत्र है। ये प्रश्न 11-11 पटलों में विभक्त हैं जिनमें क्रमश: 32 तथा 29 कण्डिकाएँ हैं। आपस्तम्ब के नाम से श्रौत्र, गृह्य, धर्म तथा शुल्ब ये चारों सूत्रग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। पा०वा० काणे के अनुसार इनमें गृह्य एवं धर्मसूत्र के प्रणेता एक ही व्यक्ति हैं। स्मृतिचन्द्रिका भी ऐसा ही मानती है। इसके कई अंशों का सादृश्य बौधायनधर्मसूत्र से है। काणे इस धर्मसूत्र को बौधायन से परवर्ती मानते हैं, किन्तु इसकी आलोचना भी की गयी है। चरणव्यूहगत 'महार्णव' रचना के अनुसार आपस्तम्ब शाखा नर्मदा के दक्षिण में प्रचलित थी। अत: इस सूत्र का सम्बन्ध दक्षिण से प्रतीत होता है। इसमें तैत्तिरीय आरण्यक के जिन मन्त्रों का निर्देश है, वे आन्ध्रपाठ से गृहीत है। इस आधार पर ब्यूहलर इसे आन्ध्रप्रदेशीय मानते हैं।[1]

समय–ब्यूहलर के अनुसार इसका समय 400 ई०पू० के आसपास मानना ठीक है।[1] किन्तु म०म० काणे इसे 700-300 ई०पू० के मध्य मानते हैं।

विषयवस्तु–अन्य सूत्रग्रन्थों की भाँति इसमें भी चातुर्वर्ण्य, वर्णाश्रमव्यवस्था, प्रायश्चित्त, विवाहादि संस्कार, अपराध एवं दण्ड, दायाद, पंचमहायज्ञादि का वर्णन है।

व्याख्याएँ–हरदत्त ने इस पर उज्जवला नामक टीका लिखी है। काणे ने धूर्त स्वामी के भाष्य का उल्लेख भी किया है। शंकर ने इसके अध्यात्मविषयक दो पटलों पर भाष्य लिखा है।[2] बम्बई संस्कृतसीरिज में ब्यूहलर द्वारा उज्ज्वला टीका के अंशों सहित प्रकाशित किया गया। कुम्मकोणम् संस्करण में सम्पूर्ण उज्ज्वला टीका तथा ब्यूहलर के आंग्लानुवाद सहित 'सीक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट' भाग 2 में प्रकाशित हुआ है।

---

1. एस०बी०ई०, भाग 2, भूमिका।
2. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पृ० 43

4. वासिष्ठधर्मसूत्र

कुमारिल के अनुसार इसका सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है।[1] गौतमधर्मसूत्र के साथ इसका विशेष सम्बन्ध है। इसकी उपलब्ध सभी पाण्डुलिपियों तथा प्रकाशित संस्करणों में पर्याप्त विविधता है। जीवानन्द संस्करण में 21 अध्याय हैं, जबकि आनन्दाश्रम तथा डॉ० फ्यूहरर के संस्करणों में 30 अध्याय हैं। इसकी संरचना प्राय: पद्यात्मक है। इसमें धर्म का लक्षण, आर्यावर्त्त की सीमा, चातुर्वर्ण्य, चतुराश्रम, उपाकर्म, भक्ष्याभक्ष्य, न्याय, प्रायश्चित्त, दान, प्राणायाम आदि का वर्णन है। आचार को परमधर्म माना गया है।

व्याख्या एवं संस्करण—कृष्ण पण्डित की 'विद्वन्मोदिनी' एक मात्र इसकी व्याख्या प्रकाशित है। गोविन्दस्वामी ने यज्ञस्वामी का उल्लेख भी इसके व्याख्याकार के रूप में किया है। 1883 में डॉ० फ्यूहरर द्वारा सम्पादित संस्करण बम्बई से प्रकाशित है। 1904 में लाहौर से इसका हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन हुआ है। 'स्मृतीनां समुच्चय:' के अन्तर्गत 1905 में आन्दाश्रम से प्रकाशित है। जीवानन्द द्वारा सम्पादित 'स्मृतिसंग्रह' में 20 अध्यायात्मक रूप में इसका प्रकाशन हुआ है।

5. हारीतधर्मसूत्र

यह प्राचीन सूत्र है। बौधायन, आपस्तम्ब तथा वासिष्ठ धर्मसूत्रों में हारीत को उद्धृत किया गया है। परवर्ती धर्मसूत्रकारों ने तो पौन:पुण्येन हारीत के उदाहरण किये हैं। इसमें धर्म का मूलस्रोत, धनुराश्रम, श्राद्ध, राजकर्म, न्याय, अष्टविध विवाह आदि का वर्णन है। डॉ० कालन्द ने इसका सम्बन्ध मैत्रायणीसंहिता के साथ माना है।

संस्करण—जीवानन्द द्वारा सम्पादित 'धर्मशास्त्रसंग्रह' में इसे लघुहारीतस्मृति तथा वृद्धहारीतस्मृति के रूप में प्रकाशित किया गया है। लघु में सात अध्याय तथा 250 पद्य हैं जबकि वृद्ध में आठ अध्याय तथा 2600 पद्य हैं। नासिक (महाराष्ट्र) के इस्मालपुर में हारीतधर्मसूत्र का एक लेख वामनशास्त्री को मिला था, जो अत्यन्त भ्रष्ट है। इसमें तीस अध्याय हैं। इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

---

1. तन्त्रवार्त्तिक, पृ० 179

6. हिरण्यकेशिधर्मसूत्र

हिरण्यकेशिकल्प के ही 26-27 प्रश्न धर्मसूत्र के रूप में हैं। यह आपस्तम्ब की ही पुनः प्रस्तुति है। उसके अनेक सूत्रों को इसमें विभक्त कर दिया गया है तथा आर्षप्रयोगों को लौकिक संस्कृत में परिवर्तन कर दिया गया। इस पर महादेव कृत 'उज्ज्वला' वृत्ति उपलब्ध है।

7. वैखानसधर्मप्रश्न

यह वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इसमें तीन प्रश्न हैं जिनका विभाजन 51 खण्डों में है। इनमें 365 सूत्र हैं। प्रवर खण्ड के 68 सूत्र इनसे पृथक् हैं। इसमें चारों वर्णाश्रमों के अधिकार एवं कर्त्तव्य एवं प्रकार बतलाये गये हैं। योग एवं आयुर्वेद के 8-8 अंगों का वर्णन भी इसमें मिलता है।

अन्य धर्मसूत्रों की अपेक्षा यह अर्वाचीन है। अभी तक इसकी कोई व्याख्या उपलब्ध नहीं हैं। इसके निम्न दो संस्करण प्रकाशित हैं–

(1) 1913 में त्रिवेन्द्रम से टी॰ गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित (2) डॉ॰ कालन्द द्वारा सम्पादित तथा अंग्रेजी में अनूदित, विव्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता से 1927 में प्रकाशित संस्करण।

8. विष्णुधर्मसूत्र

इसकी प्रसिद्धि वैष्णवधर्मशास्त्र के रूप में है। इसमें 100 अध्याय हैं। इसमें वर्णाश्रमों के कर्त्तव्य, राजधर्म, अपराध एवं दण्ड, नारीधर्म, दान, व्रात्य, संस्कार आदि का वर्णन है। इसपर सम्भवतः भारुचि की प्राचीन व्याख्या थी, जो अब अनुपलब्ध है। इस समय नन्दपण्डित प्रणीत 'वैजयन्ती' व्याख्या ही प्राप्त है।

संस्करण–(1) जूलियस जॉली द्वारा सम्पादित तथा अंग्रेजी में अनूदित वैजयन्ती सहित कलकत्ता से 1881 में प्रकाशित संस्करण।

(2) जीवानन्द द्वारा सम्पादित 'धर्मशास्त्र संग्रह' में प्रकाशित।

(3) विष्णुसंहिता के रूप में पंचानन तर्करत्न द्वारा सम्पादित ऊनविंशति संहिता के अन्तर्गत प्रकाशित संस्करण।

(4) मनसुखराय द्वारा सम्पादित 'स्मृतिसन्दर्भ' में विष्णुस्मृति के रूप में प्रकाशित।

रामगोविन्द त्रिवेदी के अनुसार कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा का 'मानव धर्मसूत्र' भी प्राप्त होता है। इसे जे०एम० भी गिल्डनर ने प्रकाशित किया है।

परवर्ती ग्रन्थों में भी कुछ धर्मसूत्रों के उद्धरण दिए गए हैं, इससे अन्य धर्मसूत्रों का अनुमान भी होता है। इनमें कश्यप, देवल, पैठीनसि, बृहस्पति, भारद्वाज तथा सुमन्तु के नाम उल्लेखनीय हैं।

धर्मसूत्रों के अतिरिक्त कुछ पितृमेद्य सूत्र भी उपलब्ध होते हैं। इनमें बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशि गौतम, मानव पितृमेध प्रमुख हैं। श्रौतसूत्रों के मध्य या परिशिष्ट रूप में प्रवरसूत्र भी प्राप्त होते हैं। प्रवर पद उन ऋषियों की परम्परा का द्योतक है जो स्वयं मन्त्रद्रष्टा थे तथा यजमान के गोत्रप्रणेता ऋषियों के भी पूर्वज थे। इनमें बौधायन, आपस्तम्ब, आश्वलायन, कात्यायन, हिरण्यकेशि, मानव तथा वाराह प्रवरसूत्र हैं।

(6) शुल्बसूत्र

शुल्बका अर्थ–शुल्ब शब्द का अर्थ मापने का साधन रस्सी आदि है। कात्यायन शुल्बसूत्र की टीका में विद्याधर शर्मा ने 'शुल्ब माने शुल्बनं शुल्बः' कहा है। बेवर ने स्व सम्पादित कात्यायन श्रौतसूत्र में 'त्रिधातु पंचधातु वा शुल्बं करोति' सूत्र को उद्धृत करके 'शुल्बं रज्जुमित्यर्थः' लिखा है। वैदिक पदानुक्रमकोश में शुल्ब धातु सर्जन अर्थ में है। शुल्ब द्वारा वेदियों एवं चितियों का निर्माण किया जाता है। इसलिए इसका सर्जन अर्थ भी चरितार्थ है। मोनियर विलियम अपने संस्कृत-अंग्रेजी कोश में जल के सामीप्य को शुल्ब कहते हैं। इस प्रकार शुल्बसूत्र का अर्थ वेदियों तथा चितियों के मापन तथा निर्माण का ग्रन्थ है। मानव (3/2) तथा मैत्रायणीय (प्रथम अध्याय) शुल्बसूत्रों में ज्यामिति को शुल्बविज्ञान की संज्ञा दी गयी है।

विषय–शुल्बसूत्रों का विषय यज्ञोचित स्थानविशेष का विचार करना है। अतः सभी शुल्बसूत्र अपने-अपने श्रौतसूत्र के अंग अथवा परिशिष्ट के रूप में उपलब्ध होते हैं। ये सभी अपनी-अपनी शाखा से सम्बद्ध है। इन ग्रन्थों में वेदियों के विभिन्न आकारों, परिणामों तथा दिशाओं के विनिश्चय की विधियाँ वर्णित हैं।

शुल्बविद्या का उद्गम–ऋग्वेद में वेदि को पृथिवी का अन्त तथा यज्ञ को भुवन की नाभि कहा गया है।[1] इसी प्रकार ऋग्वेद 1/170/4, 10/61/2 में भी वेदिनिर्माण, अग्निप्रज्वलन, यज्ञक्रिया के विस्तार, वेदि नापने आदि का वर्णन है।[2]

शुल्बसूत्रों की संख्या–निम्न शुल्बसूत्र उपलब्ध या उद्धृत हैं। (1) बौधायन, (2) आपस्तम्ब, (3) सत्याषाढ या हिरण्यकेशी, (4) मानव, (5) मैत्रायणीय, (6) वाराह, (7) बाधूल, (8) मशक, (9) वैखानस, (10) कात्यायन। इनमें 1-9 तक के शुल्बसूत्र कृष्णयजुर्वेद से तथा दशम शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित हैं।

मीमांसा सूत्रों (1/3/10-12) की व्याख्या में कुमारिल ने मशकसूत्र का उल्लेख किया है।[3] शबर स्वामी ने भी इसकी चर्चा की है।[4] सामवेदीय मशक कल्पसूत्र अथवा आर्षेयकल्पसूत्र तथा इसका अंग क्षुद्रकल्पसूत्र मशकाचार्य प्रणीत हैं। डॉ॰ दामोदर झा के अनुसार 'ये ग्रन्थ ब्राह्मण तथा सूत्रग्रन्थों के सन्धिकाल की रचनाएँ हैं।' अतः ये ई॰पू॰ 800 के पूर्व हो सकते हैं।[5] विभूतिभूषण दत्त ने बाधूल शुल्बसूत्र का उल्लेख किया है,[6] किन्तु इस समय यह अनुपलब्ध है। वैखानसकल्पसूत्र उपलब्ध है, किन्तु शुल्बसूत्र नहीं। सत्याषाढ अथवा हिरण्यकेशी शुल्बसूत्र एक प्रकार से आपस्तम्ब शुल्बसूत्र ही है। इस समय निम्न पाँच शुल्बसूत्र उपलब्ध होते हैं–

(1) बौधायनशुल्बसूत्र–यह बौधायनश्रौतसूत्र का 30वां प्रश्न है। यह कृष्णयजुर्वेद की बौधायनशाखा से सम्बन्धित है, जो इस समय अनुपलब्ध है। बौधायनकल्प के व्याख्याता यज्ञेश्वर बौधायन को कण्वतनय मानते हैं।[7] यह शुल्बसूत्र सभी शुल्बसूत्रों में प्राचीन है तथा अधिक व्यापक है। इसमें वेदियों तथा चितियों का प्रामाणिक वर्णन किया गया है।

संस्करण–(1) सर्वप्रथम कालन्द ने इसे बौ॰श्रौ॰ सूत्र के अन्तर्गत प्रकाशित किया। (2) थीबो ने द्वारिकानाथ यज्वा कृत 'शुक्लदीपिका' के साथ इसे अंग्रेजी में अनूदित करके वाराणसी से 1875-77 में प्रकाशित किया। (3) विभूतिभूषण

---

1. इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। ऋ॰ 1/164/35
2. सूदैरमिमीत वेदिम्। ऋ॰ 10/61/2
3. उक्तं च वाराहके बौधायनीयवराहमशकादिप्रबन्धवत्। तन्त्रवार्तिक
4. आपस्तम्बशुल्बसूत्र, कुन्दनलाल शर्मा, कल्पसूत्र पृ॰ 59
5. सं॰ वा॰ का बृ॰ इति॰, खण्ड 2, पृ॰ 233
6. वी॰वी॰ दत्त, दि साइंस आफ शुल्ब, पृ॰ 2
7. आ॰श्रौ॰सू॰, मैसूर संस्करण, भाग 1, भूमिका, पृ॰ 6

भट्टाचार्य के द्वारा शुल्बदीपिका तथा व्यंकटेश्वरदीक्षितकृत शुल्बमीमांसा के साथ सम्पूर्णानन्द सं० विश्वविद्यालय, वाराणसी से 1979 में छपा।

(2) आपस्तम्बशुल्बसूत्र–आपस्तम्ब की एक मात्र वृत्ति आपस्तम्ब कल्प है। इसका 30वां प्रश्न शुल्बसूत्र के नाम से विख्यात है। व्यूहलर आपस्तम्ब को दाक्षणात्य कहते हैं।[1] चिन्नस्वामी शास्त्री इन्हें औदीच्य मानते हैं।[2] नरसिंहाचार के अनुसार बौधायनकल्प के व्याख्याता यज्ञेश्वर ने आपस्तम्ब को बौधायन का शिष्य कहा है।[3] यह सूत्रग्रन्थ 6 पटलों अथवा 21 खण्डों में विभक्त है। इसमें रेखामान, वेदियों तथा चित्तियों के विविध भेद-प्रभेदों तथा काम्यताओं का वर्णन किया गया है।

व्याख्याएँ–इस शुल्बसूत्र पर कपर्दिस्वामी, सुन्दरराज, करविन्द स्वामी तथा गोपालयज्वा इन चार के भाष्य उपलब्ध हैं। इनमें कपर्दिस्वामी सबसे प्राचीन है। इनके भाष्य का नाम 'विवरण' है कपर्दी श्रौतवाङ्मय के प्रकाण्ड पण्डित थे। आपस्तम्ब की अनेक कृतियों पर कपर्दी का भाष्य उपलब्ध होता है। दामोदर झा के अनुसार इनका समय 820-1050 ई० के मध्य संभव है।[4]

करविन्दस्वामी दाक्षिणात्य थे। इनकी टीका विस्तृत है। इन्होंने इसे 'अक्षरार्थावबोधिनी' नाम दिया है। यह ग्रन्थ इस समय अप्राप्त है। सुन्दरराज ने भी इस सूत्र का भाष्य किया है। ये माधवार्य के पुत्र तथा कुशिकगोत्रीय थे। इनके भाष्य का नाम 'शुल्बप्रदीपविवरण' है। इनका काल 14वीं शती माना गया है। गार्ग्य गोपालयज्वा ने भी इस सूत्र का भाष्य किया है। ये श्री रंगराज के शिष्य तथा गार्ग्य नरसिंहयज्वा के पुत्र थे।

संस्करण–(1) वी०आई० गार्वे द्वारा (1882-1902) आप०श्रौ०सू० के अन्त में प्रकाशित।

(2) डॉ० श्रीनिवासाचार, कपर्दि, करबिन्द, सुन्दरराजभाष्य सहित, मैसूर 1931 ई० में प्रकाशित।

(3) उपर्युक्त भाष्यों के साथ डॉ० सत्यप्रकाश के अंग्रेजी अनुवाद, सहित दिल्ली से 1968 ई० में प्रकाशित।

---

1. सं०वा० का बृ० इति०, खण्ड 2, पृ० 239
2. ट्रांशलेशन ऑफ आप० धर्मसूत्र, द्वि०सं०, भूमिका, पृ० 34-37
3. आ० गृह्यसूत्र, भूमिका, वाराणसी, 1971, पृ० 58
4. आप० श्रौ०सू०, मैसूर, 1944, भूमिका, पृ० 6-8

(4) डॉ॰ दामोदर झा, कपर्दि, करबिन्द, सुन्दरराज तथा गोपालयज्वाकृत भाष्यों तथा स्वकीय हिन्दी व्याख्या सहित, होशियारपुर 1988 ई॰ में प्रकाशित।

(3) मानवशुल्बसूत्र–इसे मैत्रायणी संहिता से सम्बन्धित कहा जाता है, क्योंकि इसमें मै॰सं॰ के मन्त्र प्रतीक रूप में उद्धृत हैं। इस ग्रन्थ में बीच-बीच में कारिकाएँ हैं। शुल्बसूत्र नामक भाग में केवल वेदियों का वर्णन है। इसके चार खण्ड हैं। चयन आदि का शेष विषय उत्तरेष्टकम् तथा वैष्णवम् नाम से कहा गया है। उत्तरेष्टम् में पाँच खण्ड हैं। वैष्णवम् में वेदियों के मान तथा स्नान का निर्णय, रेखामान का प्रमाण आदि का वर्णन है।

संस्करण–इसका एक मात्र संस्करण मानवश्रौतसूत्र के अन्तर्गत डॉ॰ जे॰एम॰ गिल्डर द्वारा सम्पादित है, जो 1961 में नई दिल्ली से 'शतपिटकमाला' में छपा है। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी यहीं से 1963 में छपा है। इसके शुल्ब भाग पर नारदपुत्र शिवदास का भाष्य है, जो अभी तक अप्रकाशित है। इनका समय 15वीं शताब्दी का मध्य माना जाता है।

(4) मैत्रायणीय शुल्बसूत्र–इसमें मानवशुल्ब के समान विषय ही कारिकाओं में वर्णित हैं। इनमें संक्षिप्त रूप में रेखामान तथा वेदियों का वर्णन है। इसके चार खण्ड हैं। इस पर नारदपुत्रशंकर का भाष्य है। अभी तक इसका कोई संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ है। शंकर तथा शिवदास दोनों भाई हैं। इनका समय 16वीं शताब्दी हो सकता है।

(5) कात्यायनशुल्बसूत्र–यह शुक्लयजुर्वेद का एक मात्र शुल्बसूत्र है। इसके प्रथम भाग में सूत्र तथा द्वितीय में कारिकाएँ हैं।

भाष्यकार–इसके सर्वप्रथम भाष्यकार कर्काचार्य हैं जिन्होंने 40 कारिकाएँ दी हैं। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का अन्त अथवा 12वीं का प्रारम्भ है। द्वितीय भाष्यकार महीधर हैं जिन्होंने 43 कारिकाएँ अपनी 'विवरण' नामक व्याख्या में दी हैं। म॰म॰ विद्याधर गौड़ ने 19 कारिकाएँ अपनी वृत्ति के अन्त में दी हैं। नैमिषारण्य निवासी श्री राम वाजपेयी ने कर्कभाष्य पर वार्त्तिक की रचना की है। इन्होंने कात्यायन शुल्बसूत्र पर भी वृत्ति लिखी थी। डॉ॰ थीबो ने इसके कुछ अंश वाराणसी की पण्डितपत्रिका में छापे थे।

संस्करण–(1) 1936 ई॰ में गोपालशास्त्री नेने ने वाराणसी से कर्कभाष्य सहित प्रकाशित किया।

(2) चौखम्भा, वाराणसी के कर्क तथा महीधरभाष्यसहित प्रकाशित।

(3) म॰प॰ विद्याधर गौड़ ने अपनी वृत्ति के साथ 1988 में वाराणसी से प्रकाशित किया।

(4) एस॰डी॰ खाडिलकर, अंग्रेजी, अनुवाद तथा विवेचन सहित 1974 में पूना से प्रकाशित।

तृतीय वेदांग-व्याकरण

वेदांग में तीसरा अंग व्याकरण है। व्याकरण को वेद-पुरुष का मुख कहा जाता है–"मुखं व्याकरणं स्मृतम्"। मुख के समान होने से ही वेदांगों में व्याकरण को मुख्य माना है। व्याकरण शब्द का अर्थ है–"व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्" अर्थात् पदों की विवेचना करने वाला शास्त्र।

व्याकरण में प्रकृति-प्रत्यय का विचार, उदात्तादि स्वरों का विचार, उदात्तादि स्वरसंचार के नियम, शब्दरूप-धातुरूपादि के निर्माण के नियम, कारक, समास आदि का विचार किया जाता है। वेदों में प्रकृति-प्रत्यय के विचार, स्वर आदि का विशेष महत्त्व है और इन सबके लिए व्याकरण ही विशेष रूप में सहायक है। इसीलिए पतंजलि कहते हैं–प्रधानं च षट्सु अंगेषु व्याकरणम्। व्याकरण को 'सर्ववेदपरिषदं हीदं शास्त्रम्' भी कहा गया है। अर्थात् यह शास्त्र सभी सम्प्रदायों में स्वीकृत शास्त्र है।

व्याकरण का प्रारम्भ–इन्द्र को व्याकरण का आदि प्रवक्ता माना जाता है, किन्तु व्याकरण के बीज वेदों में ही निहित हैं। 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि (ऋ॰ 1/164/45) तथा चत्वारि शृडागाः त्रयो अस्य पादाः (ऋ॰ 4/58/3) की व्याख्या में पतंजलि ने नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, तीन कालों तथा सात विभक्तियों का उल्लेख किया है। उपनिषदों तथा आरण्यकों के वाणी वर्णन प्रसंगों में भी धातु, प्रातिपदिक, नाम, आख्यात, प्रत्यय, विभक्ति आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। गोपथब्राह्मण में 'व्याकरणं नामेयम् उत्तराविद्या' कहा गया है।

व्याकरण-ज्ञान के बिना केवल वेदों का ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण लौकिक शास्त्रों का अर्थज्ञान भी ठीक प्रकार से नहीं हो सकता। इसलिए यह उक्ति प्रसिद्ध है–'काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्।' अर्थात् पदार्थज्ञान में महर्षि कणाद् का वैशेषिकदर्शन और शब्दार्थ-ज्ञान में पाणिनिमुनि का व्याकरण सभी शास्त्रों के सहायक है।

प्राचीन ग्रन्थों में अनेक व्याकरणों के विषय में विवरण मिलता है। 'श्रीतत्त्वविधि' नामक वैष्णवग्रन्थ में इन नौ व्याकरणों के विषय में उल्लेख प्राप्त होता है।

"ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं पाणिनीयकम्।।"

अष्टाध्यायी ग्रन्थ में महर्षि पाणिनि ने 10 प्राचीन आचार्यों के नामों का उल्लेख किया है–शाकल्य (अ॰ 1/1/6), काश्यप (अ॰ 1/2/25), शाकटायन (अ॰ 3/4/111), चाक्रवर्मण (अ॰ 6/1/30), गालव (अ॰ 7/1/74), भारद्वाज (अ॰ 7/2/63), गार्ग्य (8/3/20)।

इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक पाणिनि से प्राचीन महेश्वर, भागुरि, पौष्करसादि, वैयाघ्रपद्य, व्याडि आदि एवं पाणिनि से अर्वाचीन देवनन्दी, वामन, वोपदेव, भोजदेव आदि वैयाकरणों के ग्रन्थों का उल्लेख उपलब्ध होता है।

पाश्चात्य विद्वानों का मत–प्रो॰ मोनियर विलियम ने कहा है कि–"संस्कृत-व्याकरण उस मानव-मस्तिष्क की प्रतिभा का सर्वोच्च आश्चर्ययुक्त नमूना है, जिसे किसी देश ने अभी तक सामने नहीं रखा।"[1]

जर्मनी के डॉ॰ पीटर रास्टर कहते हैं–"पाणिनीय व्याकरण केवल संस्कृत के लिए ही नहीं, अपितु संसार की सभी भाषाओं के लिए उपयोगी है।"

अष्टाध्यायी के चार परिशिष्ट भी हैं–(1) धातु पाठ, (2) गणपाठ, (3) उणादिकोश, (4) लिंगानुशासन। इन चारों को मिलाकर ही पाणिनीय व्याकरण पूर्ण होता है।

पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरण और उनका योगदान

पाणिनि से पूर्व के वैयाकरणों को दो श्रेणियों में रख सकते हैं एक तो महाभाष्य आदि में लिखित आचार्य और दूसरे पाणिनीय अष्टाध्यायी में स्मरण किए हुए आचार्य। उन आचार्यों का विवरण निम्न प्रकार से है–

(1) शिव (महेश्वर 11500 वि॰पू॰)–अनेक ग्रन्थों में शिव द्वारा कहे गए व्याकरण का वर्णन उपलब्ध होता है। महाभारत (शान्तिपूर्व) के शिवसहस्रनाम में शिव को षडङ्ग व्याकरण का प्रवर्त्तक कहा है।[2] पाणिनीयाशिक्षा के अन्त में यह श्लोक प्राप्त होता है–

---

1. "This grammer (of Panini)...is one of the greatest moruments of human intelligence" (Language Page-11)
2. वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य 284/92

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्,

कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः।

शिव के व्याकरण ग्रन्थ का नाम या ग्रन्थ में कोई अन्य उदाहरण इन उद्धरणों के अतिरिक्त कहीं उपलब्ध नहीं होते हैं।

(2) बृहस्पति (10,000 वि॰पू॰)–अनेक शास्त्रों का प्रवचन देवगुरु बृहस्पति द्वारा किया गया। महाभाष्य में इसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है कि इन्होंने व्याकरणशास्त्र का प्रवचन भी किया।[1]

भर्तृहरि द्वारा महाभाष्य की व्याख्या में उल्लेख है–'शब्दपारायणं रूढिशब्दोऽयं कस्यचिद् ग्रन्थस्य' इससे यह ज्ञात होता है कि बृहस्पति के व्याकरणशास्त्र का नाम शब्दपारायण था।

(3) इन्द्र (9500 वि॰पू॰)–इन्द्र ने उस वाणी को मध्य से तोड़कर प्रकृति प्रत्ययादिसंस्कार से युक्त किया, ऐसा तैत्तिरीयसंहिता में उपलब्ध होता है।[2]

ऐन्द्रव्याकरण इस समय अप्राप्य है, किन्तु इसके बारे में अनेक ग्रन्थों में उल्लेख प्राप्त होता है। जैन शाकटायन व्याकरण (1/2/37) में इन्द्र के मत को उद्धृत किया गया है। लङ्कावतारसूत्र में भी ऐन्द्र के शब्दशास्त्र को स्मरण किया गया है। सोमेश्वरसूरि विरचित 'यशस्तिलकचम्पू' में भी ऐन्द्र व्याकरण का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐन्द्र व्याकरण में 25,000 श्लोक थे, जबकि पाणिनीय तन्त्र में 1000 श्लोक हैं, ऐसा तिब्बतीय ग्रन्थों में माना गया है।

(4) वायु (8500 वि॰पू॰)–इन्द्र ने वाणी को व्याकृत करने में वायु से सहायता ली थी, ऐसा उल्लेख तैत्तिरीय संहिता (6/4/7) में प्राप्त होता है। वायुपुराण (2/4/4) में वायु को शब्दशास्त्रविशारद कहा है। यामलाष्टक तन्त्र में आठ व्याकरणों का उल्लेख उपलब्ध होता है, उन्हीं में वायव्य व्याकरण का भी निर्देश है। कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र में एक वायु-व्याकरण का भी वर्णन प्राप्त होता है।

---

1. बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच–
महा॰भा॰ 1/1/1
2. ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति, तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।
तैत्ति॰ संहिता–6/4/7

(5) भारद्वाज (9300 वि॰पू॰)–ऋक्तन्त्र में यह प्राप्त होता है कि भारद्वाज ने इन्द्र से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था तथा अनेक ऋषियों को भारद्वाज के द्वारा व्याकरण पढ़ाया गया था 'इन्द्रो भारद्वाजाय, ऋषयो भारद्वाजात्'। पाणिनि ने भारद्वाज को उद्धृत किया है।[1]

भारद्वाज का न तो व्याकरणग्रन्थ प्राप्त होता है ओर न ही इनके वचन तथा मत किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में प्राप्त होते हैं।

(6) भागुरि (4000 वि॰पू॰)–व्याकरण-सम्प्रदाय में अति प्रसिद्धि को प्राप्त भागुरि के व्याकरणविषयक विचारों को बताने वाला यह श्लोक इस प्रकार है–

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो:।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा।।

अर्थात् भागुरि के अनुसार 'अव' और 'अपि' उपसर्ग के आकार का लोप होता है। यथा–अवगाह-वगाह, अपिधान-पिधान तथा हलन्त शब्दों से टाप् (आप) प्रत्यय होता है। यथा–वाक्-वाचा, निश्-निशा, दिश्-दिशा।

भागुरि के एक मत को भाषावृत्ति में उल्लिखित किया गया है–'नप्तेति भागुरि:', अर्थात् भागुरि के मत में नप्ता का प्रयोग भी किया गया है।

यह प्रतीत होता है कि भागुरि ने ऋक्प्रातिशाख्य के समान छन्दोबद्ध रचना की थी। जगदीश तर्कालंकार ने 'शब्दशक्ति-प्रकाशिका' में भागुरि के सात श्लोकों को उद्धृत किया है जो भागुरि द्वारा रचित श्लोक ही जान पड़ते हैं।

(7) पौष्करसादि (3100 वि॰पूर्व)–आचार्य पौष्करसादि का उल्लेख महाभाष्य के एक वात्तिक 'चयो द्वितीया शरि पौष्करसादे:' में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय और मैत्रायणीय प्रातिशाख्य में भी पौष्करसादि के अनेकों मतों को उद्धृत किया। काशकृत्स्न धातुपाठ की चन्नवीर कवि द्वारा की गई कन्नड़ टीका के आरम्भ में इन्द्र, चन्द्र, आपिशलि, गार्ग्य, गालव के साथ में पौष्कर को याद किया गया है। यह पौष्करसादि ही प्रतीत होते हैं। इनसे यह स्पष्ट है कि पौष्करसादि वैयाकरण थे।

(8) काशकृत्स्न (3100 वि॰पूर्व)–महाभाष्य प्रथमाह्निक के अन्त में आपिशल और पाणिनीय शब्दानुशासनों के साथ काशकृत्स्न शब्दानुशासन का

---

1. ऋतो भारद्वाजस्य। पा॰ 7/2/63

भी निर्देश उपलब्ध होता है–'पाणिनिना प्रोक्तम्-पाणिनीयम्, आपिशलं, काशकृत्स्नम् इति।' आठ प्रसिद्ध शाब्दिकों में वोपदेव ने काशकृत्स्न का निर्देश किया है–'इन्द्रचन्द्रः काशकृत्स्नापिशली...।' काशकृत्स्न के मत को क्षीरस्वामी ने निर्देशित किया है–'काशकृत्स्ना अस्य निष्ठायामनिट्त्वमाहुः।' प्राचीन वैयाकरण-निकाय में इनके व्याकरण के अनेक सूत्र प्राप्त होते हैं। काशकृत्स्न का धातुपाठ भी कन्नड़टीका सहित इस समय सामने आया है। इनके लगभग 135 सूत्रों की भी कन्नड़टीका में प्राप्ति होती है।

एक उद्धरण कशिका (5/1/58) में उपलब्ध होता है–त्रिकं काशकृत्स्नम्, इसका जैन शाकटायन की अमोधवृत्ति (3/2/161) में इस प्रकार पाठ किया है–'त्रिकं काशकृत्स्नीयम्' यदि इन दोनों उद्धरणों की तुलना करें तो स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों उदाहरण एक ग्रन्थ के ही हैं।

काशकृत्स्न वोपदेव द्वारा अष्ट शाब्दिकों में निर्देशित हैं। काशकृत्स्न का यजुः सम्बन्धी मत भट्टभास्कर द्वारा रुद्राध्याय के भाष्य में उद्धृत हैं–'अष्टौ यंजूषि इति काशकृत्स्नः। काशकृत्स्न के मत का बौधायनगृह्यसूत्र में भी निर्देश है।'[1]

'पूर्वकाशकृत्स्नाः अपरकाशकृत्स्नाः' काशिकावृत्ति (6/2/04) के इस उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि इनके अनेक शिष्य थे, और उनका विभाजन दो भागों में था–पूर्व तथा अपर। काशकृत्स्न द्वारा कहे गए धातुपाठ में पाणिनि के धातु पाठ की अपेक्षा लगभग 450 धातु अधिक हैं।

(9) वैयाघ्रपाद्य (3100 वि॰पू॰)–'गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः' कशिका (7/1/94) के इस उद्धरण से वैयाघ्रपद्य का व्याकरण वक्ता होना स्पष्ट होता है।

भट्टोजिदीक्षित द्वारा काशिका (8/2/1) में उद्धृत 'शुष्किा शुष्क-जङ्धा च' इस कारिका को वैयाघ्रपद्य का वार्तिक माना गया है।

वैयाघ्रपद्य व्याकरण में दश अध्याय होने की प्रतीति कशिका (4/2/65) में उपलब्ध इन उद्धरणों द्वारा होती है–'दशकाः वैयाघ्रपदीयाः तथा दशकं वैयाघ्रपदीयम्।'

---

1. 'आधारं प्रकृतिं ग्राह दर्विहोमस्य बादरिः।
   अग्निहोत्रिकं तथात्रेयः काशकृत्स्नत्वपूर्वताम्'।
   काशकृत्स्न के इस मन्तव्य को वेदान्तसूत्र में स्मरण किया गया है।

(10) माध्यन्दिनि (3000 वि॰पूर्व)–

सम्बोधने तूशनस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्।

माध्यन्दिनिर्वष्टि गुणं त्विगन्ते नपुंसकेव्याघ्रपदां वरिष्ठः।।

यह कारिका काशिका (7/1/94) में प्राप्त होती है। इसमें उशनस् शब्द के सम्बोधन में तीन रूप दिखाए गए हैं–हे उशनः, हे उशनन्, हे उशन। यह माध्यन्दिनि आचार्य का मत है।

एक कथन विमलसरस्वतीकृत 'रूपमाला' और 'प्रक्रियाकौमुदी' में उपलब्ध होता है–'इकः षण्ढेऽपि गुणो माध्यन्दिनिर्यतेः' इन उद्धरणों के आधार पर माध्यन्दिनि आचार्य का व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता होना स्पष्ट होता है।

(11) रौढि (3000 वि॰पूर्व)–वामन की कशिका (6/2/37) आपिशलपाणिनीयाः पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयकाशकृत्स्नाः इन उदाहरणों के आधार पर आपिशल, पाणिनि, काशकृत्स्न और रौढि का वैयाकरण होना सन्देह रहित है।

(12) शौनकि (3000 वि॰ पूर्व)–आचार्य शौनकि के एक मत को चरकसंहिता के टीकाकार जज्झट ने चिकित्सास्थान 227 की व्याख्या में उद्धृत किया है–कारणशब्दस्तु व्युत्पादितः-करोतेरपि कर्तृत्वे दीर्घत्वं शास्ति शौनकिः अर्थात् कृ धातु से कर्त्ता अर्थ में (ल्युट् में) आचार्य शौनकि दीर्घत्व का शासन करता है।

'धाञ्कृञोस्तनिनह्योश्च बहुलत्वे शौनकिः' धाञ्, कृञ तनु और नह् धातु के परे रहने पर अपि और अप उपसर्ग के आकार का लोप बहुल करके होता है यह शौनकि का मत है। यह भट्टि की जयमंगला टीका (3/47) में उद्धृत कथन का उत्तरार्ध है।

इन प्रमाणों से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि आचार्य शौनकि के द्वारा भी किसी व्याकरणतन्त्र का प्रवचन किया गया था।

वाजसनेयादि प्रातिशाख्यों में अनेक स्थानों पर इनके व्याकरणविषयक मत उद्धृत हुए उपलब्ध होते हैं।

(13) गौतम (3000 वि॰पूर्व)–महाभाष्य[1] में उल्लिखित वैयाकरण आपिशल, पाणिनि और व्याडि तथा इनके साथ स्मरण किए हुए गौतम के

1. आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः। महाभाष्य 6/2/36

वैयाकरण होने की पुष्टि तैत्तिरीय (5/38) और मैत्रायणीय (5/40) प्रातिशाख्यों से हो जाती है। इन दोनों प्रातिशाख्यों में गौतम के मतों को उद्धृत किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गौतम पाणिनि से प्राचीन है, क्योंकि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में प्लक्षि, कौण्डिन्य और पौष्करसादि के साथ गौतम का नाम लिया गया है।

(14) व्याडि (2900 वि॰पूर्व)–'व्याड्युपज्ञं दुष्करणम्' यह उदाहरण जयादित्य ने काशिका में दिया है। इसका पाठ न्यास ने भिन्न प्रकार से किया है–'व्याड्युपज्ञं दशहुष्करणम्'

आचार्य व्याडि का संग्रहग्रन्थ (संग्रहो व्याडिकृतो लक्षसंख्यो ग्रन्थः) पाणिनिव्याकरण पर आधारित था, यह पाणिनीय वैयाकरणों ने माना है।[1] संग्रह का उल्लेख पतंजलि ने महाभाष्य के आरम्भ में पश्पशाह्निक में भी किया है–संग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्। संग्रह तावत्कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे। संग्रह को दाक्षायण की रचना महाभाष्य (2/3/77) में माना है–'शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः'। इस ग्रन्थ के आकार पर मतैक्य नहीं है, परन्तु अधिक विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि इसमें एक लाख श्लोक थे।

यह भी विभिन्न उद्धरणों के आधार पर विदित हो जाता है कि व्याकरण से सम्बन्धित परिभाषापाठ और लिंगानुशासन का प्रवचन भी इनके द्वारा किया गया था।

अष्टाध्यायी में स्मृत वैयाकरण

(1) आपिशलि (3000 वि॰पूर्व)–पाणिनिसूत्र–'वा सुप्यापिशलेः' (6/1/92) में आपिशलि का उल्लेख प्राप्त होता है। 'आपिशलि के मत को महाभाष्यकार ने (4/2/45) में प्रमाण के लिए उद्धृत किया है, इससे भिन्न वामन, जिनेन्द्रबुद्धि, कैयट तथा मैत्रेयरक्षित आदि ग्रन्थकारों ने भी आपिशलि के अनेक सूत्रों को उद्धृत किया है। इस समय इनका आपिशलि–शिक्षा नामक आठ प्रकरणों से युक्त ध्वनिसम्बन्धी ग्रन्थ उपलब्ध है, परन्तु आपिशलि का व्याकरण पूर्णरूप से अनुपलब्ध है। आपिशलि का उल्लेख पाणिनि के द्वारा अपने शिक्षा–ग्रन्थ के अन्त में किया है। उणादिसूत्रों का पंचपादी संस्करण आपिशालिकृत है, ऐसा पं॰ युधिष्ठिर मीमांसक मानते हैं।

---

1. 'संग्रहोऽप्यस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः'। म॰भा॰ दीपिका हस्तलेख पृ॰ 30

आपिशलिव्याकरण में आठ अध्याय थे, यह शाकटायनव्याकरण की अमोघावृत्ति (3/2/16) में उपलब्ध उदाहरण 'अष्टका आपिशलपाणिनीया' से ज्ञात होता है। इन प्रमाणों के आधार पर यह कहना उचित है कि आपिशलि व्याकरण पाणिनि के ग्रन्थ के समान सर्वांगपूर्ण, व्यवस्थित और उससे थोड़ा विस्तृत व्याकरण था, तथा वैदिक तथा लौकिक दोनो भाषाओं का अन्वाख्यान इसमें किया गया था।

आपिशलि द्वारा प्रयोग में लाए गए टाप्, ठन् तथा शप् प्रत्यय को पाणिनि ने भी प्रयोग किया है। आपिशलि ने धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्रों का प्रवचन किया था, ऐसा विभिन्न व्याकरण ग्रन्थों में उल्लेख उपलब्ध होता है।

इन समानताओं के आधार पर पाणिनि का प्रमुख उपजीव्य आपिशालि व्याकरण ही प्रतीत होता है। पदमंजरीकार हरदत्त ने तो इसे स्पष्टतः स्वीकार किया है।

(2) काश्यप (3000 वि॰पूर्व)–पाणिनि ने दो सूत्रों[1] में काश्यप का मत दिया है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य 4/5 में भी शाकटायन के साथ काश्यप का उल्लेख है। काश्यप का कोई व्याकरण या सूत्र तो उपलब्ध नहीं होता; किन्तु शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के अन्त में निपातों को काश्यप कहा गया है।[2] इससे प्रतीत होता है कि काश्यप वैयाकरण थे।

(3) गालव (3100 वि॰ पूर्व)–अष्टाध्यायी में पाणिनि द्वारा चार[3] स्थानों पर गालव को उल्लिखित किया गया है। इन सबके आधार पर गालव वैयाकरण थे यह स्पष्ट है। निरुक्त, बृहद्देवता, ऐतरेय आरण्यक और वायुपुराण में गालव के मतों को उद्धृत किया गया है। गालव का उल्लेख तो चरकसंहिता के आरम्भ में भी उपलब्ध होता है। गालव के वचन को पुरुषोत्तमदेव ने अपनी भाषावृत्ति में उद्धृत किया है–'इकां चणिभर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्।'

(4) चाक्रवर्मण (3000 वि॰पूर्व)–चाक्रवर्मण आचार्य का नाम पाणिनीय अष्टाध्यायी (ई चाक्रवर्मणस्य 6/1/27) और शब्दकौस्तुभ में प्राप्त होता हैं।[4]

---

1. तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य। पा॰ 1/2/28 तथा पा॰ 8/4/67
2. निपातः काश्यपः स्मृतः।
3. पा॰ 6/3/61, 7/1/74, 7/3/99, 8/4/67
4. यत्तु कश्चिदाह चाक्रवर्मणव्याकरणे द्वयपदस्यापि सर्वनामताऽभ्युपगमात्। शब्दकौस्तुभ 1/1/27

श्रीपतिदत्त ने 'काकतन्त्रपरिशिष्ट' के 'हैतौ वा' सूत्र की वृत्ति में चाक्रवर्मण का उल्लेख किया है। इन सब तथ्यों से इनका व्याकरण के प्रवचनकर्त्ता होना स्पष्ट हो जाता है। चाकर्मण पद अपत्ययप्रत्ययान्त है। इस आधार पर इनके पिता चक्रवर्मा थे। इस समय तक चाक्रवर्मण व्याकरण का एक भी सूत्र प्राप्य नहीं है।

(5) भारद्वाज (3000 वि॰पूर्व)—अष्टाध्यायी दो स्थानों पर भारद्वाज का उल्लेख उपलब्ध होता है—'ऋतो भारद्वाजस्य (7/2/63) तथा कृकर्णपर्णाद् भारद्वाज:'। (4/2/145) परन्तु काशिकाकार[1] ने इस बात को न मानते हुए कहा है कि भारद्वाजपद देशवाची है, आचार्यवाची नहीं । भारद्वाज का व्याकरणसम्बन्धी मत तैत्तिरीयप्रातिशाख्य[2] और मैत्रायणीय प्रातिशाख्य (2/5/6) में उपलब्ध होता है।

भारद्वाज के पूर्वपुरुष का नाम भरद्वाज है। सम्भवत: यह वही भारद्वाज है जो इन्द्र के शिष्य दीर्घजीवी भारद्वाज थे। वाजसनेयप्रातिशाख्य (अध्याय 8) के अन्त में आख्यातों को भारद्वाज-दृष्ट कहा गया है। महाभाष्य में अनेक स्थानों पर भारद्वाज के वार्तिकों का उल्लेख उपलब्ध होता है (महाभाष्य 1/1/20, 1/1/56, 3/1/38)। ये कात्यायनवार्तिकों से समानता रखते हैं तथा उनकी तुलना में विस्तृत तथा विस्पष्ट हैं।

(6) गार्ग्य (3100 वि॰पूर्व)—पाणिनि ने कई स्थानों पर गार्ग्य का उल्लेख किया है।[3] गार्ग्यव्याकरण का कोई सूत्र अब उपलब्ध नहीं है। यास्क ने निरुक्त (1/12) में भी गार्ग्य को उद्धृत किया है।[4] इससे विदित होता है कि गार्ग्य नैरुक्त तथा वैयाकरण आचार्य थे।

(7) शाकटायन (3000 वि॰ पूर्व)—पाणिनि ने अष्टाध्यायी में तीन सूत्रों[5] में शाकटयन का मत दिखलाया है। वाजसनेयी प्रतिशाख्य (3/9, 12, 87) तथा ऋक्प्रातिशाख्य (1/16/13/39) में शाकटायन को व्याकरण का प्रवक्ता माना है। यास्क ने 'नामन्याख्यातजानीति शाकटायन:' (नि॰ 1/12) कहकर

---

1. भारद्वाजशन्दोऽपि देशवचन एव न गोत्रशब्द:। काशिका 4/2/145
2. अनुस्वारेऽणिवति भारद्वाज:। तै॰प्रा॰ 17/3
3. पा॰ 7/3/90, 8/3/20, 8/9/67
4. न सर्वाणीति गार्ग्य:। नि॰ 2/12
5. अष्टध्यायी 3/4/3, 7/4/18 तथा 8/4/50

शाकटायन को उद्धृत किया है। महाभाष्य में दो स्थानों पर शाकटायन का उल्लेख है।[1] काशिका 1/4/86 तथा 1/4/40 पर उपलब्ध उदाहरण 'अनुशाकटायनं वैयाकरणाः' तथा 'उपशाकटायनं वैयाकरणाः' इस बात की पुष्टि करते हैं कि शाकटायन को उस समय सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण माना जाता था। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि (निरुक्त 1/2, तथा महा॰ 3/3/1 के आधार पर) शाकटायन ही ऐसे वैयाकरण थे जो सभी शब्दों का धातुज मानते थे। पतंजलि ने स्पष्ट रूप में शाकटायन को वैयाकरण कहा है।[2]

शाकटायन मीमांसकों के समान यदृच्छा शब्दों को नहीं मानते। वे शब्दों को जातिशब्द, गुणशब्द और क्रियाशब्द के भेद से तीन प्रकार का मानते हैं।

(8) शाकल्य (3100 वि॰पूर्व)—शाकल्य का नाम पाणिनि के द्वारा कई स्थानों पर लिया गया है।[3] शौनक और कात्यायन ने भी अपने प्रातिशाख्यों में इनके मतों को उल्लिखित किया है। शाकल्यमत का कात्यायन नाम से कात्यायनप्रातिशाख्य (4/177, 181 आदि कुछ स्थानों पर) में उल्लेख उपलब्ध होता है।

अष्टाध्यायी और प्रातिशाख्यों में उद्धृत मतों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि शाकल्य के व्याकरण में लौकिक-वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का अन्वाख्यान है।

व्याकरण से भिन्न शाकलचरण, पदपाठ तथा माध्यन्दिन-पदपाठ आदि ग्रन्थ भी शाकल्यकृत माने जाते हैं।

(9) सेनक (2950 ई॰पूर्व)—पाणिनि केवल एक सूत्र 'गिरेश्च सेनकस्य' (पा॰ 5/4/11) में सेनकका उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है।

(10) स्फोटायन-औदुम्बरायण (2950 वि॰पूर्व)—पाणिनि ने अष्टाध्यायी में मात्र एक स्थान (अवङ् स्फोटायनस्य 6/1/123) पर आचार्य स्फोटयन के मत को उद्धृत किया है। काशिका (3/1/123) की व्याख्या में पदमंजरीकार हरदत्त लिखते है—'स्फोटोऽयनं परायणं यस्य स स्फोटायनः, स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः। ते त्वौकारं पठन्ति ते नडादिषु अश्वादिषु वा स्फोटशब्दस्य पाठं मन्यते'

---

1. महाभाष्य 3/3/1 तथा 3/2/15
2. वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्गे आसीनः।
3. अष्टाध्यायी 1/1/16, 6/1/127, 8/3/19 तथा 8/4/51

इस व्याख्या के अनुसार ये वैयाकरणों के महत्त्वपूर्ण स्फोटतत्त्व के उपज्ञाता थे, यही कारण है कि वैयाकरणनिकाय में स्फोटायन नाम से इनकी प्रसिद्धि हुई। इनका वास्तविक नाम औदुम्बरायण है, ऐसा युधिष्ठिर मीमांसक मानते हैं।

पाणिनि एवं उनका व्याकरण

पाणिनि (5वीं शती ई॰पू॰) के पिता का नाम पणिन तथा माता का नाम दाक्षी था। ये शालातुर निवासी थे, जो अब पाकिस्तान में है। शालातुरीय भी कहते हैं। आज पाणिनि ही अष्टाध्यायी ही सर्वातिशायी व्याकरण के रूप में हमारे सामने हैं, जो विश्व के मनीषियों की दृष्टि में एक आश्चर्य है। पाणिनि के महत्त्व का इससे पता चलता है परब्तूनीस्तान के नेता खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने भारत आकर गौरव के साथ कहा था कि मैं पाणिनि के स्थान शालातुर से आया हूँ।

अष्टाध्यायी में 8 अध्याय तथा 32 पाद हैं। इनके सूत्रों की संख्या प्रत्याहार सूत्रों को मिलाकर 3997 है। प्रत्याहार सूत्र भी पाणिनि प्रणीत ही हैं।

महाभाष्य 1/1/50 में यह लिखा है–'उभयथा हि तुल्या संहिता स्थानेऽन्तरतम उरण् रपरः इति।' ये प्रमाण यह स्पष्ट करते हैं कि पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना संहिता पाठ में की थी।

पाणिनीयतन्त्र के खिलग्रन्थ

पाणिनीयसम्प्रदाय की या किसी भी व्याकरण–सम्प्रदाय की समग्रता के लिए इसका पाँच अंगों से युक्त होना परमावश्यक है। इसी कारण पूरी व्याकरण को पंचाग व्याकरण के नाम से जाना जाता है। इन पाँचों पाठों में सूत्रपाठ प्रमुख ही है, तथापि उसके सहायक या पूरक होने से अन्य अंगों की, उपयोगिता कम नहीं होती। इन्हीं अंगों को खिल–ग्रन्थ या परिशिष्ट नाम से जाना जाता है। ये अंग इस प्रकार है–धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और लिंगानुशासन।

अष्टकं गणपाठश्च धातुपाठस्तथैव च।

लिंगानुशासनं शिक्षा पाणिनीया अमी क्रमात्।।

(1) धातुपाठ–पाणिनीय व्याकरण का महत्त्वपूर्ण अंग पाणिनि का धातुपाठ है। पाणिनि के धातुपाठ में धातुओं की संख्या लगभग दो सहस्र है। इनका

विभाजन दस गणों में है। अर्थ का निर्देश भी प्रत्येक धातु के साथ किया गया है। पाश्चात्य भाषावेत्ताओं ने तो इनके धातुपाठ की अत्यधिक मीमांसा की है।

(2) गणपाठ–अष्टाध्यायी का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक अंग गणपाठ है। गणपाठ के माध्यम से पाणिंनि ने अपनी अष्टाध्यायी में ग्राम, जनपद, संघ, गोत्र, चरण आदि से सम्बन्धित भौगोलिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सामग्री भर दी है।

(3) उणादिसूत्र–प्रत्येक शब्द की साधुता प्रत्यय के योग से उणादि सूत्रों द्वारा ही सिद्ध होती है। उणादि सूत्र की दृष्टि में कोई शब्द अव्युत्पन्न नहीं है। अर्थात् धातुविशेष से उनकी सिद्धि बनायी जा सकती है। पंचपादी और दशपादी ये उणादि के दो रूप पाणिनीयसम्प्रदाय में उपलब्ध होते हैं।

इनमें पंचपादी-पाँच पादों में विभाजित है तथा इसकी सूत्र संख्या 749 है, दशपादी-दशपादों में विभाजित है, इसकी सूत्र संख्या 727 है।

(4) लिंगानुशासन–पाणिनि का लिंगानुशासन सूत्रात्मक है। इसमें सूत्रों की संख्या 188 है। यह पाँच अधिकारों में विभक्त है–स्त्रीअधिकार, पुल्लिंगधिकार, नपुसंकाधिकार, स्त्रीपुंसाधिकार, पुंसपुंसकाधिकार। लिंगानुशासन का प्रवचन स्वयं पाणिनि ने ही किया है।

(5) परिभाषापाठ–परिभाषा को किसी भी व्याकरण-शासन का अनिवार्य अंग माना जाता है। 'अनियमे नियमकारिणी परिभाषा' यह परिभाषा का लक्षण है। परिभाषा सामान्यतः दो भेदों में विभक्त है। इनमें एक तो पाणिनीय अष्टाध्यायी में सूत्ररूप में निबद्ध हैं, क्योंकि पाणिनि के अनेक सूत्र 'परिभाषा सूत्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं। दूसरी परिभाषाएँ वे हैं जो या तो किसी सूत्र से ज्ञापित होती है। (ज्ञापकसिद्धा परिभाषा) या जो लोक में प्रचलित न्याय का अनुगमन करती है (न्यायसिद्धा परिभाषा)

(6) फिट्-सूत्रपाठ–फिट् सूत्रों के प्रवक्ता आचार्य शान्तनु माने जाते हैं। शान्तनुप्रणीत होने से ये सूत्र शान्तनव नाम से प्रसिद्ध हैं। यह सूत्रपाठ शब्दों के उदात्तादि स्वरों का विधान करता है। सभी शब्दों को विभिन्न रूपों में वर्गीकृत करके यहाँ पर स्वरविधान किया गया है।

वार्त्तिककार कात्यायन

कात्यायन (500-350 वर्ष ई॰ पूर्व) ने पाणिनीयसूत्रों पर वर्त्तिक लिखे हैं।

वार्त्तिक की व्याख्या यह है 'वृत्तेर्व्याख्यानं वार्त्तिकम्'। एतदतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि सूत्रों में उक्त, अनुक्त तथा दुरुक्त विषयों पर वार्त्तिकों में विचार किया गया है।[1] इनमें कहीं जैसे के तैसे तथा कहीं स्वल्प परिवर्तन के साथ पूरे सूत्र की और कहीं सूत्र के पहले या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शब्द की आवृत्ति हुई है। इनके वात्तिकों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है, परन्तु इसकी प्रामाणिकता के विषय में एकमत नहीं है। काशिका के अनेक वार्त्तिक महाभाष्य में अनुपलब्ध हैं।

भाष्यकार पतंजलि (200 वि॰ पूर्व)

महर्षि पतंजलि ने पाणिनीय अष्टाध्यायी के 168 सूत्रों पर एक महती व्याख्या कात्यायन के वार्त्तिकों के बाद लिखी। उन्होंने इसमें पाणिनीय सूत्रों तथा उन पर लिखे गए वार्त्तिकों का विश्लेषण किया है और इसी के साथ अपने इष्टिवाक्यों का भी समावेश किया है। महाभाष्य में 86 आह्निक हैं। इसकी भाषा प्राञ्जल कथनोपकथनयुक्त एवं अति सरल है। व्याकरण को लोक के साथ घटाते हुए पतंजलि ने सर्वप्रथम व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमांसा भी इसमें की है। भाष्य का लक्षण इस प्रकार किया गया है।

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।

स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड 3, अ॰ 4, अर्थात् महाभाष्य में सूत्रार्थ, सूत्रानुसारी वाक्य=वार्त्तिक तथा पदों का व्याख्यान किया गया है। इसमें कात्यायन तथा अन्य आचार्यों के वार्त्तिकों की समीक्षा की है तथा साथ ही ऐसे चार सौ से अधिक सूत्रों पर भी भाष्य लिखा है, जिन पर वार्त्तिक प्राप्त नहीं थे।

महाभाष्य के टीकाकार

महाभाष्य पर अनेक विद्वानों द्वारा टीकाएँ लिखी गई हैं इनमें से अधिकतर टीकाएँ अनुपलब्ध हैं। कुछ टीकाओं के अंशमात्र तथा कुछ के केवल उदाहरण ही प्राप्त होते हैं। युधिष्ठिर मीमांसक ने 24 टीकाकारों के नाम अपने 'व्याकरण शास्त्र के इतिहास' में गिनाए हैं।

---

1. उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
   तं ग्रन्थं वात्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः।।

उपलब्ध टीकाएँ

(1) भर्तृहरि (समय वि॰सं॰ 400 से पूर्व)–'महाभाष्यदीपिका' नाम से भर्तृहरि ने एक विस्तृत और प्रौढ़ व्याख्या लिखी है जो वर्तमान में उपलब्ध है।

(2) कैयट (समय सं॰वि॰ 1100 से पूर्व)–महाभाष्य की 'प्रदीप' नामक महत्त्वपूर्ण व्याख्या कैयट ने लिखी है। भर्तृहरि की महाभाष्यदीपिका के बाद जो महाभाष्य की टीकाएँ उपलब्ध होती हैं, उनमें यही सबसे प्राचीन एवं प्रौढ व्याख्या है। इसके बिना महाभाष्य को समझता दुरूह कार्य है। कैयट के पिता जैयट कश्मीरी पण्डित थे।

(3) ज्येष्ठकलश (समय 1085–1135 वि॰पूर्व)–महाभाष्य की एक टीका ज्येष्ठकलश द्वारा लिखी हुई थी। महाकवि बिल्हण इन्हीं ज्येष्ठकलश के पुत्र थे, ऐसा प्रो॰ कृष्णमाचारि मानते हैं।

(4) मैत्रेयरक्षित (समय 1145–1175 वि॰)–बौद्ध वैयाकरणों में मैत्रेयरक्षित का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परिभाषावृत्ति में सीरदेव द्वारा मैत्रेयरक्षित को अनेक बार उद्धृत किया है। इसके कुछ उद्धरणों से इस बात की प्रतीति होती है कि मैत्रेयरक्षित द्वारा महाभाष्य की कोई टीका लिखी गयीं थी–'तत्रैतस्मिन् भाष्ये रक्षितेनाक्तम्'–(परिभाषासंग्रह, पृ॰ 201)

(5) पुरुषोत्तमदेव (समय 1200 वि॰)–'प्राणपणा' नामक एक लघुवृत्ति पुरुषोत्तमद्वारा महाभाष्य पर लिखी गई थी। इन्हें बहुप्रान्तीय वैयाकरणों में प्रामाणिक व्यक्ति माना जाता है।

(6) धनेश्वर (समय सं॰ 1250–1300)–'चिन्तामणि' नामक महाभाष्य की टीका धनेश्वरकृत है। पं॰ गुरुपर हालदार ने अपने व्याकरणदर्शन का इतिहास (पृ॰ 457) नामक पुस्तक में इनके द्वारा निर्मित महाभाष्यटीका का उल्लेख किया है।

(7) विष्णुमिश्र (सं॰ 1600 वि॰)–क्षीरोद नामक टिप्पणी विष्णुमिश्र द्वारा महाभाष्य पर लिखी गई थी। भट्टोजिदीक्षित द्वारा रचित 'शब्दकौस्तुभ' में इनके ग्रन्थ का उल्लेख उपलब्ध होता है।[1]

---

1. हयवरट्सूत्रे क्षीरोदकारोऽप्याह। शब्दकौस्तुभ 1/1/8

(8) शिवरामेन्द्र सरस्वती (वि॰स॰ 1675-1750)–'सिद्धान्तरत्नप्रकाश' नामक व्याख्या लिखी है। इसका प्रकाशन पण्डिचेरी स्थित 'फ्रांसिस इण्डोलोजी इन्स्टीट्यूट' से हुआ है। इसमें महाभाष्य की व्याख्या तथा अनेक स्थानों पर कैयट की व्याख्या का खण्डन भी प्राप्त होता है।

(9) कुमारतातय (17वीं शती)–कुमारतातय के पारिजात नाटक से ज्ञात होता है कि इन्होंने महाभाष्य पर कोई टीका लिखी थी। यथा–

व्याख्याता फणिराट्कणादकपिलश्रीभाष्यकारादि-ग्रन्थानां पुनरीदृशां च करणे ख्यातः कृतीनामसौ।।

अन्य टीकाएँ इस प्रकार से हैं।

	टीका नाम	टीकाकार	समय
1.	सूक्तिरत्नाकार	शेषनारायण	सं॰ 1510-1550 वि॰
2.	भाष्यतत्त्वविवेक	नीलकण्ठ वाजपेयी	सं॰ 1600-1675 वि॰
3.	महाभाष्यप्रकाशिका	शेषविष्णु	सं॰ 1500-1650 वि॰
4.	अनुपदा	तिरुमलयज्वा	सं॰ 1550 वि॰वि॰
5.	शाद्विकचिन्तामणि	गोपालकृष्णशास्त्री	सं॰ 1650-1700
6.	विद्वन्मुखभूषण	प्रयागवेङ्कटाद्रि	
7.	शब्दबृहती	राजन्सिंह	
8.	महाभाष्यविवरण	नारायणसिंह	
9.	महाभाष्यस्फूर्ति	सर्वेश्वरदीक्षित	
10.	गूढार्थदीपिनी	सदाशिव	
11.	त्रिपथगा	राधवेन्द्राचार्य	
12.	शाब्दिक कण्ठमणि	नरसिंहाचार्य	

13. सत्यप्रिय तीर्थस्वामी (सं॰ 1794 वि॰) द्वारा महाभाष्य पर एक विवरण लिखा मिलता है।

व्याकरण वाङ्मय में महाभाष्यप्रदीप का विशेष महत्त्व है। इसी कारण विद्वानों ने कैयट के महाभाष्यप्रदीप पर अनेक व्याख्याएँ लिखी। जो निम्न प्रकार से हैं–

लेखक	समय	रचना
1. चिन्तामणि	1500–1550 वि॰	महाभाष्यकैयट प्रकाश
2. मल्लयज्वा	सं॰ 1525 वि॰	प्रदीप पर एक टिप्पणी लिखी है।
3. रामचन्द्रसरस्वती	सं॰ 1525–1600 वि॰	'विवरण' नामक व्याख्या
4. ईश्वरानन्दसरस्वती	सं॰ 1550–1600 वि॰	'महाभाष्यप्रदीपविवरण' नामक बृहत् व्याख्या।
5. अन्नम्भट्ट	सं॰ 1550–1600 वि॰	'प्रदीपोद्योतन'
6. नारायण	सं॰ 1654 से पूर्व	'विवरण' नामक व्याख्या
7. रामसेवक	सं॰ 1650–1700 वि॰	'महाभाष्यप्रदीपव्याख्या'
8. नारायणशास्त्री	सं॰ 1710–1730 वि॰	'महाभाष्यप्रदीपव्याख्या'
9. प्रवनकोपाध्याय	सं॰ 1650–1730 वि॰	'महाभाष्यप्रदीपप्रकाशिका'

10. नागेश सं॰ 1730–1810 वि॰ 'महाभाष्यप्रदीपोद्योत' नामक प्रौढ व्याख्या लिखी है इनके पिता का नाम शिवभट्ट तथा माता का नाम सतीदेवी था। इनके ही शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्ड ने 'महाभाष्यप्रदीपोद्योत' पर 'छाया' नामक टीका लिखी है जो केवल नवाह्निक पर प्राप्त है।

11. आदेत्र–इनके द्वारा महाभाष्यप्रदीपस्फूर्ति नामक व्याख्या

12. सर्वेश्वरसामयाजी–'प्रदीप' पर महाभाष्यस्फूर्ति नामक व्याख्या

13. हरिराम–महाभाष्यप्रदीपव्याख्या

14. अज्ञातकर्तृक–प्रदीपव्याख्या।

इस प्रकार महाभाष्य पर अनेक टीकाएँ हैं तथा इन टीकाओं पर भी अनेक व्याख्याएँ हैं।

भर्तृहरि और उनका वाक्यपदीप

भर्तृहरि द्वारा वाक्यपदीय ग्रन्थ वाक्य तथा पद को आधार बनाकर लिखा है। यह तीन काण्डों में विभाजित है–ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड ओर पदकाण्ड।

'वाक्यपदीय' प्राचीन भाषाविज्ञान का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें शब्द, अर्थ और दोनों के सम्बन्धों को दर्शनिक रूप में निरूपित किया है। यही एकमात्र ग्रन्थ वैयाकरणों के दार्शनिकों तत्त्वों का विवेचन करता है।

पूना से मुद्रित वाक्यपदीय में प्रथम (ब्रह्म काण्ड) में 156 कारिकाएँ, द्वितीय (वाक्यकाण्ड) में 487 कारिकाएँ तथा तृतीय (पदकाण्ड) अथवा प्रकीर्णक काण्ड में 1323 कारिकाएँ हैं।

वाक्यपदीय के पहले और दूसरे काण्डों पर भर्तृहरि की स्वोपज्ञवृत्ति प्राप्त होती है। तीसरे काण्ड पर हेलाराज-कृत 'प्रकाश' नाम की सम्पूर्ण व्याख्या ने कारिकाओं के तात्पर्य पर प्रकाश डाला है।

वृत्ति के व्याख्याकार–भर्तृहरि के ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञवृत्ति पर अनेक वैयाकरणों ने जो व्याख्याएं लिखीं वे इस प्रकार हैं–

(1) वृषभदेव–इन्होंने अपनी टीका के प्रारम्भ में लिखा है–'यद्यपि टीका बह्व्यः पूर्वाचार्यैः सनिर्मला रचिताः।' इससे विदित होता है कि वृषभदेव से पहले भी वाक्यपदीय पर टीकाएं लिखी गई थीं।

(2) धर्मपाल (8वीं शती वि॰ का प्रथम चरण)–इन्होंने तृतीयकाण्ड पर व्याख्या लिखी थी।

(3) पुण्यराज (११वीं शती वि॰)–पुण्यराज ने वाक्यपदीय के दूसरे काण्ड पर एक छोटी स्फुटार्थक व्याख्या लिखी थी।

(4) हेलाराज (11वीं शती वि॰)–इन्होंने वाक्यपदीय के तीनों काण्डों पर व्याख्या लिखी थी, किन्तु अब तृतीय काण्ड पर ही व्याख्या प्राप्त होती है।

(5) फुल्लराज–यह ज्ञात नहीं है कि इन्होंने वाक्यपदीय के तीनों काण्डों पर वृत्ति लिखी या केवल तृतीयकाण्ड पर।

(6) गडदास–इनके द्वारा वाक्यपदीय के तीसरे काण्ड पर व्याख्या पर व्याख्या लिखी गई थी।

भर्त्तृहरिविरचित अन्य ग्रन्थ–() महाभाष्यदीपिका, (2) वाक्यपदीय 1-2 काण्ड की स्वोपज्ञटीका, (3) भट्टिकाव्य, (4) भागवृत्ति, (5) नीतिशतक-शृंगारशतक-वैराग्यशतक, (6) वेदान्तसूत्रवृत्ति, (7) मीमांसाभाष्य, (8) शब्दधातुसमीक्षा, (9) षष्ठीश्रावी भर्त्तृहरिवृत्ति।

अष्टाध्यायी के वृत्तिकार

काशिका–पाणिनीय अष्टाध्यायी पर विभिन्न विद्वानों ने वृत्तियाँ लिखी है। उनमें जयादित्य और वामनरचित काशिकावृत्ति प्रमुख है। काशिकावृत्ति एक ऐसी सर्वमान्य व्याख्या है जिससे पाणिनि के मर्म को जाना जा सकता है। इसी वृत्ति से प्राचीन लुप्तप्राय वृत्तियों के अर्थ का परिचय प्राप्त होता है। जयादित्य और वामन ने प्राचीन सूत्र-वृत्तियों के आधार पर काशिका की रचना की है। प्रथम पाँच अध्यायों की व्याख्या जयादित्य ने लिखी है और अन्त के तीन अध्यायों की व्याख्या वामन ने लिखी है। काशयति प्रकाशयति सूत्रार्थमिति काशिका। काशिका का रचनाकाल प्रमाणों के आधार पर 450-600 ई॰ के बीच में कहीं माना जाता है।

काशिका का रचना स्थान–पदमंजरीकार लिखते हैं 'काशिकेति देशतोऽभिधानम्। काशिषु भवा।' इसी आधार पर विन्टरनित्स, श्रीनाथ चक्रवर्ती, वाचस्पति गैरोला तथा युधिष्ठिर मीमांसक आदि विद्वानों ने काशिका का रचनास्थल काशी ही माना है। यह विचार इसलिए उचित नहीं है कि काशिकाकार इसे स्वयं ही विवृतगूढसूत्रार्था कह रहे हैं। इसी आधार पर सृष्टिधराचार्य लिखते हैं 'काशयति प्रकाशमति सूत्रार्थमिति काशिका।'[1] डॉ॰ व्यूहलर वामन तथा जयदित्य दोनों को कश्मीरी ही मानते है।[2] अत: हमारे विचार से कश्मीर ही काशिका की रचना भूमि है। काशिकाकार ने काशिका की विशेषताओं को इस प्रकार गिनाया है–इष्टियों का उपसंख्यान, शुद्धगणों का विवरण, सूत्र के गूढ़ अर्थों की विवृत्ति और व्युत्पन्न रूपों की सिद्धि।[3] काशिकाकार ने अष्टाध्यायी पर लिखे हुए अपने से पूर्ववर्त्ती समस्त पाणिनीयतन्त्र का सार काशिका में निबद्ध किया है। काशिकाकार का पाण्डित्य विलक्षण है जिसके आधार पर उन्होंने यह कार्य सम्पन्न किया है। उन्होंने महाभाष्य के सार तथा कहीं-कहीं भाष्य की पंक्तियों को भी कयिका में ज्यों का त्यों उद्धृत किया है। कुछ सूत्रों का योगविभाग भी उन्होंने किया है तथा ऐसे वर्त्तिक एवं इष्टियाँ भी काशिका में हैं जो कि महाभाष्य में उपलब्ध नहीं है। काशिकाकार को बौद्ध भी कहा जाता है, किन्तु वामन तथा जयदित्य दोनों ही वैदिकधर्मी थे।[4]

---

1. भाषावृत्यर्थविवृत्ति 8/6/8
2. Dr. S.K. Belvalkar, Systems of Sanskrit gramners, p. 36. Dr. Buhler believed that the author was an alives of kashmir.''
3. इष्ट्युपसंख्यानवती शुद्धगणा विवृतगृढसूत्रार्था।
   व्युत्पन्नरूपसिद्धिर्वृत्तिरियं काशिका नाम।। काशिका, श्लो॰ 2
4. डॉ. रघुवीर वेदालंकार, काशिका का समालोचनात्मक अध्ययन, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1981

काशिका की व्याख्याएँ–डॉ॰ जयशंकर प्रसाद त्रिपाठी तथा डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत व्याख्या 1986 में वाराणसी से प्रकाशित डॉ॰ रघुवीर वेदालंकर कृत ज्योतिष्मती व्याख्या चौखम्भा ओरियण्टालिया, दिल्ली से प्रकाशित पं॰ ईश्वर चन्द्र शर्मा (भिवानी) कृत व्याख्या।

भागवृत्ति–इसका काशिका के बाद रचित वृत्तियों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस वृत्ति में लौकिक तथा वैदिक सूत्रों को विभाजित करके उनकी व्याख्या की गई है।

इस समय भागवृत्ति अनुपलब्ध है। पं॰ युधिष्ठिर मीमांसक ने अत्यधिक परिश्रम द्वारा व्याकरण ग्रन्थों में उद्धृत अंशों को इकट्ठा करके 'भागवृत्तिसंकलन' नाम से इसका सम्पादन-प्रकाशन किया है। भागवृत्ति जहाँ महाभाष्य को पूर्णतया प्रमाण मानकर चलती है, वहाँ काशिका भाष्य को उपजीव्य मानकर भी प्राचीनवृत्तियों के आधार पर, कहीं-कहीं उससे मतभेद भी रखती है।

इसके रचनाकार का परिचय यथार्थरूप में प्राप्त नहीं होता। भागवृत्ति को विमलमति नामक लेखक की रचना कातन्त्र परिशिष्ट के रचयिता श्रीपतिदत्त (12वीं शती) मानते हैं। भागवृत्ति के रचनाकार भर्तृहरि हैं, ऐसा इसी समय के सृष्टिधर (15 वीं शती) ने अपनी भाषावृत्त्यर्थवृत्ति में माना है।

काल–भागवृत्ति की रचना महाराज श्रीधरसेन की आज्ञा से हुई थी, ऐसा सुष्टिधराचार्य ने लिखा है। भागवृत्ति में काशिका के अनेक स्थानों पर खण्डन से ज्ञात होता है कि भागवृत्ति काशिका के बाद की रचना है। काशिका का काल लगभग 650-700 वि॰स॰ तक है। चतुर्थ श्रीधरसेन का राज्यकाल सं॰ 702-705 तक है। अतः भागवृत्ति की रचना चतुर्थ श्रीधरसेन की आज्ञा से हुई होगी।

भाषावृत्ति–पुरुषोत्तमदेव बङ्गाल के निवासी, बौद्धमत के अनुयायी, महावैयाकरण और कोषकार थे। इन्होंने अष्टाध्यायी के वैदिकसूत्रों को छोड़कर राजा लक्ष्मणसेन की आज्ञा से दूसरे सूत्रों पर जो वृत्ति की रचना की, वही भाषावृत्ति नाम से प्रसिद्ध है। अमरकोश के टीकाकार सर्वानन्द ने पुरुषोत्तम के ग्रन्थों का अनेक बार निर्देश किया है।

भाषावृत्ति के व्याख्याकार सृष्टिधर चक्रवर्ती हैं। इन्होंने भाषावृत्ति की भाषावृत्त्यर्थविवृत्ति नामक बालोपयोगी टीका लिखी थी।

दुर्घटवृत्ति–अष्टाध्यायी पर 'दुर्घट' नामक व्याख्या शरणदेव की एकमात्र रचना है। इसमें सामान्य रीति से अव्याख्येय और अपाणिनीय पदों की व्याख्या की गई है। यह व्याख्या अष्टाध्यायी के विशेष सूत्रों पर है।

प्रक्रियादीपिका–पाणिनीयाष्टक पर अप्पन आचार्य अपर नाम वैष्णवदास ने प्रक्रिया-दीपिका की व्याख्या लिखी है। इनका समय 1520-1570 वि॰ है। इनका वैयाकरणत्व इससे स्पष्ट हो जाता है–अपशब्दभयं नास्ति अप्पनाचार्यसन्निधौ।

मिताक्षरा–अष्टाध्यायी पर महामहोपाध्याय अन्नम्भट्ट ने 'पाणिनीयमिताक्षरा' नामक टीका लिखी है। इस व्याख्या का प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत सीरीज काशी से दस खण्डों में हो चुका है। इसका समय सं॰ 1550-1600 वि॰ है।

सूत्रप्रकाश–पाणिनीयसूत्रों की 'सूत्रप्रकाश' नामक व्याख्या अप्पयदीक्षित ने लिखी है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति अड्यार के राजकीय पुस्तकालय में है। ग्रन्थकार का समय प्रमाणों के आधार पर वि॰सं॰ 1550-1720 के बीच का ज्ञात होता है।

व्याकरण-सिद्धान्त-सुधानिधि–अष्टाध्यायी पर विश्वेश्वरसूरि ने भट्टोदीक्षित कृत शब्दकौस्तुभ को आदर्श मानकर एक अत्यन्त विस्तृत व्याख्या लिखी है। यही व्याकरण-सिद्धान्त-सुधानिधि नाम वाली है। इसका मुद्रण प्रारम्भ के तीन अध्यायों में हुआ है। इनका समय सं॰ 1600-1650 वि॰ के मध्य का माना जाता है।

शब्दकौस्तुभ–अष्टाध्यायी पर 'शब्दकौस्तुभ' नाम की महत्त्वपूर्ण व्याख्या भट्टोजिदीक्षित ने लिखी है। इस समय यह वृत्ति पूरी उपलब्ध नहीं होती, केवल पहले के ढाई अध्याय तथा चौथा अध्याय ही प्राप्त होते हैं। इनका समय 1570-1650 वि॰ के मध्य माना जाता है।

पाणिनीयदीपिका–नीलकण्ठ वाजपेयी (1600-1675 ई॰) ने अष्टाध्यायी पर पाणिनीय दीपिका नामक व्याख्या लिखी थी। स्वयं नीलकण्ठ ने परिभाषावृत्ति में इसका उल्लेख किया है। यह दीपिका वृत्ति उपलब्ध नहीं है।

प्रक्रिया-ग्रन्थ

प्रक्रियाकौमुदी–यह प्रक्रियायुग की महत्त्वपूर्ण कृति है। इसके रचयिता रामचन्द्राचार्य हैं। इनका वंश आन्ध्रप्रदेश से सम्बद्ध था।

सिद्धान्तकौमुदी–सिद्धान्तकौमुदी भट्टोजिदीक्षित कृत है। प्रमाणों को आधार मानकर भट्टोजिदीक्षित का समय लगभग 1560-1610 ई॰ के बीच मानना उचित प्रतीत होता है। इसमें अष्टाध्यायी के सूत्रों का क्रमभंग करके वैदिक सूत्रों को पृथक कर दिया गया है।

सिद्धान्तकौमुदी की टीकाएँ—भट्टोजिदीक्षित द्वारा स्वयं सिद्धान्तकौमुदी पर प्रौढमनोरमा नामक व्याख्या लिखी गई है। इसमें प्रक्रिया-कौमुदी और उसकी टीकाओं का स्थान-स्थान पर खण्डन किया है।

तत्त्वबोधिनी—सिद्धान्तकौमुदी के सबसे प्राचीन टीकाकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती हैं। इनकी तत्त्वबोधिनी टीका प्रौढमनोरमा पर आश्रित हैं, अतः विशेष विख्यात और प्रामाणिक मानी जाती है। ये भट्टोजिदीक्षित के समकालिक माने जाते हैं।

बालमनोरमा—इनकी रचना वासुदेव दीक्षित (18वीं शदी का पूर्वार्द्ध) ने की है।

सुखबोधिनी—सिद्धान्तकौमुदी की 'सुखबोधिनी' व्याख्या नीलकण्ठ वाजपेयी ने लिखी है। ये ज्ञानेन्द्रसरस्वती के शिष्य थे। उन्होंने ज्ञानेन्द्रसरस्वती की तत्त्वबोधिनी व्याख्या पर 'गूढार्थदीपिका' नामक व्याख्या लिखी है।

तत्त्वदीपिका—रामानन्द (1860-1720) द्वारा सिद्धान्तकौमुदी पर तत्त्वदीपिका नामक व्याख्या लिखी गयी है। अब यह व्याख्या हलन्त स्त्रीलिंग तक प्राप्त होती है।

रत्नाकर—सिद्धान्तकौमुदी की रत्नाकर टीका रामकृष्टभट्ट (1615 वि०) द्वारा रचित हैं। भण्डारकर प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान पूना में इस टीका की चार हस्तलिपियां हैं।

बृहच्छब्देन्दुशेखर और लघुशब्देन्दुशेखर—नागेशभट्ट (समय सं०— 730-1810 वि० के मध्य) ने बृहच्छब्देन्दुशेखर और लघुशब्देन्दुशेखर नामक दो व्याख्याएँ लिखी हैं। बृहच्छब्देन्दुशेखर सन् 1860 में वाराणसेय सं० विश्वविद्यालय से तीन भागों में प्रकाशित हो गया है। लघुश्ब्देन्दुशेखर पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इनमें उदयङ्कर भट्ट की 'ज्योत्स्ना' और वैद्यनाथ पायगुण्डे की 'चिस्थिमाला' प्रसिद्ध और उपयोगी है।

पूर्णिमा—इसके लेखक रंगनाथ यज्वा (समय सं० 1745 वि०) हैं।

रत्नार्णव—इसके लेखक कृष्णमित्र हैं।

सुमनोरमा—तिरुमल द्वाद्वशाहयाजी ने सिद्धान्तकौमुदी की सुमनोरमा टीका लिखी है। इनका समय सं० 1700 के आसपास प्रतीत होता है।

प्रक्रियासर्वस्व—नारायण भट्ट ने 'प्रक्रियासर्वस्व' नामक प्रक्रियाग्रन्थ लिखा है। ये केरल प्रदेश के निवासी थे। इनका समय सं० 1617-1733 वि० के मध्य है। प्रक्रियासर्वस्व में पाणिनि के सूत्र, प्रक्रिया के अनुसार विभिन्न विषयों में विभाजित किए गए हैं।

पाणिनीयेतर व्याकरण-सम्प्रदाय

(1) कातन्त्रव्याकरण–कातन्त्र का अर्थ है अल्प या संक्षिप्त तन्त्र।[1] आचार्य शववर्मा द्वारा रचित इस कातन्त्र व्याकरण में मूलतः तीन अध्याय हैं–सन्धि, नाम एवं आख्यात। इन अध्यायों में सन्धि के अन्तर्गत पाँच, नाम में छः तथा आख्यात में आठ पाद हैं।

टीकाएँ–अपने व्याकरण पर आचार्य शर्ववर्मा ने ही सबसे पहले महत्त्वपूर्ण वृत्ति बनाई थी।[2] इसके बाद वररुचि ने दुर्घटवृत्ति की रचना की। वृत्तिकार दुर्गसिंह ने कई स्थानों पर केचित्, परे आदि शब्दों से अन्य आचार्यों के मतों का स्मरण किया है।

शशिदेवकृत 'शशिदेववृत्ति' का उल्लेख अल्बेरुनी ने अपने भारतयात्राविवरण (भाग 2 पृ॰ 40) में किया है। न तो यह व्याख्या आज उपलब्ध है और कहीं अन्यत्र इसका कोई उल्लेख भी प्राप्त नहीं होता।

कातन्त्र व्याकरण की सभी व्याख्याओं में सबसे प्राचीन व्याख्या दुर्गसिंह की है, जो आजकल अनुपलब्ध है।

(2) चान्द्रव्याकरण–चान्द्र व्याकरण के रचयिता चन्द्रगोमी हैं। चन्द्रगोमी ने इस व्याकरण के मंगलश्लोक में सर्वज्ञ (बुद्ध) की आराधना की है, इसी से ग्रन्थकार का बौद्ध होना सिद्ध होता है। चान्द्रव्याकरण का प्रचलन बौद्ध देशों में होने से भी ग्रन्थकार के बौद्ध होने का अनुमान है। इस व्याकरण का प्रचार कश्मीर, नेपाल तथा तिब्बत से लेकर लंका तक है।

इनके समय का परिचय बहिरंग प्रमाण से प्राप्त होता है। इन्होंने उच्छिन्न महाभाष्य के अध्ययन-अध्यापन का पुनः प्रचार किया था। इसका उल्लेख भर्तृहरि ने वाक्यपदीय (2/489) में किया है इस बात की पुष्टि राजतरंगिणी के द्वारा स्पष्ट रूप से हो जाती है।

चन्द्रगोमी ने अपने व्याकरण में पाणिनि तथा कात्यायन के सिद्धान्तों के साथ महाभाष्य का भी पूर्ण प्रयोग किया है। इसमें 6 अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। इसमें लौकिक शब्दों की विवेचना की गयी है।

---

1. ईषत् तन्त्रं कातन्त्रम्, ईषदर्थे कुशब्दस्य कादेशः, का त्वीषदर्थेऽक्षे, कातन्त्र 2/5/25
2. गुरुपद हालदार, व्याकरणदर्शनेर इतिहास, पृ॰ 437

चान्द्रव्याकरण के आवश्यक अंग गणपाठ, धातुपाठ, उणादिसूत्र भी प्रकाशित हो चुके हैं। गणों का निर्देश भिन्न सूत्रों में किया गया है। ये गण संख्या में 226 हैं। चन्द्रगोमिकृत लघुकाय 'वर्णसूत्र' भी उपलब्ध है इसमें स्वरों तथा व्यंजनों के स्थान, करण तथा प्रयत्न का परिचय दिया गया है।

चान्द्रव्याकरण के धातुपाठ में धातुओं को 10 गणों में विभक्त किया हैं इसमें धातुएँ 1174 हैं। इनका धातुपाठ पाणिनि की तुलना में छोटा है।

(3) जैनेन्द्रव्याकरण–जैनेन्द्र व्याकरण के रचनाकार देवनन्दी हैं, जो अपनी बुद्धि के कारण जितेन्द्रबुद्धि, देवों के द्वारा पूजित होने के कारण संसार में पूज्यपाद के नाम से प्रसिद्ध थे। इन तीन नामों में ऐक्य का प्रबल पमाण श्रवणबेलगोला का शिलालोख हैं।

जैनेन्द्रव्याकरण के लघु तथा बृहत् दो पाठ प्राप्त हैं और दोनों के ऊपर टीकाएँ भी प्राप्त होती है। लघुपाठ में पाँच अध्याय, 20 पाद तथा तीन सहस्र सूत्र हैं तथा बृहत् पाठ में 700 सूत्र अधिक हैं। इस पंचाध्यायी में पाणिनि की अष्टाध्यायी समाहित है। इसमें वैदिकी तथा स्वर-प्रक्रिया का अभाव है। देवनन्दी की संज्ञाएँ पाणिनि की तुलना में सूक्ष्म और लघु हैं।

व्याख्याग्रन्थ–इनके व्याकरण पर उपलब्ध टीकाएँ निम्न हैं–

(1) अभयनन्दिकृत-महावृत्ति, (2) प्रभाचन्द्रकृत-शब्दाम्भोज-भास्करन्यास, (3) श्रुतकीर्तिकृत-पंचवस्तुप्रक्रिया, (4) पं॰ महाचन्द्रकृत-लघुजैनेन्द्र।

जैनेन्द्रव्याकरण का बृहत्पाठ–इसमें तीन सहस्र सात सौ सूत्र हैं। इस बृहत्पाठ के रचनाकार आचार्य गुणनन्दि हैं तथा इनका परिबृंहित व्याकरण 'शब्दार्णव' के नाम से विख्यात हुआ। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर इनका समय 850 ई॰ के आसपास माना जाता है।

शब्दार्णव पर दो टीकाएँ उपलब्ध हैं तथा ये दोनों ही प्रकाशित हो चुकी हैं।

(1) शब्दार्णवचन्द्रिका–यह सामदेवमुनि की कृति है इनका समय 13वीं शती ई॰ का पूर्वार्द्ध है।

(2) शब्दार्णवप्रक्रिया–इसके रचनाकार का नाम प्राप्त नहीं होता है।

(4) शाकटायन व्याकरण–यह शाकटायन पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य नहीं हैं, अपितु ये जैन मतावलम्बी अवान्तरकालीन वैयाकरण हैं। इसी कारण ये जैन शाकटायन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति था।

पाल्यकीर्ति की मुख्य रचना शब्दानुशासन का मूल सूत्रपाठ तथा उसके ऊपर स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति है। इस व्याकरण में चार अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभक्त है। इसमें सूत्रसंख्या 3.236 है। अपने सूत्रों पर स्वोपज्ञवृत्ति शाकटायन ने रची, जो अमोघवृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें श्लोकों की सख्या 18 सहस्र है।

टीकाग्रन्थ–अमोधवृत्ति पर प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा लिखित न्यास के केवल दो अध्याय उपलब्ध हैं। अमोघवृत्ति को संक्षिप्त रूप में करके यक्षवर्मा ने 'चिन्तामणिटीका' की रचना की। वह आकार में लघु होने के कारण 'लधीयसी वृत्ति' कहलाई। अजितसेनाचार्य ने 'चिन्तामणि' पर मणिप्रकाशिका लिखी।

(5) भोजव्याकरण–धाराधीश्वर महाराज भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण नाम से अपने शब्दानुशासन की रचना की है। इनका समय 1075–1110 ई० है। राजा भोज को विभिन्न विद्याओं का ज्ञान था तथा इनके द्वारा अनेक विषयों में अनेक ग्रन्थ की रचना की गई। धातुपाठ को छोड़कर इन्होंने वार्तिकों, इष्टियों, गणपाठ तथा उणादिप्रत्ययों को इकट्ठा करके सूत्रों में निबद्ध करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। इसमें सूत्रों की संख्या पाणिनीय अष्टाध्यायी से डेढ़ गुनी से अधिक है। भोज का शब्दानुशासन पाणिनि तथा चान्द्र दोनों पर आधारित है। इसके ऊपर भोज ने स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी, जो अब अनुपलब्ध है।

भोज ने अपने व्याकरणग्रन्थ को आठ भागों में विभक्त किया है तथा प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। इस प्रकार आठ अध्यायों के 32 पाद हुए तथा 32 पादों में सूत्र 6431 हैं। जिनमें परिभाषा, लिंगानुशसन तथा उणादि का भी समावेश है।

सरस्वती-कष्ठाभरण के व्याख्याता–भोजराज ने स्वयं अपने शब्दानुशासन की व्याख्या लिखी थी। क्षीरस्वामी ने अमरकोष (1/2/24) की टीका में लिखा है–'इल्वलास्तारकाः। इल्वलोऽस्ति इति उणादौ श्री भोजदेवो व्याकरोत्।'

(1) दण्डनाथनारायणभट्ट (12वीं शताब्दी वि०)–इन्होंने सरस्वती कण्ठाभरण पर 'हृदयहारिणी' नामक व्याख्या लिखी हैं। दण्डनाथ ने अपने ग्रन्थ में कहीं भी अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया। इसलिए इनके देश, कालादि के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है।

(2) कृष्णलीलांशुक मुनि (1225–1300 वि० के मध्य)–इन्होंने सरस्वतीकण्ठभरण पर 'पुरुषकार' नाम की व्याख्या लिखी है।

(3) रामसिंह देव द्वारा–सरस्वतीकण्ठाभरण पर 'रत्नदर्पण' नामक व्याख्या लिखी है ग्रन्थकार का स्थान और समय ज्ञान नहीं है।

(6) सिद्धहैमव्याकरण–इसके निर्माता हेमचन्द्र हैं। इन्होंने अपने आश्रयदाता जयसिंह सिद्धराज के आदेश द्वारा इस सभी अंगों से युक्त व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। इसी कारण इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि सिद्धहैमशब्दानुशासन नाम से हुई। इसका रचनाकाल 12वीं शती का अन्तिम दशक है।

यह अति विशद् है तथा पाँचों अंगों से युक्त होने के कारण पंचांग व्याकरण कहलाता है। इन पाँचों पर इनके द्वारा स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी गई। इस विशाल साहित्य में श्लोकों की संख्या सवा लाख है।

हैमव्याकरण पर विभिन्न प्रकरणों पर उपलब्ध व्याख्याएँ निम्न हैं–

(1) मुनिशेखरसूकररचित (लघुवृत्ति ढुंढिका), (2) कनकप्रभरचित (दुर्गपाद व्याख्या) लघुन्यास पर, (3) विद्याधरकृत (बृहद्वृत्तिदीपिका), (4) धनचन्द्रकृत (लघुवृत्ति अवचूरी), (5) अभयचन्द्रकृत (बृहद्वृत्ति अवचूरी), (6) जिनसागरकृत (दीपिका)।

(7) सारस्वतव्याकरण–व्याकरण-ग्रन्थों में सबसे सरल व्याकरण सरस्वत व्याकरण है। सारस्वतव्याकरण पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। अपनी सारस्वतप्रक्रिया के अन्त के क्षेमेन्द्र लिखते हैं–'इति श्रीनरेन्द्राचार्यकृते सारस्वते क्षेमेन्द्रटिप्पणं समाप्तम्।'

इससे ज्ञात हो जाता है कि 'नरेन्द्राचार्य' सारस्वतसूत्रों के मूल रचनाकार वैयाकरण हैं। इस व्याकरण में पाणिनीयअष्टाध्यायी से कम सूत्र है।

टीकाकार–सारस्वतव्याकरण के टीकाकार एवं उनकी टीकाएँ इस प्रकार हैं–(1) क्षेमेन्द्र (सं॰ 1260 वि॰) ग्रन्थ–टिप्पण, (2) धनेश्वर (सं॰ 1275 वि॰) ग्रन्थ-क्षेमेन्द्रटिप्पण, (3) अनुभूमिस्वरूप (सं॰ 1300 वि॰), (4) अमृत भारती (सं॰ 1550 वि॰ से पूर्व), ग्रन्थ–सुबोधिनी, (5) पुंजराज (सं॰ 1600 वि॰) ग्रन्थ–प्रक्रिया, (6) सत्यबोध (सं॰ 1556 से पूर्व) ग्रन्थ–दीपिका, (7) माधव (सं 1561 वि॰ से पूर्व) ग्रन्थ–सिद्धान्तरत्नावली, (8) चन्द्रकीर्ति सूरि (सं॰ 1600 वि॰) ग्रन्थ–सुबोधिका, (9) रघुनाथ (सं॰ 1650 वि॰) ग्रन्थ–लघुभाष्य, (10) मेघरत्न (सं॰ 1632 वि॰ से पूर्व) ग्रन्थ–ढुण्ढिका, (11) मण्डन (सं॰ 1632 वि॰ से पूर्व) ने भी टीका लिखी (12) रामभट्ट (सं॰ 1650 वि॰),

ग्रन्थ-विद्वत्प्रबोधिनी, (13) काशीनाथ भट्ट (सं॰ 1672 वि॰ से पूर्व) ग्रन्थ-भाष्य, (14) भट्टगोपाल (सं॰ 1672 से पूर्व) ग्रन्थ-सारस्वत व्याख्या, (15) सहजकीर्ति (सं॰ 1681 वि॰) ग्रन्थ-प्रक्रियावर्त्तिक, (16) हंसविजयगणि (सं॰ 1708 वि॰) ग्रन्थ-शब्दार्थचन्द्रिका, (17) जगन्नाथ-ग्रन्थ-सारदीपिका।

(8) मुग्धबोध-व्याकरण—संस्कृत-शिक्षण को ध्यान में रखकर वोपदेव ने व्याकरण ग्रन्थ मुग्धबोध की रचना की। मुग्धबोधव्याकरण का प्रचार यद्यपि बंगाल तक ही सीमित है, फिर भी यह वैयाकरण-निकाय में बहुत प्रसिद्ध हुआ। इसके उद्धरण प्रक्रिया-कौमुदी तथा उसकी टीका में हैं तथा इनके मतों को भट्टोजिदीक्षित आदि ने उद्धृत किया है।

इनके पिता केशव और पितामह महादेव थे। इनके गुरु धनेश्वर थे। इनका काल सं॰ 1287–1350 वि॰ माना जाता है। इन्होंने धातुपाठ का संग्रह 'कविकल्पद्रुम' नाम से किया है ओर उस पर संक्षेप में कामधेनु नामक व्याख्या लिखी है। व्याकरणशास्त्र के पाँचों अंगों में से इन्होंने केवल सूत्रपाठ और धातुपाठ का ही प्रवचन किया था, शेष तीनों अंगों की पूर्ति दूसरे विद्वानों ने की थी।

मुग्धबोध के टीकाकार

(1) नन्दकिशोरभट्ट (सं॰ 1455 वि॰) इन्होंने मुग्धबोध पर टीका लिखी थी।

(2) प्रदीपकुमार (सं॰ 150 वि॰ से पूर्व) इन्होंने मुग्धबोध-प्रदीप नामक व्याख्या लिखी थी।

(3) दुर्गादासविद्यावागीश (सं॰ 1696 वि॰) इनकी सुबोध टीका प्रसिद्ध है। दुर्गादास ने कुछ और टीकाकारों का निर्देश अपनी टीका में किया है जो इस प्रकार है—(4) रामानन्द (5) विद्यावागीश (6) देवीदासचक्रवर्ती (7) काशीवर (8) भोलानाथ (9) रामभद्र विद्यालंकार

इनके अलावा इण्डिया ऑफिस की सूची में कई अन्य व्याख्याकारों की हस्तलिपि है—

(10) श्रीरामशर्मा (11) श्रीकाशीश (12) गोविन्दशर्मा—इनकी टीका शब्ददीपिका है।

(13) श्रीबल्लभ विद्यावागीश—बालबोधिनी टीका

(14) कार्तिकेय सिद्धान्तमिश्र—सुबोधा-टीका

(15) मधुसूदन–मधुमती–टीका

इस प्रकार मुग्धबोध व्याकरण की लोकप्रियता रही है।

(9) क्रमदीश्वर अथवा जौमर व्याकरण–मदीश्वर ने बालोपयोगी 'संक्षिप्तसार' नामक व्याकरण लिखा। इसमें संस्कृत भाषा का व्याकरण मुख्य भाग में तथा प्राकृत व्याकरण अन्तिम परिच्छेद में है। इसमें पाणिनीय व्याकरण को ही नए रूप में व्यवस्थित किया है। इन्होंने 'रसवती' नाम स्वोपज्ञवृत्ति भी इस पर लिखी है। इसका काल 1250 ई॰ के आसपास है।

टीकाएँ–(1) रसवतीवृत्ति पर जुमरनन्दी ने टीका लिखी। जुमरनन्दी के प्रशंसनीय प्रयास के कारण वह व्याकरण–सम्प्रदाय 'जौमर' उन्हीं के नाम पर प्रसिद्ध हो गया।

(2) गोपीचन्द्र (1450 ई॰ के लगभग)–इस व्याकरण–सम्प्रदाय के मुख्य टीकाकार और परिशिष्टकार ने सूत्रपाठ, उणादि तथा परिभाषापाठ पर व्याख्याएँ लिखी हैं।

(3) पीताम्बर शर्मा (1500 ई॰ 1525 ई॰ के लगभग)–इन्होंने बालोपयोगी आरम्भिक शिक्षाषार्थ सारसंग्रह नामक ग्रन्थ लिखा। इसे बंगाल में पढ़ाया जाता है।

(9) सुपद्म् व्याकरण–मैथिल ब्राह्मण पद्मनाभदत्त ने 'सुषद्म' व्याकरण लिखा। इन्होंने उणादि–पाठ की वृत्ति में अपना नाम सुपद्मनाभ तथा पिता का नाम दामोदरदत्त दिया है। इनका समय 14वीं शती का अन्तिम चरण है। इन्होंने परिभाषावृत्ति के अन्त में स्वरचित ग्रन्थों का नाम दिया है। इनके व्याकरण ग्रन्थ निम्न हैं–

(1) सुपद्मपंजिका–यह इनकी व्याकरण पर स्वोपज्ञवृत्ति है। (2) प्रयोगदीपिका (3) धातुकौमुदी (4) उणादिवृत्ति (5) परिभाषावृत्ति (6) यङ्लुग्वृत्ति।

सुपद्म के टीकाकार

(1) पद्मनाभदत्त ने अपने व्याकरण पर स्वयं पंजिका नाम की टीका लिखी है। (2) विष्णुमिश्र (3) रामचन्द्र (4) श्रीधरचक्रवर्ती (5) काशीश्वर।

सुपद्मव्याकरण पर लिखित टीकाओं में विष्णुमिश्र की सुपद्ममकरन्द टीका श्रेष्ठ है। इस व्याकरण का प्रचार बंगाल के कुछ जिलों में ही है।

वैदिक व्याकरण पर आधुनिक विद्वानों के द्वारा आधुनिक दृष्टि से लिखित ग्रन्थ[1]–

(1) आल्तिन्दिशे सिंटैक्स-डैल्ब्रिक–इसमें डैल्ब्रिक ने वैदिकवाक्य रचना का विवेचन किया है।

(2) संस्कृत ग्रामर–ह्विट्नी–इसमें वैदिकभाषा के साथ लौकिकसंस्कृत का अध्ययन किया गया है।

(3) वर्ब इन्फ्लैक्शन इन संस्कृत-अवैरी।

(4) आल्तिन्दिशे ग्रामटिक 1896 (प्राचीन भारतीय व्याकरण)–इस विशाल ग्रन्थ में लौकिकसंस्कृत तथा वैदिकभाषा का विश्लेषण किया है।

(5) वैदिक ग्रामर–ए०ए० मैक्डॉनल-पाश्चात्य यूनानी पद्धति पर लिखित इस ग्रन्थ का प्रकाशन 1910 में हुआ। यह पूरी वैदिकभाषा का स्वतन्त्र प्रथम व्याकरण ग्रन्थ है।

(6) ए वैदिक ग्रामर फॉर स्टूडेंट्स–(1916) यह ए०ए० मैक्डालन के 'वैदिक ग्रामर' का संशोधित और परिवर्धित, रूप है। वाक्यरचना और छन्द प्रकरण भी इसमें है जो वैदिकग्रामर में नहीं है।

(7) "वैदिक सूक्तों में परोक्षभूत का स्थान" (1935) लुई रेनू द्वारा लिखित। इनके दूसरे ग्रन्थ ग्रामेअर दे लाँगुआ वेदीक का प्रकाशन 1952 में हुआ। इसमें पूर्ववर्ती व्याकरण-सम्बन्धी अनुसंधान संगृहीत है।

(8) वैदिक स्वर-मीमांसा–युधिष्ठिर मीमांसक, इसका प्रकाशन रामलाल कपूर ट्रस्ट ने किया है।

(9) वैदिक स्वर-समीक्षा–(1964) अमरनाथ शास्त्री।

(10) वैदिक व्याकरण–(1967–1969) डॉ० रामगोपाल की यह पुस्तक दो खण्ड में है। इसमें पदपाठ, छन्द एवं स्वर-सहित वैदिक व्याकरण के सभी पक्षों का भारतीय और पाश्चात्य तुलनात्मक पद्धति के द्वारा विवेचन किया गया है। प्राचीन प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाग्रन्थों के उपयोग से युक्त यह व्याकरण वाकरनागल एवं मैक्डानल के व्याकरणों से आगे हैं।

---

1. सं०वा०का बृ० इति०, द्वि०ख०, पृ० 330 के अनुसार।

(11) वैदिकव्याकरण–मैक्डानल की कृति 'वैदिक ग्रामर' का अनुवाद प्रो॰ सत्यव्रत शास्त्री ने किया मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली से प्रकाशित।

चतुर्थ वेदांग-निघण्टु तथा निरुक्त

निरुक्त की गणना चतुर्थ वेदांग के रूप में की गयी है। यह निघण्टु का भाष्य है। व्याकरण शब्द के बाह्य स्वरूप अर्थात् शरीर से सम्बन्ध रखता है तो निरुक्त वेद के आत्मा अर्थात् अर्थ से सम्बन्ध रखता है। शब्दार्थ के निर्वचन का ज्ञान निरुक्त से होता है, ऐसा दुर्गाचार्य कहते हैं।[1] वर्तमान काल में निघण्टु से भिन्न वैदिकशब्दों का एक ओर संकलन 'अथर्ववेदीय परिशिष्ट' के रूप में उपलब्ध है। इसे कौत्सव्यनिरुक्तनिघण्टु कहा जाता है। यह अथर्ववेद के 72 परिशिष्टों में 48वें स्थान पर है। धर्मवीर विद्यावारिधि ने "वैदिक निघण्टुसंग्रह" में इसे 2045 वि॰ में इसे प्रकाशित कराया है।

निघुण्टु का कर्त्ता–प्रजापति कश्यप को निघण्टु का रचनाकार महाभारत (मोक्षधर्म पर्व, अ॰ 342, श्लोक 86-87) में माना है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भी इसी का समर्थन किया है। आर॰टी॰ कर्मारकर, डॉ॰ लक्ष्मणसरूप, बैजनाथ, राजवाड़े आदि विद्वानों ने कई व्यक्तियों को इसे संकलित करने का श्रेय प्रदान किया है। किन्तु आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने 'प्रस्थानभेद' में यास्क को ही निघण्टु का संकलनकर्त्ता माना है 'तत्रापि निघण्टुसंज्ञकः पंचाध्यायात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केन कृतः।'

सुप्रसिद्ध वेदभाष्यकार वेंकट माधव ने भी इसी का समर्थन किया है–'तत्रैकविंशतिः नामानि कश्चिद् गौर्बिभतीति पृथिवीमाह तस्य हि यास्कपठितान्येकविंशतिर्नामानि।' (ऋ॰ 7/87/4) भाष्य यास्क ने स्वयं लिखा है–

'समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः'। इससे यही प्रतीत होता है कि यास्क ने स्वयं ही निघण्टु के रूप में वैदिक शब्दों का संकलन किया था। स्वामी दयानन्द भी ऐसा ही मानते हैं।[2]

---

1. यथा शब्दलक्षण परिज्ञानंसर्वशास्त्रेषु व्याकरणाद् एवं शब्दार्थनिर्वचन परिज्ञानं निरुक्तात्। दुर्गवृत्ति का उपोद्घात
1. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु॰ पृ॰ 68

निघण्टु 5 अध्यायों में विभक्त है। इसके प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड नाम से प्रसिद्ध हैं। इसमें पर्यायशब्दों का संग्रह है। निघण्टु का चतुर्थ अध्याय नैगमकाण्ड कहलाता है। इसमें अनेकार्थक नामों का संग्रह है। ये शब्द अनवगत संस्कार हैं। इनकी संख्या 279 है। निघण्टु का पंचम अध्याय दैवतकाण्ड कहलाता है। इसमें 151 देवताओं के नाम संगृहीत हैं। इस प्रकार निघण्टु में कुल 1341 शब्दों का संग्रह है।

निघण्टु की व्याख्या–दक्षिणभारत में चौदहवीं शताब्दी में जन्म पाने वाले देवराज-यज्वा ने निघण्टु पर 'निघण्टुनिर्वचनम्' नाम वाली व्याख्या लिखी। इनके पितामह भी देवराज-यज्वा तथा पिता यज्ञेश्वर थे। यह व्याख्या अत्यधिक प्रामाणिक और उपयोगी है। इसके सहायक ग्रन्थ इस प्रकार है–आचार्य स्कन्दस्वामी का 'ऋग्वेदभाष्य', स्कन्द-महेश्वर की निरुक्त-भाष्य-टीका तथा क्षीरस्वामी की अमरकोश-टीका। सायण के पूर्वकालीन होने के कारण देवराज-यज्वा की व्याख्या तथा निरुक्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

निघण्टु की इस समय एकमात्र व्याख्या 'निघण्टु-निर्वचन' ही प्राप्त होती है।

अन्य निघण्टु–डॉ॰ धर्मवीर विद्यावारिधि ने वि॰सं॰ 2045 में मूल रूप में 'वैदिकनिघण्टु-संग्रह' में चार निघण्टुओं का एक साथ संग्रह करके इनका प्रकाशन 'प्राच्यविद्यानुसन्धानकेन्द्र' दिल्ली से कराया। ये चार निघण्टु इस प्रकार है–(1) कौत्सव्य निरुक्त-निघण्टु। (2) यास्कीयनिघण्टु। (3) वैदिक-कोश (भास्कररायकृत, श्लोकात्मक) (4) माधवानुक्रमणी (श्लोकात्मक) (क) आख्यातानुक्रमणी, (ख) नामानुक्रमणी

यास्क का निरुक्त–(3000 वि॰पू॰)–यह चौदह अध्यायों में विभक्त है। अन्त के दो अध्याय तो परिशिष्ट-रूप में हैं। नैघण्टुक काण्ड, नैगमकाण्ड और दैवतकाण्ड नामक प्रारम्भ के बारह अध्याय निघण्टु के समान ही तीन काण्डों में विभाजित हैं। निघण्टु की सम्पूर्ण व्याख्या इन्हीं तीन काण्डों में पूरी हो जाती है। निरुक्त के ये 12 अध्याय निर्वचनशास्त्र से सम्बन्धित हैं। प्रथम तीन अध्यायों में निघण्टु के नैघण्टुक काण्ड की व्याख्या है। अगले तीन अध्यायों में निघण्टु के नैगमकाण्ड के अनेकार्थक तथा अनवगतसंस्कार 279 शब्दों का निर्वचन दिया गया है। अगले अध्यायों में निघण्टु के दैवतकाण्ड की व्याख्या की गयी है। इन अध्यायों में निघण्टु में संगृहीत सभी 151 देवता नामों का निर्वचन किया गया है। इस प्रकार निरुक्त में निघण्टु के 1341 में

से 660 शब्दों का निर्वचन किया गया है। इसके अतिरिक्त यास्क ने निरुक्त में प्रसंग वश 638 अन्य वैदिक शब्दों का निर्वचन भी कर दिया है। निरुक्त में उदाहरण रूप में 734 वेदमन्त्रों ओर 32 शाखामन्त्रों की व्याख्या भी उपलब्ध होती है।

यास्क का काल—यास्क का काल सुनिश्चित नहीं है। क्योंकि यास्क निरुक्त में कौत्स को उद्धृत करते हैं। कौत्स पाणिनि का शिष्य था।[1] इस प्रकार तो यास्क पाणिनि से अर्वाचीन या उनके समकालीन ठहरते हैं, किन्तु पाणिनि ने शौनकादिभ्यश्छन्दसि (पा० 4/3/106) में शौनक को उद्धृत किया है तथा शौनक ऋक् प्रातिशाख्य तथा बृहद्देवता में यास्क का अनेक बार उल्लेख करते हैं।[2] इस प्रकार तो यास्क शौनक तथा पाणिनि से प्राचीन या उनके समकालीन हैं, अर्वाचीन नहीं। युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार शौनक ने ऋक् प्रातिशाख्य की रचना लगभग 3000 विक्रमपूर्व की थी। मीमांसक जी के अनुसार यास्क, शौनक, व्याडि, पाणिनि, पिङ्गल इत्यादि आचार्य समकालीन हैं। पं० भगवदत्त के अनुसार भी निःसन्देह यास्य विक्रम से लगभग 3050 वर्ष पहले था।[3]

यास्क ने निरुक्त में अक्रूर का स्मरण किया है।[4] अक्रूर महाभारतयुद्ध से पहले था। ये जनमेजय के परदादाओं के समकालीन है। पाणिनि 'एजेः खश्' (4/3/110) के द्वारा जन्मेजय की सिद्धि करते हैं। अक्रूर के उक्त उद्धरण में यास्क 'ददते' तथा अभिभाषत्ते इन दो वर्तमानकालिक क्रियाओं का प्रयोग करते हैं। इससे वे अक्रूर के समकालीन ही ठहरते हैं। यास्क ने निरुक्त में 'इदंयुः' शब्द के दो अर्थ बतलाते हैं—(1) धनादिका का इच्छुक, (2) अत्यधिक धन वाला। यहाँ यास्क ने मतुप् प्रत्यय मान कर अश्वयुः गव्युः रथयुः, वसयुः उदाहरण किए हैं।[5] ये शब्द ऋ० 1/51/14 में पठित हैं। पाणिनि[6] ने युस् प्रत्यय का प्रयोग केवल मतुप् अर्थ मेंकिया है। यास्क की भाँति दो अर्थों में नहीं। पाणिनि के काल तक आते-आते यह स्थिति हो गई होगी। इस प्रकार यास्क पाणिनि से पर्याप्त पूर्वकालीन ठहरते हैं, किन्तु इसमें यास्क द्वारा कौत्स को उद्धृत करना बाधक है। यह भी सम्भव

1. महाभाष्य 3/2/108 उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्।
2. 1/26; 2/111, 132, 137; 3/76, 100, 112; 4/4/18; 6/87, 107 इत्यादि
3. पं० भगवद्दत्त, निरुक्तशास्त्रम्, पृ. 78-79
4. अक्रूरो ददते मणिमित्यभिभाषन्ते। नि० 2/2
5. इदं युः इदं कामयमानः अथापि तद्वदर्थे भाष्यते। नि० 6/31
6. ऊर्णाया युस्। पा० 5/2/123

है कि नैरुक्त कौत्स पाणिनि के शिष्य कौत्स से अन्य हो तथा वह यास्क का समकालीन हो।

कुछ विद्वान् बारह अध्यायों तक के निरुक्त को ही यास्ककृत मानते हैं, क्योंकि निघण्टु की व्याख्या इन बारह अध्यायों में पूर्व हो चुकी। यह कोई पुष्ट हेतु नहीं है। अनेक लेखक अपने ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट भी जोड़ते हैं। वे परिशिष्ट ग्रन्थ से किसी भी रूप में कम महत्त्व वाले नहीं होते। 13वें अध्याय के प्रारम्भ में रामचन्द्र स्वामी कहते हैं कि जैसी प्रतिज्ञा की गई थी, तदनुसार समाम्नाय का व्याख्यान कर दिया गया अब पूर्व आचार्यों के मत का अनुसरण करते हुए इसका प्रारम्भ किया जा रहा है।[1] त्रयोदश अध्याय को देखने से यह बात सुस्पष्ट है। वहाँ पर चत्वारि वाक्० (ऋ० 1/164/45) की व्याख्या में यास्क ने आर्ष, वैयाकरण, याज्ञिक, नैरुक्त, एके, आत्मप्रवाद इन सबके अनुसार उक्त मन्त्र का अर्थ दिखलाकर अन्त में विस्तार से ब्राह्मणवचन को भी उद्धृत किया है। वररुचि तो स्पष्ट रूप में कहते हैं–'प्रकरणश एव निर्वक्तव्या' इति भाष्यकारवचनम्।[2] यह वचन निरुक्त (13/12) में है। दुर्ग, स्कन्द[3] तथा वररुचि इन तीनों ही आचार्यों ने त्रयोदश अध्याय तक अपना भाष्य भी किया है अतः त्रयोदश अध्याय निश्चित रूप से यास्ककृत ही है।

अतिस्तुति नामक त्रयोदश अध्याय में यास्क ने अध्यात्म के प्रति अपनी अभिरुचि को प्रकट किया है।

चतुर्दश अध्याय भी यास्क कृत ही है, यद्यपि कुछ विद्वान् इससे सहमत नहीं है। जैसा कि प्रो० ज्ञानप्रकाश लिखते हैं कि त्रयोदश अध्याय के समान चतुर्दश अध्याय के लिखे जाने का कोई अन्तः साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता।[4] चतुर्दश अध्याय के प्रारम्भ में ही लिखा है 'व्याख्यातं दैवतं यज्ञाङ्गं च। अथात ऊर्ध्वमात्मगतिं व्याख्यास्यामः।' यह पंक्ति ही बतला रही है कि इस अध्याय के लेखक भी यास्क ही हैं। यहाँ पर प्रयुक्त 'व्याख्यास्यामः' पद स्पष्ट रूप में पूर्व लेखक की ओर संकेत कर रहा है। लेखक के द्वारा अब चतुर्दश अध्याय में

1. यथा प्रतिज्ञातं समाम्नायः समाम्नातः। इदानीं पूर्वाचार्याणां गतानुवृत्तिपरतया...। स्कन्द निरुक्तवृति 13/1
2. वररुचि निरुक्तसमुच्चयः।
3. इति महेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका समाप्ता। (13वें अध्याय की समाप्ति पर)
4. ऋग्वेद के भाष्यकार और उनकी मन्त्रार्थ दृष्टि, पृ. 59

ऊर्ध्व आत्मगति बतलाई जाएगी। इस अध्याय में यास्क ने मन्त्रों की आधिदैविक तथा आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए एक ही श्ब्द के ऐसे नवीन अर्थ किए हैं जो अन्यत्र अनुपलब्ध हैं। ऐसा करने में यास्क की यास्कीय ऊहा स्पष्ट प्रतिभासित हो रही है। यथा–कवि, विप्र, गिद्ध तथा मृग पदों की व्याख्या इन्द्रियपक्ष में की है तथा श्येन का अर्थ आत्मा माना है। यही यास्कीय चिन्तन है जो हमें पूरे निरुक्त में दिखलाई देता है। अतः इस अध्याय के यास्ककृत होने में कोई सन्देह नहीं।

यास्क ने निरुक्त में निम्न सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। (1) आधिदैव, (2) आध्यात्मिक (3) आख्यानसमय, (4) ऐतिहासिक, (5) नैदान, (6) नैरुक्त, (7) पूर्वयाज्ञिक, (8) याज्ञिक

निरुक्त के प्रयोजन–यास्क ने निरुक्त के प्रयोजन इस प्रकार गिनाये हैं–

(1) 'अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्‍र्न्यं स्वार्थसाधकं च'। (निरु० 1/5)

अर्थात् मन्त्रों का अर्थज्ञान निरुक्तशास्त्र के बिना नहीं होता। यह निरुक्त व्याकरण का पूरक है, अर्थात् इसके बिना व्याकरण अधूरा है और विद्या का स्थान यह निरुक्त-शास्त्र अपने स्वतन्त्र प्रयोजन निवर्चन का साधक भी है। इस प्रकार निरुक्त का मुख्य प्रयोजन निर्वचन करता है। इसके द्वारा ही मन्त्रों का अर्थज्ञान होता है।

(2) 'अथापीदमन्तरेण मन्त्रेषु पदविभागो न विद्यते' (निरु० 1/16)

अर्थात् निरुक्त शास्त्र के बिना मन्त्रों का पद-विभाग (पद-पाठ) नहीं हो सकता तथा बिना पद-विभाग मन्त्रार्थ का ज्ञान हीं हो सकता है। इसलिए मन्त्रार्थ के ज्ञान के लिए निरुक्त का ज्ञान परमावश्यक है।

(3) "अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति, तदनेनोपेक्षितव्यम्।"

नि० 1/17

देवताज्ञान भी निरुक्त का मुख्य प्रयोजन है। देवता ज्ञान के बिना भी मन्त्रार्थ नहीं किया जा सकता। यास्क कहते हैं–या तेनोच्यते सा देवता। अर्थात् मन्त्र में जिसका प्रतिपादन किया गया है, वही उस मन्त्र का देवता होता है। इस प्रकार देवताज्ञान मन्त्रार्थ में प्रमुख है तथा इसका ज्ञान निरुक्त से ही हो सकता है।

यास्क ने निरुक्त को व्याकरण का पूरक भी कहा है। व्याकरण का लक्षण है 'व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।' व्याकरण धातु, प्रत्यय आदि के आधार पर शब्दों को व्याकृत करता है, जबकि निरुक्त में निर्वचन द्वारा यह कार्य किया जाता है। निर्वचन करने में यास्क स्वर तथा संस्कार (स्वर, धातु, प्रत्यय आदि) को भी अनिवार्य न मानते हुए कहते हैं कि 'न स्वरसंस्कार माद्रियेत'। अर्थात् स्वर-संस्कार को बहुत महत्त्व न दें। हाँ, किसी न किसी प्रकार से निर्वचन अवश्य करें–न त्वेव न निर्ब्रूयात्।

पतंजलि व्याकरण के प्रयोजनों में 'रक्षा' को भी व्याकरण का प्रमुख प्रयोजन बतलाते हुए कहते हैं 'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्।'। यास्क भी मन्त्रों के अर्थज्ञान को निरुक्त का प्रयोजन बतला रहे हैं। व्याकरण के समान ही लोप, आगम, वर्णविकार आदि की चर्चा भी यास्क करते हैं। इस प्रकार निरुक्त एक प्रकार से व्याकरण का कात्स्नर्य = सम्पूर्णता होते हुए भी अपने प्रमुख प्रयोजन = निर्वचन का साधक है, क्योंकि इसके द्वारा ही मन्त्रार्थज्ञान होता है।

निरुक्त की विषयवस्तु

(1) मन्त्रार्थज्ञान–निरुक्त में लगभग 440 मन्त्रों या मन्त्रांशों की संक्षेप में व्याख्या की है। वे मन्त्रों को निगदव्याख्यात या 'इत्यपि निगमो भवति' मात्र कहकर आवश्यक न होने पर छोड़ भी देते हैं।[1]

(2) देवविद्या–यास्क ने देवविद्याप्रकरण के दो भाग किए हैं। पहले भाग में देवविद्या के आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन सातवें अध्याय के पहले 13 खण्डों में किया है। द्वितीय भाग दैवतकाण्ड में देवताओं का स्वरूप वें अध्याय के 13 खण्डों के बाद से लेकर 13वें अध्याय तक किया गया है।

(3) निर्वचन–इसे भी यास्क ने दो प्रकार के निर्वचन किये है–शब्द निर्वचन एवं अर्थनिर्वचन।

(1) शब्दनिर्वचन–इसमें उन निर्वचनों को रखा गया है जिनमें उन शब्दों की प्रकृति तथा उनमें होने वाले विकार (प्रादेशिक गुण) को वर्णसाम्य की दृष्टि से ध्यान में रखा है।

1. निगदव्याख्यातमन्त्राः नि॰ 6/23, 9/5, 9/7 इति सा निगद व्याख्याता।

(2) अर्थनिर्वचन–इसमें उन निर्वचनों को रखा गया है जो शब्दों के वर्णसाम्य की दृष्टि में न रखकर, केवल अर्थसाम्य पर आधारित हैं। इनमें प्रकृति तथा उसमें होने वाले (प्रादेशिक) विकार को नहीं बताया जाता है।

यास्क के निर्वचनसिद्धान्त तथा वैशिष्ट्य

निर्वचन के सिद्धान्तों में यास्क ने केवल भाषाशास्त्रीय सिद्धान्त ही दूसरे अध्याय के आदि में दिए हैं। दूसरे अध्याय के पाँचवें खण्ड में उन्होंने निघण्टु के शब्दों की क्रमानुसार व्याख्या की है। यास्क का निवर्चनवैशिष्ट्य इस प्रकार है–

(1) यास्क ने केवल निघण्टु के शब्दों का ही निर्वचन नहीं किया है, अपितु प्रसंग की प्राप्ति पर वे दूसरे शब्दों का निर्वचन करके मन्त्र के उदाहरण देकर उसकी पुष्टि करते हैं। यथा 'गो' के निर्वचनप्रसंग के पयस् तथा क्षीर का निर्वचन भी करते हैं।

(2) किसी मन्त्र के पदों की व्याख्या के प्रसंग में अन्य पदों का निर्वचन भी यास्क करते हैं यथा–गिरिष्ठ के निर्वचन के प्रसंग में पर्वत का निर्वचन भी कर दिया गया। (नि॰ 1/20)।

(3) मन्त्रगतपदों की व्याख्या के प्रसंग में वर्ण तथा अर्थ की दृष्टि से मिलते-जुलते पदों का निर्वचन भी यास्क कर देते हैं। यथा भीम के निर्वचनप्रसंग में भीष्म का निर्वचन भी कर दिया।

(4) यास्क शब्द के निर्वचन के समय उसके अर्थ के अनेक पहलुओं पर दृष्टिपात करते हैं। संस्कृत में अनेक अर्थों के प्रत्येक अर्थ को स्पष्ट करने वाले निर्वचन भिन्न-भिन्न करते हैं।

यास्क ने निरुक्त में 800 मन्त्र तथा मन्त्रार्थ उद्धृत किये हैं। इनमें से 440 की संक्षिप्त व्याख्या की हैं।

निरुक्त में प्राचीन नैरुक्त आचार्यों के कुछ नामों का ही परिचय प्राप्त होता है, किन्तु उनके ग्रन्थ तो उपलब्ध ही नहीं होते। एकमात्र यास्क का निरुक्त ही निघण्टुसहित प्राप्त होते है। सोलह प्राचीन निरुक्ताचार्यों का यास्क के निरुक्त में उल्लेख है, जो इस प्रकार हैं–

औपमन्यव[1], औदुम्बरायण[2], वार्ष्यायणि[3], गार्ग्य[4], आग्रायण (आग्रयण)[5], शाकपूणि[6] (रथीतर) और्णवाभ[7], शाकपूणिपुत्र (राथीतर)[8], तैटीकि[9], गालव[10], स्थौलाष्ठीवि[11], क्रोष्टुकि[12], कात्थक्य[13], चर्मशिरा[14], शतबलाक्ष मौद्गल्य[15], शाकटायन[16]। इनके अतिरिक्त भी यास्क ने आचार्या (नि॰ 22) तथा 'एके' (नि॰ 3/4, 5/3, 7/3, 8/21) शब्दों के द्वारा अन्य नैरुक्तों का निर्देश किया है। सम्भवत: इन सबके अथवा कुछ आचार्यों के निरुक्त ग्रन्थ रहे होंगे जो कि यास्कीय निरुक्त के सामने अस्त हो गये।

यास्क के निरुक्त से ज्ञात होता है कि प्राचीन ऋषि और वैदिक विद्वान् वेदों के तीन अर्थ करते थे। जो इस प्रकार हैं–

(1) "वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्"–(ऋ॰ 10/71/5)

ऋग्वेद के इस मन्त्रांश की व्याख्या यास्क ने इस प्रकार की है–"अर्थं वाच: पुष्पफलमाह, याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा" (निरु॰ 1/19) इस व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि वेदमन्त्रों के याज्ञिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ये तीन प्रकार के अर्थ माने जाते हैं।

यद्यपि यास्क ने कई स्थानों पर आध्यात्मिक और याज्ञिक व्याख्या भी की हैं, तथापि अधिकांश मन्त्रों की व्याख्याएँ प्राय: आधिदैविक ही हैं। एतदतिरिक्त निरुक्त के 13वें और 17वें अध्याय के सभी मन्त्रों की आध्यात्मिक ओर आधिदैविक व्याख्याएँ ही उपलब्ध होती हैं। इसी के आधार पर यास्क के मतानुसार मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं। यास्क के मत की पुष्टि करते हुए निरुक्त के टीकाकार स्कन्दस्वामी ने कहा है–

सर्वदर्शनेषु पूर्वनिर्दिष्टेषु याज्ञिकाधिदैवताध्यात्मिकेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीया:। कुत: स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय "अर्थं वाच: पुष्पफलमाह" इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिपादनात्।" (निरु॰ 7/5 स्कन्दटीका)

अर्थात् सब पक्षों (याज्ञिक, अधिदैवत और अध्यात्म) में सब मन्त्रों की योजना करनी चाहिए। क्योंकि स्वयं भाष्यकार यास्क ने सब मन्त्रों के तीन प्रकार के विषय बताने के लिए 'अर्थ को मन्त्र रूपी वाक् का पुष्प-फल' कहा है और यज्ञ आदि को भी पुष्प फल माना है।

1-16. क्रमश: नि॰ 1/1, 2/2, 6/11; 1/1; 1/2; 12/2, 1/3; 1/12, 1/13, 3/11, 3/13, 3/19, 2/26, 6/13; 13/11; 4/3, 4/3; 7/14; 10/1; 8/2; 8/5, 8/6, 8/10, 8/17; 3/14; 11/6; 1/3, 1/12, 1/13

निरुक्त के व्याख्याकार दुर्गाचार्य ने भी मन्त्रों के अर्थों को तीन प्रकार का मानते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि आध्यात्मिक, अधिदैवत और अधियज्ञ-इन तीनों विषयों को कहने वाले मन्त्रों के अर्थ समझे जाते हैं।[1] इतना ही नहीं अपितु दुर्गाचार्य तो यही भी कहते हैं कि आधिदैविक, आध्यात्मिक और अधियज्ञ के आश्रित जितने अर्थ उपयुक्त हो सकते हैं; उन सब की योजना करनी चाहिए, ऐसा करना कोई दोष नहीं है।[2]

निरुक्त के प्राचीन व्याख्याकार

(1) दुर्गाचार्य (ऋज्वर्थवृत्ति)–निरुक्त के प्रमुख व्याख्याकारों में दुर्गाचार्य प्रथम हैं। ये अत्यन्त प्रसिद्ध, बहुश्रुत ओर मेधावी विद्वान् हुए हैं। इनका 'निरुक्तवृत्ति' नामक ग्रन्थ प्राचीन और अत्यन्त विशाल है। एकमात्र चौदहवें अध्याय के अतिरिक्त पूरा निरुक्त व्याख्या के रूप में प्राप्त होता है। इनकी वृत्ति में ब्राह्मण-बृहद्देवता-रामायण-महाभारत-पुराण-मनुस्मृति-कल्पसूत्र-पूर्वमीमांसा-सांख्य-वात्स्यायनभाष्य आदि के उद्धरण प्राप्त होते हैं। इसमें निरुक्त के रहस्य को भली प्रकार स्पष्ट किया गया है।

(2) स्कन्द और महेश्वर–इनकी व्याख्या का नाम 'स्कन्दमहेश्वरवृत्ति' है। यह प्रौढ़ तथा अत्यधिक पाण्डित्ययुक्त भाष्य है। ऋग्वेद के भाष्यकर्त्ता स्कन्दस्वामी ही निरुक्त के भाष्यकार हैं। ये शतपथ के भाष्यकार हरिस्वामी के गुरु थे। इनका निवासस्थान गुजरात की प्रसिद्ध नगरी बलभी माना जाता है। इनके पिता 'भर्तृध्रुव' थे। इनका काल विक्रम की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना है।

पं० भगवद्दत्त के अनुसार महेश्वर स्कन्दस्वामी का शिष्य हैं। यह बात अज्ञात है कि इस वृत्ति को कितना भाग स्कन्दस्वामी ने लिखा था और कितना महेश्वर ने।

(3) पद्मपाठ नीलकण्ठ गार्ग्य–(निरुक्त-श्लोक वार्त्तिक) इनका निवास स्थान केवल प्रदेश का कोण्टयू ग्राम था। इनकी माता नीली थी। इनके पिता रुद्रशर्मा चारों वेदों में पारंगत याज्ञिक थे। इनका समय वि० की पन्द्रहवीं शताब्दी माना जाता है।

---

1. आध्यात्मिकाधिदैवाधियज्ञाभिधायिनां मन्त्रणामर्थाः परिज्ञायन्ते (निरुक्त-टीका 1/18)।
2. तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् आधिदैविकाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः, सर्व एव ते योज्याः। नात्रापराधोऽस्ति। (निरुक्त-टीका 2/8)

इनके द्वारा लिखित 'निरुक्तश्लोकवार्त्तिक ' मूल में 'मलयालम' लिपि में ताड़पत्रों पर प्राप्त हुआ था। यह जीर्ण-शीर्ण अवस्था में था। इसका लेखन देवनागरी लिपी में पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने अथक प्रयासों से करवाया। इस समय यह ग्रन्थ आचार्य विजयपाल द्वारा सम्पादित रामलालकपूरट्रस्ट, रेवली में है। निरुक्त के छठे अध्याय के चतुर्थपाद तक की व्याख्या इस ग्रन्थ में है। इसमें श्लोकों की संख्या 4640 है।

(4) वररुचि (निरुक्तसमुच्चय)–वररुचि कृत 'निरुक्तसमुच्चय' नामक ग्रन्थ निरुक्त की साक्षात् रूप से व्याख्या नहीं है, लेकिन फिर भी इसमें 102 मन्त्रों की निरुक्त के अनुसार व्याख्या की है। इसका विभाजन कल्पों में है तथा इसमें चार कल्प हैं। पं० यु० मीमांसक द्वारा सम्पादित 92 पृष्ठों का यह ग्रन्थ रामलालकपूरट्रस्ट द्वारा प्रकाशित कराया गया है।

निरुक्त के आधुनिक व्याख्याकार

(1) मुकुन्द झा शर्मा	निरुक्तविवृत्तिः।
(2) स्वामी ब्रह्ममुनि	निरुक्तसम्मर्शः।
(3) सत्यव्रत सामश्रमी	निरुक्तालोचन।
(4) शिवनारायण शास्त्री	निरुक्तमीमांसा
(5) छज्जूराम शास्त्री	निरुक्तम् (संस्कृत-हिन्दी)
(6) चन्द्रमणि विद्यालंकार	वेदार्थदीपक-निरुक्तभाष्य (हिन्दी)
(7) भगवद्दत्त	निरुक्त-भाष्य (हिन्दी)
(8) ब्रह्मलीन मुनि	निरुक्त-व्याख्या (हिन्दी)
(9) विश्वेश्वर	निरुक्त (पूर्वार्द्ध) व्याख्या (हिन्दी)
(10) राजाराम शास्त्री	निरुक्त-हिन्दी-व्याख्या
(11) लक्ष्मणस्वरूप	निरुक्त-भाष्य (अंग्रेजी)
(12) पं० गोपदेव शास्त्री	निरुक्त-भाष्य (छज्जूराम शास्त्री-कृत व्याख्या का तेलगू रूपान्तर)।

इनके अतिरिक्त रॉथ, स्कोल्ड, विष्णुपद भट्टाचार्य, वी०के० राजवाड़े, सीताराम शास्त्री तथा उमाशंकर आदि हैं।

निरुक्त के प्रमुख संस्करण–वैदिक ग्रन्थों में सबसे अधिक प्रकाशन निरुक्त के संस्करणों का ही हुआ है। उनमें प्रमुख संस्करण निम्न हैं–

(1) R. Roth, Gottingen, Jaska's Nirukta, 1852

(2) सत्यव्रत सामश्रमी, दुर्गभाष्यसहित (4 भाग), कलकत्ता, 1882-91।

(3) निरुक्त, परोपकारिणी सभा अजमेर, 1893-1903।

(4) गोविन्द परशुराम रावरेकर, निरुक्त (व्याख्या सहित) बम्बई, 1992।

(5) भास्करराय दीक्षित, वैदिककोश (निघण्टु-निरुक्त) बम्बई, 1881

(6) मकुन्द झा बख्शी, निरुक्त (दुर्गानुसारिणी लघुवृत्तिसहित), बम्बई, 1992।

(7) मं॰मं॰ पण्डित शिवदत्त, निरुक्त (दुर्गाचार्यवृत्ति साहित), बम्बई, 1992।

(8) पं॰ सीताराम शास्त्री, निरुक्त (हिन्दी व्याख्यासहित), भिवानी, 1915।

(9) पं॰ राजाराम शास्त्री, निरुक्त (हिन्दी व्याख्यासहित), लाहौर 1918।

(10) डॉ॰ लक्ष्मणसरुप, निरुक्त तथा निघण्टु, लाहौर, 1920? दिल्ली-1962।

(11) चन्द्रमणि विद्यालंकार, निरुक्त (हिन्दी व्याख्यासहित) गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार, 1925, इसे ही 2033 वि॰ में आर्य कन्या गुरुकुल नरेला (हरियाणा) ने भी छापा है।

(12) वी॰के॰ राजवाड़े, निरुक्त (दुर्गाचार्य-भाष्यसहित), आनन्दाश्रम पुणे, 1921-26।

(13) डॉ॰ लक्ष्मणसरुप, निरुक्त (स्कन्दस्वामी तथा महेश्वरकृत वृत्ति सहित), लाहौर, 1930-31।

(14) निरुक्त तथा निघण्टु (देवराजयज्वा तथा दुर्गाचार्य-भाष्य-सहित), गुरुमण्डलग्रन्थमाला, कलकत्ता।

(15) मूलनिरुक्त-वेदार्ष गुरुकुल महाविद्यालय, पौंधा (उत्तरांचल)

(16) हिन्दी निरुक्त (1-4 तथा 7 अध्याय) उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' की व्याख्या, चौखम्भा, वाराणसी।

पाँचवाँ-वेदांग-छन्द

छन्द को वेदांग का पाँचवा अंग माना जाता है। "छन्दः पादौ तु वेदस्य" की

व्याख्या के अनुसार छन्द को वेद का पैर माना है। जैसे मनुष्य पैरों के बिना खड़ा हो और चलने में समर्थ नहीं, वैसे ही छन्दज्ञान के बिना वेद जानने में समर्थ नहीं है।

महर्षि कात्यायन तो स्पष्ट रूप से लिखते हैं–"जो व्यक्ति छन्द, ऋषि तथा देवता के ज्ञान से हीन होकर मन्त्र का अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन करता है, उसका यह प्रत्येक कार्य निष्फल ही होता है।[1]" इसी प्रकार बृहद्देवता (8/136) में कहा गया है–

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेत् जपेद् वापि पापीयाञ्जायते तु सः।।

अर्थात् ऋषि, देवता तथा छन्द को जाने बिना वेदाध्ययन करने वाला व्यक्ति पापी होता है। परम्परानुसार छन्दों का ज्ञान ताण्ड्य ब्राह्मण, पिंगल, निदान तथा उक्थशास्त्र से उद्धृत माना गया है।[2]

'छन्द' शब्द का अर्थ–'छन्दः' की व्युत्पत्ति निरुक्त में 'छद्' (ढकना) धातु से कही है[3] (छद् +असुन् = छद्+अस्+छन्दस् = छन्दः) अर्थात् छन्द आच्छादित करने वाले, पाप-दुःखादि से रक्षा करने वाले हैं। छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रकार कहा है कि देव, विद्वान् लोग मृत्यु से, पाप से डरते हुए वेदों में प्रविष्ट हुए और छन्दों से अपने आप को आच्छादित किया, यही छन्दों का छन्दत्व है।[4] अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी लिखते हैं 'छन्दयति आह्लादयते इति छन्दः।'[5] इसी प्रकार ऐतरेय आरण्यक में कहा गया है कि पापकर्म से दूर रखने के कारण इन्हें छन्द कहा जाता है।[6]

---

1. 'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छंति गर्तं वा पद्यति प्रवा मीयते पापीयान् भवति। तस्मादेतानि मन्त्रे-तन्त्रे विद्यात्' (सर्वानुक्रमणी 1/1)
2. ब्राह्मणात् तण्डिनश्चैव पिंगलाच्चमहात्मनः।
   निदानाद् उक्थशास्त्राच्च छन्दसां ज्ञानमुद्धृतम्।।
3. छन्दांसि छादनात्। नि॰ 7/2
4. देवा वै मृत्योर्बिभ्यस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिच्छादयन् यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्।।–छान्दो॰ उप॰ 1/4/2
5. अमरकोश 3/2/20 पर क्षीरस्वामी की टीका
6. छादयन्ति ह वां एनं छन्दांसि पापात् कर्मण इति छन्दः। ऐत॰आ॰ 2/1/61

वेदों के छन्दों से युक्त होने के कारण बाद में उपचारवशात् 'वेद' के लिए छन्द शब्द को प्रयुक्त किया जाने लगा। पाणिनि ने अपने सूत्र में जहाँ बोलचाल की भाषा के लिए 'भाषा' शब्द को प्रयुक्त किया है, वही 'छन्दस्' शब्द को वैदिकभाषा के लिए प्रयुक्त किया है। जैसे–'बहुलं छन्दसि'–(2/4/73, 76, 7/1/8, 10) आदि।

यद्यपि इस समय पिंगलाचार्य का छन्दशास्त्र की सुप्रतिष्ठित है, किन्तु छन्दशास्त्र की परम्परा पिंगल से भी पूर्ववर्त्तिनी है। पिंगलाचार्य ने अपने ग्रन्थ में कौष्टुकि, यास्क, ताण्डी, सैतव, काश्यप, रात, माण्डव्य आदि आचार्यों के मतों को उद्धृत किया है।[1] भट उत्पल ने रात तथा माण्डव्य के मतों को उद्धृत किया है।[2] वृत्तरत्नाकर के द्वितीय अध्याय में सैतव का मत प्राप्त होता है। ऋक्प्रतिशाख्य में भी अन्तिम भाग में स्वल्प रूप में छन्दचर्चा की गयी है। पिंगल का छन्दशास्त्र सर्वांगपूर्ण प्रौढ ग्रंथ है। पाणिनि के गणपाठ में छन्दशास्त्र के छन्दोमान, छन्दोभाषा, छन्दोविचिति आदि अर्थ दिये गये हैं। इनमें से छन्दोभाषा शब्द प्रतिशाख्यों के लिए प्रयुक्त है। अष्ट्याध्यायी (4/2/54) के गणपाठ में विविध छन्दशास्त्रों तथा उनके व्याख्यात ग्रन्थों का विशिष्ट निर्देश उपलब्ध होता है।

रामानुजाचार्य के गुरु श्री यादवप्रकाश ने पिंगल छन्दशास्त्र के भाष्य में छन्द परम्परा को सूचित किया है।[3] कि भगवान् शिव छन्दशास्त्र का प्रवर्तक था। इसके छन्दशास्त्र के आचार्यों की परम्परा इस प्रकार है–शिव-बृहस्पति-दुश्चयवन, असुरगुरु, माण्डक, सैतव, यास्क, पिंगल। पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने यह परम्परा अपने ग्रन्थ वैदिकछन्दोमीमांसा में इस प्रकार दिखलाई है–शिव-गुह-सनत्कुमार-बृहस्पति-देवपति-फणिपति-पिंगल।

वैदिक छन्दोज्ञान की आधार-सामग्री–गायत्री से लेकर जगती तक सभी छन्दों का प्रयोग तथा उनका उल्लेख ऋग्वेद[4] में किया गया है अथर्ववेद में वैदिक छन्दों में उत्तरोत्तर चार-चार अक्षरों की वृद्धि को कहा गया है। छन्दोविज्ञान को सबसे पहले व्यवस्थित ब्राह्मणग्रन्थों में किया गया। इसके बाद प्रातिशाख्यों में छन्दों का विस्तृत वर्णन है। सबसे अधिक छन्द से सम्बन्धित सामग्री ऋक्प्रातिशाख्य में है।

---

1. पिंगल छन्दसूत्र 2/29-30, 3/36, 5/18, 7/9-10, 7/13, 34
2. भट्ट उत्पल, बृहत्संहिताविवृति, पृ० 1248
3. द्रष्टव्य, पं० भगवदत्त, वै०वा० का इति०, ब्राह्मण भाग, पृ० 246
4. ऋग्वेद 10/130/4-5

वैदिक छन्दों की प्रमुख और सामान्यविशेषताएँ–वैदिक छन्द अक्षरों की गणना पर आधारित हैं, यही उनकी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इसी कारण कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में अक्षर-परिमाण को छन्द कहा है–'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः' (12/6)। इसी के सदृश 'बृहत्सर्वानुक्रमणी' में अक्षरसंख्या के अवच्छेदक को छन्द कहा है–'छन्दो अक्षरसंख्यावच्छेदकमुच्यते।'

वैदिकछन्द और लौकिकछन्द पाद-संख्या के आधार पर भी भिन्न हैं। लौकिक छन्दों में चार पाद निश्चित हैं, परन्तु वैदिक छन्दों में एक पाद से लेकर आठ पाद तक देखे जाते हैं। इस प्रकार अक्षरसंख्या तथा पादसंख्या ही वैदिक छन्दों का मूलाधार है।

छन्दों का विवेचन करने वाले केवल दो ग्रन्थ ही आजकल उपलब्ध हैं। इनमें वैदिक ओर लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का विवेचन है। (1) जयदेव द्वारा लिखा गया 'छन्दसूत्र'। मुकुलभट्ट के पुत्र हर्षट ने इसकी व्याख्या लिखी, ऐसा माना जाता है। (2) पिंगलछन्दसूत्र।

कहीं-कहीं छन्द के किसी चरण में अक्षरों की संख्या कम या अधिक भी हो जाती है। एक अक्षर कम होने पर उसे छन्द को निचृत् तथा एक अक्षर अधिक होने पर भुरिक् कहा जाता है। इसी प्रकार दो अक्षर न्यून होने पर वह छन्द विराट् तथा दो अक्षर अधिक होने पर स्वराट् कहलाता है। अक्षरों की न्यूनताजन्य विकृति को दूर करने के लिए संधियुक्त शब्दों को सन्धि तोड़कर पढ़ा जाता है। यथा–सोम्यम् = सोमिअम्। नोऽव = नो अव। कहीं-कहीं अक्षर की न्यूनता होने पर अपनी ओर से अक्षर जोड़कर उसकी पूर्ति कर दी जाती है। (यथा–वरेण्यम् = वरेणियम्)।

कात्यायन ने ऋग्वेद के छन्दों की सूची तथा संख्या निम्न प्रकार दी है–

	छन्द नाम	छन्दों की संख्या	पादसंख्या	प्रत्येक पाद में अक्षर	कुल अक्षर
1.	गायत्री	2467	3	8	24
2.	उष्णिक्	341	3	8 8 12	28
3.	अनुष्टुप्	855	4	8	32
4.	बृहती	181	4	8, 8, 12,8	36
5.	पंक्ति	312	5	8	40
6.	त्रिष्टुप्	4253	4	11	44
7.	जगती	1358	4	12	48

इसके अतिरिक्त तीन सौ मन्त्र अतिजगती (13×4), अष्टि (16×4) तथा अत्यष्टि (17×4) आदि विविध छन्दों में निबद्ध हैं। कुछ प्रधान छन्दों की सूची इस प्रकार है–

नाम छन्द	पाद संख्या	प्रतिपाद अक्षर	कुल अक्षर
1. गायत्री	3	8	24
2. उष्ठिक्	3	8,8,12	28
3. प्र० उण्णिक्	3	12,8,8	28
4. अनुष्टुप्	3	8,12,8	28
5. ककुप्	3	8,12,8	28
6. बृहती	3	8,8,12,8	36
7. सतो बृहती	4	12, 8, 12, 8	40
8. पंक्ति	5	8	40
9. प्रस्तार पंक्ति	4	12, 12, 8, 8	40
10. विवज	5	10, 10, 11, 11, 11	53
12. जगती	4	12	48

पिंगलाचार्य का छन्दशास्त्र (छन्दसूत्र)–इस वेदांग का प्रतिनिधि ग्रन्थ 'छन्द:सूत्र' है। यह पिंगलाचार्य कृत है। वैदिक और लौकिक दोनों ही प्रकार के छन्दों को इसमें स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। इसका विभाजन आठ अध्यायों में है तथा इस ग्रन्थ की रचना सूत्ररूप में हुई है। प्रारम्भिक चौथे अध्याय के सातवें सूत्र तक वैदिक छन्दों के लक्षणों को उल्लिखित किया है इससे आगे लौकिक छन्दों की विवेचना है। इसके सूत्रों की संख्या के विषय में विद्वान् मतैक्य नहीं है। हलायुध-भट्ट इसमें सूत्रों की संख्या 308 मानते हैं, भास्करराय ने 300 तथा यादवप्रकाश ने 286 सूत्र माने हैं।

पिंगलछन्दशास्त्र के व्याख्याकार–इस छन्द:शास्त्र की व्याख्या अनेक लोगों ने की है। जिसमें हलायुध, यादवप्रकाश, भास्करराय, मकरध्वजपुत्र-श्रीहर्ष शर्मा, वाणीनाथ, लक्ष्मीनाथ, दामोदर, मेधाव्रतमुनि आदि प्रमुख हैं। इन सब व्याख्याकारों में हलायुधकृत व्याख्या 'मृतसंजीवनी' ने अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है। यादवप्रकाश की व्याख्या पिंगलनाग-छान्दोविचिति-भाष्यम् का प्रकाशन

रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ में हुआ। 'पिंगल-छन्दःसूत्र भाष्यराज' भास्करराय की व्याख्या है। मुनिमेधाव्रताचार्य कृत 'प्रतिमंगला' वृत्ति का प्रकाशन झज्जर गुरुकुल (हरयाणा) से हुआ है। इसमें उदाहरण के रूप में दिए गए श्लोकों में अश्लीलता दिखाई नहीं देती है, षड्गुरुशिष्य के अनुसार आचार्य पिंगल पाणिनि के कनिष्ठ भ्राता थे।[1] इनकी माता दाक्षी और पिता पणिन थे और व्याडि इनके मामा थे। पाणिनि के समान इनका काल भी 500 ई॰पू॰ है। इनका निवास स्थान शालातुर (वर्तमान में लाहौर पाकिस्तान) में था। पंचतन्त्र के एक श्लोक के तृतीय चरण के अनुसार छन्दः शास्त्र के प्रवर्तक पिंगल को समुद्रतट पर मगरमच्छ ने निगल लिया था।[2]

छन्दविषयक अन्य ग्रन्थ—महाकवि कालिदास से भिन्न किसी कालिदास ने वृत्तरत्नावली तथा श्रुतबोध नामक ग्रन्थों की रचना की थी। ईसा की षष्ठ शताब्दी में वराहमिहिर ने 'बृहत्संहिता' के एक अध्याय में छन्दविषयक विवेचन किया है। ईसा की अष्टम शताब्दी में श्री जनाश्रय ने 'छान्दोविचिति' नामक ग्रन्थ तथा 11वीं शताब्दी में क्षेमेन्द्र ने सुवृत्ततिलक नामक ग्रन्थ छन्दों के विषय में लिखे हैं। 1088-1172 ईश्वी में हेमचन्द्राचार्य ने 'छन्दोऽनुशासन' नामक ग्रन्थ रचा। 15वीं शताब्दी में दुर्गादास ने 'छन्दोमंजरी', 16वीं शताब्दी में दामोदर मिश्र ने वाणीभूषण तथा दुःखभंजन ने वाग्वल्लभ नामक छन्दविषयक ग्रन्थ लिखे हैं।

षष्ठ वेदांग-ज्योतिष

वेदांग में ज्योतिष का विशेष महत्त्व है। यज्ञादि अनुष्ठान कालज्ञान के बिना नहीं हो सकते हैं। इसी कारण पाणिनीय-शिक्षा में (श्लोक 41) 'ज्योतिषामयनं चक्षुः' कहकर ज्योतिष को वेद का नेत्र कहा है। 'वेदांग ज्योतिष' में ज्योतिष शास्त्र की इस प्रकार प्रशंसा की है कि जैसे मयूरों की शिखा और नागों की मणियाँ प्रधान हैं, वैसे ही वेदांगशास्त्रों में ज्योतिष मूर्धन्य है—

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद् वेदांगशास्त्राणां ज्योतिषं मर्धूनि स्थितम्।।वे॰ज्यो॰श्लो॰ 4

---

1. तथा च सूत्र्यते हि भगवता पिंगलेन पाणिनीयानुजेन। ऋग्वेदानुक्रमणी 7/9 की टीका
2. छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिंगलम्। पंचतन्त्र 2/36

सायण का कथन है कि ज्योतिष का प्रयोजन वेदांगज्योतिष के अनुसार यज्ञानुष्ठान के काल का ज्ञान है।[1] यह प्रयोजन अति सीमित है। डॉ॰ रामनाथ वेदालंकार के अनुसार ज्योतिष को वेदांग इसलिए मानना उचित है कि ज्योतिष के ज्ञान से वेदों के अनेक स्थल, जो ज्योतिषपरक हैं, सुबोध हो जाते हैं।

ज्योतिष शब्द का अर्थ—ज्योतिष शब्द का अर्थ ज्योतिर्विज्ञान है। आकाश में सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य नक्षत्र ज्योतिर्मय हैं।[2] उनका विज्ञान ज्योतिर्विज्ञान कहलाता है।[3] आचार्य लगध ने भी ऐसा ही कहा है—ज्योतिषामयनम्।[4] कालशास्त्र तथा कालविज्ञानशास्त्र नाम भी ज्योतिषशास्त्र के हैं, क्योंकि ज्योतिषशास्त्र में संवत्सर, चक्र, ग्रहों, उपग्रहों सूर्य-चन्द्रमा आदि की गति इत्यादि कालविषयक तथ्यों का चिन्तन किया जाता है। मैक्समूलर के अनुसार वेदांगज्योतिष का उद्देश्य आकाशीय पिण्डों के विषय में प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करना है, क्योंकि वैदिकयज्ञों के लिए मुहूर्त्तादि का निश्चय आवश्यक है।[5]

यथा—विराट् पुरुष, सूर्य, पृथ्वी, चन्द्र, नक्षत्र, उल्काएँ, पुच्छलतारों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? ब्रह्माण्ड क्या है? सूर्य क्या है? पृथिवी क्या है? सूर्य और पृथ्वी का क्या सम्बन्ध है। सूर्य किस प्रकार परिक्रमा करता है? सूर्य एक ही है या अनेक हैं? सूर्य में चिह्न क्या है? ग्रहण क्या है ओर यह कितने प्रकार का है? जो सूर्य हमारे द्वारा देखा जाता है वह सबसे छोटा है मध्यम है। या बड़ा है। एक सूर्य का दूसरे सूर्यों से क्या सम्बन्ध है? क्या यह सूर्य भी किसी परिधि पर घूमा है? पृथ्वी किस आकार वाली है इसका आकार गोल क्यों है? इसका व्यास कितना है? इसकी परिधि का परिमाण क्या है? यह किस प्रकार घूमती है? किस गति से घूमती है? घूमने पर भी इस पर रहने वाली वस्तुएँ स्थिर किस कारण है? आकर्षण क्या है? दिन क्या है? दिन कैसे बनते हैं? ऋतुएँ क्या है? इनका क्या कारण है? ये कितनी हैं? बार-बार क्रमशः क्यों आती हैं। सब जगह एक समय में एक ऋतु ही क्यों नहीं होती? ऊपर का क्या अर्थ है? नीचे का क्या अर्थ है? चन्द्रमा क्या है किस प्रकार का है? यह कैसे और क्यों घूमता

---

1. ज्योतिषस्य प्रयोजनं तस्मिन्नेव ग्रन्थेऽभिहितम् यज्ञकार्यार्थसिद्धये। वेदांगज्योतिष 3
2. द्योतते प्रकाशते तत् ज्योतिः, अग्निः सूर्यादिकं नक्षत्रं वा द्युतेरिसिन्नादेशश्च जः। उणादिवृत्ति 2/112
3. अधिकृत्य कृतेग्रन्थे। अष्टा॰ 4/3/87 ज्योतिरधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्योतिषम्।
4. वेदांगज्योतिष, श्लो॰ 2
5. मैक्समूलर, हिस्ट्री ऑफ एनशिएण्ट संस्कृत लिटरेचर, 1859

है? क्रमशः क्यों घटता, बढ़ता है? उसका परिमाण क्या है? उसका व्यास तथा परिधि क्या है? चन्द्रमा पर चिह्न क्या है? उसके परिक्रमा करने से पृथ्वी पर क्या परिणाम होता है? चन्द्रमा पर दूसरा चन्द्रमा है या नहीं? चन्द्रमा पर दिन-रात की स्थिति कैसी है। वे पृथ्वी के दिन-रात से लघु हैं अथवा दीर्घ? चन्द्रमा किस पर स्थित है? पृथ्वी किस पर स्थित है? तारे क्या हैं? कितने हैं? स्थिर हैं या परिक्रमा करते हैं? दिन में कहाँ रहते हैं? रात में ही क्यों दिखाई देते हैं? पुच्छल तारे क्या हैं? कितने हैं? उनका निवास स्थान कहाँ? वे कभी-कभी क्यों दिखाई देते हैं? उनके हानि-लाभ क्या है? उल्लकाएँ हैं? ये क्यों दिखाई देते हैं? घटी, पल, मुहूर्त्त क्या हैं? दिन, मास, ऋतु, उत्तरायण, दक्षिणायन, वर्ष, युग, मन्वन्तर, कल्प, महाकल्प क्या है? प्रलय, महाप्रलय क्या है? दिन, मास और वर्ष आदि कितने प्रकार के हैं? उनका उपयोग क्या है?

आकाशगंगा क्या है? नक्षत्र कितने हैं? राशियाँ क्या हैं? कितनी हैं? उनका आकार प्रकार क्या है? उनका मनुष्य पर क्या प्रभाव पड़ता है, अथवा नहीं पड़ता है? सृष्टि, प्रलय एक बार ही होते हैं अथवा बार-बार होते हैं। सब लोकों की प्रलय एक समय होती है अथवा अलग-अलक पर होती है।

प्रकाश क्या है? प्रकाश का स्वरूप क्या है? उसकी गति क्या है? उसकी सीमा है या नहीं? ज्योतियाँ कितने प्रकार की है? ज्योतिष पिण्डों का आकार प्रकाश क्या है? विद्युत् क्या है? आकाश क्या है? उसका परिमाण क्या है? सूर्य, पृथ्वी, चन्द्र आदि तारे एवं ग्रह-उपग्रह कितने भारी हैं? वे कितनी दूरी पर हैं? इत्यादि सभी विषयों पर जिस शास्त्र में विचार किया जाता है उसे 'ज्योतिष' शास्त्र कहते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु तथा संवत्सर आदि काल के समस्त खण्डों के साथ यज्ञ-याग का वेदों एवं वैदिक शास्त्रों में विधान है। अतः इन नियमों का भलीभाँति पालन करने के लिए ज्योतिष शास्त्र को जानना अत्यन्त आवश्यक है। इस विषय में वेदांग-ज्योतिष तो यह कहता है-

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।

तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्।।

(वेदांग-ज्योतिष, श्लो० 3)

अर्थात् वेद यज्ञार्थ ही प्रवृत्त हुए हैं तथा यज्ञ का विधान काल के आश्रय से है। इसलिए काल विधायक इस ज्योतिष को जो जानता है, वही यज्ञ का वास्तविक ज्ञाता है।

ज्योतिष की वेदमूलकता–वेद की ऋचाएँ ही ज्योतिष-विषयों की आदि स्रोत है। यथा–(1) ऋग्वेद का अस्यवामीय (1/164) सूक्त ज्योतिष शास्त्र का प्रेरणादायक स्रोत है। यथा–

द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः।। ऋ॰ 1/164/11

अर्थात् सूर्य का चक्र इसमें बारह अरे हैं जो निरन्तर घूमता है, यहाँ पर सूर्य के निरन्तर घूमने तथा उससे बनने वाले 12 महीनों का वर्णन है। द्वादश प्रधयः चक्रमेकम् (ऋ॰ 1/164/48) में भी यही कहा गया है। कुछ विद्वान् यहाँ 12 राशियों का वर्णन मानते हैं जो उचित नहीं, क्योंकि इसके 720 पुत्र-पुत्रियाँ (360 दिन और 360 रात्रियाँ) है।

(2) अथर्ववेद (19/7/1-5) मन्त्रों में जिनका देवता और वर्ण्य-विषय नक्षत्र है उनमें 27 नक्षत्रों की गणना की गई है।

(3) यजुर्वेद के सत्रहवें, अट्ठारहवें अध्याय में एक से लेकर परार्ध तक की संख्याओं का अनेक प्रकार से उपदेश हैं। अन्य मन्त्रों में भी गणित के सिद्धान्त निर्दिष्ट हैं। यथा–

(4) अथर्व 19/9/7 में आकाश में विचरने वाले ग्रहों का उल्लेख हैं (दिविचराग्रहाः)। अथर्व॰ 19/9/10 में सूर्य, चन्द्रमा, राहु तथा धूमकेतु का वर्णन है।

(5) यजुर्वेद के अनुसार सूर्य की सुषुम्णा नामक किरण से ही चन्द्रमा प्रकाशित होता है।[1] चन्द्रमा को यहाँ गन्धर्व कहा है (गं सूर्य रश्मि धरती वि गन्धर्वः चन्द्रमा)। निरुक्त (2/6) में भी ऐसा ही कहा गया है–आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति।

(6) आयं गौ पृश्निरक्रमीत्...पितरं च प्रयन् त्स्वः। (ऋ॰ 10/189/1) में कहा गया है कि पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती है।

---

1. सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः। यजु॰ 18/40

(7) सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णात् (ऋ॰ 10/149/1) के अनुसार सूर्य ने ही अपनी किरणों से पृथिवी को धारण किया हुआ है।

(8) अथर्ववेद के अनुसार हमारे सौरमण्डल की तरह ही अन्य सात सौरमण्डल भी है।[1]

(9) ऋग्वेद के अनुसार सात दिशाएँ हैं तथा इनमें अनेक सूर्य हैं।[2]

(10) सूर्य की किरणों के कारण ही वर्षा होती है–अव दिवस्तारयन्ति सूर्यस्य रश्मयः। अ॰ 7/107/1

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। यजु॰ 23/62

परम्परा के अनुसार सर्वप्रथम ब्रह्मा ने ज्योतिषज्ञान को प्राप्त करके अपने पुत्र वसिष्ठ को बतलाया। विष्णु ने सूर्य के लिए इसका प्रवचन किया। इसीलिए यह सूर्यसिद्धान्त नाम से भी प्रसिद्ध हुआ।

यद्यपि इस समय आचार्य लगध का ज्योतिषशास्त्र ही उपलब्ध है, किन्तु कभी चारों वेदों के ज्योतिष शास्त्र पृथक्-पृथक् थे। सामवेद का कोई ज्योतिष शास्त्र इस समय उपलब्ध नहीं है। शेष तीनों वेदों के ज्योतिष शास्त्र इस प्रकार है–

(1) ऋग्वेद–आर्षज्योतिष (36 पद्यात्मक)

(2) यजुर्वेद–याजुषज्योतिष (39 पद्यात्मक)

(3) अथर्ववेद–आथर्वण ज्योतिष (62 पद्यात्मक)

इन तीनों के प्रणेता भी लगधाचार्य ही हैं। याजुषज्योतिष के दो भाष्य भी उपलब्ध होते हैं। सोमकारप्रणीत प्राचीनभाष्य तथा सुधाकर द्विवेदीप्रणीत नवीनभाष्य। अनेक पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने इस शास्त्र पर टीकाएँ लिखी हैं। इनमें पं॰ शंकरबालकृष्ण दीक्षित, बालगंगाधर तिलक, सुधाकर द्विवेदी, डॉ॰ सत्यप्रकाश सरस्वती, प्रो॰टी॰ कुप्पन शास्त्री, विलियनम जोंस, बेवर, हिटनी, कोलब्रुक तथा थीबो आदि प्रमुख हैं।

वेदांगज्योतिष के रचयिता

इस समय वेदांग ज्योतिष ही उपलब्ध सभी ग्रन्थों में सबसे प्राचीन है। वेदांग

---

1. यस्मिन् सूर्या अर्पिताः सप्त साकम्। अ॰ 13/3/10
2. सप्त दिशो नाना सूर्याः। ऋ॰ 9/114।3

ज्योतिष में यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत ज्योतिष में लगध के काल-ज्ञान को ही बताया है।

प्रणम्य शिरसा ज्ञानमभिवाद्य सरस्वतीम्।

कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः।। वेदांगज्योतिष-श्लोक-2

'वेदांगज्योतिष' में लगधाचार्य के सिद्धान्त है यह तो पता चलता है, परन्तु इसके लेखक कौन हैं, इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है।

'वेदांगज्योतिष' के पहले श्लोक[1] में आए 'शुचि' शब्द का अर्थ डॉ॰ आर॰ शाम शास्त्री में लगधाचार्य का शुचि नामक शिष्य किया है—

इह तावज्जोतिर्विदो लगधाचार्यस्य शिष्यश्शुचिर्नाम कश्चन ऋषिः प्रारिप्सितस्य ग्रन्थस्य।...। इस प्रकार इस ग्रन्थ के लेखक शुचि नाम कोई आचार्य हो सकते हैं।

वेदांगज्योतिष का रचना-काल—पाश्चात्य विद्वानों में डॉ॰ थीबो वेदांगज्योतिष का समय ब्राह्मणग्रन्थों के पश्चात् मानते हैं।[2] जोंस 1181 ई॰ पूर्व इसे मानते है।[3]

मैक्समूलर के अनुसार वेदांगज्योतिष का समय तृतीय शताब्दी है। बेवर इसे पाँचवी शताब्दी मानते हैं। वेदांग में निहित सम्पात तथा अयन की गणना करके डेविस[4] तथा कोलब्रुक[5] ने इसका समय ई॰पू॰ 1391 माना है।

शंकरबालकृष्ण दीक्षित ने वेदांगज्योतिष में उल्लिखित घनिष्ठा के प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले तारों से गणना करके इसका समय 1400 ई॰ पूर्व माना है।[6] बालगंगाधर तिलक ने इसका समय 1200 या 1400 ई॰पू॰ माना है।[7] विविध मतों का परीक्षण करके प्रो॰ कुप्पन स्वामी ने वेदांगज्योतिष का काल 1370 ई॰पू॰ निर्धारित किया है।

---

1. पंचसंवत्सरमययुगाध्यक्षं प्रजापतिम्।
   दिनर्त्वयनमासान् प्रणम्य शिरसा शुचिः।
2. थीको, एस्ट्रोनोमी, एस्ट्रोलोजी एण्ड मेथेमेटिक्स, पृ॰ 19-20
3. ज़ोंस, एशियाटिक रिसर्चेस, 2/393
4. डेविस, एशियाटिक रिसर्चेज 2/268, 5/288
5. कोलब्रुक, इसेज, 1/109-10
6. भारतीयज्योतिष, प्रकाशनब्यूरो, लखनऊ, 1957, पृ॰ 123-127
7. लोकमान्य तिलक, गीतारहस्य, पृ॰ 552

वेदांगज्योतिष के दो प्रतिनिधि ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। (1) आर्यज्योतिष– इसका सम्बन्ध ऋग्वेद से है। इसमें 36 श्लोक हैं। (2) याजुषज्योतिष, इसका सम्बन्ध यजुर्वेद से है। इसमें 44 श्लोक हैं। दोनों के श्लोक लगभग एक जैसे ही है, किन्तु इनकी पाठव्यवस्था भिन्न है। वेदांगज्योतिष के कुछ पद्य ऐसे भी हैं जिनका मर्म अभी भी विद्वानों की पहुँच से बाहर है। डॉ॰ शामशास्त्री के अनुसार दोनों पुस्तिकाओं की श्लोकसंख्या में अन्तर इसलिए है कि टीकाकारों ने याजुषज्योतिष में अपनी ओर से कुछ श्लोक जोड़ दिये है।[1]

वेदांगज्योतिष की सूत्रशैली अत्यन्त ही संकेतात्मक है। ज्योतिष का रहस्य वेत्ता विद्वान् ही इन्हें समझ सकता है, सामान्य अध्येता नहीं। वेदांगज्योतिष के प्राचीन टीकाकार सोमाकर है। इन पर अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने भाष्य तथा टीकाएँ आदि लिखी है। इनमें बेवर, विलियम जोन्स, ह्विटनी, कोलब्रुक, थीबो, मैक्समूलर, शंकर बालकृष्ण दीक्षित, सुधाकर द्विवेदी तथा डॉ॰ आर॰ शाम शास्त्री प्रमुख हैं। भारतीय ज्योतिष का मूल यही वेदांगज्योतिष है। आगे चलकर संहिता, गणित तथा जातक इन तीनों रूपों में ज्योतिष का विकास हुआ। मैक्समूलर के अनुसार वेदांगज्योतिष का उद्देश्य ज्योतिष की शिक्षा देना नहीं है, अपितु इसका उद्देश्य आकाशीय पिण्डों के विषय में ऐसे ज्ञान को उपलब्ध कराना है जो वैदिक यज्ञों के लिए दिनों और मुहूर्तों के निश्चयार्थ आवश्यक है।

1. डॉ॰ आर॰ शामशास्त्री, 1936 ई॰ में प्रकाशित वेदांगज्योतिष, भूमिका।

षष्ठ अध्याय

परिशिष्ट (विविध विषय)

(1) वेदों में प्रयुक्त दास तथा दस्यु

वेदों में इन शब्दों का प्रयोग कई स्थानों पर हुआ है, किन्तु आर्य तथा द्रविड़ शब्दों के अर्थों के समान ही दास तथा दस्यु के अर्थों को समझने में भी भूलें की गयी हैं। ये भूलें विशेषकर पाश्चात्य विद्वानों तथा उनकी ही सरणि पर चलने वाले इतिहासकारों ने की हैं। इनके अनुसार वेदों में दास पद उन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है जिन्हें आर्यों ने पराजित करके अपना दास बना लिया था। इनके अनुसार यह पद प्रजातिपरक है। दस्यु भी इसका ही समानार्थक है।

उक्त धारणा इसलिए ठीक नहीं है कि वेदों में इन दोनों शब्दों का प्रयोग विभिन्न अर्थों में पाया जाता है। कहीं पर यह परिचायक के रूप में भी है।[1] किन्तु सर्वत्र इसका यह अर्थ नहीं है, न ही यह पद कहीं पर भी प्रजातिपरक है। वेदों में दास तथा दस्यु पद मेघ के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं। यथा–

वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत्। ऋग् 1/59/6

इस मन्त्र की व्याख्या में यास्काचार्य ने दस्यु का अर्थ 'अकाल' करते हुए दस्यु का निम्न निर्वचन किया है–"दस्युर्दस्यते क्षयार्थात्। उपदस्यन्त्यस्मिन् रसाः। उपदासयति कर्माणि।" (नि॰ 7/23)। वर्षा के अभाव में वनस्पति आदि के रस सूख जाते हैं। इस अकाल को सूर्य की अग्नि ने शम्बर अर्थात् मेघ का वध करके वर्षा से दूर किया। वेद में कर्महीन व्यक्ति के लिए भी दस्यु पद का प्रयोग हुआ है।[2] ऋग्वेद में आर्य के विलोम अर्थ में भी दस्यु शब्द प्रयुक्त है।[3] इस प्रकार दस्यु शब्द किसी वर्ग या जातिविशेष के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है।

1. अरं दासो न मीळ्हुषे कराणि। ऋ॰ 7/86/7
2. अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतोऽमानुषः। ऋ॰ 10/22/8
3. विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः। ऋ॰ 1/51/8

दास शब्द की भी यही स्थिति है। ऋग्वेद में यह पद आर्य व्यक्ति[1] तथा वर्ण के विशेषण रूप में प्रयुक्त है।[2] दास का ही स्त्रीलिंग रूप दासी है। यह पद ऋग्वेद में प्रजा के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है।[3] ऋग्वेद में मेघ के लिए भी दास पद प्रयुक्त है तथा जलों को दासपत्नी कहा गया है।[4] इस प्रकार वेद में कहीं भी दास पद जाति या वर्गविशेष के लिए प्रयुक्त नहीं है।

यह भी कल्पना की गयी कि आर्यों का रंग गौरा तथा दासों का रंग काला था। यह कल्पना जिन मन्त्रों के आधार पर की गयी, वे निम्न हैं–

(1) वचो यः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना। ऋ० 1/101/1

(2) त्वचं कृष्णामरन्धयन्। ऋ० 1/130/8

(3) कृष्णा असेधदप सद्मनो जाः। ऋ० 6/47/21

इन मन्त्रों से किसी भी प्रकार यह सिद्ध नहीं होता कि दास, दस्यु आदि काली चमड़ी वाले लोग थे। पुनरपि पाश्चात्य विद्वानों ने ऐसा ही लिखा है। यथा–मैक्डानल का कहना है कि "वास्तव में कृष्णवर्ण के आदिवासियों का नाम ही दास–दस्यु आदि है।"[5] इसी प्रकार ग्रिफिथ ऋ० 1/19/1 के अनुवाद की टिप्पणी में लिखता है "काले रंग के आदिवासी जिन्होंने आर्यों का विरोध किया।"[6] ये सभी कल्पनाएँ असत्य एवं निराधार हैं।

ऊपर निर्दिष्ट मन्त्रों में से कृष्णगर्भा का अर्थ मेघ की काली घटा है–कृष्णवर्ण का मेघ जिनके गर्भ में है, ऐसी काली घटा। स्कन्दस्वामी कहते हैं कि वर्षा करने वाले जल ही कृष्णगर्भा हैं, क्योंकि वे काले रंग के मेघ में रहते हैं।[7] इसी प्रकार सायणाचार्य ने भी ऋ० 7/17/14 में कृष्ण का अर्थ कृष्ण वर्ण मेघ किया है।

त्वचं कृष्णमरन्धयत् ऋ० 1/130/8 का अर्थ पाश्चात्यों ने यह किया है कि "कृष्ण त्वचा वाले असुरों को मारकर"। यह अर्थ बिल्कुल ही काल्पनिक एवं

1. विचिन्वन् दासमार्यम्। ऋ० 10/86/19
2. दासं वर्णमधरं गुहाकः। ऋ० 2/12/4
3. आर्याय विशोऽव तारीर्दासीः ऋ० 6/25/2
4. दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः। ऋ० 1/32/11
5. The Term Das, Dasyu is properly the name of the dark oborigines.
6. The Dusky blood the dark oborigines who opposed the Aryans.
7. वृष्टिलक्षणा आपः कृष्णगर्भाः कृष्णवर्णस्य मेघस्य गर्भभूतत्वात्।

अशुद्ध हैं। इसकी व्याख्या में वेदभाष्यकार वेङ्कटमाधव लिखते हैं–मेघं वशमनयत्। अर्थात् काली त्वचा वाले मेघ को (सूर्य ने) वश में किया।

पाश्चात्यों का कहना है कि दास, दस्यु, द्रविड़ लोग चपटी नाक वाले तथा लड़ाई की भाषा बोलने वाले थे। उन्होंने निम्न मन्त्र के आधार पर ऐसा कहा है–

अनासो दस्यूँरमृणो वधेन नि दुर्योण आवृणङ् मृध्रवाचः। ऋ॰ 5/29/10

यहाँ पर प्रयुक्त अनास का अर्थ चपटी नाक वाले तथा मृध्रवाचः का अर्थ 'लड़ाई की भाषा बोलने वाले' किया गया है। यह व्याख्या ठीक नहीं है, क्योंकि अनासः पद दस्यून् का विशेषण है तथा मध्योदात्त है। यदि इसका अर्थ 'न विद्यते नासिका यस्य' बहुब्रीहि समास करके किया जाए तो पाणिनि के अनुसार यहाँ नासिका को नस् आदेश तथा अच् प्रत्यय होकर अकारान्त 'अनस' पद बनेगा। इसका द्वितीया बहुवचन में 'अनासान्' रूप बनेगा, अनासः नहीं। वस्तुतः यहाँ नासिका का कोई प्रसंग ही नहीं है।

नास् शब्द स्वादि गण की 'णासृ शब्दे' धातु से बना है। नासते शब्दं करोति इति नाः नास्। अर्थात् जो शब्द करता है, वह नास् है। जो शब्द नहीं करता, वह अनास् है। यह पद मन्त्र में ऐसे बादल के लिए प्रयुक्त हुआ है जो बिना गर्जन के ही बरसने लगते हैं। मन्त्र में दूसरा पद 'मृध्रवाच' है। यह ऐसे बादलों के लिए आया है जो भयंकर गर्जन करते हैं। उनकी गड़गड़ाहट से कभी-कभी कान भी फटने से लगते हैं। इस पद का अर्थ युद्ध की भाषा बोलने वाला कथमपि सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि वेदों में प्रयुक्त दास तथा दस्यु शब्द किसी वर्ग या जाति विशेष के वाचक नहीं है, अपितु ये कहीं पर तो मेघों के लिए प्रयुक्त हैं तो कहीं पर कर्म तथा पुरुषार्थहीन-दुष्ट स्वभाव वाले व्यक्ति के लिए आये हैं। भाष्यकारों ने भी इनके ये ही अर्थ किये हैं। यथा–यथा दासान्यार्याणि वृत्रा करः। ऋ॰ 6/22/10

इसकी व्याख्या में सायणाचार्य लिखते हैं–दासानि = कर्महीनानि मनुष्य जातानि आर्याणि = कर्मयुक्तानि करः = कृतानि। अर्थात् इन्द्र राजा ने राष्ट्र के कर्महीन लोगों को पुरुषार्थी बना कर कार्यों में लगाया। सुख्यात दाक्षिणात्य विद्वान् प्रि॰ पी॰टी॰ श्री निवास ने भी आर्य तथा दस्युओं को गुण-कर्म-स्वभाव

1. अञ्नासिकायाः नसं चास्थूलात्। अ॰ 5/4/119

पर आश्रित माना है, न कि जातीयभेद पर।[1] इसी प्रकार रामचन्द्र दीक्षितार का कहना है कि "यह मत कि दस्यु और द्रविड लोग पंजाब और गंगा की घाटी में रहते थे, तथा जब आर्यों ने आक्रमण किया तो वे आर्यों से पराजित होकर दक्षिण की ओर भाग गये तथा दक्षिण को ही अपना घर बना लिया" युक्तियुक्त नहीं है।[2] पाश्चात्य विद्वान् म्यूर भी लिखते हैं कि "मैंने ऋग्वेद में आये दस्यु अथवा असुर नामों पर इसी दृष्टि से विचार किया कि क्या उनमें से किसी को अनार्यों या मूलनिवासियों से उत्पन्न समझा जा सकता है? किन्तु मुझे इसका कोई प्रमाण नहीं मिला।[3] गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के अनुसार आर्य तथा दास शब्दों को प्रजातिपरक मानना ही संदिग्ध है।[4]

(2) आर्य तथा द्रविड शब्दजाति वाचक नहीं है

आर्य, दास तथा दस्यु शब्दों का प्रयोग तो वेदों में अनेक स्थानों पर उपलब्ध है, किन्तु द्रविड शब्द चारों वेदों में कहीं भी प्रयुक्त नहीं है। आश्चर्य यह है कि इस द्रविड शब्द को आर्य के साथ जोड़कर भारत में आर्य तथा द्रविड नाम दो जातियों (नस्लों) की कल्पना कर ली गयी। यह माना जाने लगा कि द्रविड लोग दक्षिण भारतीय हैं तथा आर्यों ने विदेश से आकर यहाँ के मूल निवासियों को परास्त करके तथा उन्हें दक्षिण की ओर खदेड़ कर उत्तरी भारत पर अपना

---

1. The Aryas and Dasyus all referred to not as indicating different races. These words refer to cult, and not to race. The Dasyus are without rites, fireless, non sacrificers, without prayers, without rites etc. Thus the difference between Aryas and Dasyus is not of race, but cult.
2. The fact is that the Dasyus were not non-Aryans. The theory that the Dasyus-Dravadians inhabited the Punjab and the Ganges Valley at the time of the so called Aryan invasion of India and over come by the latter, they fled to south India and adopted it, as their home cannot stand-Origin and Spread of Tamils by V.R. Ramachandra Dikshitar, P-14.
3. I have gone over the names of Dasyus and Asurs mentioned in the Rigveda with the view of discovering whether any of them could be regarded as of non-Aryans or indigenous origin, but I have not observed what appeared to be of this character–Original Sanskrit Texts, Vol. 11, p.387.
4. वैदिक संस्कृति, पृ० 28

आधिपत्य स्थापित कर लिया। तथाकथित इतिहासकार भी इसी कल्पना का समर्थन करने लगे तथा वैदिक साहित्य के इतिहास लेखक भी ऐसा ही लिखने लगे।

द्रविड कल्पना का प्रारम्भ—1600 ईसवी के आसपास वार्थलोम्य जिगलेवर्ग नामक पादरी ने दक्षिण भारतीयों को अलग इकाई मानने की कल्पना की जिसकी पुष्टि 1866 में एडवर्ड टामस ने आर्यजाति की कल्पना करके की। 1856 में काल्वेल नामक पादरी ने 'Comparative philosophy of the Dravadian or south Indian Language' नामक पुस्तक में द्रविड भाषा का व्याकरण लिखकर द्रविडात्मकता को आधार प्रदान किया। यह सर्वप्रथम ईसाई पादरी था जिसने द्रविड़ शब्द गढ़कर आर्य तथा द्रविड़ों के भेद का भवन खड़ा किया। द्रविड़ भाषा का नाम गढ़कर उस भाषा को बोलने वाली द्रविड जाति की कल्पना भी तब की जाने लगी। पाश्चात्यों का अनुगमन करने वाले कुछ भारतीय भी इन्हीं विचारों के पोषक एवं प्रतिपादक थे। जैसे कि 1964 ई० में प्रकाशित एन०वी० मौर्य की पुस्तक National Antigration नामक पुस्तक में भारतवर्ष को अन्य नस्लों के साथ आर्यन् तथा द्रविड नस्लों में विभाजित किया गया। इसके अनुसार पंजाब, राजपुताना तथा कश्मीर में आर्य नस्ल के लोग हैं। तथा मद्रास, आन्ध्र, केरल, मध्यप्रदेश, उड़ीसा तथा मैसूर द्रविड़ों का क्षेत्र है। ऐसे लेखकों के विषय में सुख्यात विद्वान् डॉ० फतेह सिंह लिखते हैं—"यह देश का बड़ा दौर्भाग्य है कि स्वतन्त्रता के 56 वर्ष बीतने के बाद भी हम उन्हीं विचारों को ब्रह्मवाक्य मान लेते हैं जो विदेशी साम्राज्यवादियों ने अपने स्वार्थ की दृष्टि से व्यक्त किए थे।"[1] पाश्चात्य तथा उनके अनुयायी भारतीय इतिहासकारों तथा विद्वानों ने इस प्रकार की असत्य कल्पनाओं के आधार पर दक्षिण भारतीयों के मस्तिष्क में यह असत्य बैठा दिया कि उत्तर भारतीय हिन्दी भाषी आर्य ही तुम्हारे परम्परागत शत्रु हैं जिन्होंने तुम्हारे ऊपर आक्रमण करके तुम्हें दक्षिण की ओर धकेल दिया।[2]

यह भी कहा गया कि भारत में आर्यों के आगमन से पूर्व जो द्रविड सभ्यता विद्यमान थी, वह अब इराक तथा भूमध्य सागर के तट पर विद्यमान प्राचीन सभ्यता या योरोप की साइबीरियन की सभ्यता के समान थी। जिस प्रकार आर्यों के उक्त दोनों सभ्यताओं को नष्ट किया, उसी प्रकार भारत की प्राचीन द्रविड

1. फतेह सिंह, वेदविद्या का पुनरुद्धार, पृ० 35
2. वैदिक इतिहास एवं पुरातत्व की अद्यतन प्रवृत्तियाँ, पृ० 86

सभ्यता को भी नष्ट कर दिया। यह एक विशुद्ध कल्पना थी तथा इसका प्रचार-प्रसार इतने सुनियोजित रूप में किया गया कि भारतीय जनमानस में अभी भी ये विचार किसी न किसी रूप में विख्यात है।

वस्तुतः 1857 के प्रथम भारतीय स्वतन्त्रतासंग्राम के पश्चात् ब्रिटिश शासकों ने भारत में अपना राज्य स्थिर करने के लिए नस्ल, भाषा तथा मजहब के नाम पर भारत में फूट डालने का जो प्रयास किया, उसी के परिणाम स्वरूप आर्य तथा द्रविड के रूप में दो जातियों/नस्लों की कल्पना की गयी। आर्यन रेस की अवधारणा का उदय 19वीं सदी में हुआ तथा इसके जनक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इतिहासकार व भाषा-शास्त्री प्रशासक और योरोप के प्राच्य भाषाविद् हैं।

वस्तुतः आर्य तथा द्रविड शब्दों में से कोई सा भी जाति या नस्लवाचक नहीं है। आर्य का अर्थ श्रेष्ठ या अच्छा व्यक्ति है जबकि द्रविड शब्द स्थान वाचक है, जातिवाचक नहीं। स्वामी दयानन्द ने आदि शंकराचार्य को द्रविडदेशोत्पन्न लिखा है। आर्य तथा द्रविड शब्द नस्लवाचक नहीं है, इस विषय में निम्न प्रमाण ध्यान देने योग्य है-(1) नृवंशवैज्ञानिक सर जार्ज कैम्पबैल लिखते हैं कि "नृवंश शास्त्र के आधार पर उत्तर तथा दक्षिण के समाज में कोई भेद नहीं है तथा द्रविड़ नाम की कोई जाति नहीं है।" (2) एन्थ्रोपोलोजी के वैज्ञानिक अध्येताओं को आर्य तथा द्रविड नाम की किसी भी नस्ल का पता नहीं, ऐसा नीलकण्ठ शास्त्री कहते हैं। (3) कोलकाता विश्वविद्यालय में एन्थ्रोपोलोजी के प्रोफेसर शशांक शेखर सरकार का कथन है कि 'आर्य तथा द्रविड भाषापरिवारों के नाम हैं।"[1]

(4) विश्व के महान् मनीषी तथा वैज्ञानिक जूलियन हक्सले का कथन है कि नस्लवाद एक कपोलकल्पना है तथा भयंकर कपोलकल्पना है। हक्सले के अनुसार सांस्कृतिकतत्त्वों को प्रजननपरक मानना भूल है। (हक्सले, यूनीकनैस ऑफ मैन)

(5) योगी अरविन्द घोष भारत में आर्य तथा द्रविड नस्लभेद को सर्वथा अवैज्ञानिक कहते हैं। उनके अनुसार वेदों में जो आर्य-अनार्य का भेद प्रतीत होता है, वह नस्ल का नहीं, अपितु संस्कृति का है।

---

1. डॉ० फतेहसिंह, वेदविद्या का पुनरुद्धार, वेदसंस्थान, नयी दिल्ली, 2004 ई०, पृ० 34

(6) विश्वविख्यात इतिहासवेत्ता ए॰एल॰ वाशम (A.L. Basham) अपने एक 'Some Reflection on Aryan and Dravadians' नामक लेख में लिखते हैं, "इतिहासविदों ने मोहनजोदड़ों तथा हड़प्पा को द्रविड कहा है, परन्तु मोहनजोदड़ों में देखी गयी कई धार्मिक बातें दक्षिणभारत की विशेष नहीं है, न ही एक दूसरे की खोपड़ियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं। इसलिए न कोई आर्यजाति है और न द्रविड और हम ऐसा ही मानते हैं कि केवल एक मनुष्यजाति है।"[1]

(7) ग्रोवर नामक विद्वान् ने दक्षिणभारत के लोकगीतों पर एक पुस्तक 'Folk songs of southern India' लिखकर उसमें द्रविड़ों को आर्य सिद्ध किया है।

(8) इस समस्या पर विचार करते हुए नेसफील्ड ने स्पष्ट घोषणा की कि भारत के लोगों को आर्यों तथा आदिवासियों के रूप में विभक्त करने की कल्पना बिल्कुल आधुनिक है–

It is a modren doctrine which divides the population of India in to Aryan and A borigines-Nesfield Brief reviews of the cast system of the North-Western provinces of Qudh. p. 27.

(9) एन्थ्रोपोलॉजी के अमेरिकी विद्वान् डॉ॰ मिल्टन सिंगर तथा सुप्रसिद्ध भारतीय इतिहासवेत्ता नीलकण्ठ शास्त्री ने समवेत स्वर में कहा है कि आर्य तथा द्रविड विवाद का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है।[2]

आर्यन् रेस की कल्पना सर्वप्रथम मैक्समूलर ने की थी।[3] किन्तु उन्होंने इसे केवल भाषापरक माना था न कि नस्लपरक। मैक्समूलर स्वयं कहते हैं "मैंने बार-बार घोषणा की है कि यदि मैं आर्य शब्द का प्रयोग करता हूँ तो मेरा अभिप्राय न किसी रक्त से होता है, न अस्थि, केश अथव खोपड़ी से होता है। मेरा तात्पर्य केवल उन लोगों से है जो आर्यभाषा बोलते हैं। अतः आर्य शब्द का प्रयोग नस्ल के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है।"[4]

---

1. There is no Aryan Race and no Dravadian race-Bulletin, Institute of Historical Research, Madras, 1963, p. 225.
2. American Anthropologist Dr. Milton Singer and well known historian of India Prof. K.A. Nilkantha Shasri, were unanimous in their view that the Aryan-Drarvadian race controversy had no scientific base-the Hindu Murals 3/2/1964
3. Maxmuller, Biographies of words and the home of the Aryans, 1988, p. 120
4. Collected work. p. 90 and Cambridge Ancient History by Maxmuller.

आर्य एवं द्रविड नस्ल के काल्पिनक भेद का दुष्परिणाम यह हुआ कि दक्षिण भारतीयों के मन में अपने को द्रविड जाति मानकर उत्तर भारतीयों को प्रति अलगाव, द्वेष तथा घृणा की भावना जम गयी, जो अभी भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। इसका ज्वलन्त उदाहरण तमिलनाडु प्रदेश है जहाँ संस्कृत तथा आर्यसंस्कृति का विरोध ही किया जाता रहा है। D.M.K. तथा A.D.M.K. इन दोनों राजनीतिक पार्टियों का जन्म भी इसी आधार पर हुआ है। भूतकाल में रामास्वामी नायकर ने इसी आधार पर मद्रास में अपना आन्दोलन चलाया था।

आर्य तथा द्रविड़ों के भेद की यह धारणा सामान्य जनों में ही व्याप्त नहीं है, अपितु प्रखर चिन्तक तथा लेखक भी इसके प्रभाव में हैं जैसा कि सुनीति कुमार चटर्जी ने Vedic India में लिखा कि मूल आर्य ऊँचे, गौरे तथा नीली आँखों वाले थे—जबकि द्रविड ठिगने तथा काले रंग के। इसका प्रतिवाद करते हुए गोविन्दचन्द्र पाण्डेय लिखते हैं। "इस प्रकार की कल्पना का पर्याप्त आधार नहीं है। आर्य शब्द मूलतः भाषापरक है, न कि जातिपरक।"[1]

आर्य शब्द की व्युत्पत्ति आर्य, अरि तथा अर से की जाती है। निघण्टु में आर्य को ईश्वर नाम कहा गया है।[2] अर्य से ही आर्य बना। अतः निरुक्तकार ने 'आर्य ईश्वरपुत्रः' लिखा है। स्कन्दस्वामी ने आर्य के पर्यायवाची उत्तम, पूज्य, स्वामी या साधुवृत्त दिये हैं। इस आधार पर गोविन्दचन्द्र पाण्डेय लिखते हैं कि इस प्रकार आर्य शब्द एक ओर स्वामित्व का द्योतक था तो दूसरी ओर नैतिकता तथा धार्मिकश्रेष्ठता का।[3] आर्यशब्द एक उपजाति वाचक है—इस बात का सर्वप्रथम उल्लेख विलियम जोन्स ने किया था, किन्तु तब यह नाम भाषा के आधार पर रखा गया था, न कि नस्ल के आधार पर।

उत्तर तथा दक्षिण भारत के लोग प्रारम्भ में ही एक ही वैदिक संस्कृति तथा साहित्य से बंधे हैं तथा उनमें आर्य-द्रविड जैसा नस्लभेद नहीं था। इस विषय में पूर्व लोकसभा अध्यक्ष श्री अनन्तशमनम् आयंगर लिखते हैं कि आन्ध्र के लोग प्रारम्भ से ही अपने आपको आर्यों से निःसृत मानते आये हैं और अपनी लिपि, भाषा, साहित्य, कला, धर्म तथा विज्ञान की दृष्टि से उनका निकट सम्बन्ध

---

1. पाण्डेय गोविन्दचन्द्र, वैदिकसंस्कृति, पृ॰ 12–13
2. राष्ट्री अर्यः नियुत्वान् इन इति चत्वारि ईश्वरनामानि। निघ॰ 2/22
3. वैदिक संस्कृति, पृ॰ 19

रहा है।[1] इस सम्बन्ध में हम नवभारत टाइम्स दिल्ली से प्रकाशित एक समाचार को यहाँ ज्यों-का-त्यों दे रहे हैं–

(3) आर्य-द्रविड़ विभाजन-महज कल्पना : स्टडी

इंडिया को नॉर्थ और साउथ में अलग करके दिखाने वाली रेखा नई स्टडी से काफी धुंधली हो चुकी है। हार्वर्ड यूनिवर्सिटी और अपने देश रिसर्चरों की स्टडी कहती है कि हम सभी भारतीय आपस में एक हैं। मतलब यह कि सभी भारतीय आनुवांशिक रूप से आपस में जुड़े हुए हैं। सभी का एक-दूसरे से नाता है। इसके साथ ही सदियों से चला आ रहा यह कथन कि आर्य उत्तरभारतीय हैं और दक्षिणभारतीय द्रविड हैं एक कपोलकल्पना के अलावा कुछ नहीं।

सेंटर फॉर सेल्युलर ऐंड मॉलिक्यूलर बॉयलोजी (सीसीएमबी) ने इस स्टडी को हार्वर्ड मेडिकलस्कूल, हार्वर्ड स्कूल ऑफ पब्लिक हेल्थ, ब्रॉड इंस्टिट्यूट ऑफ हार्वर्ड और एमआईटी की मदद से अंजाम दिया। स्टडी बताती है कि आज के भारतीयों में उत्तर और दक्षिणभारतीयों के पुरखों का जिनेटिक अंश है।

जिनके पूर्व डायरेक्टर और इस स्टडी के को-ऑथर लालजी सिंह कहते हैं कि यह रिसर्च पेपर इतिहास को नए सिरे से लिखेगा। सीसीएमबी के सीनियर साइंटिस्ट के. तंगराजन कहते हैं कि आर्य-द्रविड़ थ्योरी में जरा भी सचाई नहीं है। ये थ्योरी उत्तरभारतीय और दक्षिणभारतीयों के अपनी-अपनी जगह जम जाने के सैकड़ों साल बाद आई।

(4) क्या सिन्धुसभ्यता द्रविडसभ्यता है?

इतिहासकारों तथा पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा आर्य तथा द्रविड शब्दों को नस्लवाची मानने के साथ-साथ यह कल्पना भी की गयी कि सिन्धुघाटी की सभ्यता ही द्रविडसभ्यता है। इसे ही मोहनजोदड़ो-हडप्पा सभ्यता के नाम से जाना जाता है। यह कल्पना भी नस्लवाद के समान ही केवल अनुमान तथा पूर्वाग्रह पर आधारित थी जिससे कि द्रविडों को इससे सम्बन्धित मानकर उन्हें आर्यों से पृथक् नस्ल का माना जाए। इस कल्पना के मूल में उत्तर तथा दक्षिण भारत में वैमनस्य तथा फूट का बीज बोना था, जो पुष्पित एवं पल्लवित होकर

1. स्वामी विद्यानन्द, आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता, पृ. 124 से उद्धृत

आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है तथा भारत का राष्ट्रीय अहित कर रहा है।

सिन्धुसभ्यता के अवशेष अब तक बलूचिस्तान से लेकर उत्तरप्रदेश में गंगा-यमुना-दुआबा के पूर्व तक तथा हिमायल से लेकर नर्मदा नदी तक के क्षेत्र में कई सौ स्थानों पर मिल चुके हैं। इसे सिन्धुसभ्यता कहने का कारण यह है कि ये अवशेष सर्वप्रथम सिन्धु नदी की घाटी में पाये गये थे। कर्नल कनिंघम को पंजाब के हडप्पा नाम स्थान से कुछ प्राचीन अवशेषों के साथ एक मुद्रा भी मिली थी। इसके कई वर्षों पश्चात् राखलदास बनर्जी को सिन्धुप्रान्त में मोयाँ-जो-दारो (मुर्दों का टीला) से वैसे ही अवशेष मिले जैसे कि हडप्पा में मिले थे। इस टीले की खुदाई करने पर वहाँ प्राप्त अवशेषों के आधार पर बनर्जी ने इसे आर्यसभ्यता कहा। इसके दण्डस्वरूप उन्हें राजकीय सेवा से निकाल दिया गया। बनर्जी उस समय Archaeogical survey of India के Director General John Marshall जानमार्शल के सहायक थे। जॉन मार्शल ने सिन्धुघाटीसभ्यता को द्रविडों की कहा, जो उनके पूर्वाग्रह पर आधारित था। इसके आधार पर वे आदिवासियों के मस्तिष्क में एक ऐसे पृथक् राष्ट्र की कल्पना भरना चाहते थे, जो आर्यों से भिन्न हो।[1]

जोधपुर विश्वविद्यालय के तात्कालिक संस्कृतविभागाध्यक्ष तथा 'राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान' के निदेशक डॉ॰ फतेहसिंह ने सिन्धुलिपि को सर्वप्रथम सफलता पूर्वक पढ़ा। इस विषय पर वे स्वयं लिखते हैं–"सिन्धु मुद्राओं को नस्लवादीदृष्टि से अध्ययन करते हुए जब मैं निराश हो गया तो मैंने लिपियों के तुलनात्मक अध्ययन से सिन्धुलिपि को खोज निकाला।"[2]

सन् 1960 तक उन्होंने 2500 सिन्धु मुद्राएँ पढ़ ली थी। इनके आधार पर अपने विचारों की प्रस्तुति करते हुए डॉ॰ फतेहसिंह लिखते हैं–"मेरा मत बना कि सिन्धुघाटी के हडप्पा और मोयाँ-जो-दारो की खुदाई में मिली यज्ञवेदियाँ वैदिक हैं। सिन्धु मुद्राओं पर जो लिपि है, वह पूर्वब्राह्मी है और उनके लेखों में ओम्, उमा, इन्द्र, मित्र, वरुण, राष्ट्र, वषट् आदि जो वैदिक शब्द मिलते हैं, उनके आधार पर इन नगरों की सभ्यता को निश्चयपूर्वक वैदिक मानना पड़ता है।"[3]

---

1. फतेहसिंह, वेदविद्या का पुनरुद्धार, पृ॰ 32
2. वही, पृ॰ 40
3. वही, पृ॰ 46

डॉ॰ सिंह ने 'राजस्थान-प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान' की 'स्वाहा' नामक पत्रिका में एतद्विषयक कई लेख लिखे तथा अपने शोधकृति को 1968 में प्रकाशित कराया। इसके समर्थन में पद्मघर पाठक ने 1968 में 'Hindustan times' में एक लेख 'Decipherment of SINDU Scripts' नाम से लिखा था जिसे सम्पादकमण्डल के एक दक्षिणभारतीय सदस्य के प्रयास से दो महीने तक प्रकाशित नहीं होने दिया गया। पत्र के मुख्य सम्पादक वर्गीज को लिखे गये लेखक के दो पत्रों के पश्चात् ही वह लेख प्रकाशित हो सका। डॉ॰ फतेह सिंह को मिले व्यक्तिगत पत्रों में यह धमकी भी दी गयी थी कि यदि सिन्धुसभ्यता को आर्यसभ्यता सिद्ध करने का यह प्रयत्न चलता रहा तो द्रविडों को इसके विरुद्ध जोरदार आन्दोलन करना पड़ेगा।[1] कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के विद्वान् एफ॰आर॰ अल्विन ने 6 अप्रैल, 1969 को 'Hindustan Times' में एक लेख लिखकर कहा था कि डॉ॰ सिंह की खोज से तो आर्य तथा द्रविड का भेद ही मिट जायेगा तथा इसका जबरदस्त विरोध होगा।

डॉ॰ फतेह सिंह कहते हैं "इस प्रकार की घटनाओं से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि स्वतन्त्र भारत में भी हम पुराने साम्राज्यवादी लेखकों की परम्परा के गुलाम हैं। और जब तक इससे मुक्त नहीं होते, तब तक सत्य की खोज नहीं की जा सकती।"[2]

इस प्रकार यह सिद्ध है कि सिन्धुसभ्यता को द्रविडसभ्यता सिद्ध करने का कार्य दक्षिण तथा उत्तरभारत में फूट डालने के उद्देश्य से योजनाबद्ध तरीके से किया जाता रहा है। डॉ॰ फतेहसिंह आदि के शोधकार्यों के आधार पर अब विद्वान् लोग इसे आर्यसभ्यता मानने लगे हैं। विक्रमविश्वविद्यालय के पुरातत्त्व विभाग के पूर्व अध्यक्ष पद्श्री डॉ. विष्णु वाकणकर मोहनजोदड़ों से प्राप्त मुद्राओं को पढ़कर इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि सिन्धुघाटी की लिपि भारतीय है तथा उसका मूल आर्यसभ्यता में है। उन्होंने इसे आर्येतर कहने का बलपूर्व खण्डन किया।

इसी प्रकार द्वारिका क्षेत्र में एस॰आर॰ राव के निर्देश में समुद्रतल में चल रहे सर्वेक्षणों तथा खुदाइयों में भी हड़प्पा तथा भारतीय पौराणिक विचारों की संगति प्राप्त हुई है।

---

1. वही, पृ॰ 57
2. वही, पृ॰ 61

इसका सबसे अकाट्य प्रमाण वह मुद्रा है जो मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त हुई है। उस मुद्रा पर खुदे चित्र में एक वृक्ष पर बैठे दो पक्षी दिखलायी दे रहे हैं। इनमें से एक वृक्ष के फल खा रहा है जबकि दूसरा उसे केवल देख रहा है। यह चित्र ऋग्वेद के निम्नमन्त्र के आधार पर बनाया गया था–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति। ऋ॰ 1/164/20

इसका अर्थ है कि एक ही प्रकृति रूपी वृक्ष पर जीव तथा परमेश्वर रूपी दो पक्षी बैठे हैं। उनमें से एक जीवात्मा तो प्रकृतिप्रदत्त फलों का उपभोग कर रहा है जबकि परमेश्वर केवल देख रहा है। सिन्धुघाटी के सिक्कों पर वेदमन्त्र की इतनी स्पष्ट छाप होने पर भी मोहनजोदड़ो-हड़प्पा संस्कृति को अनार्य द्रविड संस्कृति कैसे कहा जा सकता है?

डॉ॰ फतेह सिंह को प्राप्त कुछ सिन्धु मुद्राओं पर एक ऐसे वृक्ष का चित्र भी था जिसकी जड़े आकाश की ओर तथा शाखाएँ पृथ्वी की ओर थी। इस चित्र के मूल में ऋग्वेद का यह मन्त्र है–

अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः।

नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एवामस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः।। ऋ॰ 1/24/7

भगवद्गीता में भी इस वृक्ष की चर्चा इसी रूप में की गयी है।[1] इन मुद्राओं में अधिकांश पर सूर्य तथा गौ का शिर चित्रित था। वैदिक संस्कृति सूर्य तथा गौ की पूजक रही है। कुछ सिक्कों पर सिन्धुलिपि में 'राम' लिखा था तथा साथ ही राम, सीता एवं लक्ष्मण के चित्र भी थे। इन सिक्कों में सीता, लक्ष्मण तथा राम वनवासीवेश में हैं। वाल्मीकि रामायण से पता चलता है कि कैकयी ने एक बार वस्तुतः सीता को भी वनवासी वेश पहना दिया था। जिसे वसिष्ठ मुनि ने दूर कराया था।

इतने सुस्पष्ट प्रमाण होने पर भी सिन्धुसभ्यता को अनार्य द्रविडसभ्यता कहना दुराग्रह एंव दु:साहस के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

---

1. ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थमाहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।। भग॰ गीता 15/1

(5) आर्यों का मूल स्थान

लगभग दो वर्ष पूर्व घर पर मिलने के लिए जाने पर गुरुवर प्रो॰ सत्यव्रत जी शास्त्री ने पूछा कि आजकल क्या लिख रहे हो? मैंने कहा "वैदिक साहित्य का इतिहास"। पुस्तक में 'आर्यों का मूलस्थान' शीर्षक भी था। इस पर गुरुजी बोले कि वैदिक साहित्य के इतिहास से आर्यों के मूलस्थान का क्या सम्बन्ध है? जो वहाँ निवेदन किया वह यह था कि साक्षात् तो दोनों विषयों का सीधा सम्बन्ध दिखलाई नहीं पड़ता किन्तु पाश्चात्य तथा उनके आनुयायी वेदज्ञ मनीषियों ने आर्यों तथा उनके मूलस्थान के साथ वैदिक मन्त्रों तथा उनके शब्दों को इस प्रकार गुम्फित कर दिया गया है कि वैदिक साहित्य के इतिहास लेखन में आर्यों के मूलस्थान या बाहर से भारत में आगमन की चर्चा आवश्यक रूप में करनी ही पड़ेगी। उदाहरणार्थ-वेदों में आर्य, द्रविड़, दास-दस्यु-कृष्णत्वच आदि पद पठित हैं। इनके आधार पर ही कल्पना की गई कि आर्यों ने बाहर से आकर आक्रमण करके काली चमड़ी वालों को दक्षिण की ओर भगा दिया। इस प्रकार उत्तर भारत पर आर्यों का अधिकार हो गया तथा द्रविड़ लोग दक्षिण में जा बसे। विदेशी इतिहासकारों तथा वेदज्ञों के द्वारा भारत की उर्वराभूमि में बोया गया यह वैचारिक विषवृक्ष का बीज नितान्त सत्वरहित होने पर भी अंकुरित होकर आज वटवृक्ष की भाँति पूरे भारत में फैल गया। जब बिना किसी पुष्ट प्रमाण के केवल पूर्वाग्रह के आधार पर ही आर्यों को बाहर से आने वाला आक्रान्ता मान ही लिया गया था तो उनके मूलनिवास के विषय में भी विभिन्न कल्पनाएँ इस मत के उद्भावकों तथा प्रतिष्ठापकों ने की। इस विषय में उन्हें यहाँ विस्तार से इस लिए नहीं किया जा रहा, क्योंकि वे मान्यताएँ निःसार तथा पूर्णतः कल्पित होने से उसी प्रकार ध्वस्त हो गई, जिस प्रकार अंधेरे में अज्ञानवश रस्सी में सर्प का भ्रम होने पर प्रकाश होने पर भ्रम स्वयं ही तिरोहित हो जाता है। इस कल्पनाशील विद्वानों ने जिन-जिन स्थानों या देशों को आर्यों का मूल स्थान माना है, उनके नाम इस प्रकार हैं-यूरोप, मध्य एशिया, उत्तरी ध्रुव या आर्कटिक प्रदेश, सप्तसिन्धु आदि।

हिमालय-अब पुरातत्त्व वेत्ता तथा अन्य विद्वान् हिमालय को ही आर्यों की जन्मभूमि मानने लगे हैं। इस मान्यता की स्थापना सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द ने की थी कि आर्यों का आदिस्थान तिब्बत है। तिब्बत पहले भारत का ही भाग था। हिमालय तो अब भी भारत में ही है। जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती गयी वे

हिमालय से नीचे उतरते गये। यह भी माना जाता है प्रारम्भ में हिमालय का जलवायु समशीतोष्ण था, वहीं पर आदिसृष्टि हुई।

भारत में आर्यों के विदेश से आने की मान्यता का खण्डन करते हुए स्वामी दयानन्द लिखते हैं कि यदि आर्य मूलरूप में विदेशी होते तो उनके इतने विपुल संस्कृतवाङ्मय में कहीं तो इसका उल्लेख होता, किन्तु ऐसा नहीं है।

हिमालय के पक्ष में प्रमाण–चरकसंहिता में वर्णित है कि आर्य लोग हिमालय से ही उत्तर कर नीचे के मैदानों में आये थे, किन्तु यहाँ का जलवायु अनुकूल न होने से बीमार होकर पुनः अपने मूल निवास हिमायल को लौट गये।[1] मैक्समूलर भी कहते हैं कि ईरानियों के पूर्वज ईरान पहुँचने से पहले भारत में बसे थे तथा यहाँ से ईरान गये थे।[2] ईरान की पुस्तकों में भी यह पढ़ाया जाता है। कि कुछ हजार साल पहिले आर्य लोग हिमालय से उतर कर आये तथा यहाँ का जलवायु अनुकूल जान कर यहाँ बस गये।[3] पूना के विद्वान् नारायण भवन पावगी ने बलपूर्वक कहा है कि हिमालय ही हमारे पूर्वजों का जन्म स्थान है।[4]

प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् अविनाशचन्द्र दास ने अपने ग्रन्थ 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में आर्यों का आदि देश पर्वतीय प्रदेश तथा सप्तसिन्धु को माना है।[5] इसी प्रकार टेलर अपने ग्रन्थ 'ओरिजन ऑफ दि आर्यन' में लिखते हैं[6] कि मनुष्य जाति की जन्मभूमि स्वर्गतुल्य कश्मीर ही है। उत्तर भारत की सात बड़ी नदियों का उद्गम हिमालय ही है। वे सात नदियाँ ये हैं–सिन्धु, सतलज, सरस्वती, गंगा, यमुना, शारदा तथा ब्रह्मपुत्र।

---

1. ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः साम्यनिका मन्दचेष्टाश्च नातिकल्याश्च प्रायेण बभूवुः। ते सर्वासमितिकर्त्तव्यतानामसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतमात्मदोषं मत्वा पूर्वनिवासं...हिमवन्तं जग्मुः। चरक, चिकि॰ स्थान, 4/3
2. Max Muller, Chips from a German Workshop, 1867, p. 85-86
3. चन्द हजार साल पेश जमाना मजीरा बजुर्गी अज निजाद आर्या अज कोहहाय कफकाज गुजिश्तः वर सर जमीने कि इमरोज मस्कने मास्त कदम निहादन्द। जुगराफिया पंज कितअ वनाम तदरीस दरसल पंजुम इब्तदाई। सफा 78 सन हिजरी 1309
4. या प्रमाणे सदरीं नमूद केलेक्या सर्वप्रमाणांवरून, हा हिमाचल आमच्या देवादिकांचीही जन्मभूमि होऊन रहिला आहे, असें वाचकांच्या लक्ष्यान्त सहजी ये ईल। आर्यावर्त्तातील आर्यांची जन्मभूमि, पृ॰ 272
5. अविनाश चन्द्र दास, ऋग्वैदिक इण्डिया, पृ॰ 7
6. डॉ॰ इंसाफ टेलर, ओरिजन ऑफ दि आर्यन, वि॰ सं॰ पृ॰ 20

भारत के पक्ष में प्रमाण—अब तो इतिहासज्ञ, पुरातत्त्ववेत्ता, विदेशी यात्री तथा अन्य विद्वान् भी भारत को ही आर्यों की मूल निवासभूमि मानने लगे हैं। यथा—

(1) विदेशी यात्री—चीनी यात्री मेगस्थनीज 4000 ई०पू० भारत में आया था। वह तात्कालिक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहा था। उसका लिखा हुआ पूरा ग्रन्थ तो इस समय नहीं मिलता, किन्तु उसके उदाहरण कई ग्रन्थों में पाये जाते हैं। इन उदाहरणों का प्रकाशन पहिले जर्मनभाषा में किया गया तथा बाद में इसका अंग्रेजी अनुवाद भी हुआ। मेगस्थनीज लिखता है कि भारत अनगिनत जातियों में बसा है। इन जातियों में मूल रूप में कोई भी विदेशी नहीं था, प्रत्युत स्पष्ट ही, सारी ही इसी देश की थी। इसी प्राकर अल्बरूनी लिखता है कि हिमालय ही प्राचीन आर्यों का मूल स्थान है। वहाँ का जलवायु अनुकूल न होने से ही आर्यावर्त्त में आकर बसे।[1]

(2) विदेशी विद्वान्—प्रो० मैक्समूलर पहले मध्यएशियावाद के समर्थक थे, किन्तु बाद में उन्हें अपनी मान्यता बदलनी पड़ी। उन्होंने लिखा अब तुम परिचित हो जाओगे और तुम्हें लगेगा कि भारतभूमि ही मानवजाति की माता तथा हमारी समस्त परम्पराओं की उद्गम भूमि है।[2] इस बात को एम० लुई जैकालियट इस प्रकार से कहते है कि भारत संसार का मूल स्थान है। इस सार्वजनिक माता ने अपनी सन्तानों को सुदूर पश्चिम में भेज कर हमारी उत्पत्ति सम्बन्धी जिज्ञासा को अपने आप प्रमाणित कर दिया। उसी ने हम लोगों को अपनी भाषा, अपने नियम, अपना चरित्र, अपना साहित्य तथा अपना धर्म प्रदान किया।[3] जैकालियट का यह कथन मनुस्मुति के इस कथन का बिल्कुल अनुवाद ही है जिसमें मनु जी ने कहा है कि आर्यावर्त्त में उत्पन्न ब्राह्मणों के संसर्ग से सम्पूर्ण पृथ्वीवासी अपने-अपने चरित्र की शिक्षा प्राप्त करें।[4]

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि भारत ही उन्नत सभ्यता तथा आर्यों का केन्द्र था तो उन्हें यहाँ से पश्चिमी देशों में जाने की क्या आवश्यकता पड़ी। इसका उत्तर देते हुए प्रसिद्ध भूगर्भवेत्ता प्रो० डान कहते हैं कि 'प्राच्य उन्नति का

---

1. अल्बरूनी का भारत।
2. Maxmuller, What India can teach us, p. 178
3. जैकालियट, दि जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, अंक 16 पृ० 7
4. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
   स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः। मनु० 2/20

महादेश रहा है, यह बात समस्त भूतकालिक प्रमाणों से सिद्ध होती है कि मनुष्य सर्वप्रथम विशाल प्राच्य के किसी भाग में उत्पन्न हुआ होगा तथा उसे इधर-उधर फैलने एवं आत्मोन्नति के लिए दक्षिण-पश्चिम एशिया की अपेक्षा कोई दूसरा स्थान विदित नहीं हुआ होगा क्योंकि भौगोलिक दृष्टि से यही ऐसा देश है जहाँ से यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका के तीन विशाल भाग निश्चित होते हैं।[1] नारायण भवन पावगी ने क्रूजर का मत भी इस प्रकार प्रदर्शित किया है 'यदि पृथ्वी पर ऐसा कोई देश है, जो मानवजाति का मूलस्थान या कम-से-कम आदिम सभ्यता का लीलाक्षेत्र होने का दावा न्यायतः रखता है, तो वह निःसन्देह भारत ही है।[2] सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० ए०वी० कीथ ने अनेक पुष्ट प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि मानवजाति की जन्मभूमि उत्तरपश्चिम सीमाप्रान्त थी।

अब तो भारत को ही आर्यों का आदि देश अनेक विद्वानों ने मान लिया है। स्वामी दयानन्द, डॉ० अविनाशचन्द्र दास, डॉ० राजबली पाण्डेय, डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० गंगानाथ झा आदि विद्वानों ने भी इसी मत को माना है। डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने ऋग्वेद के भूगोल तथा अन्य संकेतों के आधार पर सप्तसिन्धु को आर्यों की आदि भूमि पर माना है। पहले सभी आर्य मिलकर इसी प्रदेश में रहते थे, ऐसा डॉ० दास ने माना है। इनका विभाजन बाद में दो दो भागों में हो गया—एक वर्ग देवों का उपासक रहा और दूसरा असुरों का उपासक। इन दोनों वर्गों में भयानक युद्ध हुआ, जिसमें असुर पराजित होकर सप्तसिन्धु प्रदेश को छोड़कर ईरान जाकर बस गये। डॉ० राजबली पाण्डेय के अनुसार उनकी भूमि मध्यप्रदेश (वर्तमान में उत्तरप्रदेश और बिहार) थी। एल०डी० कल्लर ने कश्मीर अथवा हिमालय प्रदेश को आर्यों का आदि देश माना है।

इस प्रकार अधिकांश पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों तथा पुरातत्त्वविदों एवं इतिहासज्ञों ने अब भारत को ही आर्यों का मूल निवास मान लिया है। 31/10/1977 के 'The Hindustan Times' में एक समाचार छपा था जिसके अनुसार यूनेस्को के तत्त्वावधान में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी में भारत का प्रतिनिधित्व करने वाले सात सदस्यी दल ने एक मत से आर्यों के ईरान आदि से आकर भारत में बसने विषयक मान्यता का प्रतिवाद किया था। यह गोष्ठी

---

1. डान, आई०वी०आई०डी०, पृ० 585-86 (गैरोला, सं०सा० का इति० पृ० 12 पर उद्धृत)
2. पावगी, दि आर्यावर्तिक होम एण्ड द आर्यन्

तजाकिस्तान की राजधानी दुशाम्बे में आयोजित की गयी थी। इसमें भारतीय राष्ट्रीय संग्रहालय के निदेशक डॉ॰ एन॰आर॰ बनर्जी तथा डॉ॰ बी॰बी॰ लाल (डायरेक्टर ऑफ एडवांस्ड स्टडीज) भी सम्मिलित थे। इस प्रकार आज भारत या हिमालय को ही आर्यों की आदि भूमि माना जाता है।

यदि आर्यों के ईरान आदि से भारत में आने की मान्यता को स्वीकार किया जाए तो इस पर निम्न प्रश्न उपस्थित होते हैं–

(1) आर्य जहाँ से आये थे, उस देश का नाम तथा संस्कृति को सर्वथा कैसे भूल गये। कोई भी व्यक्ति या जाति अपने पूर्वजों तथा मूलनिवास को नहीं भूलती। भारत में मौरीशस, सुरीनाम आदि देशों में गये हुए भारतीय अभी भी भारत को अपनी पूर्वजों की जन्मभूमि मान कर इसपर गर्व करते हैं तथा भारत की यात्रा करते हैं।

(2) यदि आर्य भारत में बाहर से आकर बसे तो उससे पहले इस देश का क्या नाम था? आर्यों को निवास होने के कारण ही इसे आर्यावर्त कहा गया।

(3) किसी भी प्राचीन भारतीय पुस्तक में आर्यों के भारत में बाहर से आने का उल्लेख क्यों नहीं है?

(4) तिलक ने वेद के 'दीर्घा तमिस्रा' का अर्थ उत्तरीध्रुव की 6-6 महीने की रात कैसे मान लिया। भारत में शीतकाल में भी तो लम्बी रातें होती हैं।

(5) विदेशी इतिहासकारों से पहले किसी भी भारतीय इतिहासकार ने आर्यों को बाहर से आने वाले नहीं बतलाया। अतः भारतीयों के विषय में विदेशियों की कल्पना को कैसे प्रमाणित माना जा सकता है।

अब विद्वानों ने आर्यों के बाहर से आकर भारत में बसने तथा आक्रमण करने की मान्यता को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया है। इस विषय में प्रो॰ चौबे लिखते हैं 'पाश्चात्य विद्वानों का यह निष्कर्ष निकालना कि आर्यों का मूलस्थान कहीं योरोप में या मध्य एशिया में था, और वहाँ से चलकर ने ईरान होते हुए भारत पहुँचे थे तथा यहाँ के आदिवासियों को परास्त कर अपनी सभ्यता-संस्कृति विकसित की थी, सर्वथा अमान्य है। इसके विपरीत पुराणों में तो इस बात के उल्लेख मिलते हैं कि यहाँ से लोग बाहर गये और वहीं बस गये। विश्वामित्र के पचास पुत्रों की कथा प्रसिद्ध है जिसमें उनके बाहर जाकर बसने का उल्लेख है। इसलिए इसमें किंचिदपि सन्देह नहीं कि आर्य यहीं के मूल निवासी थे।[1]

---

1. सं॰वां॰ का बृहद् इति॰, प्रथम खण्ड, पृ॰ 5

अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी ऐसा मानते हैं कि आर्य भारत से ही बाहर गये थे। पावगी ने आर्यों के बर्हिगमन को प्रमाणित करने वलो अनेक पाश्चात्य विद्वानों को उद्धृत किया है।[1] पावगी का कहना है कि इस विषय में भूगर्भ सम्बन्धी पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि जब से मानव ने पृथ्वी पर रहना प्रारम्भ किया, उस समय से आर्यावर्त्त सत्ता में था। विन्ध्य पर्वत के निर्माण से पूर्व आर्यावर्त्त आबाद हो चुका था।[2]

इस सम्बन्ध में नवभारत टाइम्स दिल्ली में प्रकाशित भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के पूर्व महानिदेशक प्रो॰ बी॰बी॰ लाल के वक्तव्य को यहाँ ज्यों-का-त्यों दिया जा रहा है–

(6) आर्य आक्रमणकारी नहीं, मूल निवासी थे : लाल

प्रख्यात पुरातत्ववेत्ता प्रोफेसर बी॰बी॰ लाल का दावा है कि सिन्धुघाटी सभ्यता पर ईसा पूर्व 4500 और ईसा पूर्व 1500 के बीच किसी विदेशी ताकत ने आक्रमण नहीं किया तथा यहाँ के निवासी मूल भारतीय थे।

राष्ट्रीय शिक्षा, शोध एवं प्रशिक्षण परिषद की ओर से आयोजित राष्ट्रीय व्याख्यानमालाश्रृंखला में शनिवार को यहाँ लाल ने कहा कि वैदिक साहित्य और उत्खनन के दौरान सिंधु घाटी सभ्यता के स्थानों से प्राप्त सामग्री के आधार पर उनका मानना है कि इस सभ्यता और वैदिकसभ्यता के लोग एक ही हैं। हालाँकि उन्होंने कहा कि इस बात की पुष्टि पूरी तरह से तभी की जा सकती है, जब हड़प्पा सभ्यता की लिपि की सही व्याख्या हो जाए। 'व्हाई परपेचुएट मिथ्स, ए फ्रेश लुक एट एंसिएंट इंडियन हिस्ट्री' विषय पर व्याख्यान देते हुए भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के पूर्व महानिदेशक लाल ने कहा कि लंबे समय से चली आ रही चार मिथकों से भारत के इतिहास के बारे में हमारा दृष्टिकोण बाधित हो रहा है। उन्होंने कहा कि भारत पर आर्यों के आक्रमण, हड़प्पा वासियों को द्रविड़ भाषा बोलने वाला मानना ऋग्वेद में वर्णित सरस्वती नदी को अफगानिसतान की हेडमंड मानना और हड़प्पा संस्कृति के विलुप्त होने सम्बन्धी

---

1. एम॰ लुइस जैकालियट–ला वाश्विल डान्स एल इण्डस्। मैक्समूलर–साइंस ऑफ लैंग्वेज, भाग I, 1906, पृ॰ 31। काकटेलर–दि स्टूडेण्ट्स मैनुअल ऑफ एशिएण्ट हिस्ट्री, पृ॰ 526। पीकोक–इण्डिया इन ग्रीस आर ट्रुथ इन माइथोलोजी, 1956, पृ. 12
2. आर्यावर्तिक होम एण्ड इट्स आर्कटिक कालोनीज, पूना 1915 पृ॰ 367–398

सम्बन्धी मिथक सही नहीं हैं। उन्होंने कहा कि वैदिक मन्त्रों के रचनाकाल का जर्मन विद्वान् मैक्समूलर द्वारा निर्धारण गलत है क्योंकि धरती पर कभी कोई इसका आकलन नहीं कर सकता। उन्होंने कहा कि 1946 में मोर्टिमर व्हीलर ने हड़प्पा में कब्र के पास चारों ओर से बंद दीवार की खोज की। उन्होंने युद्ध की कल्पना कर ली और चूँकि ऋग्वेद में इंद्र को पुरंदर (किलो का विध्वंस करने वाला) कहा गया है, उन्होंने आर्यों के आक्रमण का निष्कर्ष निकाल लिया।

हड़प्पा सभ्यता और वैदिक काल के लोगों में समानता का तर्क देते हुए उन्होंने सवाल उठाया कि द्रविड़ भाषी लोगों को यदि दक्षिणभारत की ओर धकेला गया होता तो वहाँ भी हड़प्पा सभ्यता के अवशेष मिलते लेकिन अब तक ऐसा नहीं है।

प्रो॰ लाल ने अफगानिस्तान के हेलमंड से ऋग्वेदकालीन सरस्वती का कोई सम्बन्ध मानने से पूरी तरह इनकार करते हुए कहा कि ऋग्वेद के अनुसार यह यमुना और सतलुज के बीच होनी चाहिए तथा उसका प्रवाह पहाड़ से समुद्र की ओर होना आवश्यक है, लेकिन अफगानिस्तान में ऐसी न तो कोई नदी है न ही समुद्र।

उन्होंने कहा कि हड़प्पासभ्यता के विलुप्त होने के बारे में जो मिथक प्रचलित है वह भी गलत हैं। उन्होंने विभिन्न स्थलों से प्राप्त सामग्री का हवाला देते हुए कहा कि नमस्कार करने का जो तरीका उस समय प्रचलित था वह आज भी है। इसी तरह उस सभ्यता की स्त्रियों द्वारा मांग में सिंदूर भरा जाता था जो अब भी मौजूद है। जिस तरह की क्यारी बनी खेतों में हड़प्पावासी फसल उगाते थे, वह तरीका आज भी राजस्थान आदि जगहों पर प्रचलित हैं।[1]

(7) भारत में आर्यों के आगमन एवं आक्रमण की कल्पना का उद्देश्य

प्रायः यह माना जाता है कि भारत में आर्य लोग बाहर से आये तथा यहाँ के आदिवासियों को युद्ध में हराकर दक्षिण की ओर भगा दिया। 9/4/1866 को ऐशियाटिक सोसायटी के बन्द कमरे में आयोजित बैठक में सर्वप्रथम एडवर्ड टामसन ने एक गप्प की कल्पना करके उसे साम्राज्यवादी षड्यन्त्र के अन्तर्गत

1. 'नवभारत टाइम्स' 24 नवंबर, 2002 में प्रकाशित समाचार।

प्रचारित किया कि आर्य भारत के मूल निवासी न होकर आक्रामक जाति हैं। इससे पूर्व कहीं भी किसी भी रूप में इसका उल्लेख नहीं है। अभी भी स्कूलों में यही पढ़ाया जाता है। यह एक मिथ्या धारणा है, इसे स्वीकार करके इस बात ये अटकलें भी लगाई गयीं कि किस मार्ग तथा दिशा में आर्यों ने भारत में प्रवेश किया। वस्तुतः यह सब पूर्वाग्रह पर आधारित योजनाबद्ध प्रयास था। जिससे कि आर्यों को विदेशी सिद्ध किया जा सके। इसके पीछे एक धारणा यह भी थी कि मुसलमानों तथा अंग्रेजों की भाँति ही आर्य भी यदि विदेशी सिद्ध किये जा सकें। तो इस देश पर आर्यों का मूल अधिकार समाप्त हो जायेगा। मुसलमान, अंग्रेज तथा आर्य ये तीनों ही बाहर से आए हुए हैं तो इस देश पर इन तीनों का समान अधिकार है, न कि केवल आर्यों का ही। इतना ही नहीं, अपितु यह मांग भी उठी कि यदि विदेशी अंग्रेजों ने भारत को छोड़ दिया है तो आर्यों को भी इससे बाहर कर देना चाहिए, क्योंकि वे भी विदेशी हैं।[1] इन उद्धरणों से स्पष्ट हो गया होगा कि आर्यों को बाह्य आक्रमणकारी घोषित करने का षड्यन्त्र राजनीतिक स्तर का था।

विदेशियों की इस मिथ्याधारणा का खण्डन करते हुए सर्वप्रथम सन् 1875 में स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश नामक में लिखा था–"किसी संस्कृतग्रन्थ में ऐसा इतिहास नहीं लिखा कि आर्य लोग ईरान से आये और यहाँ के जंगलियों से लड़कर, जय पाके, उन्हें निकाल के इस देश के राजा हुए, पुनः विदेशियों का लेख कैसे मान्य हो सकता है।"

स्वामीजी की इस घोषणा का यह प्रभाव हुआ कि विदेशियों को भी इसके समर्थन में लिखना पड़ा। इस विषय में एलफिंस्टन नामक इतिहासवेत्ता लिखते हैं–'यह निश्चित है कि न वेदों में और न मनुस्मृति में प्राचीन किसी अन्य संस्कृत ग्रन्थ में आर्यों के भारत से बाहर किसी देश में रहने का उल्लेख है[2] म्यूर नामक विद्वान् ने भी स्वामी दयानन्द के मत की पुष्टि इसी प्रकार की थी।

---

1. As Aryas, they are Indias First foreigners if Muslims and Charistion are foreigners, the Aryas are duty bound to get out First, those who come first must leave first. Muslim India, New Delhi 27-3-1985
2. Neither in the code of Manu, not in the Vedas, not in any book which is older then the code of Manu, is there any Allusion to the Aryas prior residence in any country. out side India, Elphinston: History of India, vol I

आर्यों को विदेशी सिद्ध करने में म्यूर का विशेष स्थान है, किन्तु अन्ततोगत्वा इन्होंने भी लिखा था "जहाँ तक मुझे ज्ञात है, संस्कृत के किसी ग्रन्थ में, यहाँ तक कि प्राचीनतम साहित्य में भी आर्यों के विदेशी होने का संकेत नहीं मिलता है।"[1]

अब तो भारतीय इतिहासज्ञ तथा अन्य विद्वान् भी स्वीकार करने लगे हैं। कि आर्य भारत में बाहर से नहीं आये। वे इसी देश के मूल निवासी हैं। यथा–

(1) इमेनो लिखते हैं कि "साफ बात तो यह है कि आर्यों के आव्रजन के इतिहास के बारे में हमें कतई कुछ पता नहीं है।"[2]

(2) डॉ॰ बी॰के॰ थापर लिखते हैं कि भारत में आर्यों के प्रवेश के सम्बन्ध में उपलब्ध वस्तुगत साक्ष्य अभी तक अनिर्णायक बने हुए हैं।[3]

(3) इसी प्रकार भारतीय पुरातत्वविद् डॉ॰ स्वराज्य गुप्त लिखते हैं कि भारत से बाहर की किसी संस्कृति को सिन्धु से पार भारत की ओर बढ़ते नहीं पाया जाता है।[4]

(4) सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता टामस बरो लिखते हैं कि आर्यों के भारत पर आक्रमण का न कहीं इतिहास में उल्लेख मिलता है तथा न इसे पुरातत्त्व की सहायता से सिद्ध किया जा सकता है।[5]

(5) प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रोमिला थापर लिखती हैं, "आर्यों के विषय में हमारी बनी धारणाएँ चाहे कुछ भी क्यों न हों, पुरातात्त्विक साक्ष्यों से बड़े पैमाने पर किसी आक्रमण या आव्रजन का संकेत नहीं मिलता।" इस सम्बन्ध में डॉ॰ चौबे लिखते हैं–"पाश्चात्य विद्वानों की आन्तरिक भावना यह थी कि वे यह स्थापित कर सकें कि प्रथमतः आर्यजाति मध्यएशिया में निवास करती थी, वहाँ से

---

1. So for as I know, none of the sanskrit books, not even the most Ancient contain any reference or Allusion to the foreign origin of Aryans, Muir's Sanskrit text, vol. II. p. 323
2. Emeno, the dialects of the old Indo-Aryan, Aneient Indo-Euro peon dialects, ed. Heneric Vernbalm 1966 p 132
3. B.K Thapaer, the Aryans: A rappraisal of the problem, 1970, p. 160
4. S.P Gupts, Archarology and soviet central Asia and the Indian broder. lands, 1979 p. 318.
5. The Aryan invasion of India is recored in no written document and it connot be traced archaealogically Quted from 'the early Aryans' History of India, Edited A.L. Basham, clarandon press oxford, 1975.

चलकर भारत में आकर बस गयी; दूसरा यह कि वे भी आर्यों की ही सन्तान हैं और भारतीय आर्यों की अपेक्षा से अधिक शुद्ध आर्य हैं। इस सिद्धान्त की स्थापना द्वारा वे इस बात को प्रचारित करना चाहते थे कि आर्य भारत के मूल निवासी नहीं हैं। वस्तुतः यह अत्यन्त भ्रामक धारणा थी। डॉ॰ अविनाशचन्द्र दास, डॉ॰ सम्पूर्णानन्द, डॉ॰ नारायण भवनराव पावगी आदि कई भारतीय विद्वानों ने इस मान्यता का विरोध किया।"

तर्क से भी यह बात सिद्ध नहीं होती कि आर्य भारत में बाहर से आकर बसे। प्रत्येक निवासी अपनी मातृभूमि को याद रखता है, उसके गीत गाता है। अन्यत्र जाकर भी वह उसे नहीं भूलता, जिस प्रकार मौरिशस तथा सुरीनाम में बसकर भी भारतीय भारत को ही अपनी मातृभूमि समझते हैं। आर्यों ने भारत के अतिरिक्त किसी भी देश का स्मरण अपनी मातृभूमि के रूप में नहीं किया। दूसरा हेतु यह है कि किसी भी जाति के काव्यग्रन्थों में उसकी विजयों का वर्णन आवश्यक रूप में मिलता है। रामायण तथा महाभारत ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं। यह कैसे सम्भव है कि आर्यों के द्वारा बाहर आकर भारतीय आदिवासियों को परास्त करके भारत पर कब्जा करने का कहीं भी वर्णन न हो। ऐसा इसलिए है कि ऐसा युद्ध कभी हुआ ही नहीं। उक्त मिथ्याधारणा विदेशी विद्वानों ने सप्रयोजन कूटनीति के रूप में प्रचरित की थी जिससे कि आर्यों को भी आक्रान्ता तथा विदेशी सिद्ध किया जा सके।

इसी प्रकार योगी अरविन्द कहते हैं कि भारत पर आर्यों के आक्रमण का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।[1]

इस विषय में पं॰ गजानन शास्त्री लिखते हैं–"आर्यावर्त्त यह देश का नाम ही पर्याप्त प्रमाण है कि आर्य इसी भारत भूमि के जन्मे हुए हैं। यहाँ पर वे कहीं बाहर से आकर बसे नहीं है।"[2]

"आनुवंशिक विज्ञान की नयी खोज ने आर्यों के भारत पर आक्रमण के भ्रामक इतिहास को झुठला दिया है। भारतवासियों में किसी भी प्रकार के यूरोपीय या यूरेशियाई रक्तांश के लक्षण परिलक्षित नहीं होते हैं।" यह नवीनतम

1. There is no actual mention of any such invasion. The discussion between the Aryans and non-Aryans on which so much has been built, are scenes of the mass of evidence to indicate a cultural, rather than a radical difference
वैदिक साहित्य का इतिहास, पृ॰ 419

शोधपूर्ण तथ्य ब्रिटेन की 'करेंट बायोलॉजी' पत्रिका में टी. आर. डाइसोटेल और टी. विवसिल्ड के संयुक्त लेख में प्रकाशित किया गया है। लेखकद्वय ने अपने लेख में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि भारतीयों में पश्चिमी प्रभाव का डी॰एन॰ए॰ मात्र 52प्रतिशत है, जबकि यूरोपीय देशों में इसका प्रतिशत 70 है। भारत में भी उत्तर और दक्षिण भारत के लोगों में पश्चिमी प्रभाव का प्रतिशत समान है। इसका अर्थ यह हुआ कि द्रविड़ों तथा आर्यों में कोई जैविकीय अन्तर नहीं है। इससे स्पष्ट है कि भारत में आर्यों के आक्रमण और आर्य-द्रविड भेदका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है।"[1]

सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी चिन्तक डॉ॰ रामविलास शर्मा भाषा के आधार पर सिद्ध करते हैं कि भारत में आर्य बाहर से नहीं आये, अपितु यहीं से समय-समय पर बाहर गये हैं। उनका प्रबल तर्क है कि ऐतिहासिक भाषाविज्ञानी बलाएँ कि ध, थ, भ जैसी महाप्राण स्पर्श ध्वनियाँ केवल भारतीय आर्यभाषा में ही क्यों मिलती हैं। जिन भारतबाह्य परिवारों से वियुक्त होकर यह शाखा भारत में आई, उसमें ये महाप्राण स्पर्श ध्वनियाँ क्यों नहीं मिलती। भारत में ही प्राप्त ये ध्वनियाँ कहाँ से आ गयी।[2]

इस विषय में सी॰ कुन्हन राजा लिखते हैं कि हजारों वर्ष पुराने भारतीय साहित्य में यहाँ तक कि मानवजाति के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में आर्यों के बाहर से आने का संकेत भी प्राप्त नहीं होता।[3] डॉ॰ सूर्यकान्त बाली लिखते हैं, "भारत में आर्य कब आये इस काल्पनिक प्रश्न पर बहस जारी है। शोध का तकाजा है कि हर प्रकार के काल्पनिक बुद्धिविलासों पर चर्चाएँ बन्द की जाएँ।"[4]

पाश्चात्यों का उद्देश्य—भारत में आर्यों के आगमन तथा आक्रमण की मिथ्या धारण फैलाने के पीछे एक राजनीतिक उद्देश्य था। प्रथम तो यह कि भारत को उत्तर तथा दक्षिण दो भागों में बांट कर दक्षिण भारतीयों को द्रविड़ तथा उत्तर भारतीयों को उन पर आक्रमण करने वाले आर्य बतलाकर परस्पर वैमनस्य तथा वैचारिक द्वेष उत्पन्न कर दिया जाए जिससे कि अंग्रेजी राज्य

1. डॉ॰ लोकेशचन्द्र का लेख 'आर्य भारत के मूल निवासी हैं' पाञ्चजन्य, 23 जुलाई, 2000, पृ॰ 11
2. डॉ॰ रामविलास शर्मा, ऋग्वेद और पश्चिम एशिया
3. Raja, C. Kunhan, the Quintessence of Rigveda, 1964, p.1
4. वेदों का समीक्षात्मक तुलनात्मक अध्ययन, 1984, पृ॰ 232

भारत में सुदृढ़ हो सके। तमिलनाड़ जैसे प्रदेशों में अभी भी उत्तर भारत की भाषा, संस्कृति तथा पुरुषों के प्रति विद्वेष की भावना है। अंग्रेजों की नीति 'फूट डालो तथा राज्य करो' की ही थी। दूसरा कारण यह था कि यदि आर्यों को आक्रान्ता सिद्ध किया जा सके तो जिस प्रकार आर्य भारत में विदेशी हैं, उसी प्रकार मूसलमान तथा अंग्रेज आदि भी विदेशी हैं तथा यह भारत केवल उन जातियों तथा गिरिजनों का है जिन्हें आदिवासी कहा जाता है, जो अशिक्षित, असमुन्नत तथा सभी दृष्टियों से पिछड़े हुए हैं। इसका प्रमाण दिल्ली से प्रकाशित 'Muslim India' पत्र के 27-3-1985 का निम्न उद्धरण है–

This land (India) belongs to those who are its original inhabitants and hence its rightful owners. It is they who built the Harappa and Mohenjodaro, the worlds most ancient civilization. Most of India's Muslims and christians are converts from these sons of soil. They are either Dalits or tribals. In all foreign Invasions, it is these people who defended India. They (Aryans) don't belong to India and hence don't love India. They are foreigners, the enemy within. As Aryans, they are India's first foreigners. If Muslum and Christians are foreigners and must get out of India, as India's first foreigners, the Aryans are duty bound to get out first. Those who come first must leave first.

अर्थात् "भारत में ईसाई तथा मुसलमान बनने वालों में अधिकांश व्यक्ति जनजातियों, अनुसूचित जातियों तथा गिरिजनों में से हैं। अत: ये लोग ही भारत के वास्तविक मालिक हैं, अन्य सभी विदेशी हैं। यदि मुसलमानों तथा ईसाइयों को विदेशी कहकर यह देश छोड़ना चाहिए तो सर्वप्रथम आर्यों को ही यहाँ से बाहर जाना चाहिए क्योंकि ये भी विदेशी हैं तथा सबसे पहले भारत में ये ही आये थे।" कितना बड़ा षड्यन्त्र है यह किसी देश के मूल निवासी (आर्यों) को विदेशी बतलाकर भारत को हड़पने का। इसका दूसरा प्रमाण देखिए–4 सितम्बर, 1977 को राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सांसद फ्रेंक एन्थोनी ने मांग़ की थी कि संविधान के आठवें परिशिष्ट में परिगणित भारतीय भाषाओं की सूची से संस्कृत को निकाल देना चाहिए, क्योंकि यह विदेशी आक्रान्ताओं = आर्यों के द्वारा लायी गयी विदेशी भाषा है।[1]

---

1. Sanskrit should be deleted from the 8th schedule of the constitution because it is a foregin language brought to this country by foreign invaders, the Aryans.

कितना भयंकर दु:साहस तथा षड्यन्त्र था कि आर्यों को, उनकी भाषा-संस्कृति तथा साहित्य सभी को विदेशी बतलाकर इस देश पर ईसाईयों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया जाए। अंग्रेजीसभ्यता तथा उनकी मान्यताओं के पक्षपाती व्यक्ति तो इस भ्रान्तधारणा के ग्रास बने ही, आश्चर्य तो उन भारतीयों पर होता है कि जिन्होंने अपने मूल पर प्रहार होते देखकर भी इसके विरुद्ध आवाज़ नहीं उठाई, अपितु वे भी यही लिखते रहे कि आर्य विदेशी है। अब विद्वानों का ध्यान इस ओर गया है, तथा इसका प्रतिवाद भी होने लगा है, किन्तु वह भी व्यापक स्तर पर नहीं। स्कूलों में अभी भी आर्यों को विदेशी आक्रान्ता ही पढ़ाया जाता है।

(8) वेदों में लौकिक इतिहास तथा पशुहिंसा प्रकरण

वेदों के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों तथा दुराग्रह पूर्वक आक्षेप करने वालों की बात छोड़ भी दें, पुनरपि कुछ वैदिक विद्वानों तथा वेदों के प्रति श्रद्धालु भारतीयों में अभी तक भी यह धारणा विद्यमान है कि वेदों में ययाति, नहुष, वसिष्ठ, विश्वामित्रादि व्यक्तियों का तथा गंगा-यमुना आदि नदियों का इतिहास विद्यमान है तथा यज्ञों में गोवध आदि का विधान भी है। इसी कारण विद्वान् वेदभाष्यकारों ने मन्त्रों में प्राप्त वृषभ, गो, उक्षा आदि शब्दों के हिंसापरक अर्थ करके यज्ञों में वृषभ आदि के वध का प्रतिपादन किया है। क्या वास्तव में वेदों में ऐसा है, यहाँ पर इस सम्बन्ध में स्वल्प विचार किया जाता है क्योंकि ऐसे सभी मन्त्रों का परीक्षण तो एक स्वतन्त्र पुस्तक का विषय है। सर्वप्रथम हम इतिहासपक्ष को लेते हैं–

इतिहास कब तक का माना जाए–यदि वेदों में इतिहास पक्ष को स्वीकार किया जाता है तो प्रश्न है कि किस काल का इतिहास वहाँ वर्णित है? जो इतिहास सायण आदि भाष्यकारों ने लिख दिया है, वही मान्य है या उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी इतिहास वेदों में माना जा सकता है। कुछ विद्वान् वेदों में ययाति आदि राम, कृष्ण हनुमान आदि सभी के इतिहास का प्रतिपादन करते हैं। इस विषय में स्वामी गंगेश्वरानन्द जी उदासीन का 'समन्वयभाष्य' अवलोकनीय है जिसमें उन्होंने वेदों में हनुमान, कृष्ण आदि का भी वर्णन माना है, किन्तु इसके लिए स्वामी जी को वैदिक शब्दों के साथ कितना बलात्कार करना पड़ा, यह उनके भाष्य को देखने से विदित हो जाएगा। उदाहरण के रूप में 'समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्॰', (यजु॰ 3/1) मन्त्र के भाष्य में

स्वामी जी लिखते हैं 'कृष्णार्जुनसंवादात्मकोऽयं मन्त्रः।' स्पष्टतः यह मन्त्र यज्ञाग्नि में समिधादान का है जिसे कि स्वामी जी कृष्ण-अर्जुन का संवाद बतला रहे हैं। यह संवाद तो महीधराचार्य आदि को भी नहीं सूझा था।

वेदों में राम कथा—पं॰ राम कुमार दास ने तो इस विषय में एक पुस्तक ही लिख दी 'वेदों में रामकथा' इसमें पण्डित जी ने निम्न प्रकार से वेदों में राम-सीता आदि के वर्णन को स्वीकार किया है कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(1) अष्टौ पुत्रासो अदितेः (ऋ१ 10, 72, 8) का अर्थ सीता, उर्मिला आदि चारों बहनों के 2-2 पुत्र मिलाकर 8 पुत्र हो गये। पण्डित जी यह संगति नहीं लगा पाये कि अदितेः में तो एक वचन है। यहाँ चारों बहनें कहाँ से आ गयीं।

(2) ईषे त्वोर्जे त्वा॰ (यजु॰ 1/1) की व्याख्या में ईषा=सीता; सविता=रामचन्द्र; इन्द्राय=रामचन्द्राय। वायवस्थाः—राम, लक्षमण हनुमान् जी के कन्धों पर स्थित हैं। वायवः में प्रथमा विभक्ति है। पण्डित जी ने षष्ठी बना डाली।

(3) वरुणसूक्त (ऋ॰ 7.86.7) में 'अरं दासो व मीळहुषे कराणि'—मैं गौतम राम के लिए प्रणाम किया करता हूँ।

(4) अक्षसूक्त (ऋ॰ 10/34) में 'देष्टि श्वश्रूः=राजा रावण उपदेश करती हुयी अपनी सास से द्वेष करता था। मन्त्र में श्वश्रूः कर्ता है। पण्डित जी ने रावण को कर्त्ता बना दिया। इसी सूक्त में 'मिमेथ' (मं॰ 2) का अर्थ देखिए-मन्दोदरी ने कभी मुझ रावण का अपमान नहीं किया। 'जाया तप्यते कितवस्य' रावण की पत्नी संताप को प्राप्त करती है। रावण को राक्षस तो माना गया है, किन्तु कितव किसी ने भी नहीं कहा। यह पण्डित जी की खोज है।

(5) इन्द्रः सीतां निगृह्णातु॰ (ऋ॰ 4/57/7) यहाँ राम पूषा है जिसे जनक अपनी कन्या देते हैं। यहाँ पण्डित जी पयस्वती का अर्थ जन्म देने वाली करते हैं, पता नहीं किस व्याकरण के आधार पर।

(6) घृतेन सीता मधुना समक्ता (अथर्व॰ 3.17.9) सीता जी की घृत तथा मधु से पूजा की गयी। इस प्रकार विस्तार से वेदों में सम्पूर्ण रामायण को सिद्ध किया है। यहाँ यह प्रश्न है कि यदि पूर्ववर्ती भाष्यकारों के अनुसार वेदों में उर्वशी पुरूरवा, देवापि-शन्तनु आदि राजाओं तथा वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषियों का इतिहास माना जाता है तो पं॰ रामकुमार के अनुसार रामकथा क्यों नहीं मानी जा सकती? तथा स्वामी गंगेश्वरानन्द जी के अनुसार हनुमान् आदि

का वर्णन भी वेदों में क्यों नहीं माना जा सकता? तथा यदि यही पक्ष साधु है तो आजकल के विद्वान् तो वेदों में इस्लाम के संस्थापक मुहम्मद तथा जैन धर्म के तीर्थंकर ऋषभ, महावीर का वर्णन भी मानने लगे तो इसे भी ठीक ही कहा जायेगा। इस पक्ष में 'शतमदीनाः का अर्थ' शतम् अदीनाः न करके सौ मदीना ही क्यों न करना पड़े। महावीर[1] तथा ऋषभ[2] शब्द तो वेदों में प्रयुक्त हैं ही। अतः वहाँ जैन तीर्थकरों के वर्णन से कौन इन्कार कर सकता है। यह सब हो रहा है अपने मत को वेदों से भी पुराना सिद्ध करने की भ्रान्ति में।

यदि यही परम्परा चलती रही तो 'स' 'पर्यगाच्छुक्रम्...कविर्मनीषी' (यजु० 40/8) का अर्थ यह भी बन सकता है कि कबीर जी मनीषी थे तथा परि=चारों ओर भ्रमण करते रहते थे। सन्तों के लिए सर्वत्र घूमना सामान्य बात है। इसी प्रकार 'कस्य नूनं कतमास्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम' (ऋ० 1/24/1) यहाँ भी यदि चारु तथा देव को संयुक्त कर दिया जाये तो यह संस्कृतजगत् के ख्यातनामा पण्डित चारुदेव जी शास्त्री का वर्णन बन जायेगा कि आज व्याकरण जगत् में हम चारुदेव जी के नाम को जानते हैं, स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार में 'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः' (ऋ० 1.154.2) इसका यह अर्थ किया जा सकता है कि पाण्डुपुत्र भीमसेन मृग के समान पर तीव्र गति से दौड़ता था। वृकोदर भी उसका नाम है। अथर्व० 4.6.1 में 'दशशीर्षो दशास्य' पद पठित है तथा ऋ० 5.34.6 में विभीषण पद इन्द्र का विशेषण है। ऋ० 3.42.6 में धनञ्जय शब्द है। इतिहासपक्ष मानकर इन सभी का वर्णन वेदों में माना जाने लगेगा। यदि यह परम्परा चलती रही तो इसका अन्त कहीं भी नहीं होने वाला। उस अवस्था में जो कोई भी जिस किसी का भी इतिहास वेदों में सिद्ध कर देगा। इसका कोई भी नियन्त्रक न रह जायेगा।

इसलिए यही मानना उचित है कि वेदों में किसी भी राजा, ऋषि अथवा अन्य मानवों का इतिहास नहीं है।

भूतं, भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति—कुछ लोग तर्क देते हैं कि मनु ने कहा है कि भूत, भव्य तथा भविष्य ये सभी वेदों से सिद्ध होते हैं। भूत का अर्थ है, जो हो चुका, भव्य जो हो रहा है तथा भविष्य=जो आगे होगा। इस प्रकार वेदों में भविष्य में होने वाले व्यक्तियों का वर्णन मानने में भी क्या

---

1. ऋ० 1.32.7
2. अथर्व० 7.8.2, 20.1.1

आपत्ति है। इसी की आड़ में यह भी सिद्ध हो जायेगा कि वेदों में कबीर, मुहम्मद, ऋषभ आदि सभी का वर्णन पहले ही विद्यमान है। मण्डौली रमजानपुर (उ॰प्र॰) निवासी हाफिज रशीद का एक वक्तव्य बरेली से प्रकाशित होने वाले 'अमर उजाला' दैनिक हिन्दी पत्र में छपा है कि वेदों में भी रसूले पाक के मर्तवे का जिक्र है।

उक्त मत नितान्त अशुद्ध है। उक्त श्लोकांश का यह अर्थ नहीं है कि भविष्य काल में होने वाले व्यक्तियों का वर्णन भी उनसे पूर्ववर्ती वेदों में मान लिया जाये या भविष्य में होने वाली लौकिक घटनाओं एवं व्यक्तियों का वर्णन वेदों में माना जा सकता है कदापि नहीं। मनुस्मृति के उक्त श्लोकांश का यह तात्पर्य है कि मानव की उत्पत्ति से पूर्व सृष्टिनिर्माण की प्रक्रिया में जो कुछ हो चुका उसका वर्णन वेदों में है। नासदीय तथा पुरुषसूक्त उसी अवस्था के ज्ञापक हैं, क्योंकि वही पूर्वावस्था=भूतकाल है। **'अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन'** सभी प्राणी सृष्टिनिर्माण के पश्चात् ही तो उत्पन्न हुए हैं। इसके अतिरिक्त वर्तमान काल में क्या हो रहा है, हमें किस प्रकार के कार्य करने चाहिएं, इत्यादि वर्तमानकालिक सभी बातों का वर्णन वेदों में है। सृष्टिउत्पत्ति के पश्चात् भविष्य में मानव को विज्ञान, कृषि, राजनीति, शिक्षा, व्यापार, गृहस्थ आदि सभी क्षेत्रों में किस प्रकार कार्य करना चाहिए। मृत्यु के उपरान्त जीव कहाँ जाता है, कर्मफल किसे मिलता है, इत्यादि सभी विधेयात्मक बातों का तथा द्यूत, मद्य आदि में ग्रस्त व्यक्ति की क्या अधोगति होगी, इत्यादि बातों का वर्णन वेदों में है। इस प्रकार वेद सृष्टि के भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों से सम्बन्ध रखते हैं।

वेदों में अनेक शब्द ऐसे भी हैं जिनकी व्याख्या किसी भी भाष्यकार ने इतिहासपरक नहीं की। यथा–वातापि[1], अजातशत्रु[2], विभीषण[3], महावीर[4], पराशर[5], धनञ्जय[6], सीता[7], पुलस्ति[8], चित्ररथ[9], कुबेर[10], दशरथ[11], धृतराष्ट्र[12] आदि। इतिहास में इन नामों वाले व्यक्ति हो चुके हैं तथापि वेद में इनकी

---

1. ऋ॰ वातापे पीव इद्भव 1.187.8
2. अजातशत्रुमजरा–ऋ॰ 1.34.1
3. विभीषणो यथा वंश नयति। ऋ॰ 1.34.6
4. महावीरं तुवीरबाधम्–ऋ॰ 1.32.
5. इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरः–ऋ॰ 7.104.21
6. विद्मा हि त्वा धनञ्जयम्–ऋ॰ 5.42.6
7. इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु। ऋ॰ 4.57.7
8. नमः कपर्दिने च पुलस्तये च–यजु॰ 16/42
9. चित्ररथः सौर्यवर्चसः–अथर्व॰ 81.6
10. कुवेरो वैश्रवणो वत्स–ऋ॰ 8, 10, 10
11. चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः। ऋ॰ 1.126.4
12. तां धृतराष्ट्रः। अथर्व॰ 8.10.15

व्याख्या इतिहास परक नहीं की गई तो प्रश्न है कि ययाति पुरूरवा, उर्वशी, विश्वामित्र, वसिष्ठ, गंगा, यमुना आदि पदों की व्याख्या इतिहासपरक क्यों कर दी जाती है? वह भी उस अवस्था में जबकि उर्वशी आदि के अन्य ऐसे अर्थ ब्राह्मणग्रन्थों तथा निरुक्त आदि में दिए हुए हैं जो इनकी ऐतिहासिकता पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। वेदार्थ में एक ही प्रक्रिया अपनायी जानी चाहिए। यदि ऐतिहासिक अर्थ किये जाएँ तो उक्त विभीषण आदि के भी करने चाहिए। अन्यथा पुरूरवा आदि के अर्थ यौगिक पक्ष में ही करने चाहिएं।

इतिहासपक्ष में दोष

यदि वेदों में वसिष्ठ, पुरूरवा आदि शब्दों के आधार किसी इतिहास की कल्पना की जाती है तो उसमें निम्न दोष उत्पन्न होते हैं–

(1) वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि के जो अर्थ ब्राह्मणग्रन्थों तथा निरुक्त आदि में उल्लिखित है, ऐतिहासिक अर्थ मानने पर इन अर्थों के साथ विरोध उत्पन्न होगा। उदाहरण के रूप में नैरुक्तों के मत में वृत्र का अर्थ मेघ है तो ब्राह्मण ग्रन्थों में 'पाप्मा वै वृत्रः' कहा गया है। वेद में भी इसका यही अर्थ लेना चाहिए।

(2) प्रत्येक ग्रन्थ के अपने-अपने पारिभाषिक शब्द होते हैं। उनके आधार पर ही उन ग्रन्थों की व्याख्या की सकती है, अन्यथा नहीं। यथा–व्याकरण में टि, घु, धि, गुण, वृद्धि संज्ञाएं वर्णों की हैं, किन्तु दर्शनशास्त्र में गुण का अभिप्राय सत्व, रजस् तथा तमस् गुण हैं। लोक में वृद्धि का अर्थ बढ़ना तथा गुण का अर्थ विशेषता है। दर्शनशास्त्र में अजा का अर्थ प्रकृति है जबकि लोक में अजा बकरी पशु का वाचक है। आयुर्वेद में धातु का अर्थ रस, रक्त आदि धातुएँ हैं, जबकि व्याकरण में धातु का अर्थ मूलप्रकृति है। आयुर्वेद में ही फलों के गूदे के लिए मांस, वृक्षों की छाल के लिए त्वचा का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार वेदों में भी विश्वामित्र, वसिष्ठ, गंगा, यमुना, नमुचि आदि शब्दों विशेष अर्थ के वाचक हैं, न कि लौकिक पदार्थों या व्यक्तियों के वाचक हैं।

(3) इतिहास के साथ विरोध–उक्त शब्दों के आधार पर वेदों में इतिहास सिद्ध करने पर लौकिक इतिहास के साथ सामञ्जस्य प्राप्त नहीं होता। यथा–

(क) यजुर्वेद में कहा गया है कि सरस्वती पाँच धाराओं में होकर बहती है तथा उसमें पाँच नदियाँ मिलती हैं।[1] प्रत्यक्ष देखने में आया है कि पंजाब में कहीं पर भी सरस्वती में पाँच नदियाँ नहीं मिलती तथा न ही सरस्वती पाँच धाराओं में होती है। शरीर की नाड़ियों के पक्ष में मन्त्र की व्याख्या ठीक बन जाती है।

(ख) अथर्व॰ (13.3.26) में 'कृष्णायाः पुत्रोऽर्जुनः' कहा गया है। कृष्णा द्रौपदी का नाम था तथा वह अर्जुन की पत्नी थी। शतपथ के अनुसार कृष्णा को रात्रि तथा अर्जुन को आदित्य मानकर इनकी संगति ठीक लग जाती है।[2]

ऋ॰ 6, 9.1 में 'अहश्च कृष्णमहरर्जुनञ्च' कहकर स्वयं ही इसका स्पष्टीकरण कर दिया है।

(ग) यजुर्वेद में रुद्र के लिए कहा गया है कि हे रुद्र! यह तुम्हारा भाग है इसे अपनी स्वसा अम्बिका के साथ सेवन करो। अम्बिका पार्वती का नाम है तथा रुद्र शिव का। सभी जानते हैं कि पार्वती शिव की पत्नी थी, स्वसा=बहन नहीं।

(घ) इसी मन्त्र में कहा गया है कि हे रुद्र! यह आखु तुम्हारा पशु है। लोक में आखु=चूहे का सम्बन्ध शिव के पुत्र गणेश जी से तो करते हैं, रुद्र से नहीं। यहाँ रुद्र अग्नि का वाचक है।[3] यज्ञाग्नि की रोगनाशक शक्ति ही आखु है—आ समन्तात् खनति नाशयति रोगान् इति आखुः।

(ङ) अथर्ववेद में आठ चक्रों तथा नौ द्वारों वाली अयोध्या का वर्णन है।[4] जिसे ऐतिहासिक लोग दशरथ की अयोध्या का वर्णन कहते हैं, किन्तु ऐसा इसलिए नहीं माना जा सकता है कि मन्त्र की दूसरी पंक्ति में इस अयोध्या में ज्योति से आवृत्त एक हिरण्यकोश की बात भी कही गई है। कदाचित् यह भी कहा जाए कि अयोध्या में भी सुवर्णभंडार होगा जो प्रकाश से घिरा रहता होगा। ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि इससे अगले ही मन्त्र में कहा गया है कि उस हिरण्यकोश में यक्ष रहता है जिसे ब्रह्मवेत्ता लोग ही जान सकते हैं तथा तृतीय मन्त्र में स्पष्ट कह दिया गया है कि इस अपराजित हिरण्ययी पुरी में ब्रह्मा ने

---

1. पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः।
सरस्वती तु पञ्चधा सा देशेऽभवत् सरित्।। यजु॰ 34.11
2. रात्रिर्वै कृष्णा शुक्लवत्सा तस्या असावादित्यो वत्सः। शत॰ 9.2.3.30
3. अग्निर्वै रुद्रः। शत॰ 5/3/1/10
4. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्यः कोशः स्वर्गो ज्योतिषा वृतः। अथर्व॰ 10/2/31

प्रवेश किया।[1] वस्तुतः यहाँ मानवशरीर का ही वर्णन है। इसी में मणिपुरक आदि आठ चक्र तथा आँख-नाक आदि नौ द्वार हैं। इसमें ही यक्ष अर्थात् पूजनीय ब्रह्म निवास करता है। यह वही यक्ष है जिसका वर्णन केनोपनिषद् में ब्रह्म के रूप में हुआ है। इस प्रकार इतना स्पष्ट वर्णन होते हुए भी जो लोग यहाँ दशरथ की अयोध्या का ही वर्णन मानें तो इससे बढ़कर सत्य का अपलाप तथा दुराग्रह और क्या हो सकता है।

(1) इसी प्रकार का एक मन्त्र है-

येभ्यो होत्रां प्रथमायेजे मनुः समिधाग्निर्मनसा सप्तहोतृभिः। ऋ० 10/63/6

यहाँ भी मनु का नाम आने मात्र से मन्त्र का यह अर्थ किया जाता है कि मनु ने ही सर्वप्रथम सप्त होताओं के साथ यज्ञ का प्रारंभ किया। अतः यहाँ मनु का इतिहास है। ऐसा कहते समय यह भी नहीं सोचा जाता कि मन्त्र में 'मनसा' पद पठित है अर्थात् यह मानस यज्ञ है, यज्ञकुंड में होने वाला यज्ञ नहीं। दूसरी बात, मन्त्र में सात होता कहे गए हैं, किन्तु किसी भी यज्ञ में सात होता नहीं होते। यहाँ पर मानसयज्ञ में पंच ज्ञानेंद्रियां तथा मन एवं बुद्धि ये ही सात होता है। मनु का अर्थ मननशील व्यक्ति है। मननशील व्यक्ति ही इन होताओं के साथ मानसयज्ञ करता है। इतना स्पष्ट वर्णन होने पर भी किस दुराग्रह वश यहाँ मनु का इतिहास माना जाता है, यह समझ में नहीं आता।

(4) वेदों में अन्यत्र भी इसी प्रकार दशरथ, सरयु, राम, सीता, विभीषण, युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव, द्रोण, कर्ण, धनंजय, पाञ्चजन्य, शकुनि तथा धृतराष्ट्र आदि शब्द आए हैं, किन्तु सायणाचार्य आदि किसी भी भाष्यकार ने इनका ऐतिहासिक अर्थ नहीं किया। जब ऐसा है तो अन्य सभी नामों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए।

(5) सायणाचार्य ने जहाँ कहीं कुछ शब्दों के ऐतिहासिक अर्थ किए हैं, वहाँ उन शब्दों के व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी 'यद्वा' कहकर दिखला दिए हैं। यथा ऋ० 1/172/3 में पठित तृणस्कंद को असुर मानकर भी सायणाचार्य ने इसका अर्थ तृण के समान चंचलस्वभाववाला व्यक्ति भी किया है। इसी प्रकार ऋ० 2/13/11 में पठित जातुष्ठिर को असुर मान कर भी 'सदास्थिर रहने वाला' यह यौगिक अर्थ भी कर दिया है। सायणाचार्य ने अनेक शब्दों के साथ ऐसा किया

---

1. पुरं हिरण्ययीं ब्रह्माविवेशापराजिताम्। अथर्व० 10/2/33

है। इससे यही प्रमाणित होता है कि सायण भी यौगिक अर्थ के समर्थक हैं तथा ऐतिहासिक अर्थों को अन्तिमेत्थम् नहीं मानते।

(6) इतिहासपक्ष का आश्रय लेने से वेदों के अनेक मन्त्र अस्पष्ट ही रह जायेंगे क्योंकि उनमें असम्भव बातें प्रतीत होंगी। यथा–अथर्ववेद के अनुसार समुद्र वरुण की कुक्षी है[1] तथा अनड्वान्=बैल ने ही इस पृथिवी तथा द्यु को धारण किया हुआ है।[2] इस पक्ष में पर्याप्त उदाहरण किये जा सकते हैं, किन्तु यहाँ स्थानाभाव है। मन्त्र में वैज्ञानिक तथ्य बतलाया गया है कि पृथिवी के नीचे गैसें हैं। शतपथ में अग्नि को ही अनड्वान् कहा गया है।[3]

ऐतिहासिक पक्ष माना जाए तो मानवीकरण तो समाप्त हो ही जायेगा, उषा की ऐतिहासिकता प्रसिद्ध नहीं हो पायेगी। मानवीकरण तो स्पष्ट है।

(7). अनेक मन्त्रों का सरलार्थ तो हो जायेगा, किन्तु अर्थ में अस्पष्टता ही बनी रहेगी यथा-ऋग्वेद में कहा गया है कि इन्द्र ने जलों के फेन से नमुचि का वध किया[4]। इतिहासपक्ष मानने पर यह शंका बनी ही रहेगी कि जल के फेन=झाग से किसी व्यक्ति का सिर कैसे कट सकता है।

(8) वेदों में प्राप्त ययाति, नहुष आदि शब्द किसी व्यक्तिविशेष के वाचक न होकर गुण वाचक हैं, यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि इन शब्दों में अनेक के आगे आतिशायिक तमप् प्रत्यय लगा हुआ है, जबकि संज्ञावाचक शब्दों में तरप् तथा तमप् नहीं लगते। इस विषय में कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–

(1) ऋ० 1/31/1 में अग्नि के लिए अँगिरा पद आया है, किन्तु द्वितीय मन्त्र में अग्नि को ही अङ्गिरस्तमः कहा गया है।[5] स्पष्टतः यहाँ अँगिरा गुणवाचक पद है।

(2) ऋ० 10.49.8 में नहुष के साथ ही तमप् प्रत्यय है।[6] सायणाचार्य इसका अर्थ 'बन्धकस्यापि बन्धकतरः' करते हैं।

---

1. उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी। अथर्व० 4/16/3
2. अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम्।। वही 4.11.1
3. अग्निरेव यदनड्वान्। शत० 7/3/21
4. अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोद्ववर्तय। ऋ० 8.14.13
5. त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः। ऋ० 1.31.2
6. अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टरः। ऋ० 10.49.8

अनेक मन्त्रों में कण्वाः, कण्वासः पद पठित हैं। ये कण्व पद के बहुवचन हैं। निघण्टु में कण्व पद मेधावीनामों में पठित है। सायणाचार्य ने कण्वाः को स्तोता तथा ऐतिहासिक अर्थ में व्याख्या किया है।[1]

इस प्रकार प्रतीत होता है कि सायणाचार्य वैदिक शब्दों के यौगिकपक्ष के समर्थक हैं। इसीलिए उन्होंने ऐतिहासिक प्रतीति वाले शब्दों के निर्वचनपूर्वक यौगिक किए हैं, किन्तु साथ ही उन्हें इनके ऐतिहासिक अर्थ इसलिए दिखलाने पड़े क्योंकि ऐतिहासिक सम्प्रदाय उनसे भी पहले विद्यमान था।

सायणाचार्य का यौगिक पक्ष

सायणाचार्य ने अनेक स्थानों पर स्पष्ट रूप में वैदिक शब्दों के यौगिक अर्थ को ही प्रदर्शित किया है। यथा—

(1) कारोतराच्छफादश्वस्य वृष्णः शतं कुम्भाँ असिञ्चतं सुरायाः।

ऋ॰ 1/116/7

यहाँ पर कहा गया है कि हे अश्विनौ! तुमने अश्व के शफ=खुर से सुरा के एक सौ घड़े पूर्ण किये। सायणाचार्य ने अश्व का यौगिक अर्थ व्यापकमेघ तथा शफ का अर्थ निम्नस्थान किया है।[2]

(3) पिता यत्र स्वां दुहितरमध्यष्कन् रेतः क्ष्मया रेतः समुग्मानो निषिञ्चत्।

ऋ॰ 10/61/7

मन्त्र का शाब्दिक अर्थ यही है कि पिता ने अपनी दुहिता में रेतम् का सेचन किया अर्थात् गर्भधारण किया। सायणाचार्य ने पिता का अर्थ प्रजापति तथा दुहिता का अर्थ दिन तथा उषा किया है।[3] तां॰ब्रा॰ में सूर्य को भी प्रजापति कहा गया है।[4] सूर्य से उत्पन्न होने के कारण उषा सूर्य की दुहिता है। सूर्य अपनी इसी दुहिता में किरणों के रूप में गर्भ का आधान करता है।

सायणाचार्य ने ऐसे अनेक शब्दों के भी ऐतिहासिक अर्थ दिये हैं जिनका पाठ निघण्टु में अनैतिहासिक विभिन्न अर्थों में किया गया है। इस प्रकार का एक

---

1. कण्वाः स्तोतारः कण्वगोत्रा वा ऋषयः। ऋ॰ 8/6/11 सा॰भा॰
2. अश्वस्य शफात् व्याप्तिमतो मेघस्य निम्नस्थानात् स्रोतसो वा। सा॰भा॰
3. पिता प्रजापतिर्यदा स्वां दुहितरं दिवमुषसं वा।। सा॰भा॰
4. प्रजापतिर्वै सविता। ता॰ब्रा॰ 16/5/17

शब्द 'बल' है। ऋग्वेद में लगभग 24 बार इसका उल्लेख बलस्य, बलः वलम् आदि विभक्तियों में इन्द्र के साथ किया गया है। सायणाचार्य ने अधिकांश स्थानों में इसका अर्थ बल नाम असुर ही किया है जबकि निघ० 1/10 में बल पद मेघनामों में पठित है। इस आधार पर कई स्थानों पर सायण के बल का वैकल्पिक मेघ अर्थ भी किया है। प्रश्न है कि ऐसा किसलिए किया गया। सर्वत्र निघण्टु द्वारा स्वीकृत मेघ अर्थ ही क्यों नहीं किया गया? इसी प्रकार का एक शब्द पुरूरवा है। ऋ० 1/131/4 में 'पुरूरवसे' पद पठित है। इसकी व्याख्या में सायणाचार्य लिखते हैं 'एतन्नामकस्य राज्ञो अनुग्रहाय' मेघ ही पुरूरवा है।[1] किन्तु यहां सायण उसका अनुगमन नहीं करते। इसी प्रकार ऋ० 1/31/11 में 'अकृण्वन्नहुषस्य विश्पतिम्' पाठ है। सायणाचार्य लिखते हैं, 'नहुषस्यैतन्नामकस्य राजविशेषस्य।' में नहुषः पद नि० (2/3) में मनुष्य नामों में पठित है पुनरपि यहाँ निघण्टु के विपरीत ऐतिहासिक अर्थ किया है।

यह भी ध्यातव्य है कि वेदभाष्यकारों ने किन्हीं शब्दों को क्वचित् ऐतिहासिक नाम भी माना है, किन्तु साथ ही वैकल्पिक रूप से उनका यौगिक या योगरूढ़ अर्थ देकर दूसरी व्याख्या भी कर दी है। इससे प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक अर्थ में उन्हें स्वयं सन्देह है। उदाहरणार्थ, आचार्य सायण ने ऋ० (1.172.3) में 'तृणस्कन्द' को एक ओर असुरविशेष का नाम माना है। तो दूसरी ओर 'तृण के समान चंचल स्वभाव वाला' अर्थ भी कर दिया है। ऋ० (2.13.11) में 'जातुष्ठिर' को ऐतिहासिक नाम भी माना है, किन्तु विकल्प में 'सदा स्थिर' यह यौगिक अर्थ भी किया है। ऋ० (5.61.6) में 'शशीयसी' को महिषी का नाम माना है, फिर इसका 'प्रशस्या' अर्थ भी किया है। ऋ० (7.18.18) में 'भेद' मर्यादाभेदक नास्तिक अर्थ करके फिर 'भेद नाम का कोई राजा सुदास् का शत्रु' यह ऐतिहासिक अर्थ भी किया है। ऋ० (8.87.3) में 'प्रियमेधाः' का 'प्रिय है यज्ञ जिन्हें ऐसे यजमान' यह यौगिक अर्थ करके फिर विकल्प देते हैं कि यह ऐतिहासिक ऋषि का नाम भी हो सकता है, बहुवचन पूजार्थ है।

---

1. पुरूरवाः बहुधा रोरूयते। निरुक्त 10/46

(3) त्वष्टेविनं सौश्रवसाय जिन्वति (ऋ० 1/162/3) यहाँ पर सायणाचार्य त्वष्टा का ऐतिहासिक अर्थ न करके यौगिकपक्ष में सर्वोत्पादक देव तथा अग्नि के अर्थ में इसे व्याख्यात करते हैं।[1] ऋ० 1/3/10 में भी सायण ने अग्नि को ही त्वष्टा कहा है। इस प्रकार यौगिक पक्ष के प्रति सायणाचार्य का आग्रह अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है।

कहीं-कहीं ऐसा भी पाया जाता है कि एक भाष्यकार किसी नाम को ऐतिहासिक मानता है, तो दूसरा भाष्यकार उसे यौगिक मान कर नैरुक्त शैली से व्याख्या करता है। यथा-(1) ऋ० (2.13.8) में आये 'पृक्ष' का अर्थ सायण 'हविर्लक्षण अन्नलाभ' और 'दासवेश' का अर्थ 'दस्युओं का विनाश' लेते हैं। (2) ऋ० 2.15.9 में 'रम्भी' को वेंकट व्यक्तिवाचक ऐतिहासिक नाम मानते हैं, किन्तु सायण इसका अर्थ वेत्रधात्री करते हैं। (3) ऋ० 1/31/27 में सायणाचार्य ने 'ययाति' से ययाति नामक राजा का ग्रहण किया है जबकि स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ प्रयत्नवान् पुरुष किया है। (4) ऋ० 8/8/21 में त्रसदस्यु पद पठित है। सायणाचार्य ने इसका अर्थ व्यक्तिपरक किया है, जबकि स्वामी दयानन्द इसे शत्रुओं को डराने वाले सेनापति के अर्थ में व्याख्यात किया है।[2]

इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि अनेक भाष्यकारों ने वैदिक शब्दों के अर्थ अपनी इच्छानुसार किए हैं। इसमें से कुछ का आधार तो निरुक्त तथा ब्राह्मणादि ग्रन्थ रहे हैं तथा कुछ ने वैदिक शब्दों को लोक में देखकर तदनुसार ही उनकी ऐतिहासिक व्याख्या कर दी है। इतना ही नहीं, अपितु लोकप्रचलित कथाओं से उनका सम्बन्ध भी स्थापित कर दिया है। ऐसा होने पर वेदों में लौकिक व्यक्तियों के इतिहास का भ्रम होना स्वाभाविक था। नैरुक्त प्रक्रिया से अर्थ करने पर ऐतिहासिक सर्वथा तिरोहित हो जाता है।

कुछ विद्वानों का ऐतिहासिक का मोह तो इतना अधिक है कि इसके प्रतिपादनार्थ वे वेदों में प्रयुक्त शब्दों के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हुए उनमें स्वैच्छिक परिवर्तन भी कर देते हैं। यथा-डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी लिखते हैं "अथर्ववेद के कुन्तापसूक्त (20/127) में राजा परीक्षित का नामोल्लेख तीन[3] बार किया गया है। कुन्तापसूक्त में ही दो ओर ऐतिहासिक नाम मिलते हैं-प्रतीप

1. त्वष्ट्या सर्वोत्पादको देवः, तूर्णतापकोऽग्निर्वा। सा०भा०
2. त्रसन्ति दस्यवो यस्मात् सः सेनापतिः। दया०भा०
3. अथर्व० 20/127/7, 9, 10

प्रतिसुत्वन[1] अपने कथन का आधार इन्होंने प्रो॰ रैप्सन का यह कथन बताया है कि प्रतिसुत्वन परीक्षित का पौत्र था और प्रतीप प्रपौत्र। इस आधार पर डॉ. रमाशंकर लिखते हैं, "परीक्षित महाभारत के महान् सेनानी अर्जुन के वीर पुत्र अभिमन्यु का बेटा था। इस प्रकार अर्जुन की पाँच पीढ़ी का परिचय हमें कुन्ताप सूक्तों में उपलब्ध होता है—अर्जुन-अभिमन्यु, परीक्षित-प्रतिसुत्वन-प्रतीप।"[2]

प्रतीत होता है कि विद्वान् लेखक ने या तो अथर्ववेद को बिना देखे ही यह बात कही या जान-पूछ कर सत्य का अपलाप किया है, क्योंकि अथर्व॰ 2/127 मन्त्रों में परिक्षितः पद है, परीक्षित नहीं। महाभारतकालीन परीक्षित अकारान्त रूप है जबकि वेद में परिक्षित् इस हलन्त शब्द का षष्ठी विभक्ति में रूप परिक्षितः है। रेफ में इकार भी दोनों स्थानों पर भिन्न हैं। एक सामान्य व्याकरण का छात्र भी इन दोनों शब्दों को एक नहीं मान सकता।

इतना ही नहीं, अपितु प्रतीप तथा प्रतिसुत्वन् के लिए लेखक ने अथर्व॰ 20/127/2 मन्त्र का पता दिया है, किन्तु मन्त्र में कहीं पर ये दोनों शब्द नहीं है। इस सूक्त में अर्जुन तथा अभिमन्यु का तो नामोनिशान भी नहीं है, पुनरपि लेखक ने सूक्त में अर्जुन की पाँच पीढ़ियों का प्रतिपादन कर दिया। यह असावधानी है या ऐतिहासिक व्यामोह? लगता है कि प्रो॰ रैप्सन को आधार बनाने के कारण यह लिखा गया। उपर्युक्त तीनों मन्त्रों में प्रयुक्त परिक्षित का अर्थ है—परितःक्षितः। अर्थात् चारों और विद्यमान। यह शब्द यहाँ विशेषण है, नाम नहीं। इस प्रकार अर्जुन, अभिमन्यु, प्रतीप तथा प्रतिसुत्वन् का तो नाम भी इस सूक्त में नहीं है।

(9) वेदों में प्राप्त आख्यान तथा संवाद सूक्त

वेदों में हमें अनेक आख्यान तथा संवादसूक्त उपलब्ध होते हैं। ऐसा ऋग्वेद में सर्वाधिक है। इसके अतिरिक्त ऋगवेद में कुछ दान-स्तुतियाँ भी प्राप्त होती हैं, जिनके विषय में कहा जाता है कि विभिन्न राजाओं द्वारा ऋषियों को दिए गए दानों की प्रशंसा में ऋषियों द्वारा स्तुतियाँ की गई हैं। इसी प्रकार आख्यानों तथा संवादसूक्तों को भी लौकिक मनुष्यों, राजाओं तथा ऋषियों आदि का वास्तविक इतिहास माना जाता है। यहां पर इस प्रकार के संवादसूक्तों एवं आख्यानों पर विचार किया जाता है—

1. वैदिक साहित्य का इतिहास, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी वाराणसी, 2/12 ई॰, पृ॰ 168
2. वही।

स्कन्द, सायण आदि भाष्याकारों ने इस प्रकार के संवादसूक्तों तथा आख्यानों की यद्यपि ऐतिहासिक व्याख्याएँ भी की है, किन्तु इसके साथ ही इनकी आधिदैविक तथा आधिभौतिक व्याख्याएँ भी की है। इस प्रकार का कार्य सायणाचार्य ने अधिक किया है। इस विषय में डॉ. रामनाथ वेदालंकार लिखते हैं-"वेदों में जो अगस्त्य-लोपामुद्रा, सरमा-पणि, पुरूरवस्-उर्वशी, यम-यमी आदि के संवाद तथा शौनःशेपाख्यान एवं देवताओं आदि के आख्यान पाए जाते हैं, उन्हें ब्राह्मणग्रन्थ, रामायण, महाभारत, पुराण, बृहद्देवता आदि ग्रन्थों में कुछ नवीन पात्र जोड़कर रोचक संवादों एवं आख्यानों के रूप में अतिरञ्जित कर दिया गया है, जिसे ऐतिहासिक सम्प्रदाय वैदिक इतिहास समझ बैठा है। ऐतिहासिकों का ध्यान इस ओर भी नहीं किया कि वेद, ब्राह्मणग्रन्थ रामायण आदि से बहुत पुराने हैं, अतः वेदों से तो कोई संवाद या आख्यान परवर्ती ग्रन्थों में जा सकता है, परवर्ती ग्रन्थों से वेदों में नहीं आ सकता।"[3]

इससे यही प्रतीति होती है कि ये संवादसूक्त तथा आख्यान ऐतिहासिक नहीं है। इस विषय में अन्य हेतु इस प्रकार भी है (1) इन आख्यानों तथा संवाद सूक्तों में असम्भव बातों का भी प्रतिपादन किया गया है जो कि इनकी ऐतिहासिकता पर प्रश्नचिह्न लगाता है। यथा–मित्र तथा वरुण के रेतस्खलन से कुम्भ में वसिष्ठ की उत्पत्ति। (2) इन सूक्तों में अनेक ऐसे निम्नस्तरीय कार्य भी वर्णित हैं जिन्हें कि ऋषि-मुनि तो क्या, कोई साधारण व्यक्ति भी नहीं करेगा। यथा–वामदेव द्वारा कुत्ते की आंत पकाना इत्यादि। (3) इस विषय में एक अन्य पुष्ट प्रमाण यह है कि यास्काचार्य ने संवाद एवं आख्यान सम्बन्धी कई मन्त्र निरुक्त में उद्धृत करके इनकी आधिदैविक व्याख्या की है। यास्क ने ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले अनेक व्यक्तिवाची नामों की निरुक्तियाँ भी दी है। इससे भी उनका अनैतिहासिक स्वरूप ही सिद्ध होता है।

किसी भी कल्पित कहानी को आख्यान या आख्यायिका कहते हैं। ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। मन्त्रों में आधिदैविक घटनाओं का वर्णन आलंकारिक कहानी के रूप में किया गया है। वे कहानियां सत्य नहीं होती। केवल प्राकृतिक घटनाओं का रहस्य प्रकट करने के लिए उन्हें इस रूप में कहा जाता है। यथा–यास्क ने ऋ० 1/117/16 'अजोहवदश्विना' मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है–'आह्वयदुषा अश्विनावादित्येन ग्रस्ता, तामश्विनौ प्रमुमुचतुरित्याख्यानम् (नि० 5/21)। यहाँ यास्क ने आख्यान के स्वरूप को स्पष्ट कर दिया है।

3. वैदिक इतिहास विमर्श, प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान दिल्ली, 2005, भूमिका, पृ. VI

निरुक्त में उद्धृत आख्यानों को देखने से विदित होता है कि यास्क ने उनमें से अनेक को मन्त्रों की भूमिका के रूप में उद्धृत किया है, परन्तु उन मन्त्रों की व्याख्या इतिहासपरक न करके मन्त्रस्थ पदों का निर्वचन करके की है। व्यक्तिवाचक नामों को भी उन्होंने निर्वचन के बिना नहीं छोड़ा। इससे यही सिद्ध होता है कि यास्क उनको कालविशेष से सम्बन्धित व्यक्तिविशेष नहीं मानते। यहाँ पर यह भी अवधेय है कि सम्बन्धित आख्यान के कुछ ही तत्त्व उस मन्त्र में मिलते हैं, सभी नहीं। उन्हीं तत्त्वों के आधार पर वेदेत्तर साहित्य में विभिन्न आख्यानों की कल्पना कर ली गई है।

सायणाचार्य ने अपने वेदभाष्य में अनेक आख्यानों की कल्पना की है। सायणाचार्य द्वारा उदाहृत इन आख्यानों का मूल सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता, शतपथ, शाट्यायन आदि ब्राह्मणग्रन्थ, स्कन्दस्वामी तथा वेंकटमाधव आदि के वेदभाष्य तथा इतिहास एवं पुराण ग्रन्थ हैं। इस प्रकार इन आख्यानों की एक सुदीर्घ परम्परा रही है।

ब्राह्मणग्रन्थों में भी आख्यान हैं, किन्तु बहुत से स्थलों पर ब्राह्मणग्रन्थ उन आख्यानों का तथा मुख्य पदों का स्पष्टीकरण पर्यायसमीकरण के द्वारा अथवा किसी व्याख्या के द्वारा कर देते हैं। यथा–प्रजापति द्वारा अपनी पुत्री के समागम की व्याख्या दुहितरम् को 'दिवम् उषसं वा' कहकर की गई है।[1] आख्यानों का विकास वस्तुतः ब्राह्मणकाल में ही हो गया था। विधि की स्तुति आदि के लिए आख्यानों का सीमित क्षेत्र व्यापक हो गया। इसके साथ अन्य नवीन घटनाएँ भी जुड़ गईं। इन आख्यानों को जानने वाले आख्यानविद कहलाते थे। इन्हें ही निरुक्त में ऐतिहासिका कहा गया है। ये लोग वैदिक मन्त्रों की व्याख्या भी आख्यानों के आधार पर ऐतिहासिक रूप में करने लगे। मूल संहिताग्रन्थों में हमें आख्यान उपलब्ध नहीं होते। वहाँ आख्यानात्मक या संवादात्मक शैली ही प्रतीत होती है जिसके आधार पर बाद में ब्राह्मणग्रन्थों, निरुक्त, बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी आदि ग्रन्थों तथा स्कन्द, वेंकट, मुद्गल, सायण आदि के भाष्यों में विविध आख्यानों की कल्पना की गई है। इस विषय में आचार्य वररुचि कहते हैं–औपचारिकोऽयं, मन्त्रेष्वाख्यानसमयः नित्यत्वविरोधात्। परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः।

---

1. प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद् दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये। ऐत॰ 3.33।

वस्तुतः किसी तथ्य को आख्यानात्मक रूप में प्रस्तुत करना वेदों की एक शैली है। वेदों में जो आख्यानात्मक शैली के प्रकरण हैं, उन्हें ही इतिहास भी कहा गया है। निरुक्तकार ने 'इत्याचक्षते' कहकर कई स्थानों पर इस प्रकार का इतिहास दिखलाया है। यथा–(1) ऋ॰ 10.18 पर देवापि-शन्तनु का इतिहास। (2) ऋ॰ 3/23 पर विश्वामित्रनदी का इतिहास, (3) ऋ॰ 10/102 पर मुद्गल भार्म्यश्व का इतिहास (4) ऋ॰ 10/17/2 पर सरण्यू तथा विवस्वान् का इतिहास।[1] इसके अतिरिक्त चार स्थलों[2] पर 'इत्याख्यानम्' कहकर एक ही पंक्ति में आख्यान का संकेत मात्र किया है। विस्तार से कोई इतिहास नहीं दिखलाया। तीन स्थानों[3] पर 'इत्यैतिहासिकाः' कहकर ऐतिहासिकों का मत भी दिखलाया है।

'तत्रेतिहासमाचक्षते' का अर्थ है 'कुल लोग 'वहाँ इतिहास कहते हैं।' यास्क यह नहीं कह रहे है कि उन मन्त्रों में इतिहास विद्यमान है। यदि यास्क का यह अभिप्राय होता तो वे ऐसा लिखते 'तत्रेतिहासोऽस्ति'। उन्होंने ऐसा नहीं लिखा। इसका अभिप्राय है कि वहाँ पर इतिहास है तो नहीं, किन्तु कुछ लोग उन मन्त्रों के सम्बन्ध में इस प्रकार का इतिहास कहते हैं जैसा कि यास्क इस इतिहास को वहाँ उद्धृत कर रहे हैं। जहाँ यास्क 'इत्यैतिहासिकाः' कहते हैं, वहाँ इसका यह अर्थ है कि उन मन्त्र की या उसके कुछ पदों की व्याख्या ऐतिहासिक लोग इस प्रकार करते हैं। ऐसे प्रसंगों में सर्वत्र ही यास्क ऐतिहासिक सम्प्रदाय के साथ नैरुक्तों का मतभेद प्रदर्शित करते हैं। इसका सुस्पष्ट अर्थ है कि यास्क तथा अन्य नैरुक्तों के मत में उन प्रसंगों में इतिहास नहीं है। यह एक सम्प्रदाय मात्र है जो वेद के मन्त्रों वा पदों की व्याख्या ऐतिहासिक ढाँचे में करता है। जहाँ यास्क 'इत्याख्यानम्' कहते हैं। वहाँ न तो कोई इतिहास उद्धृत करते हैं तथा न ही ऐतिहासिकों का पक्ष उपस्थित करते हैं अपितु संक्षेप में एक पंक्ति में ही मन्त्र के पदों को उद्धृत करते हुए ही इसके साथ 'इत्याख्यानम्' कह देते हैं। इसका अर्थ है कि यह मन्त्र आख्यानात्मक शैली में कहा गया है। वस्तुतः यहाँ कोई इतिहास नहीं है।

इस प्रकार नैरुक्त पद्धति में अर्थ करने पर सम्वाद सूक्तों तथा आख्यानपरक सूक्तों में कोई इतिहास सिद्ध नहीं होता। सभी आख्यानों का पूर्ण विश्लेषण जो एक स्वतन्त्र पुस्तक का विषय है।[4] यहाँ पर संक्षेप में आख्यानों एवं सम्वाद सूक्तों पर विचार किया जाता है।

---

1. क्रमशः नि॰ 2.11, 2.24, 9.23, 10.26. तथा 12.10
2. नि॰ 5.21, 11.25, .11.34 तथा 12.41 3. नि॰ 2.5, 12.1 तथा 12.10
4. इस विषय में लेखक की पुस्तक "वैदिक इतिहास विमर्श" द्रष्टव्य है।

इन आख्यानों तथा सम्वाद सूक्तों में कुछ की चर्चा तो यास्क ने निरुक्त में की है किन्तु साथ ही उन्होंने इनका आधिदैविक स्वरूप भी बतला दिया है। इससे इतिहास पक्ष तिरोहित हो जाता है।

कुछ आख्यान तथा सम्वादसूक्त ऐसे हैं जो निरुक्त में तो चर्चित नहीं हैं, किन्तु वेद मन्त्रों में उनके बीज पाये जाते हैं। अर्थात् वेद मन्त्र सम्वादात्मक तथा आख्यानात्मक शैली में कहे गए हैं। तृतीय प्रकार के आख्यान तथा सम्वाद सूक्त वे हैं जिनकी कल्पना भाष्यकारों ने मनमाने ढंग से कर ली है। वेदों में उनका वह स्वरूप नहीं है। यहाँ पर इन तीनों ही प्रकार के आख्यानों तथा सम्वादसूक्तों पर विचार किया जाता है।

(क) निरुक्त में चर्चित आख्यान–

(1) सरण्यू तथा विवस्वान् का आख्यान (ऋ॰ 1/17/1–2 तथा अ॰ 18/2/33)

यास्काचार्य ने सरण्यू के निर्वचनप्रसंग में ऋ॰ 10/17/1 को उद्धृत करके उसकी आधिदैविक व्याख्या की है, साथ ही 'तत्रेतिहासमाचक्षते' कहकर संक्षेप में एक इतिहास भी दिया है कि त्वष्टा ने अपनी दुहिता सरण्यू को विवस्वान् के लिए दिया जिससे सरण्यू ने दो मिथुन = अश्विनौ को उत्पन्न किया। यहाँ पर उषा ही सरण्यू है। यास्क ने उसे आकाशीय पदार्थों के साथ पढ़ा है। यह उषा विवस्वान् को दी गई। यास्क ने विवस्वान् का अर्थ आदित्य किया है। अर्थ स्पष्ट है कि उषा के पश्चात् ही आदित्य का आगमन होता है 'महो जाया विवस्वतो ननाश (ऋ॰ 10/17/1) की व्याख्या में यास्क कहते हैं रात्रि रादित्यस्योदयेऽन्तर्धीयते (नि॰ 12/11)। इस प्रकार यहाँ आख्यान के रूप में आधिदैविक वर्णन ही है, इतिहास नहीं।

(2) कूपपतित त्रित ऋषि का उद्धार (ऋ॰ 1/105/17)

मन्त्र का अभिधेयार्थ है कि कूप में पड़े हुए त्रित ने रक्षा के लिए देवों से प्रार्थना की। बृहस्पति ने उसे सुना तथा त्रित को कूप से बाहर निकाल दिया। मन्त्र में 'अंहूरणात्' पद पठित है, इसकी व्याख्या सायण ने 'अंहसः पापरूपादस्मात् कूपात्' की है। मन्त्र में गर्भस्थ जीव का वर्णन है। तीन तापों से घिरा होने के कारण वही त्रित है। वरुण सूक्त में इन्हें तीन बन्धन कहा गया है। इस विषय में स्कन्दस्वामी स्पष्ट रूप में लिखते हैं–त्रितः शुक्लादिलक्षणैः कर्मपाशैः पुण्यापुण्योभयविधैर्बद्धो मातुरुदरे नरके मग्नो...। नि॰ 4/6 स्क॰ भा॰

(3) इन्द्र-अगस्त्य संवाद (ऋ० 1/170/1)

इस सूक्त में इन्द्र तथा अगस्त्य का सम्वाद जैसा प्रतीत होता है, किन्तु यह वास्तविक नहीं है। यहाँ पर देहरूपी कुम्भ में स्त्यान = बद्ध रहने के कारण जीवात्मा ही अगस्त्य है तथा परमेश्वर इन्द्र है। प्राण ही मरुत हैं।[1] सायणाचार्य ऋ० 1/165/1 के भाष्य में लिखते हैं कि इन्द्र-मरुत् सम्वाद में सर्वत्र प्राण तथा जीवपरक व्याख्या करनी चाहिए।[2]

(4) विश्वामित्र-नदी संवाद (ऋ० 3/33)

यास्क ने इस सूक्त के मन्त्रों की व्याख्या से पूर्व 'तत्रेतिहासमाचक्षते' कहकर लिखा है कि विश्वामित्र धन लेकर विपाट् शुतुद्री के संगम स्थल पर गया। सूक्त के मन्त्र विश्वामित्र तथा नदियों के सम्वाद रूप में कहे गए हैं। नदियाँ जड़ पदार्थ हैं, सम्वाद कर ही नहीं सकती। इसी से यह सूक्त अनैतिहासिक है। वर्षाकाल में उफनती नदियों को राजा इंजीनियरों की सहायता से वश में करे, यह सूक्तका भाव है। विश्वामित्र को सूक्त में कारु कहा गया है। कारु का अर्थ शिल्पी ही है। इन कार्यों में धन तो चाहिए ही।

(5) मित्र-वरुण तथा उर्वशी के संयोग से वसिष्ठ की उत्पत्ति (ऋ० 7/33)

यास्क ने इस सूक्त के एकादश मन्त्र की व्याख्या से पूर्व लिखा है कि उर्वशी के दर्शन से मित्र-वरुण का रेतस् स्खलित हो गया। यहाँ वस्तुतः वर्षा वर्णन है। हाईड्रोजन तथा ऑक्सीजन वायु ही मित्र तथा वरुण पदवाच्य हैं। विद्युत् ही उर्वशी है। वायु तथा विद्युत् वर्षा में सहायक होते हैं। जिनसे वसिष्ठ = बादल बनने से वर्षा होती है। स्कन्द स्वामी कहते हैं वसिष्ठोऽप्याच्छित उदक संघातः। निम्न मन्त्र के द्वारा इस सूक्त का रहस्य स्पष्ट हो जायेगा–

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम् धियं धृताचीं साधन्ता।

(ऋ० 1/2/27)

सायणाचार्य ने इस मन्त्र की यह व्याख्या की है–

कीदृशौ मित्रावरुणौ? घृतमुदकमञ्चति भूमिं प्रापयति या धीर्वर्षणकर्म तां घृताचीं धियं साधयन्तौ।

(6) देवापि-शन्तनु आख्यान (ऋ० 10/98)

---

1. प्राणा वै मारुताः। शत० 9/3/1/7
2. अत्र इन्द्रमरुत्संवादरूपे सर्वत्र प्राणजीवात्मपरतयाऽपि योजनीयम्

यास्काचार्य ने नि० 2/10 में इस मन्त्र के सन्दर्भ में विस्तार से देवापि तथा शन्तनु के आख्यान को उद्धृत किया है। सूक्त में 12 मन्त्र हैं, किन्तु पूरे सूक्त में देवापि तथा शन्तनु के इतिहास के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया। वस्तुतः यह वर्षकामसूक्त है। सूक्त के मन्त्रों को यास्क ने अन्तरिक्षस्थ तथा पार्थिव समुद्रों का विभाग दिखलाने के लिए उपस्थित किया है, न कि ऐतिहासिक दृष्टि से। सूक्त में देवापि को आर्ष्टिषेण कहा गया है जिसका अर्थ है—ऋष्टिषेण का पुत्र किन्तु इतिहास में देवापि के पिता का नाम प्रतीय = दर्पश्रवा है। ऋष्टिखेण नहीं। इस प्रकार यह सूक्त ऐतिहासिक न होकर वर्षकाम है।

(7) सरमा-पणि संवाद (ऋ० 10/108)

यास्क ने इस सूक्त के प्रथम मन्त्र की व्याख्या से पूर्व लिखा है कि इन्द्र से भेजी हुई सरमा ने पणियों से सम्वाद किया (नि० 11/25)। सायणाचार्य ने इस सूक्त के भाष्य से पूर्व ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर इन्द्र-सरमा तथा पणियों की कथा दी है। सरमा को देवशुनी भी कहा गया है। यहाँ शुनी का अर्थ कुतिया नहीं है, क्योंकि एक कुतिया तथा पणियों में सम्वाद होना सर्वथा असम्भव है। अतः एतद्विषयक कथानक कल्पनामात्र है। इस विषय में दुर्गाचार्य कहते हैं कि यह आख्यान मन्त्रार्थं की अभिव्यक्ति के लिए है। अर्थात् वास्तविक नहीं है।[1] निघ० 6/5 तथा नि० 11/25 में सरमा पद अन्तरिक्षस्थानी देवों में पठित है। इसलिए दुर्गाचार्य ने सरमा को माध्यमिका वाक् माना है तथा 'वाग् वै सरमा' मै०स० (4/6/4) को भी यहाँ पर उद्धृत किया है। स्कन्द स्वामी भी ऐसा ही मानते हैं।[2] यह आधिदैविक पक्ष है। इस पक्ष में सूर्य ही इन्द्र तथा इन्द्र की गोओं अर्थात् किरणों को चुराने = छिपा लेने वाले बादल ही पणि है। बादलों में माध्यमिका वाक् विद्युत् की गर्जना होना ही सरमा तथा पणियों का सम्वाद है।

आधिभौतिक पक्ष में राष्ट्र का राजा ही इन्द्र है तथा जमाखोर व्यापारी वर्ग पाणिपद वाच्य है। ये लोग आवश्यक वस्तुओं को छिपा कर कृत्रिम अभाव उत्पन्न कर देते हैं तथा इन्द्र = राजा की गौ = वाणी को भी दबा देते हैं, उसकी परवाह नहीं करते। इस पक्ष में सरमा का अर्थ C.I.D. जैसी राजकीय संस्था है जो इन जमाखोर व्यापारियों का पता लगाकर राजा को सूचित करती है। इस पक्ष में महीधर यजु० 33/59 के भाष्य में लिखते हैं—सरमासृगतौ औणादिकोऽमृप्रत्ययः। राज्य में सर्वत्र विचरण करके राजा को सूचना देने के लिए ही इसे देवशुनी कहा गया है।

---

1. देवशुनीन्द्रेण प्रहितेति निदानप्रख्यापनं मन्त्रार्थाभिव्यक्तये। नि० 11/25 दुर्गभाष्य
2. सरमा मध्यमस्थाना वाक्। नि० 11/25 स्क० भा०

(8) यम-यमी आख्यान (ऋ० 10/10 तथा अथर्व. 12/1)

यास्क नि० 11/34 में इसे आख्यान कहते हैं जबकि बृहद्देवता (6/154) में इसे सम्वाद माना गया है। सायण भी यही मानते हैं। कुछ भाष्यकार यहाँ पति-पत्नी का सम्वाद मानते हैं तथा कुछ भाई-बहिन का। मैकडानल, कीथ तथा म्यूर ने यम-यमी की ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत की है। मैकडानल के अनुयार यम ने अपनी बहन यमी के साथ मानवजाति को प्रवर्तित किया।[1]

ये सभी कल्पनाएँ निराधार हैं। पति-पत्नी का तो यहाँ कोई प्रसंग ही नहीं। सूक्त के एकादश मन्त्र में यम को स्पष्ट रूप में भ्राता तथा यमी को स्वसा कहा गया है। ये दोनों ही कल्पितपात्र हैं तथा इनके माध्यम से एक नैतिक नियम का प्रतिपादन वेद कर रहा है कि भाई तथा बहिन का पारस्परिक विवाह पाप है।[2] सूक्त के द्वितीय मन्त्र में भी यम स्पष्ट रूप में कहते हैं—सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति। इसकी व्याख्या में सायणाचार्य कहते हैं कि एक ही माता की सन्तान होने से बहिन होने के कारण तू पत्नी होने योग्य नहीं।[3] बस, पूरे सूक्त का निहितार्थ यही है। अतः यहाँ कोई वास्तविक इतिहास नहीं है।

इस प्रकार इन सभी आख्यानों तथा सम्वादसूक्तों में कोई भी लौकिक इतिहास नहीं है। वेद में सम्वाद तथा आख्यानों के माध्यम से विभिन्न तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है। ये सभी आख्यान निरुक्त में भी चर्चित हैं।

(ख) निरुक्त में अचर्चित आख्यान

(1) शौनःशेप आख्यान (ऋ० 1/24-30 सूक्त)

अनेक ग्रन्थों में विविधि रूपों में यह कथा प्रसिद्ध है कि शुनःशेप के पिता अजीगर्त ने राजा हरिश्चन्द्र से धन लेकर बदले में शुनः शेप को यज्ञ में बलि करने के लिए दे दिया था। इसी आधार पर वेदों में नरबलि का प्रतिपादन किया जाता है।

ये कथाएँ पूर्णतः असत्य एवं कल्पना पर आधारित हैं। इस विषय में पूर्व राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् लिखते हैं—

---

1. मैकडानल, वैदिक माइथोलॉजी।
2. पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्। ऋ० 10/10/12
3. सलक्ष्मा समानयोनित्व सलक्षणा विणुरूपा भगिनीत्वाद् विषमरूपा।
ऋ० 10/10/2 सा०भा०

शुनःशेप का आख्यान यह लक्षित नहीं करता कि मनुष्यबलि की आज्ञा या उसका प्रोत्साहन वेदों में पाया जाता है।[1] मैकडानल भी ऐसा ही कहते हैं कि नरबलि के प्रमाण वेद में स्पष्ट नहीं होते।[2]

स्वामी दयानन्द ने शेपः श॰ते स्पृशतिकर्मणः (नि॰ 3/21) के आधार पर शुनः शेप का अर्थ विद्वान् व्यक्ति किया है।[3] जो कि अपने सांसारिक पापमोचनार्थ वरुण परमेश्वर से प्रार्थना करता है।

पं॰ दामोदर सातवलेकर के अनुसार शुनःशेप ऐतिहासिक व्यक्ति न होकर प्रकृति के त्रिगुणात्मक अथवा सहस्रों जन्म-मरण के बन्धनों से आबद्ध सर्वसामान्य व्यक्ति का प्रतीक है।

निघ॰ (3/6) में शुनम् सुखनामों में पठित है। इसी आधार पर जयदेव विद्यालंकार ने शुनः शेप का अर्थ सुख तथा उत्तम ज्ञान को प्राप्त करने वाला मुमुक्षु व्यक्ति किया है। जो सांसारिक बन्धन में पड़कर मुक्ति की प्रार्थना परमेश्वर से करता है।

(2) इन्द्रदधीचि आख्यान (ऋ॰ 1/84/14, 1/117/22)

ऋ॰ 1/84/13 में कहा गया है कि इन्द्र ने दधीचि की अस्थियों से 99 वृत्रों का वध किया।[4] इसे अतिरिक्त 1/116/12 आदि में इन्द्र तथा दधीचे, दध्यङ् आदि नामों कथा के कुछ संकेत प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर शतपथादि में तथा वेदभाष्यों विभिन्न रूपों में इस कथा को विस्तार दिया गया है। यह कथा इतनी लोकप्रिय है कि अशिक्षित ग्राम्य जन भी इस कथा से सुपरिचित है कि दधीचि ऋषि ने देवों की प्रार्थना पर वृत्र नामक असुर के वधार्थ इन्द्र को अपनी अस्थियाँ प्रदान कर दी थी जिनसे वज्र बना कर इन्द्र ने वृत्र को मारा।

प्रथम दृष्टि में ही ये कथाएँ इसलिए अविश्वसनीय हैं कि संसार भर में जितने भी अस्त्र-शस्त्र आज तक बने है, उमनें कहीं भी हड्डियों से बने अस्त्र-शस्त्र का वर्णन नहीं है। हड्डियाँ बहुत कमजोर होती है, उनसे शस्त्र निर्माण किया भी नहीं जा सकता।

---

1. राधा कृष्णन्, भारतीय दर्शन।
2. मैकडानल, वैदिक रिलीजन, पृ॰ 53
3. विज्ञानवत इव शेपो विद्यास्पर्शो यस्य सः। ऋ॰ 1/247/1-2 दया॰भा॰
4. इन्द्रो दधीचोऽस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः जघान नवतीर्नव।

शतपथ में वाणी को ही दध्यङ्, पाप को वृत्र तथा पापहन्ता व्यक्ति को इन्द्र कहा गया है।[1] इस कथा का यही स्वारस्य है कि इन्द्रियाधिपति जीवात्मा दध्यङ् बनकर अपनी पापमयी आसुरी वृत्तियों को नष्ट करता है। पाप की वृत्तियाँ अनेक प्रकार की होती हैं जिन्हें यहाँ 99 वृत्र कहा गया है। यास्क ने दध्यङ् का निर्वचन 'प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा' (नि॰ 12/33) के रूप में किया है। इसके अनुसार परिपक्व ध्यान वाला ध्यानी व्यक्ति ही दध्यङ् है। वही अपनी पापमयी आसुरी वृत्तियों को नष्ट करता है। स्वामी ब्रह्ममुनि ने भी दधीचे पद 'गमनशीलाय ध्यानिने जनाय' व्याख्या इसी पक्ष में की है। रामगोपाल वैद्य के अनुसार आदित्य की सोम छोड़ने वाली 5 रश्मियाँ ही दध्यङ् हैं जिनसे वह मेघों = वृत्राणि का हनन करता है।[2] स्वामी दयानन्द ने दध्यङ् के निम्न निर्वचन करते हुए अध्यापक, विद्वान् तथा पदार्थवेत्ता जन को ही दध्यङ् माना है। यथा–

(1) दधति यैस्ते दधयः सद्गुणास्तानञ्चति प्रापयति वा सोऽध्यापकः।

ऋ॰ 1/80/16

(2) दधीन् विद्याधर्मधारकानञ्चति प्राप्नोति स विद्वज्जनः। ऋ॰ 1/116/12

(3) दधीन् सुखधारकान्यग्न्यादिपदार्थानञ्चति सः पदार्थवेत्ता जनः।

यजु॰ 11/33

यास्क ने दध्यङ् को द्युस्थानीय देवों में पढ़ा है। इस प्रकार आधिदैविक पक्ष में सूर्य ही दध्यङ् है तथा उनकी किरणें ही अस्थियाँ हैं जिनमें वह वृत्र के रूप में बादलों के समूहों को नष्ट करता है। इस प्रकार इन मन्त्रों में इन्द्र, दध्यङ् तथा वृत्र सभी अनैतिहासिक पदार्थ हैं।

(3) अगस्त्य-लोपामुद्रासम्वाद (ऋ॰ 1/179)

इसके विषय में बृहद्देवता में लिखा है कि ऋषि अगस्त्य ने ऋतुस्नाता भार्या लोपामुद्रा को देखकर सहवास की इच्छा प्रकट की। अन्य भाष्यकारों ने भी यहां पति-पत्नी परक की व्याख्या की है। अगस्त्य तथा लोपामुद्रा दोनों वृद्ध हैं। पूरे सूक्त के 6 मन्त्रों में केवल एक बार लोपामुद्रा पद पठित है। यहाँ

---

1. वाग्वै दध्यङ् आथर्वणः। पाप्मा वृत्रः पापहन् पुरन्दरमित्येतत्। शत॰ 6/4/12/6
2. वेदवाणी अप्रैल, 1972, पृ॰ 4 पर 'दध्यङ् की अस्थियाँ तथा अश्विनों को मधु विद्या का उपदेश नामक लेख।'

कोई वास्तविक इतिहास नहीं है, अपितु इसके माध्यम से यह प्रतिपादित किया गया है कि पति-पत्नी को युवावस्था में ही गृहस्थ धर्म का पालन कर लेना चाहिए, अन्यथा वृद्धावस्था में कभी भी काम का आक्रमण हो सकता है।

(3) पुरूरवा-उर्वशी आख्यान (ऋ॰ 10/95)

यह आख्यान भी सुप्रसिद्ध है तथा विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार से वर्णित है। प्रायः इसे पुरुवंशीय राजा पुरूरवा तथा उर्वशी नामक अप्सरा का सम्वाद माना जाता है, किन्तु यह सत्य नहीं है।

नैरुक्तों के पक्ष में बादल ही पुरूरवा है क्योंकि यह बहुत गरजता है।[1] मेघस्थ विद्युत् ही उर्वशी है।[2] इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि घोर गर्जन करते हुए बादल में बिजली चमकने पर वर्षा होती है। इस प्रकार यह सूत्र आधिदैविक ही है, ऐतिहासिक नहीं। ऐतिहासिक पक्ष में एक प्रमुख बाधा यह भी है कि पुरूरवा तथा उर्वशी दोनों ही इस सूक्त के कुछ मन्त्रों के देवता हैं तथा कुछ के ऋषि हैं। ऐसा होने से स्वयं सिद्ध है कि यह सूक्त पुरूरवा तथा उर्वशी से पहले भी विद्यमान था। ऐसा मानने पर प्रश्न है फिर उनसे पहले से ही विद्यमान सूक्त में पुरूरवा तथा उर्वशी का इतिहास कैसे आ गया।

ऐतिहासिक पक्ष में एक अन्य बाधा यह है कि ऐतिहासिक उर्वशी तथा पुरूरवा के आयु, शतायु आदि 6 पुत्र थे। प्रस्तुत सूक्त में आयु किसी के पुत्र रूप में वर्णित नहीं है। यजुर्वेद में अग्नि के विशेषण के रूप में उर्वशी, आयु तथा पुरूरवा पद प्राप्त होते हैं।[3] इससे भी स्पष्ट है कि वेदों में इनका ऐतिहासिक वर्णन नहीं किया गया है।

ये सभी सम्वाद तथा आख्यान सूक्त ऐसे हैं जिनका उल्लेख निरुक्त में नहीं है, किन्तु अन्य ग्रन्थों में इनका ऐतिहासिक उल्लेख प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त कुछ आख्यान ऐसे भी हैं जिनका अतिस्वल्प उल्लेख या संकेत ही वेदों में उपलब्ध होता है, पुनरपि भाष्यकारों ने वहां पर विस्तार से ऐतिहासिक आख्यान को उद्धृत किया है। ऐसे आख्यान निम्न हैं–

(1) वामन-विष्णु तथा बलिआख्यान

---

1. पुरूरवाः बहुधा रोरूयते। नि॰ 10/46
2. उर्वशी अप्सरा अप्सारिणी। नि॰ 5/3
3. उर्वश्यसि आयुरसि पुरूरवा असि। यजु॰ 5/2

ऋ॰ 1/126/16-18, 7/100/4, 8/29/17 यजुर्वेद 2/25 आदि में उल्लेख है कि विष्णु ने तीन बार पृथिवी पर विक्रमण किया। इन सूक्तों में बलि राजा तथा तत्सम्बन्धी कथा का कोई भी संकेत नहीं है। जबकि लोक में सर्वत्र यह कथा प्रचलित है कि विष्णु ने बलि राजा के यज्ञ का विध्वंस करने के लिए वामन रूप में वहाँ जाकर बलि से साढे तीन कदम भूमि मांगी। राजा के स्वीकार करने पर वामन ने विष्णु बनकर तीनों लोकों को अपने कदमों से नाप दिया। इसके सम्बन्ध में प्रमुख मन्त्र यह है–

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूळहमस्य पांसुरे। ऋ॰ 1/22/17

उवट ने इस मन्त्र की आध्यात्मिक तथा अधिभौतिक व्याख्या की है।[1] महीधर भी ऐसा ही मानते हैं।[2]

मैक्समूलर, मैकडालन, कीथ, ग्रिफिथ आदि पाश्चात्य विद्वान् विष्णु को सूर्य का वाचक मानते हैं। डॉ॰ राधाकृष्णन्[3] तथा पं॰ बलदेव उपाध्याय के अनुसार भी विष्णु आकाशगामी सतत क्रियाशील सूर्य का प्रतीक है।[4] स्वामी दयानन्द तथा पं॰ दामोदर सातवलेकर ने विष्णुसम्बन्धी मन्त्रों का अर्थ परमात्मापरक किया है।

(2) वराहद्वारा पृथिवी का उद्धार

ब्राह्मणग्रन्थों तथा पुराणों आदि में यह कथा वर्णित है कि पहले पृथिवी जलनिमग्न थी। प्रजापति ने वराह अवतार धारण करके इसका उद्धार किया। इसी आधार पर लोक में भी यह कथा सुप्रचलित है। वेदों में इस कथा का कहीं भी उल्लेख नहीं है।

अथर्ववेद में यह तो कहा गया है कि यह पृथिवी पहले जलनिमग्न थी।[5] एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि वराह के द्वारा भली प्रकार सत्ता में आकर यह पृथिवी सूकराय (सु+उ+कर=किरणें) उत्तम किरणों वाले मृगाय (मृजूष्-शुद्धौ) शोधक सूर्य की ओर गति करती है।[6] इस प्रकार यहाँ पृथिवी के द्वारा सूर्य की

---

1. सर्वप्राणिनो हि मनोजीवभावेनाविशतीति विष्णुः। भूम्यन्तरिक्षद्युलोकेषु अग्निवायुसूर्यरूपेण त्रिधा निहितवान् पदम्। यजु॰ 5/15 उवट भाष्य
2. भूमावेकपदमन्तरिक्षे द्वितीयं दिवि तृतीयमिति क्रमादग्निवायुसूर्यरूपेणेत्यर्थः।
3. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन
4. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति
5. याऽर्णवेऽधिसलिलमग्र आसीत्।। अथर्व॰ 12/118
6. वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय। अथर्व॰ 2/11/48

परिक्रमा का उल्लेख किया गया है तथा कहा गया है कि वराह के द्वारा ही पृथिवी सत्ता में आई। यहाँ वराह का अर्थ सूर्य है। सृष्टि के आदि में जलनिमग्न पृथिवी के जल को सूर्य ही अपनी तीक्षण किरणों से सुखाता है। इसके पश्चात् ही इसका पृथिवी रूप प्रकट होता है, यह भाव है। निघ० (1/12) में वर पद जल वाची नामों में पठित है। वरं जलम् आहरतीति वराहः। इस प्रकार जल का शोषण करने के कारण सूर्य ही वराह है। निरुक्त में सूर्य की किरणों को भी वराहव कहा गया है।[1]

(3) प्रजापति का स्वदुहितृ गमः (ऋ० 10/61/7)

पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः संजग्मानो निषिञ्चत्। ऋ० 10/6/17

इस आधार पर कहा जाता है कि प्रजापति ब्रह्मा ने अपनी कन्या में रेतस् = वीर्य का आधान किया। लोक में भी यह कथा इसी रूप में प्रचलित है क्योंकि पुराणों आदि में इसका यही रूप प्रदर्शित किया गया है। वस्तुतः यहाँ इस प्रकार की किसी भी ऐतिहासिक कथा तथा अनैतिक सम्बन्ध का उल्लेख नहीं है। यह आधिभौतिक वर्णन है। सायणाचार्य में यहाँ पिता का अर्थ प्रजापति तथा दुहितरम् का अर्थ दिवम् उषसम् करके मन्त्र की व्याख्या सूर्य पक्ष में की है। शतपथ में सूर्य को ही प्रजापति कहा गया है।[2] यह सूर्य अपनी दुहिता उषा में प्रकाश रूपी रेतस् का आधान करता है। स्वामी दयानन्द ने भी यही व्याख्या की है कि सूर्य लोक ही प्रजापति संज्ञक है। उसकी दुहिता द्युलोक है। सूर्य इस दुहिता में प्रकाश नामक पुत्र को उत्पन्न करता है। प्रकाश की माता उषा तथा पिता सूर्य है।[3]

इस प्रकार वैदिक शब्दों की विभिन्न पक्ष में यौगिक व्याख्या करने से वहाँ पर कोई भी लौकिक इतिहास सिद्ध नहीं होता। वेदों में विषय प्रतिपादन की कई शैलियाँ अपनाई गई है। इनमें ही सम्वादशैली तथा आख्यानशैली भी है। लोक में भी यह शैली देखी जाती है।

---

1. अंगिरसोऽपि वराहव उच्यन्ते। नि० 5/4
2. प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मान् सविता। शत० 12/2/2/4
3. सविता सूर्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोऽस्ति। तस्य दुहिता कन्यावद् द्योरूपा चास्ति। स च पिता प्रकाशाख्यमादित्यं पुत्रमजीननत् उत्पादयति। अस्य पुत्रस्य मातृव दुषा पितृवच्च सूर्यः। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

यहाँ पर प्रमुख आख्यानों को ही उद्धृत किया गया है। इसमें से कुछ आख्यान लोक में भी प्रचलित हैं। इस प्रकार के सभी आख्यानों का संग्रह तथा स्पष्टीकरण हमने अपने 'वैदिक इतिहास विमर्श' नामक पुस्तक में किया है। वहाँ पर सूक्तों तथा मन्त्रों की संगति प्रमाणों के आधार पर अनैतिहासिक पक्ष में लगाई है।

(10) भारोपीय भाषा तथा वेद

जब पाश्चात्य विद्वानों का परिचय संस्कृत से हुआ तो उनकी प्रवृत्ति संस्कृत को मूल भाषा मानने की थी। जर्मन विद्वान् श्लेगल = एवं फ्रेंच विद्वान् बाप का आशय यही था। इसीलिए पहले बाप ने संस्कृत को ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं का मूल कहा था। इसी प्रकार विलियम जोंस ने भी कहा था कि संस्कृत ग्रीक से भी अधिक पूर्ण, लैटिन से अधिक समृद्ध तथा दोनों से अधिक परिष्कृत है।[1] मैक्समूलर को यह बात सहन नहीं हुई। अतः उसने कहना प्रारंभ किया कि कोई अच्छा विद्वान् कभी भी ग्रीक या लैटिन शब्दों के संस्कृत से निष्पन्न होने की बात सोच भी नहीं सकता।[2]

भारोपीयभाषा की कल्पना–संस्कृत तथा ग्रीक, लैटिन आदि का सम्बन्ध इतना प्रगाढ़ था कि इसे नकारा नहीं जा सकता था, किन्तु मैक्समूलर आदि संस्कृत को ग्रीक तथा लैटिन आदि का मूलस्रोत मानने को भी तैयार न थे। यह उनका पूर्वाग्रह तथा उपलब्ध साक्ष्यों के विपरीत धारणा थी, तथापि इसका प्रचार हो गया। इसलिए किसी मूल भारोपीयभाषा की कल्पना बिना किसी आधार के ही कर ली गई तथा कहा जाने लगा कि ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत आदि का यह सम्बन्ध इतना प्रगाढ़ है कि कोई भी भाषाशास्त्री इनका विवेचन यह माने बिना नहीं कर सकता कि इनका मूल स्रोत कोई एक ही है, जो अब विद्यमान नहीं है। गाथिक तथा लैटिन दोनों ही संस्कृत के समान उत्पत्तिस्रोत वाली हैं तथा प्राचीन फारसी को भी इसी परिवार से जोड़ा जा सकता है।[3]

---

1. The sanskrit language whatever its antiquity is of wonder for structure more perfect than Greek, more conspicuous than Latin more refined than either (रायल एशियोटिक सोसायटी, बंगाल के समय 1786 में दिया गया विलियम जोंस का भाषण)
2. No sound scholor can ever think. of deriving any Greek or Latin words from sanskrit-Maxmuller, science of language, vol. p. 449.
3. शर्मा देवीदत्त, संस्कृत का ऐति॰ एवं संरच॰ परिचय, पृ॰ 13

उक्त उद्धरण से ये बातें स्पष्ट होती हैं–

(1) विद्वानों ने प्रारंभ से ही ग्रीक तथा लैटिन के साथ गाथिक, कौटिल्य, पुरानी फारसी को भी इस परिवार की भाषा मान लिया।

(2) यह भी कल्पना कर ली गई कि इन सभी भाषाओं का मूलस्रोत एक ही था, जो कि नष्ट हो गया।

प्रारंभ में भाषाओं के इस परिवार को संस्कृतपरिवार कहा गया। इसके बाद आर्य, इंडोजर्मनिक, इंडोकौटिल्य, जफेटिक आदि नामों पर भी विचार हुआ, किन्तु इनमें से कोई भी नाम स्वीकृत न हो सका। अन्ततोगत्वा यह मानकर कि ये सभी भाषाएँ मुख्यतः भारत, ईरान तथा यूरोप की ही है, अतः भौगोलिक आधार पर इस भाषाई परिवार का नाम 'भारत-यूरोपीय' तथा पुनः Indo-Europen की अनुकृति पर भारोपीय नाम प्रचलित हो गया।[1]

यह तथ्य तभी स्पष्ट हो गया था कि संस्कृतभाषा का वैदिकस्वरूप इस परिवार का सबसे पुराना रूप है, तथापि इसे स्वीकार न करके यह आग्रह किया गया कि किसी मूलभाषा का पता लगाया जाए, जिससे सभी भारोपीय क्लासिकल भाषाओं की उत्पत्ति सिद्ध की जा सके। स्पष्टतः यह एक पूर्वाग्रह या दुराग्रह था। इस विषय में डॉ॰ सूर्यकांत बाली लिखते हैं "इस प्रकार मूल भारोपीयभाषा की धारणा के विकास के पीछे विज्ञान के इतिहास में संभवतः पहली बार शोध का क्रम पलट कर निष्कर्ष पहले निकाल लिया गया और इसके तथ्य बाद में इकट्ठा किए गए।"[2] सत्य एवं शोध का यह कितना अपलाप एवं तिरस्कार था, फिर भी पूर्वाग्रहवश इसे इसलिए स्वीकार किया गया जिससे कि वैदिकभाषा को परवर्ती सिद्ध किया जा सके। इसी बात को न्यायमूर्ति काशीनाथ त्र्यम्बक इस प्रकार कहते हैं–'योरोपीय संस्कृतविद्वान् अत्यंत दुर्बल तथ्यों पर अपनी काल्पनिक इमारतें खड़ी कर लेते हैं। इसके बाद वे अपनी कच्ची नींव को छिपाने की व्यवस्था करते है।'

भारोपीय भाषा में प्रमाणों के अभाव की स्थिति–भाषाविज्ञान के क्षेत्र में यह विलक्षण वदतोव्याघात है कि इस तथाकथित भारोपीय भाषा को 'काल्पनिक' मूलपितृभाषा कहा जाता है तथापि इस काल्पनिक भाषा के नितांत अनुमान परक काल्पनिक शब्दों के साथ तुलना के आधार पर अन्य सभी भाषाओं के

---

1. व्यास, भोलाशंकर, संस्कृत का भाषावैज्ञानिक अध्ययन, 1971, पृ॰ 18-19
2. वेदों का तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक अध्ययन, 198, पृ॰ 231

विषय में निश्चित निष्कर्ष निकालने का दावा किया जाता है। पुरानी संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं की तुलना के आधार पर कल्पित भारोपीयभाषा के रूपों की कल्पना की गई।[1] इससे अधिक विडंबना और क्या होगी कि बिना प्रमाण के ही विशाल संस्कृतवाङ्मय की अभिव्यञ्जिका संस्कृतभाषा को कल्पित या अवास्तविक मान लिया गया। मैकडानल ने अपने संस्कृतभाषा के इतिहास में ऐसा ही कहा है।[2] दूसरी ओर यह कल्पित भारोपीय भाषा अध्ययन का वैज्ञानिक आधार मान ली गई जबकि भारोपीयभाषा के इस काल्पनिक अस्तित्व को सत्यापित करने के लिए हमें प्रमाणों के नितांत अभाव की स्थिति से जूझना पड़ रहा है।[3] यह भारोपीयभाषा नितांत काल्पनिक, अवैज्ञानिक तथा पूर्वाग्रह पर स्थित है, इस विषय में निम्न तथ्य है–

(1) ऐसा एक भी प्रमाण अभी तक नहीं मिला जिससे कि इस भाषा का अस्तित्व स्वीकार किया जा सके।

(2) इसके बोलने वाले कौन थे, इसका कोई भी संकेत या उल्लेख किसी भी साक्ष्य से अभी तक विदित नहीं हुआ है।

(3) इसके बोलने वाले यदि थे तो कहां तथा कब थे, इसका भी कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

(4) भारोपीयभाषा विषयक कोई भी अभिलेख, साहित्य, शिलालेख, जनश्रुतियाँ तथा लोक कथाएँ आदि कोई भी प्रमाण आज तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

इस विषय में डॉ॰ सूर्यकांत बाली लिखते हैं–"आश्चर्य का विषय तो इससे भी अधिक एक और है कि शोधद्वारा सत्यान्वेषण के मानदंडों के अनुसार अभिलेखीय महत्त्व, बहिसाक्ष्य के तारतम्य एवं पुरातत्त्वीय खोजों को ही प्रमाण मानने वाले आधुनिक विद्वानों ने भारतीय भाषाओं एवं संस्कृति आदि के सम्यक् इतिहासनिर्माण के लिए संस्कृतसाहित्य में प्रमाणभूत रूप में उपलब्ध लिखित सामग्री की साक्षिता पर तो बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न लगा दिया है, परन्तु किसी भी

---

1. व्यास, भोलाशंकर, पूर्ववत्, पृ॰ 31
2. Even in its earliest phase vedic sanskrit cannot be regared as popular tongue, but is rather an artificial archaic dialect, handed down from one generation to the other within the clan of priestely singers. A.A. Macdonel. A history of sanskrit literature, 1962 p. 12.
3. बाली, सूर्यकान्त, वेदों का समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन, पृ॰ 231

प्रमाण के नितांत अभाव में शुद्धकल्पना के आधार पर खड़ी की गई भारोपीय भाषा जैसी तथा कथित भाषा को हर प्रकार वैज्ञानिक तुलनात्मक अध्ययन का सशक्त आधार मान लिया है। वास्तव में भारोपीय पितृभाषा की कल्पना ही निरर्थक है।"[1]

संसार की भाषाओं को विभिन्न भाषापरिवारों में विभक्त किया गया है। क्या यह आश्चर्य का विषय नहीं कि इनमें भारोपीय परिवार को छोड़कर अन्य किसी भी परिवार की किसी काल्पनिक भाषा के काल्पनिक पुनार्निमाण के लिए इतना यत्न एवं उत्साह प्रदर्शित नहीं किया गया। निश्चित रूप में इसके कारण भाषाई नहीं हो सकते। भारतीय विद्वानों ने भी अपने विपुल संस्कृत वाङ्मय को प्रमाणित न मानकर यूरोप के विद्वानों की इस निःसार कल्पना को स्वीकार कर लिया, यह चिंता का विषय है। अब इस सम्बन्ध में पुनर्विचार हो रहा है। सत्यान्वेषण का तकाजा है कि इस प्रकार के काल्पनिक बुद्धि विलासों को समाप्त करके उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर विशुद्ध भाषाई अन्वेषण करने की परम्परा डाली जाए। इस सम्बन्ध में डॉ॰ बाली[2] का निम्न संपूर्ण उद्धरण देना प्रासंगिक होगा–

भाषाविज्ञान की नवीनतम शोधधारणाओं के अनुसार भाषाओं में साम्य-वैषम्य का आधार शब्दभण्डार नहीं, वाक्यरचना होना चाहिए,[3] क्योंकि भाषा की मूल ईकाई शब्द नहीं, वाक्य है। (प्राचीन भारतीय भाषाविद् इस मौलिक ईकाई विषयक चिंतन तक शताब्दियों पूर्व पहुँच चुके थे) इस आधार पर यूरोपीय भाषाओं का परिवार पृथक् है। कुछ मौलिक शब्दों का साम्य संस्कृत के यूरोपीय भाषाओं पर बड़े प्रभाव का द्योतक है, जिसका ऐतिहासिक अध्ययन अपेक्षित है। इसमें भी यह जोड़ देना आवश्यक सूचना माना जा सकता है कि इस शब्दभंडार में साम्य कम शब्दों में ही है। बहुत बड़ा प्रतिशत् पृथक् आकार वाला है। परिणामस्वरूप यह कह पाना अब सहज ही है कि भारोपीय काल्पनिक मूल पितृभाषा का काल्पनिक पुनर्निमाण जिस भारोपीय भाषापरिवार की भित्ति पर आधारित किया गया है, उस भाषापरिवार की धारणा ही जल्दबाजी में बनाई हुई सिद्ध हो रही है। वस्तुतः भारोपीय भाषा-परिवार के वैज्ञानिक धरातल पर गंभीर विचार अपेक्षित है। ऐसा कहा जा सकता है कि

---

1. वही, पृ॰ 231
2. वही, पृ॰ 240
3. Ghosh Balakrishna, A survey of India-European Language, 1970, p. 1.

आधुनिक भाषा-विज्ञान के इतिहास में संभवतः और कोई भी निष्कर्ष इतनी जल्दबाजी में नहीं निकाला गया जितना भारोपीयपरिवार की धारणा का और भारोपीय काल्पनिक मूलभाषा के काल्पनिक पुनर्निमाण से अधिक उपहासास्पद निष्कर्ष भी संभवतः कोई और नहीं निकाला गय। इस सम्बन्ध में मेये का यह कथन कितना पथ-प्रदर्शन सिद्ध होना चाहिए था कि भारोपीय मूलभाषा के कल्पित रूपों को वस्तुतः किसी बोली जाने वाली प्राचीन भाषा का रूप मानना भ्रान्त है।[1] परन्तु इस सत्योक्ति पर किसी भी भाषाविद् ने शायद जान-पूछकर ही कोई ध्यान नहीं दिया। इतना ही नहीं, अपितु इससे विपरीत कर दिया गया। कल्पित-भाषा को वास्तविक भाषा से अधिक प्रामाणिक मानकर उसके कल्पित रूपों के आधार पर संस्कृत आदि भाषाओं की तुलना करके निश्चित निष्कर्ष प्राप्त कर लेने का दावा किया गया और उन्हें आश्चर्यजनक रूप से आवश्यकता से अधिक प्रचारित किया गया।

भाषाविज्ञान में नव आविष्कृत तालव्यनियम के आधार पर भारोपीयभाषा की कल्पना करके कहा जाता है कि उस मूल भारोपीयभाषा के अ ए तथा ओ ध्वनियों का संस्कृत में केवल 'अ' रूप रह गया तथा 'ए, ओ' ध्वनियों का लोप अथवा 'अ' ध्वनि में निमज्जन हो गया। इसके विपरीत ग्रीक तथा लैटिन ने मूल भारोपीय भाषा की 'ए' और 'ओ' ध्वनियों को सुरक्षित रखा। इसका खंडन करते हुए पं॰ भगवद्दत्त लिखते हैं कि संस्कृत की 'अ' ध्वनि को ग्रीक लोग 'ए' तथा 'ओ' के रूप में बोलते थे। यथा–संस्कृत-मधु। ग्रीक-मेथु (Methu)। संस्कृत मथरा। ग्रीक-मेथोरा (Methora)। अतः योरोपीय भाषाविदों की नवीन कल्पना प्रमाणशून्य है।[2]

आगरा वि॰वि॰ के पूर्व कुलपति डॉ॰ गोविन्द चन्द्र मूल भारोपीय भाषा की काल्पनिकता के विषय में लिखते हैं–

"मूलभाषा में क्या ध्वनियां थी, क्या धातु और प्रत्यय थे, क्या समान विरासत के रूप में मूलशब्द थे, इन सबके तुलनात्मक अनुमान के आधार पर कल्पना की गई है।"[3] भाषावैज्ञानिक डॉ॰ रामविलास शर्मा इस विषय में लिखते हैं[4]–"वास्तव में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान में आर्यभाषा के सामान्य तत्वों की जो

1. व्यास, भोलाशंकर, संस्कृत का भाषावैज्ञानिक अध्ययन, पृ॰ 32 पर उद्धृत।
2. पं॰ भगवद्दत्त, वै॰ वा॰ का इतिहास, प्रथम भाग, पृ॰ 35
3. गोविन्द चन्द्र पांडेय, वैदिकसंस्कृति, पृ॰ 6
4. भारत के प्राचीन भाषापरिवार और हिंदी, राजकमल प्रकाशन, 1979, पृ॰ 14-15

ध्वनिव्यवस्था है, वह निराधार और काल्पनिक है।" अर्न्स्ट पुल्ग्राम भी किसी मूलभाषा को स्वीकार नहीं करते, इस विषय में गोविन्द चन्द्र पांडेय लिखते हैं–

"वर्तमान भाषाओं से मूलभाषा के उद्धार का प्रयत्न अति महत्त्वाकांक्षी है। इस प्रवृत्ति के हास्यास्पद परिणाम अर्न्स्ट पुल्ग्राम ने व्यंग्यात्मक ढंग से दर्शाए हैं।[1]

गोविन्द चन्द्र पांडेय ने पोसेल[2] के विचारों को भी इस प्रकार दिखलाया है। "आज यह मानने के लिए कोई युक्ति नहीं है कि कभी कोई आर्य प्रजाति ऐसी रही थी जो कि भारोपीय भाषाएँ बोलती थी।"

जिस भाषाविज्ञान के आधार पर मूल भारोपीयभाषा की मिथ्या कल्पना की गई है, उसके विषय में अरविन्द लिखते हैं–"भाषा–विज्ञान उन नियमों का पता लगाने में असफल रहा है, जिस पर भाषा का निर्माण हुआ है या यह कहना अधिक ठीक है कि जिन नियमों पर भाषा का विकास हुआ है। यह असंदिग्ध अटकलों की बौद्धिक चमक–दमक से भरा पड़ा है।"

भारोपीयभाषा की कल्पना का उद्देश्य–अब भारतीय विद्वानों ने भारोपीयभाषा की कल्पना को भ्रामक एवं निराधार घोषित कर दिया है। पाश्चात्यों को यह भ्रामक पूर्वाग्रह क्यों अपनाना पड़ा, इसका कारण बतलाते हुए प्रो॰ ब्रजबिहारी चौबे लिखते हैं–

"यह बात उल्लेखनीय है कि मूल भारोपीयभाषा अथवा आर्यभाषा तथा इन भाषाओं को बोलने वाली एक समान आर्य उपजाति की सत्ता तथा समान संस्कृति को स्वीकार करने के पीछे पाश्चात्य विद्वानों की आन्तरिक भावना यह थी वे यह स्थापित कर सकें कि प्रथमतः आर्यजाति मध्यएशिया में निवास करती थी, वहाँ से चल कर भारत में आकर बस गई। वस्तुतः यह अत्यंत भ्रामक धारणा थी।[4]"

पाश्चात्य विद्वानों ने ऐसी बहुत सी भ्रामक धारणाएँ सोद्देश्य हमारे सामने प्रस्तुत की। आर्यों का भारत में बाहर से आगमन भी ऐसी ही मिथ्या धारणा थी। इस पर हमने अन्यत्र विचार किया है। दौर्भाग्य यह रहा कि आधुनिक भारतीय

---

1. पुल्ग्राम दि टंग्स् ऑफ इटली, वैदिकसंस्कृति, पृ॰ 29 पर उद्धृत।
2. पोसेल, इंडस एज, 1999, पृ॰ 42
3. वेदरहस्य, भाग 1, पृ॰ 3
4. सं॰वा॰ का बृहद् इतिहास, भाग 1, पृ॰ 3

विद्वानों ने पाश्चात्यों की इन कल्पित भ्रामकधारणाओं को गर्व के साथ स्वीकार कर लिया। ऐसा करने में उन्होंने प्राचीन भारतीय वाङ्मय एवं प्रचीन आचार्यों के वचनों पर भी ध्यान नहीं दिया। अब समय आ गया है कि इस प्रकार की सभी मिथ्या धारणाओं से मुक्ति पाई जाए तथा वैदिक साहित्य का नया इतिहास प्राचीन भारतीय वाङ्मय एवं परंपरा के परिप्रेक्ष्य में लिखा जाए।

(11) वेदों में हिंसा तथा पशुवध

यह आक्षेप भी किया जाता है कि वेदों में यज्ञों में गाय-घोड़े आदि पशुओं की बलि देने का विधान है तथा प्राचीनकाल में ऐसा होता था। यद्यपि वर्तमान काल में ऐसे यज्ञ कहीं भी नहीं किए जाते, तथापि कुछ वेदज्ञ विद्वान् अभी भी सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार करते हैं कि वेदों में ऐसा है। इस धारणा के पीछे दो कारण हैं प्रथम यह कि वेदों में वृषभ, उक्षा, अश्व तथा गो आदि के पकाने आदि का विधान प्रतीत होता है। यथा–उक्ष्णो मे पञ्चदश साकं पचन्ति (ऋ० 10/86/14) इस मन्त्र का यही अर्थ किया गया है कि यज्ञ में 15 बैलों की आहुति दी जाती थी। वस्तुतः ऐसे अर्थ सर्वथा अशुद्ध एवं निराधार हैं, ऐसा इस अध्याय में बतलाया जायेगा।

वेदों में यज्ञिय हिंसा के प्रतिपादन का दूसरा कारण यह है कि सायण, महीधर आदि पूर्वाचार्यों ने भी अपने भाष्यों में इनका प्रतिपादन कर दिया है। सायणाचार्य की स्थिति सुस्थिर नहीं है, क्योंकि वे कहीं तो वृषभ आदि शब्दों के यौगिक अर्थ करके सर्वथा अन्य ही अर्थ करते हैं, किन्तु कहीं-कहीं हिंसा का प्रतिपादन भी कर देते हैं। यथा–

वृष्णः कोषःपवते मध्य उर्मिर्वृषभान्नाय वृषभाय पातवे।
वृष्णावध्वर्यू वृषभाषो अद्रयो वृषणे सोम वृषभाय सुस्वति॥

ऋ० 2/161/5

यहाँ वृषभान्नाय का यही अर्थ किया जाता है कि वृषभ अर्थात् बैल है अन्न जिसका अर्थात् जो बैलों को खाता है, उस इन्द्र के लिए।

सायणाचार्य ने सभी शब्दों के यौगिक अर्थ किये हैं, हिंसापरक नहीं। यथा–वृषभाय=कामानां वर्षित्रे इन्द्राय। वृषभाय = देवानांश्रेष्ठाय। वृषभासः = वर्षकाः। वृषभान्नाय-वर्षकाण्यन्नानि यस्य स तथोक्तः। इस प्रकार इन अर्थों से यहाँ किसी भी प्रकार हिंसा सिद्ध नहीं की जा सकती।

सायणाचार्य ने अन्यत्र भी इसी प्रकार के यौगिक अर्थ किए हैं।

यथा–

ऋ० 1/59/6 वृषभस्य = अपां वर्षितुः वैश्वानरस्याग्नेः।

ऋ० 1/33/4 वृषभम् = गुणैः श्रेष्ठम्।

ऋ० 9/77/3 ऋषिरतीन्द्रियद्रष्टा।

ऋ० 2/18/2 वसिष्ठस्य = सर्वस्य वासयितृतमस्य

ऋ० 8/69/15 महिषम् = महान्तम्।

इस प्रकार प्रामाणिक रूप में कहा जा सकता है कि सायणाचार्य वेदों में यौगिक पक्ष के पक्षधर है। यही पक्ष यास्क तथा अन्य नैरुक्तों का है।

उलझन तब बढ़ती है जब सायणाचार्य के भाष्य में ही कहीं-कहीं यज्ञों में हिंसा का प्रतिपादन भी पाया जाता है। यथा–अथर्व० 9/4 के उपोद्घात में सायणाचार्य लिखते हैं–"ब्राह्मणो वृषभं हत्वा तन्मासं भिन्नदेवताभ्यो जुहोति। तत्र वृषभस्य प्रशंसा तदङ्गानां च कतमानि कतमदेवेभ्यः प्रियाणि भवन्ति तद्विवेचनम्। वृषभस्य बलिः हवनस्य महत्वं च वर्ण्यते। तदुत्पन्नं श्रेयश्चस्तूयते।"

यहाँ तो स्पष्टतः हिंसा का प्रतिपादन किया गया है। ऐसा क्यों? आचार्य ने यहाँ ऐसा क्यों कर दिया? इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सायणाचार्य ने विशाल वाङ्मय के भाष्य में अन्य पण्डितों से अवश्य ही सहायता ली होगी क्योंकि वुक्क राजा के प्रधानमन्त्रित्व का भार भी सायणाचार्य पर ही था। वाममार्गी हिंसा प्रेमी लेखकों में आचार्य के भाष्य में हिंसा का प्रक्षेप कर दिया जिसे सायण कार्याधिक्य के कारण नहीं देख पाए। ऐसा सर्वथा सम्भव है। क्योंकि इस युग में भी स्वामी दयानन्द के सत्यार्थप्रकाश में सहायक लेखकों ने मांस तथा श्राद्ध प्रकरण मिला दिये थे। स्वामी जी को इसका पता भी न चला। जब पाठकों ने उनका ध्यान इस ओर दिलाया तो द्वितीय संस्करण में उन प्रकरणों को निकाल दिया गया। ऐसा ही सायणाचार्य के साथ भी हुआ है।

इस युग में वेदज्ञ विद्वानों को वेदों को इस प्रकार आक्षेपों से सर्वथा मुक्त करके उनका शुद्धयौगिकार्थ जनता के सामने रखना चाहिए। यहाँ पर अश्वमेधादि का स्वरूप दिया जा रहा है–

वैदिक अश्वमेध, गोमेध, पुरुषमेध आदि का स्वरूप–कुछ विद्वानों का विचार है कि वेदों में इन यज्ञों का वर्णन है। इनका अर्थ है कि अश्वमेध में

अश्व की बलि दी जाती थी, अजामेध में बकरी की, गोमेध में गाय की बलि दी जाती थी। ऐतरेयब्राह्मण के शुनःशेपआख्यान के आधार पर प्राचीनकाल में पुरुषमेध का भी समर्थन किया जाता है। इस विषय में 'The Rigveda and Vedic religion' नामक पुस्तक के लेखक ने अपनी पुस्तक में 'Animal Sacrifices' शीर्षक देकर लिखा है कि एक असाधारण यज्ञ में 17 जवान गोओं की बलि दी जाती थी। बैलों-भैंसों और हरिणों की भी कई बार बड़ी मात्रा में बलि दी जाती थी। शुक्ल यजुर्वेद में 327 पालतू पशुओं का वर्णन है, जिनमें बैलों, गोओं, दूध देने वाली गोओं का भी समावेश है जिनकी बलि घोड़ों के साथ अश्वमेध यज्ञ में दी जाती थी।

पाश्चात्य विद्वानों को यह भ्रांति यज्ञ शब्द का वास्तविक अर्थ न समझने के कारण हुई है। उन्होंने यज्ञ का अर्थ सर्वत्र Sacrifices ही किया है। इस अंग्रेजी शब्द का अर्थ बलिदान ही है। अतः उन्हें भ्रम हो गया कि यज्ञों में पशुओं की बलि दी जाती थी। यदि उन्होंने यज्ञ के यास्कीय निर्वचन तथा यज् धातु के पाणिनीय देवपूजा, संगतिकरण तथा दान अर्थों को देख लिया होता तो यह गलती न होती। यज्ञ शब्द का अर्थ चारों वेदों में कही भी बलि नहीं है। वेदों में तो यज्ञ के लिए साक्षात् 'अध्वर' शब्द अनेक स्थानों पर पठित है,[1] जिसका अर्थ हिंसा रहित ही है।

यज्ञ में अध्वर्यु नामक ऋत्विक् की इसीलिए होती है कि वह यज्ञ में किसी भी प्रकार की हिंसा न होने दे। इस विषय में यास्काचार्य कहते हैं—अध्वर्युः अध्वरत्म् अहिंसकं यज्ञमिच्छुः। अध्वरं कामयत इति वा। नि॰ 2/2

वस्तुतः वेदों में अश्वमेध को छोड़कर अन्य गोमेध आदि शब्दों का प्रयोग ही नहीं है। यहाँ यह भी मेध शब्द का अर्थ हिंसा न होकर प्राप्ति = समागम अर्थ ही है।

---

2. ऋ॰ में 1/1/4, 8; 2/25; 3/17/5; 4/2/10; 5/4/8; 6/2/3; 7/3/1; 8/3/5; 9/67/1, 10/22/7 आदि 43 स्थानों पर पठित है।

   यजुर्वेद में भी 2/4; 3/11; 6/23; 6/25; 15/8; 29/6 आदि

   सामवेद में पूर्वा॰ 1/2/6; 1/3/1; 1/3/12; 2/2/6; 1/6/7; उत्त॰ 6/3/4/2; 6/3/5/2 आदि मन्त्रों में।

   अथर्ववेद में 1/4/2; 2/24/3; 5/12/2; 3/16/6; 18/2/2; 19/42/4 आदि मन्त्रों में।

निघण्टु (3/7) में मेध शब्द यज्ञनामों में तथा अध्वर के साथ पठित है। इस प्रकार मेध, अध्वर तथा यज्ञ पर्यायवाची हैं। अध्वर का अर्थ 'हिंसारहित' है तो मेध का प्रयोग भी वेदों में इसी अर्थ में किया गया है। सायणाचार्य ने मेध शब्द के अर्थ यज्ञ तथा हवि किए हैं। उन्होंने मेधिरः के लिए 'मेधो यज्ञो हविर्वा' लिखा है। ब्राह्मणग्रंथों में मेधशब्द पवित्र के अर्थ में तथा अमेध्य अपवित्र के अर्थ में आया है। इसीलिए शतपथ में कहा गया है "अमेध्यो वै पुरुषः यद् अनृतं वदति।" पुरुष अनृत बोलने के कारण अपवित्र है। यजमान यज्ञ में जल का स्पर्श पवित्र होने के लिए करता है, क्योंकि जल पवित्र है–मेध्या वा आपः।

जैसा कि कहा गया है कि मेध शब्द यज्ञ का पर्याय है। यज्ञ में प्रयुक्त यज धातु के देवपूजा, संगतिकरण तथा दान ये तीन अर्थ हैं। इस प्रकार संगतिकरण, संगमन तथा प्राप्ति में तीनों शब्द समानार्थक हैं तथा यही मेध शब्द का अर्थ है। वेदों में हिंसा अर्थ में मेध पद पठित नहीं है।

धातु पाठ में मेध धातु के मेधा, हिंसा तथा संगमन अर्थ दिए हुए हैं। अतः गोमेध, अश्वमेध आदि शब्दों का अर्थ है–गो आदि की प्राप्ति तथा इनका संवर्धन। यास्क कहते हैं–प्रकरणश एव मन्त्रा निर्वक्तव्याः। आयं गौः पृश्निरक्रमीत्। यहां प्रयुक्त गौः का अर्थ पृथिवी ही किया जाता है, गो पशु नहीं। इसी प्रकार मेध का अर्थ भी प्राप्ति ही करना चाहिए, न कि हिंसा, क्योंकि वेद में यज्ञ को अध्वर–हिंसारहित कहा गया है। 'सर्वत्र हिंसा अर्थ को सामने रखकर सर्वत्र बलि देना अर्थ करना अज्ञान का सूचक है।[1]'

वैदिक वाङ्मय में संज्ञपन, अवदान तथा आलभन शब्द बहुधा प्रयुक्त हुए हैं। प्रायः इनका अर्थ हिंसापरक करके वेदों में गो आदि पशुओं की हत्या का प्रतिपादन किया जाता है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वत्र इन शब्दों का हिंसा अर्थ नहीं है। अन्य अर्थ में भी इनका प्रयोग हुआ है। इन शब्दों पर विचार किया जाता है–

(1) संज्ञपन–वेदों यह शब्द मिलाने के अर्थ में भी प्रयुक्त है। इस विषय में निम्न मन्त्र प्रमाण है–

संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः।

अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः। अथर्व॰ 6/74/2

1. रमाकान्त त्रिपाठी, वै॰सा॰ और संस्कृति, पृ॰ 172

इसका यही अर्थ बनेगा कि हे मनुष्यों! तुम्हारे हृदय तथा मन मिले रहें, द्वेष रहित रहें। भजनीय परमेश्वर का जो तपोरुप वेदज्ञान है, उससे तुम्हें मिलाता हूँ, परस्पर प्रेमवाला करता हूँ। यहाँ पर हिंसा अर्थ किसी भी प्रकार नहीं लिया जा सकता। यथा–सैन्धव शब्द सिंधु देश में उत्पन्न नमक तथा घोड़े का वाचक है। भोजन के समय 'सैन्धवमानय' कहने से नमक ही लाया जाएगा, घोड़ा नहीं। इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए।

यहाँ सायणाचार्य लिखते हैं–संज्ञपनम् सम्यग्ज्ञानजननम्। समानज्ञानान् करोमि।

(2) अवदान शब्द–इस शब्द का दो अवखण्डने धातु से निष्पन्न मानकर पशु के विभिन्न अंगों को काटकर यज्ञ में होम करते हैं। यह अशुद्ध है, क्योंकि याज्ञवल्क्य इसे 'देङ् रक्षणे' धातु से निष्पन्न मानते हैं। यथा–तदेनाँस्तदवदयते तस्माद् यत्किञ्चनाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम। (शत॰का॰ 1, अ॰ 1) अर्थात् आहुतियों का नाम अवदान इसलिए है कि ये यजमान की रक्षा करती है।

(3) आलभन–पाणिनीय धातुपाठ में 'डुलभष् प्राप्तौ' धातु विद्यमान है। प्राप्ति अर्थ में इस धातु का प्रयोग पंजाबी भाषा में अभी भी होता है। आङ् उपसर्ग के साथ इसका अर्थ स्पर्शपूर्वक प्राप्ति में बदल गया, हिंसा अर्थ तो यह किसी भी प्रकार नहीं है। वेदों[1] तथा ब्राह्मण ग्रंथों[2] में आलभते पद प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ भी प्रायः हिंसापरक ही किया जाता है, जो उचित नहीं है। आलभन का अर्थ स्पर्श है। मनु ने ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों में यह भी कहा है कि वह स्त्रियों का देखना तथा स्पर्श न करें।[3] यहाँ मनु ने 'आलभम्' पद स्पर्श के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है। निम्न प्रयोगों में भी आलभन का अर्थ स्पर्श करना ही है–

(1) आलमेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान्। सुश्रुत–कल्पस्थान 1/19 अर्थात् हाथ से शिर के बालों का स्पर्श करें।

(2) वरो वध्वा दक्षिणांसम् अधिहृदयमालभते। पा॰गृ॰सू॰ 1/8/8

(3) कुमारं जातं पुराऽन्यैर्लम्भात् सर्पिमधुनी हिरण्येन प्राशयेत। अर्थात् नवजात बच्चे को अन्यों के स्पर्श से पूर्व घृत तथा मधु चटाएं।

---

1. प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते। यजु॰ 24/29
2. अग्निषोमीयं पशुमालभेत।
3. स्त्रीणां प्रेक्षणमालम्भनम् उपघातं परस्य च। मनु॰ 2/179

(4) अयास्य दक्षिणांसमधि हृदयमालभते। वही, 2/2/16

अर्थात् आचार्य ब्रह्मचारी के दक्षिण कंधे का स्पर्श करता है। इन प्रयोगों में सर्वत्र आलभन का अर्थ स्पर्श करना ही है। इसी प्रकार यजुर्वेद के अध्याय 24 में जिन-जिन का आलभन कहा गया है, वहाँ भी उसका अर्थ स्पर्श करना ही है। यज्ञ में विविध पशुओं को एकत्रित किया जाता था, उनकी प्रदर्शनी लगाई जाती थी तथा एक-एक का स्पर्श करके उसके स्वास्थ्य की परीक्षा की जाती थी। यह कार्य उसी प्रकार का था जिस प्रकार आज भी आखों आदि के कैंप लगाए जाते हैं तथा उनमें विविध रोगों की चिकित्सा सामुहिक रूप में की जाती है। प्राचीन काल में पशुओं की भी ऐसी ही सामुहिक चिकित्सा होती थी।

नीचे अश्वमेध आदि के अर्थों को स्पष्ट किया जाता है-

(1) **अश्वमेघ**—ब्राह्मणग्रंथों में अश्व तथा अश्वमेध के कई अर्थ किए गए हैं। सूर्य भी अश्वसंज्ञक है।[1] तथा उसक तपना ही अश्वमेध है।[2]

(2) राष्ट्र भी अश्वमेध है।[3] इस प्रकार राष्ट्र की वृद्धि करना ही अश्वमेध है।

(3) वीर्य[4] तथा क्षत्र[5] भी अश्वमेध है। इनकी वृद्धि करना भी अश्वमेध है।

(4) ईश्वर भी अश्व है।[6] उसकी प्राप्ति अश्वमेध है। ब्राह्मण ग्रंथों में अश्वमेध को तेजस्वी[7] तथा ब्रह्मवर्चसी यज्ञ[8] कहा है। ऐसे तेजस्वी यज्ञ में हिंसा का कोई सम्बन्ध नहीं है। इन सब पदार्थों की प्राप्ति तथा वृद्धि करना ही अश्वमेध शब्द का अर्थ है। महाभारत में महाराजा वसु ने अश्वमेध का वर्णन करते हुए कहा है कि यह यज्ञ सर्वथा शुद्ध, तथा अहिंसक था इसमें पशुहत्या नहीं की गयी थी।

तस्य यज्ञो महानासीदश्वमेधो महात्मनः।
संभूता सर्वसम्भाराः तस्मिन् राजन् महाक्रतौ।।
न तत्र पशुघातोऽभूत् सराजैर्वस्थितोऽभवत्।
अहिंस्रः शुचिरक्षुद्रः निराशी कर्मसंस्तुतः।। म॰भा॰शा॰प॰अ॰ 3

---

1. असौ वा आदित्योऽव। तै॰ 3/9/23/2
2. एष वाऽअश्वमेधो य एष (सूर्यः) तपति। शत॰ 10/6/5/8
3. राष्ट्रं वा अश्वमेधः। शत॰ 13/1/6/3
4. वीर्यं वा अश्वः। शत॰ 2/1/4/23
5. क्षत्रं वा अन्वश्वः। शत॰ 6/4/4/12
6. ईश्वरो वा अश्वः। तै॰ 3/8/9/2
7. एष (अश्वमेधः) वै तेजस्वी नाम यज्ञः। तै॰ 3/9/19/3
8. एष (अश्वमेधः) वै ब्रह्मवर्चसी नाम यज्ञः। तै॰ 3/9/19/3

अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति पर जिन मन्त्रों का पाठ किया जाता है, वे राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत हैं। वहां राष्ट्रोन्नति के लिए देवों से प्रार्थना की जाती है।

अश्वमेध यज्ञ में जो मन्त्र (ऋ० 1/162 तथा यजुर्वेद अ० 25) बोले जाते हैं, इनमें अश्वविद्या तथा राष्ट्र के संचालन का उपदेश है, ना कि अश्व की आहुति देने। का बलि पद ने भी बहुत भ्रांति उत्पन्न की है। इसका अर्थ मारकर आहुति देना कर दिया गया। लोक में भी यह इसी अर्थ में प्रचलित है, किन्तु यह अर्थ अशुद्ध है। अथर्ववेद में कहा गया है कि हे मातृभूमि! हम तेरे लिए बलि देने वाले बनें।[1] यहाँ बलि का अर्थ टैक्स आदि के रूप में धनादि देना ही है, न कि प्राण देना।

(2) गोमेध—पारसियों की धर्मपुस्तक जन्दभाषा में गोमेज (Gomez) शब्द पाया जाता है। यह गोमेध का ही अपभ्रंश है। पारसीमत में खेती करना धर्म समझा जाता है। गो पृथिवी को कहते हैं। निघण्टु में पृथिवीवाची नामों में गोपद ही सर्वप्रथम पठित है। अतः गो अर्थात् पृथिवी का लम्भन-संगमन, वृद्धि ही गोमेध है। पृथिवी की रक्षा तथा संवर्धन कैसे किया जाए, यही गोमेध का तात्पर्य है। गायों की उन्नति, रोगराहित्य, स्वास्थ्य तथा दूध आदि में वृद्धि कैसे हो, यही गोमेध का अर्थ है। आजकल इसे भी गोसंवर्धन कहते हैं। गोहत्या से गोमेध का दूर तक भी सम्बन्ध नहीं है। वेदों में तो गोहत्या का स्पष्ट निषेध अनेक स्थानों पर है।[2]

(3) नृमेध—यह शब्द भी ऐसा ही है। वृद्धि तथा उन्नति के लिए मनुष्यों को संगठित करना ही नृमेध है, न कि मनुष्य की बलि। इस विषय में एक प्रमाण यह भी है कि नृयज्ञ, पुरुषयज्ञ, पुरुषमेध तथा नृमेध ये चारों शब्द पर्यायवाची है। मनुस्मृति में अतिथियों के सत्कार को ही नृयज्ञ कहा गया है। सामवेद के कुछ मन्त्रों का ऋषि भी नृमेध है। इसका अर्थ मनुष्यों का वधकर्त्ता नहीं हो सकता।

यजुर्वेद अ० 30 में पुरुषमेध का वर्णन माना जाता है। इसमें 184 वृत्ति जीवियों का उल्लेख है। यदि यहाँ मेध का अर्थ बलि लिया जाए तो इस राष्ट्रीय नरसंहार में कोई भी जीवित नहीं बचेगा। यहाँ भी मेध का अर्थ संगमन ही है। यजुर्वेद से ऐसा ही स्पष्ट है। यथा—ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम् (यजु० 30/5)। इसका यही अर्थ है कि ब्रह्मशक्ति की वृद्धि के लिए ब्राह्मण को, क्षात्रशक्ति के लिए राजा को, अन्नवृद्धि के लिए वैश्य को

---

1. वयं तुभ्यं बलिहृतःस्याम। अथर्व० 12/1/62
2. अथर्व० 1/16, 4/4, ऋ० 7/56/13, 1/114/1, यजु० 13/48-49

तथा सेवा के लिए शूद्र को नियुक्त किया जाता है। तुलायै वणिजम्, सरोभ्यो धीवरम् (यजु॰ 30/16-17)। यहाँ भी बिल्कुल स्पष्ट है कि तौल का कार्य करने के लिए वैश्य को तथा तालाबों का कार्य करने के लिए धीवरों को नियुक्त किया जाता है। आज भी उक्त कार्यों को ये ही लोग करते हैं।

अनुमान यही किया जा सकता है कि यह एक प्रतीकात्मक यज्ञ था, जो पुरुषमेध कहा जाता था। संभव तो यह भी है कि यह यज्ञ किया ही नहीं जाता था, केवल याज्ञिक रहस्यवाद का सिद्धांत मात्र था।[1] अश्वमेधादि के विवाद में डॉ॰ कपिल देव द्विवेदी लिखते हैं–

"कतिपय भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों को भ्रांति है कि मेध शब्द केवल बलि(वध) का वाचक है। यजुर्वेद में अश्वमेध आदि शब्द राष्ट्रीय उन्नति की कामना से किए जाने वलो यज्ञों आदि के लिए है। इनका अभिप्राय अश्व की बलि देने से नहीं था। इसके लिए पितृमेध शब्द की व्याख्या पर्याप्त होगी। पितृमेध का यह अर्थ कदापि नहीं कि माता-पिता की बलि दी जाए, अपितु मेधशब्द उनकी सेव, सुश्रूषा, श्राद्ध और तर्पण के लिए है। मेधशब्द श्रीवृद्धि, समृद्धि, पोषण आदि के लिए प्रयुक्त होता था।"[2]

वस्तुतः यह भ्रांति इसलिए हुई है कि ब्राह्मणग्रंथों में मांसप्रकरण एवं यज्ञ में पशु के अंगों को डालने का विधान पाया जाता है। शतपथ में तो विस्तार से पशुविभाग का प्रकरण चलाया गया है कि मारे गए पशु के किन-किन अंगों का क्या-क्या प्रयोग करें। इतना ही नहीं, अपितु सायणाचार्य ने तो कुछ वेदमन्त्रों के अर्थ भी इसी प्रकार के लिए हैं कि जिनके आधार पर वेदों में ही हिंसा का प्रतिपादन किया जाता है। विदेशियों तथा अन्य भारतीयों के सामने सायणभाष्य तथा ब्राह्मणग्रंथ ही प्रमाण के रूप में उपलब्ध थे। अतएव उन्होंने भी इनको ही प्रमाण मानकर यज्ञों में हिंसा को स्वीकार किया। इसीलिए उन्होंने अश्वमेध तथा गोमेध आदि पदों का अर्थ अश्व तथा गो आदि की आहुति देना मान लिया।

---

1. वैदिकसाहित्य का इतिहास, पृ॰ 103
2. संस्कृतसाहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ॰ 56

सन्दर्भ ग्रन्थ

संहिताएँ—ऋग्वेद संहिता—सायण, दयानन्द, सातवलेकर, जयदेव शर्मा आदि के भाष्य।

यजुर्वेद संहिता उवट—महीधर, दयानन्द, सातवलेकर भाष्य।

सामवेद संहिता—तुलसीराम स्वामी, हरिशरण, रामनाथभाष्य

अथर्ववेद संहिता—सायण, विश्वनाथ, क्षेमकरणभाष्य

ब्राह्मणग्रन्थ—ऐतरेयब्राह्मण, शतपथब्राह्मण, जैमिनीयब्राह्मण, ताण्ड्यब्राह्मण, तैत्तिरीयब्राह्मण सामविधानब्राह्मण-सायणभाष्य। गोपथब्राह्मण, सं० विजयपाल विद्यावारिधि

आरण्यक—ऐतरेय आरण्यक, तैत्तिरीय आरण्यक-सायणभाष्य, शाङ्खायन आरण्यक, आनन्दाश्रम, पूना 1922।

शिक्षाग्रन्थ—ऋक्प्रातिशाख्य, वाजसनेयिप्रातिशाख्य, अथर्वप्रातिशाख्य, पाणिनीय शिक्षा, श्लोकात्मिका, पाणिनीयशिक्षा सूत्रात्मिका

कल्प—विभिन्न धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र तथा शुल्बसूत्र

व्याकरण

पाणिनीय अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिकोष, पातञ्जल महाभाष्य

काशिका-न्यास-पदमञ्जरी सहित, वाक्यपदीय-भर्तृहरि

निरुक्त

निरुक्त—दुर्गाचार्य, चन्द्रमणि, भगवद्दत्त, स्वामी ब्रह्ममुनि आदि के भाष्य

निरुक्त मीमांसा—शिवनारायण शास्त्री

उपनिषदें–ईशादि प्रमुख 11 उपनिषदें–शांकरभाष्य तथा अन्य भाष्यों सहित

उपनिषत्संग्रह (108 उपनिषदों का संग्रह)

स्मृतियां–मनुस्मृति, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2007 ई०।

अनुक्रमणी–कात्यायन, सर्वानुक्रमणी, भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली 2001

अन्य आधुनिक ग्रन्थ

1. ऋग्वेदभाष्यभूमिका, आचार्य सायण, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी।
2. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका–स्वामी दयानन्द, नवलखामहल, उदयपुर
3. वेदरहस्य–अरविन्द घोष
4. अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण, डॉ० कृष्णलाल
5. अथर्ववेदकालीन संस्कृति, डॉ० कपिलदेव द्विवेदी।
6. अथर्ववेद एक साहित्यिक अध्ययन, डॉ० मातृदत्त त्रिवेदी।
7. वैदिकसम्पत्ति, पं० रघुनन्दन शर्मा
8. सत्यार्थप्रकाश, स्वामी दयानन्द, नवलखा महल, उदयपुर
9. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पं० युधिष्ठिर मीमांसक
10. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, पं० भगवद्दत्त।
11. वैदिकवाङ्मय का इतिहास, पं० भगवद्दत्त।
12. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी
13. संस्कृतसाहित्य का इतिहास, पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर काशी,
14. संस्कृतसाहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला। सुरभारती प्रकाशन वाराणसी।
15. संस्कृतसाहित्य का इतिहास, द्वारिका प्रसाद सक्सेना, विनोदपुस्तक मन्दिर आगरा, 1975।
16. वैदिकवाङ्मय का बृहद् इतिहास, उत्तरप्रदेश संस्थान, लखनऊ, 1999
17. वैदिकसाहित्य का इतिहास (निम्न लेखकों द्वारा लिखित इतिहास) डॉ० राजकिशोर सिंह, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा 1969, डॉ० कृष्ण कुमार साहित्य भण्डार, मेरठ 1981, सं० पारसनाथ द्विवेदी, डॉ० राममूर्ति, शर्मा डॉ० कुंवर लाल जैन।
18. वैदिक साहित्य का विकास–डॉ० मंगल देव, भारतीय ज्ञानपीठ, 1970

19. वैदिक संस्कृति का विकास, लक्ष्मण शास्त्री जोशी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, 1957
20. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, डॉ॰ कपिल देव द्विवेदी, वि॰वि॰ प्रकाशन, वाराणसी 2000 ई॰
21. वैदिकसाहित्य एवं संस्कृति का स्वरूप एवं विकास, ओमप्रकाश पाण्डेय, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली 2004
22. वैदिकसंस्कृति, गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
23. वैदिकसंस्कृति, जयदेव वेदालंकार, न्यू भारती बुक कार्पोरेशन, दिल्ली
24. वेदों का समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन, रघुवीर वेदालंकार, नाग पब्लिशर्स, 1981
25. वेदांगपरिचय, आचार्य आनन्द प्रकाश, आर्षशोध संस्थान, अलियाबाद, 2000 ई॰
26. वेदपरिचय, डॉ. कृष्ण लाल, दिल्ली वि॰वि॰, 1993
27. वेदविद्या का पुनरुद्धार डॉ॰ फतेहसिंह, वेदसंस्थान, वि॰वि॰, 2004
28. वैदिकवाङ्मयविवेचन, डॉ॰ कृष्ण लाल, जे॰पी॰ पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,
29. वेदार्थविमर्श, डॉ॰ राम गोपाल, पंजाब वि॰वि॰ चण्डीगढ़, 1985
30. वेदार्थवाङ्मय का इतिहास, रामदास गौड, समर्पण-शोध-संस्थान साहिबाबाद
31. Vedic Scholars from the West, Mdahu Sudan Mishra Estern book limkers, Delhi, 2003.
32. अथर्ववेदीय चिकित्सा, स्वामी ब्रह्ममुनि, दयानन्द संस्थान, दिल्ली 1974
33. वैदिक ऋषि, डॉ॰ कपिल देव, संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र वि॰वि॰, 1978
34. वेदभाष्यकारों की वेदार्थ प्रक्रियाएँ, डॉ॰ रामनाथ वेदालंकार, होशियारपुर, 1980
35. वेदों की वर्णन शैलियाँ, डॉ॰ रामनाथ वेदालंकार, गु॰कु॰ कागड़ी वि॰वि॰ हरिद्वार, 1976।
36. वेदों में भारतीयसंस्कृति, आद्यादत्त ठाकुर, हिन्दी समिति लखनऊ, 1967
37. आर्ष ज्योति, डॉ॰ रामनाथ वेदालंकार, समर्पणशोधसंस्थान, साहिबाबाद, 1995
38. वेदविज्ञान दीपिका, डॉ॰ दयानन्द भार्गव, राज॰ ग्रन्था॰ जोधपुर, 1996
39. ऋग्वेदस्य दार्शनिक धरातलम्, डॉ॰ ओंकारनाथ तिवारी, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 2004

वेदों में सोम, गुरुदत्त, शाश्वतसंस्कृति परिषद् दिल्ली
40. वेद तथा ऋषि दयानन्द, डॉ॰ श्रीनिवास शास्त्री, कुरुक्षेत्र वि॰वि॰, 1979
41. वेद व विज्ञान, स्वामी प्रत्यगात्मानन्द, वि॰वि॰ प्रकाशन वाराणसी, 1992
42. वेदार्थविमर्श, पं॰ ब्रह्मानन्द शर्मा, वैदिक पुस्तकालय अजमेर, 1988
43. वैदिक आख्यानों की प्रवृत्ति, डॉ॰ अनिरुद्ध जोशी, पंजाब वि॰वि॰ 1992।
44. वैदिक आख्यान, डॉ॰ प्रभाकर नारायण कवठेकर, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान दिल्ली, 1995
45. वैदिक परिशीलन, डॉ॰ वीणापाणि पाटनी, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली,
46. संस्कृतवाङ्मयैतिह्ये वैदिकवाङ्मयम्, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 2007
47. ऋग्वेद का सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन, विश्वेश्वर नाथ रेऊ, राजस्थानी सा॰ संस्थान जबलपुर, 1992
48. वैदिक साहित्य, पब्लिकेशंस डिविजन, दिल्ली, 1955
49. वेदानुशीलन का अतीत और अनागत, डॉ॰ ओम्प्रकाश पाण्डेय, मह॰सा॰ वे॰वि॰ प्रति॰ उज्जैयिनी।
50. वैदिक दर्शन, डॉ॰ कुंवर लाल, इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली 1980
51. सप्तसिन्धुसूक्त, स्वामी समर्पणानन्द, वर्णाश्रमसंघ मेरठ।
52. वेदों में आर्य-दास-युद्ध सम्बन्धी पाश्चात्यमत का खण्डन, वैद्य रामगोपाल, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, 1970
53. वैदिक पशुयज्ञमीमांसा, पं॰ विश्वनाथ, सोमपुस्तकालय, केसरगंज अज़मेर,
54. वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वरांकनप्रकार, पं॰ युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट सोनीपत, 1985
55. वेदों में विज्ञान, डॉ॰ कपिल देव द्विवेदी, वि॰भा॰अनु॰ परिषद्, ज्ञानपुर, 2004
56. वेदमीमांसा, स्वामी विद्यानन्द, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1984
57. वेदों की वैज्ञानिक जनधारणा, पं॰ शिवनारायण उपाध्याय, कोटा, 1994
58. वैदिक मीमांसा, डॉ॰ ओम प्रकाश पाण्डेय, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 2004
59. वैदिक राजनीतिशास्त्र, विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, बिहार हिन्दीग्रन्थ आकादमी, पटना, 1975
60. वैदिक सिद्धान्त, मीमांसा, पं॰ युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, 1992
61.

62. वेदाचार्य परम्परा, डॉ॰ कुंवर लाल, इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1988

63. ऋग्वेद में दार्शनिक तत्व, डॉ. गणेशदत्त शर्मा, उर्मिला प्रकाशन साहिबाबाद,

64. वेदों में राजनीति शास्त्र, डॉ॰ कपिल देव द्विवेदी, वि॰भा॰अनु॰ परिषद्, ज्ञानपुर

65. ऋग्वेदीय दर्शन एवं प्रमुख दार्शनिक सूक्त, मुरली मनोहर प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली 2003

66. वैदिक इतिहास एवं पुरातत्व की अद्यतन प्रवृत्तियाँ, डॉ॰ ओम प्रकाश पाण्डेय, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली 2003

67. वेदार्थभूमिका, स्वामी विद्यानन्द, इण्टरनेशनल आर्यन फाउण्डेशन, बम्बई,

68. ऋग्वेद पर व्याख्यान, घाटे, संस्कृत विभाग, दिल्ली वि॰वि॰ 1976

69. वेदमीमांसा, स्वामी विद्यानन्द, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1984

70. आर्यों का आदि देश और उनकी सभ्यता, स्वामी विद्यानन्द, इण्टरनेशनल आर्यन फाउण्डेशन, बम्बई, 1989

71. The home land of Aryans, Surender Mohan Gupta, Sarvadeshik Sabha, Delhi, 1998

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

* **किरातार्जुनीयम्** (काव्य) महाकविश्रीभारवि प्रणीतं। महामहोपाध्याय श्री मल्लिनाथ महाकवि विरचितया घण्टापथाख्यया टीकया कल्याणी हिन्दी व्याख्यया च समन्वितम्। व्याख्याकार श्री काशीनाथ श्रीगौड़ 1-2 सर्ग
* **वेदसमुल्लासः।** (दिल्ली विश्वविद्यालय संस्कृत एम.ए, पाठ्यक्रम निर्धारिता वेदमन्त्राः) सम्पादकौ सत्यभूषण योगी, वन्दितामधुधसिनी
* **वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी** (कारक-प्रकरणम्)। संस्कृत-हिन्दी-सूत्र-व्याख्या-रूपसिद्धि-साधिता। व्याख्याकार डॉ.जीत सिंह खोखर
* **शिशुलालवधम् (काव्य)** माघ प्रणीत। 'सर्वङ्कषा' 'अलका' संस्कृत हिन्दी व्याख्या। व्याख्याता ब्रजभवन दास
* **कुमारसम्भवम् (काव्य)।** कालिदास प्रणीत। मल्लिनाथ विरचति 'संजीवनी' तथा 'वकुला' हिन्दी व्याख्या। व्याख्याकार कन्हैयालाल जोशी
* **लघुसिद्धन्तकौमुदी।** वरदराज प्रणीता। 'आशुबोधिनी' नामक विस्तृत हिन्दी व्याख्या तथा रूपसिद्धि सहित। व्याख्याकार आचार्य डॉ0 सुरेन्द्रदेव स्नातक शास्त्री
  अनुवाद चन्द्रिका। लेखक डॉ0 यदुनन्दन मिश्र
* **लघुसिद्धान्तकौमुदी प्रकाशिका।** 'अलका' सरल हिन्दी सोदाहरण सूत्रार्थ, व्याख्या, रूपसिद्धि सहित। व्याख्याकार लेखक जीतसिंह खोखर
* **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां।** कृत्य प्रकरणम्। (अलका'ख्य हिन्दीसूत्र व्याख्या रूपसिद्धि-पङ्क्तिविमर्श-संकलितं विशिष्ट भूमिका सहितं च) डॉ. गोपबन्धु मिश्र
* **लघुसिद्धान्तकौमुदी** (व्याकारण)। वरदराज कृत। 'पल्लवी' संस्कृत-हिनदी टीका सहित। व्याख्याकार ब्रजभवन दास गुप्त
* **अर्थसंग्रहः।** (मीमांसा) लौगाक्षि भास्कर कृत। पट्टाभिराम शास्त्री कृत 'अर्थालोक संस्कृत टीका। हिन्दी-व्याख्याकार-वाचस्पति उपाध्याय आर्शीवाद-गौरीनाथ शास्त्री। पुरावाक्-विमल कृष्ण मतिलाल
* **परिभाषेन्दुशेखरः** (व्याकरण)। नागेशभट्ट विरचितः श्रीनारायण मिश्र कृत परिभाषा प्रकाशख्य हिन्दी व्याख्या
* **वैयागरणभूषणसारः।** श्रीकौण्ड भट्टकृत। दर्पण व्याख्या तथा हिन्दी भाष्योपेतः। व्याख्याकार ब्रह्मदत्त द्विवेदी
* **पारस्करगृह्यसूत्रम्।** (सम्पूर्ण) श्रीवेणीराम शर्मा गौड़ेन कृता 'विवृतिः' समाख्ययाटीकसामन्वितम् अथ च 'मूलशान्ति' - 'यमलजननशान्ति' - 'पृष्टोदिवि'-परिशिष्टादि समलङ्कृतम। विवृतिकारः श्रीवेणीरामशर्मागोड़
* **रघुवंशम्।** महाकविकालदिासविरचितं मल्लिनाथ कृत संजीविनीसमेतम् काशीनाथपाण्डुरंग पर्व इत्यनेन पाठान्तरैः संयोज्य सेशोधितर्म

चौखम्भा ओरियन्टालिया

पोस्ट बॉक्स नं. 2206
बंगलो रोड, 9-यू.बी., जवाहर नगर (कमला नगर के पास), दिल्ली-110007
फोन : 23851617, 23858790
Email : chaukhambhaorientalia@gmail.com, www.chaukhambhaorientalia.com